भारत में समाज

भारत में समाज

लेखक

मोतीलाल गुप्ता





राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

अष्टम पूर्णत संशोधित संस्करण 1997

ISBN 81-7137-235-X

मूल्य 109.00 रुपये मात्र

प्रकाशक:
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
प्लाट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र,
जयपुर - 302004

लेजर कम्पोजिंग
क्रियेटिव ग्राफिक्स,
5 च 16, जवाहर नगर, जयपुर
फोन नं. 651706

मुद्रक:
कोटावाला ऑफसेट
जयपुर

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 28 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1997 को 29वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयो क उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर क मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने शिक्षकों, छात्रों एवं अन्य पाठकों की सवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ, जा उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रन्थ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नही पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं; गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 425 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अत: अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

'भारत में समाज' नामक पुस्तक का अष्टम संशोधित संस्करण प्रकाशित करते हुए हम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। पुस्तक में विषय से सम्बन्धित नवीनतम प्रामाणिक सूचनाओं को सम्मिलित किया गया है। यह पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों की स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है।

लेखक ने पुस्तक को 29 अध्यायों में लिखकर पूर्ण किया है। लेखन शैली में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि पुस्तक में वर्णित सामग्री को पाठक सरलता से समझ सकें। पुस्तक के संशोधित रूप में आठ अध्याय नये जोड़े गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा लेखक ने भारतीय सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित प्रामाणिक ज्ञान को समस्त पाठकों एवं जिज्ञासुओं तक सरल एवं स्पष्ट भाषा में पहुँचाने का प्रयास किया है, अतः पुस्तक विषय के समस्त प्राध्यापकों एवं अध्येताओं के लिए उपयोगी एवं रुचिकर सिद्ध होगी।

हम इस ग्रन्थ के लेखक श्री मोतीलाल गुप्ता एवं भाषा सम्पादक श्री महेन्द्र रामजादा का आभार व्यक्त करते हैं।

ललित किशोर चतुर्वेदी
उच्च शिक्षा मन्त्री राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

डॉ वेद प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

आमुख
(अष्टम संस्करण)

वास्तविक तथ्यों का अनावरण करना ही समाजशास्त्र के विद्यार्थी का प्रमुख दायित्व है। नवीन संस्करण में विज्ञजनों के अनेक सुझावों का लाभ उठाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। भाषा छात्रों की दृष्टि से बोधगम्य हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। विषय से सम्बन्धित नवीनतम प्रामाणिक सूचनाओं को पुस्तक में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त रह कर स्थिति का यथावत् चित्रण किया गया है। भारतीय सामाजिक संस्थाओं में हो रहे परिवर्तनों को दर्शाने और आधुनिक प्रवृत्तियों को इंगित करने का विशेष प्रयत्न किया गया है।

प्रथम सात संस्करणों का केवल राजस्थान के ही नहीं, बल्कि देश के विभिन्न भागों के विद्यार्थियों और व्यावसायिक सहकर्मियों ने जिस उत्साह के साथ स्वीकार किया, उससे इस विषय पर और अधिक गहनता के साथ अध्ययन और चिन्तन की मुझे प्रेरणा मिली है। यह अष्टम संस्करण उसी का परिणाम है। इसमें सैद्धान्तिक दृष्टि से विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट करने का विशेष प्रयास किया गया है।

मुझे विश्वास है कि पुस्तक में वर्णित भारतीय सामाजिक संस्थाओं का विश्लेषण राजनेताओं और समाज-सुधारकों का सामाजिक नीतियों के निर्धारण और उनके सफल क्रियान्वयन में अवश्य सहायता प्रदान करेगा। प्रस्तुत संस्करण एक संशोधित तथा परिवर्तित संस्करण मात्र न होकर एक नवीन पुस्तक बन गया है। इसमें आठ अध्याय नये जोड़े गये हैं। यह पुस्तक राजस्थान एवं अजमेर विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष कला समाजशास्त्र प्रश्नपत्र द्वितीय 'भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाएँ' के नवीनतम पाठ्यक्रमानुसार है। पुस्तक की लोकप्रियता का क्षेत्र सहृदय विद्यार्थियों एवं विज्ञ-प्राध्यापकों को है जिन्होंने इसे आशा के अनुरूप पाया। पुस्तक के इस अष्टम संस्करण को नवीन रूप में उनके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष एवं गर्व का अनुभव हो रहा है। पुस्तक के प्रकाशित होने तक उपलब्ध नवीनतम सूचनाओं एवं आँकड़ों का इसमें समाविष्ट करने का पूरा प्रयास किया गया है। छात्रों एवं विद्वान साथियों से नम्र निवेदन है कि अगले संस्करण हेतु आवश्यक सुझाव देकर अनुगृहीत करें।

एम. एल गुप्ता
उपाचार्य एवं अध्यक्ष
स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग (स. नि.)
एस. डी. राजकीय महाविद्यालय
ब्यावर (राजस्थान)

146 आदर्शनगर, अजमेर रोड ब्यावर

आमुख
(प्रथम संस्करण)

भारतीय सामाजिक संस्थाएँ भारतीय मनीषियों के बौद्धिक चिन्तन का परिणाम है, उनके सबल सामाजिक दर्शन का प्रतिफल है। संस्थाएँ सदियों से भारतीय समाज में व्यवस्था बनाए रखने में अपना अपूर्व योग देती रही हैं। इन संस्थाओं के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में कुछ भ्रम प्रचलित रहे हैं। वे समझते रहे हैं कि भारतीय सामाजिक संस्थाएँ धार्मिक-चिन्तन मात्र का ही परिणाम हैं। परन्तु इन संस्थाओं की विवेचना से ज्ञात होता है कि वास्तव में भारतीय सामाजिक जीवन में लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के चिन्तन का एक सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इन संस्थाओं के मूल में केवल धार्मिक अथवा दार्शनिक चिन्तन ही नहीं पाया जाता बल्कि सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी पाया जाता है। ये संस्थाएँ देशवासियों के जीवन को आदिकाल से ही पग-पग पर प्रभावित करती रही हैं, असख्य व्यक्तियों का मार्ग-दर्शन करती रही हैं। इनके पीछे अनेक शताब्दियों का सफल चिन्तन पाया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इन संस्थाओं का ऐतिहासिक विवरण दिया गया है, वर्तमान में इनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है, आधुनिक समय में इनमें होने वाले परिवर्तनों को दर्शाया गया है। भारतीय सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित जो शोध-कार्य हुए हैं, उनके निष्कर्षों को भी पुस्तक में समाविष्ट किया गया है, ताकि आधुनिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सके।

पुस्तक में भारतीय सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित प्रामाणिक ज्ञान को विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं तक सरल भाषा में पहुँचाने का प्रयास रहा है। पुस्तक में सर्वत्र वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बनाये रखा गया है, विषयों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जहाँ अवधारणाओं का प्रयोग किया गया है, वहाँ साथ ही अंग्रेजी शब्द भी कोष्ठक में दिये गये हैं। लेखन-शैली में इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि पुस्तक में वर्णित सामग्री को पाठक सरलतापूर्वक समझ सकें। पुस्तक में वैज्ञानिक एवं तकनीकी आयोग द्वारा निश्चित किए गए पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। यह पाठ्यपुस्तक विशेष रूप से भारतीय विश्वविद्यालयों के स्नातक

कक्षाओं के समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, परन्तु इससे स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थी भी निश्चित रूप से लाभान्वित हो सकेंगे। पुस्तक के लेखन में जिन विद्वानों की कृतियों का उल्लेख किया गया है, उन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। मैं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी का विशेष रूप से हृदय से आभारी हूँ जिनके प्रयासों से यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है। उन सब गुरुजनों, विद्वान साथियों, इष्ट-मित्रों और परिवार-जनों का भी मैं बहुत आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा सुझाव और सहयोग ने मुझे इस पुस्तक को आप लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करने का सुअवसर प्रदान किया है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक भारतीय समाज और संस्कृति का सही परिचय देने में अवश्य सहायता पहुँचायेगी। मेरा सहृदय पाठकों एवं विद्वानों से नम्र निवेदन है कि वे अपने रचनात्मक सुझावों द्वारा अनुगृहीत करने का कष्ट करें।

– *एम. एल. गुप्ता*

विषय-सूची

❑❑❑

1

विभिन्न युगों में भारतीय समाज का विकास
(Development of Indian Society through Ages)

विभिन्न संस्कृतियों एवं प्रजातीय तत्वों से भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। इस अति प्राचीन एवं विशाल भारतीय समाज में अनेक धर्मों और जातियों के लोग रहते हैं। लोगों की प्रथाओं, मूल्यों, विश्वासों, रहन-सहन के तरीकों, भोजन एवं वस्त्र आदि में यहाँ काफी भिन्नता देखने को मिलती है। यहाँ ग्रामीण और नगरीय जीवन में भी स्पष्ट अन्तर दिखलायी पड़ता है। यहाँ एक ओर शिकार आदि के द्वारा अपना जीवन-यापन करने वाली आदिम जनजातियाँ तक पायी जाती हैं, तो दूसरी ओर नगरीय समुदायों में ऐसे लोग हैं जो नवीनतम यन्त्रों के माध्यम से अपनी आजीविका कमाते हैं। भारतीय समाज में सैकड़ों-हजारों वर्षों से प्रजातीय और सांस्कृतिक सम्मिश्रण भी होता रहा है। भारतीय समाज में विभिन्न प्रजातीय तत्त्व मिश्रित रूप में पाये जाते हैं। यहाँ विभिन्न संस्कृतियों- द्रविड संस्कृति, आर्यों की संस्कृति, मध्य एशिया से आये हुए आक्रमणकारी समूहों की संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति का आपस में काफी सम्मिश्रण हुआ है। इन विभिन्न संस्कृतियों का भारतीय समाज एवं संस्कृति पर बहुत प्रभाव पड़ा है। विविधता के बावजूद भारतीय समाज में मौलिक एकता भी दिखायी पड़ती है जिसका अनुभव न केवल भारतीय बल्कि विदेशी भी करते हैं। ऐसे विविधतापूर्ण एवं जटिल भारतीय समाज को समझना और वैज्ञानिक तरीके से इसका अध्ययन करना कोई सरल कार्य नहीं है। इस कार्य के लिए भारतीय समाज के विकास के ऐतिहासिक काल-क्रम का पता लगाना होगा, विभिन्न कालों में लोगों के मूल्यों, लोक रीतियों, व्यवहार के तरीकों एवं जीवन-विधि को समझना होगा। यह सब कुछ उसी समय सम्भव है जब भारतीय समाज के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को पूरी तरह से ध्यान में रखा जाय। यद्यपि यह कार्य कठिन अवश्य है परन्तु तात्त्विक एवं व्यावहारिक दृष्टि से इसका महत्त्व भी काफी है।

भारतीय समाज विश्व के प्राचीनतम समाजों में से एक है और इसका इतिहास 5000 से 7000 वर्ष पुराना है। भारतीय समाज, सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास उस समय प्रारम्भ हुआ जब विश्व के अधिकांश लोग जंगली एवं बर्बर अवस्था में थे। यहाँ के ऋषि-मुनियों, विचारकों एवं चिन्तकों ने अपनी साधना, अध्ययन, चिन्तन तथा अनुभव के आधार पर ऐसी मानव संस्कृति का निर्माण किया, ऐसे जीवन मूल्यों को विकसित किया जिन्होंने आज तक मानव का मार्ग-दर्शन किया है। प्राचीन भारतीय समाज के विकास का अध्ययन अनेक इतिहासकारों, मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने किया है। वास्तव में भारतीय समाज को सही रूप में समझने के लिए यह ज्ञात करना आवश्यक है कि विभिन्न युगों में इसका विकास कैसे हुआ। इसके लिए हमें अध्ययन के विभिन्न सामग्री-स्रोतों पर विचार करना होगा। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में भारतीय समाज के विकास से सम्बन्धित अमूल्य सामग्री काफी मात्रा में उपलब्ध है। ऐसी स्रोत-सामग्री में भारतीय धर्म ग्रन्थ, ऐतिहासिक ग्रन्थ, पुरातत्त्व सम्बन्धी साक्ष्य, विदेशियों के विवरण एवं मध्यकालीन फारसी तथा अरबी साहित्य प्रमुख हैं।

भारतीय समाज का उद्‌विकास : अध्ययन के स्त्रोत
(Evolution of Indian Society : Sources of Study)

प्राचीन धर्म-ग्रन्थों की सहायता से भारतीय समाज के उद्‌विकास का अध्ययन किया जा सकता है। यह समाज आज ठीक वैसा नहीं है, जैसा प्राचीन काल में था। समय के साथ-साथ इसमें कई परिवर्तन आए हैं। इसकी कला, साहित्य, संस्कृति, प्रमुख संस्थाएँ, परम्पराएँ, पारिवारिक एवं जाति-व्यवस्था, आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में काफी बदलाव आये हैं। समय के साथ साथ भारतीय समाज का उद्‌विकास हुआ है और इस उद्‌विकास की जानकारी हमें प्रमुखतः निम्नलिखित स्रोतों से मिलती है —

(1) धर्म ग्रन्थ— इनमें ब्राह्मणों, बौद्धों एवं जैनों के धर्म ग्रन्थ आते हैं। ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थों में चार वेद- ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद प्रमुख हैं। अन्य में आरण्यक उपनिषद्, वेदान्त, स्मृति-साहित्य, महाकाव्य (रामायण व महाभारत) तथा पुराण आदि ग्रन्थ आते हैं। इन धर्म-ग्रन्थों से प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति तथा आर्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन के संबंध में विस्तृत जानकारी मिलती है। भारतीय समाज के विकास से संबंधित महत्त्वपूर्ण सामग्री, साहित्य, महाकाव्य एवं पुराणों में भी मिलती है। इन ग्रन्थों में तत्कालीन समाज के रहन-सहन, संस्कृति, राजनैतिक दशा, भौगोलिक स्थिति आदि का पता चलता है। 6 वेदान्तों और 3 सूत्र-ग्रन्थों से उस समय के समाज, परिवार, वर्ण और आश्रम को समझने में काफी मदद मिलती है।

बौद्ध धर्म ग्रन्थों में पिटक, जातक, पालि बौद्ध और संस्कृत बौद्ध ग्रन्थ प्रमुख हैं। त्रिपिटक में बौद्ध धर्म के उपदेश, दैनिक जीवन सम्बन्धी व्यवहार के तरीके, विधि और निषेधों का उल्लेख है। जातक ग्रन्थों में बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का विवेचन मिलता है। पालि बौद्ध और संस्कृत ग्रन्थों में अशोक महान के समय की समाज-व्यवस्था का, उस समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का पता चलता है।

जैन धर्म ग्रन्थों में परिशिष्ट पर्व, भद्र-बाहु चरित्र, जैन आगम ग्रन्थ तथा कई टीकाएँ आदि आते हैं। इनकी रचना प्रमुखतः ईसा की प्रथम शताब्दी से छठी शताब्दी तक के समय में की गई। इन सभी ग्रन्थों में इस काल के भारतीय समाज के विकास को दर्शाया गया है।

(2) ऐतिहासिक एवं समसामयिक ग्रन्थ—इनमें कौटिल्य (चाणक्य) का अर्थशास्त्र, गार्गी संहिता, मालविकाग्निमित्र, मुद्राराक्षस, हर्ष चरित्र, कामन्दक नीति शास्त्र, राजतरंगिणी (इसमें कश्मीरी कवि कल्हण ने कश्मीर का इतिहास लिखा है) तथा विक्रमांक देव चरित्र आदि प्रमुख हैं। मुगलकाल में भी तबकात-नासिरी (इसमें तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक का इतिहास है), तारीख फिरोजशाही (फिरोजशाह तुगलक के समय की घटनाएँ इसमें लिखी गई हैं), अबुल फजल द्वारा लिखित अकबरनामा और आइने अकबरी, बाबरनामा तथा तुजुक जहाँगीरी उल्लेखनीय ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं।

(3) विदेशियों के विवरण— समय-समय पर विदेशों से आने वाले लोगों ने भी भारत के बारे में लिखा है। इनमें फारस का स्काईलैक्स, यूनान का हिकटियस, मिलेटस, हैरोडाटस, फारस

का केसिअस, यूनान का मेगस्थनीज व डायमेक्स; चीनी लेखक फाह्यान ह्वेनसांग तथा यूरोप के लेखकों में मार्कोपोलो आदि द्वारा रचित ग्रन्थ भारतवर्ष की तात्कालिक जानकारी प्रदान करते हैं।

(4) पुरातत्व— इसके अन्तर्गत प्राचीन काल से प्राप्त सामग्री जैसे भवन एवं नगर, उत्कीर्ण लेख एवं मुद्राएँ आदि आती हैं। सिन्धु सभ्यता, तक्षशिला, पाटलिपुत्र एवं रूपड सभ्यताओं का पता खुदाई से लगा। अजन्ता, एलोरा, एलिफेण्टा की गुफाएँ, सारनाथ, बौद्ध गया, साँची, अमरावती के स्तूप, जैन मन्दिर, विभिन्न मस्जिदें और मीनारें तथा किले, मुद्राएँ एवं मूर्तियाँ आदि सभी भारत के इतिहास के साक्षी हैं।

उद्विकास की दृष्टि से भारतीय समाज के इतिहास को प्रमुखतः चार कालों में बाँटा गया है — प्राचीन काल, मध्य काल, ब्रिटिश काल तथा आधुनिक काल। हम यहाँ इन चारों कालों में भारतीय समाज के उद्विकास का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

प्राचीन भारत में समाज
(Ancient Period/Society in Ancient India)

सिन्धु घाटी की सभ्यता

भारत में प्राचीन समाज की जानकारी हम सिन्धु घाटी की सभ्यता से होती है जो अब से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व विकसित हुई थी। विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताएँ नदी घाटियों में ही विकसित हुईं। मिस्र में नील नदी की घाटी, मेसोपोटामिया में दजला-फरात नदियों की घाटियाँ, चीन में ह्वांगहो नदी की घाटी और भारत में सिन्धु नदी की घाटी प्राचीन सभ्यताओं की जन्मस्थली हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता की जानकारी सिन्ध के लरकाना तथा पंजाब के हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो नामक स्थान पर किये गये उत्खनन कार्य से हुई है। यह एक नगरीय सभ्यता थी जिसका विस्तार पश्चिम से पूर्व तक 1550 किलोमीटर में तथा उत्तर-दक्षिण में 1100 किलोमीटर के क्षेत्र तक था। इसके अन्तर्गत बलूचिस्तान, उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, पंजाब, सिन्ध, काठियावाड़, राजपूताना और गंगा नदी की घाटी का उत्तरी प्रदेश आता है। इस सभ्यता का निर्माण ईसा से लगभग 3000 वर्ष पूर्व द्रविडों द्वारा किया गया था। इस सभ्यता में नगरों का आयोजन व्यवस्थित ढंग से किया गया था। घर, गलियाँ और उपगलियाँ व्यवस्थित थी। नगर में नालियाँ तथा सड़कें सुनियोजित ढंग से बने हुए थे। एक घर में तीन-चार तक कमरे, रसोई घर व स्नानागार होते थे एवं बड़े घर में तीस तक कमरे और दो मंजिल मकान तक होते थे। कई खम्भों वाला एक सभागार, एक सार्वजनिक स्नानागार, एक बड़ा धान्य भण्डार, एक दुर्ग और लकड़ी से निर्मित एक ढाँचा भी पाया गया है।

सिन्धु घाटी के लोग शिव लिंग तथा मातृ देवियों के उपासक थे। वे प्रकृति पूजा में विश्वास करते थे। वे सूती, रेशमी एवं ऊनी वस्त्र बुनना भी जानते थे। विभिन्न प्रकार की मिट्टी और धातु की मूर्तियों और उनकी भाव भंगिमाओं से ज्ञात होता है कि उनमें कला के प्रति लगाव था तथा वे संगीत एवं नृत्य में भी रुचि रखते थे। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की धातुओं के आभूषण जैसे हार, भुजबन्द, अँगूठी, बाली, करधनी और पायल पहनती थी तथा शृंगारिक प्रसाधनों का प्रयोग करती थी। खुदाई में 550 मोहरें भी प्राप्त हुईं जिन पर पशुओं के चिन्ह अंकित हैं। ये लोग निकटवर्ती देशों से व्यापारिक एवं वाणिज्यिक सम्बन्धों से जुड़े हुए थे। लोहा, सोने, चाँदी, मिट्टी, वस्त्र, लकड़ी आदि के अनेक उद्योग भी उस समय प्रचलित थे। यहाँ के लोग गेहूँ, माँस एवं मछली, दूध, घी

आदि का प्रयोग करते थे। मटर, तरबूज, केल, गहूँ, जौ एव कपास की खती करते थ। वे बिल्ली, कुत्ते, बकरी, गाय, मुर्गी एव सुअर का पालन करते थे। वे लाग अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों जैसे कुल्हाडी, भाला, कटार, गदा, धनुष-वाण एव गोफन तथा आरी, हसिया, छनी जैसे औजारो एवं शीशे आदि का भी उपयाग करत थे। सिन्धु सभ्यता में लेखन कार्य एव भाषा का भी विकास हो चुका था। एसा माना जाता है कि द्रविड लाग जिन्होंने सिन्धु सभ्यता का निर्माण किया, आस्ट्रालॉयड, भूमध्यसागरीय प्रजाति क थे। अत: यह सभ्यता एक सर्वदेशीय सभ्यता थी और लगभग 2000 ई पूर्व तक मौजूद रही। सम्भवत· आर्यों के भारत में आने पर यह सभ्यता नष्ट हुई।

वैदिक सभ्यता

वैदिक सभ्यता का विकास आर्यों क द्वारा किया गया था जो 2500 वर्ष ईसा पूर्व भारत मे आये। वैदिक काल का दा भागो मे बाँटा गया है – पूर्व वैदिक काल एव उत्तर वैदिक काल।

(अ) पूर्व वैदिक काल— भारत में आर्यों के बारे में जानकारी का प्रमुख साहित्यिक स्रात वद हैं। वद चार हैं- ऋग्वद, अथर्ववेद, सामवद एव यजुर्वेद। ऋग्वेद सबस प्राचीन है और पूर्व वैदिक कालीन सभ्यता का ज्ञान इसी से मिलता है।

पूर्व वेदिक कालीन समाज ग्रामीण और कृपक समाज था। उस समय प्रत्यक गाँव एक स्वायत्त इकाई था। गाँवो मे गाँव पचायतें हाती थीं। पचायतों का मुखिया **'ग्रामणी'** कहलाता था। मन्दिर और विद्यालय सामाजिक सास्कृतिक और शैक्षणिक गतिविधियो के कन्द्र थे। सम्पूर्ण समाज चार वर्णों मे विभाजित था। शासन का कार्य राजा किया करता था। राजा का पद सामान्यत वशानुगत हाता था। राजा का सलाह दन के लिए परिषद् तथा पुराहित हात थे। उस समय स्त्रियों का समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उन्ह विविध क्षत्रो मे शिक्षा एव ज्ञान प्राप्त करने की छूट थी।इसी समय विश्ववारा घापा, अपाला जैस विदुषी महिलाएँ हुई हैं। कइयों न वैदिक भजनों की रचनाएँ भी की। गार्गी और मत्रीय उपनिषद् काल की दार्शनिक स्त्रियाँ थी। स्त्रियो को यज्ञो एव धार्मिक कार्यों म भाग लने की छूट थी। पर्दा प्रथा और सती-प्रथा का प्रचलन नही था, विधवाएँ पुन विवाह कर सकती थी। परिवार की सम्पत्ति मे उन्हे अधिकार था। बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन था किन्तु बहुपति प्रथा अमान्य थी। स्वयवर एव गान्धर्व विवाह का प्रचलन था। पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था का प्रचलन था। इस काल म गहूँ, जौ, दूध, फल, शाक, माँस एव सोमरस आदि का प्रयोग किया जाता था। मनारजन क लिए रथो की दौड, युद्ध, नृत्य, आखट, सगीत, वाद्य-यन्त्रो आदि का सहारा लिया जाता था। आर्य लाग कृषि कार्य एव पशु-पालन करत थ। व मुद्रा का उपयाग जानत थ तथा व्यापारी (पणी) लाग व्यापार किया करते थे। विभिन्न प्रकार क व्यवसाय को करन वाली अलग-अलग जातियाँ थीं। बीमारी स मुक्ति पाने क लिए जडी बूटियाँ एव जादू टाने का प्रयाग किया जाता था। आर्य अनक दवी-दवताओं क उपासक थ तथा यज्ञ और हवन द्वारा देवताओं का प्रसन्न करते थे। पूर्व वैदिक या ऋग्वद कालीन सभ्यता का विस्तार प्रमुखत पजाब तक सीमित था।

(ब) उत्तर वैदिक समाज और संस्कृति— ऋग्वद के बाद का समय उत्तर वैदिक काल क नाम से जाना जाता है। इस युग में अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रन्थों की रचना हुई। इसी समय महाकाव्य (रामायण एव महाभारत) लिखे गये एवं जैन व बौद्ध साहित्य का भी सृजन हुआ। इस युग में आर्यों की सस्कृति का प्रसार भारत के

अन्य भागो मे भी हुआ। उन्होंने पूर्व में गगा और यमुना के मैदान तक तथा दक्षिण में विदर्भ, आन्ध्र और चेर प्रदेश तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इसी समय बडे-बडे राज्यों जैसे कौशल, काशी, विदेह, काम्पिल्य आदि की स्थापना हुई। इस युग में राज्य के विस्तार एवं युद्ध मे सफलता के कारण राजा के अधिकारों मे वृद्धि हुई, वह प्रजा, कानून एवं न्याय का सरक्षक था। इस समय राजतन्त्र के साथ गणतन्त्र की स्थापना हुई। उत्तर वैदिक काल भी बहुत लम्बा है जिसे महाकाव्य काल जैन व बौद्ध काल, मौर्य काल, शक व कुषाण काल तथा गुप्त काल मे विभाजित किया जाता है।

इस युग के प्रारम्भ मे अनेक आक्रमणकारी बाहर से आये, उन्होंने भी यहाँ अपने राज्य स्थापित किये उनकी राजधानियाँ स्वदेशी राजाओं के सम्पर्क के कारण सास्कृतिक मिश्रण की केन्द्र बन गई। धीरे-धीरे भारतीय सस्कृति का स्वरूप सर्वदेशीय होता गया। सामान्य जनता ग्रामों मे निवास करती थी फिर भी अनेक बड-बड नगर स्थापित हुए। धीरे-धीरे वर्ण व्यवस्था कठोर होती गई और उसका आधार कर्म न होकर जन्म हो गया। ब्राह्मण सस्कृति के विरोध में महावीर एव बुद्ध ने जैन एव बौद्ध धर्म की स्थापना की। मौर्य साम्राज्य की स्थापना भी इसी युग मे हुई। मौर्यों के पश्चात् शक व कुषाणों का शासन रहा। इस समय अनेक छोटे-छोटे राजतन्त्र थे। कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं थी, इसके बाद गुप्तकाल आता है जिसे स्वर्ण युग कहा जाता है। इस युग मे भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित हुई। समुद्रगुप्त ने विशाल राज्य स्थापित किया। इस युग में वैदिक परम्परा का पुन. जीवित किया गया तथा कला, साहित्य, सगीत, नाटक, गणित, ज्योतिष एव रसायन सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई।

वैदिक युग मे कानून की अपेक्षा धर्म ही सामाजिक जीवन को नियन्त्रित व निर्देशित करता था। पति-पत्नी, माता पिता और सन्तानों तथा विभिन्न वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध धर्म ग्रन्थों के आधार पर नियन्त्रित होते थे। हिन्दू समाज मे अनेक जातियाँ और उप-जातियाँ विद्यमान थी। विवाह एव छुआछूत के नियमो का कठोरता से पालन होता था। अछूत जातियो को अनेक सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक अधिकारों से वचित किया गया था। स्त्रियो के भी पारम्परिक व सामाजिक अधिकार छिन गये, अस्पृश्यों को शेष समाज से पृथक् रखा जाता था।

उत्तर वैदिक काल की समाज व्यवस्था को समझने के लिए हमे उस समय की दो व्यवस्थाओं— वर्ण व्यवस्था एव आश्रम व्यवस्था-को समझना होगा।

वर्ण व्यवस्था— इस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इन चार वर्णों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति सृष्टि रचयिता ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अगों से बनाई गई है। ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण भुजाओ से क्षत्रिय जघाओ से वैश्य और पैरो से शूद्रो की उत्पत्ति हुई। सामान्यत ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ एव शूद्र सामाजिक सोपान मे सबसे नीचे थे। मनु स्मृति में ब्राह्मणों का मुख्य कार्य वेदों का अध्ययन एव अध्यापन तप यज्ञ करना एव कराना दान देना एव लेना था। क्षत्रियों का कार्य प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना एव अध्ययन करना था। वैश्यो का कर्तव्य पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन, व्यापार एव कृषि करना था। शूद्रों का कर्तव्य उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। वर्ण व्यवस्था समाज में श्रम-विभाजन की सूचक थी जिसमें व्यक्ति के गुण और स्वभाव के अनुसार व्यवसायों, शक्ति एव अधिकारों का वितरण किया गया था।

वर्ण और जाति एक ही नही हैं। प्रत्यक वर्ण मे अनेक जातियाँ और उप-जातियाँ होती हैं। वर्ण चार हैं जबकि जातियाँ अनेक। वर्ण हिन्दू समाज के चार बडे भाग हैं जबकि जातियाँ विशिष्ट अन्त:विवाही समूह हैं। वर्ण सार भारत मे समान रूप स पाये जात हैं जबकि जातियाँ स्थानीय समूह हैं। जो जातियाँ पजाब में पायी जाती हैं व कश्मीर मे नही और जो गुजरात मे पायी जाती हैं वे बगाल व आसाम में नही। करल व तमिलनाडु म पायी जान वाली जातियाँ राजस्थान, मध्य प्रदेश एव उत्तर प्रदश में नही पायी जाती। कुछ विद्वाना का मत है कि वर्णों स ही आगे चलकर जातियाँ बनी।

प्रारम्भ मे वर्ण का आधार जन्म न हाकर व्यक्ति क गुण एव कर्म थ अत निम्न से उच्च और उच्च स निम्न वर्णों की सदस्यता प्राप्त की जा सकती थी। विश्वामित्र, राजा जनक, महामुनि व्यास, वाल्मीकि आदि ने कर्म क आधार पर अपना वर्ण परिवर्तित किया था। किन्तु स्मृति काल और उसके बाद मे जाति और व्यवसाय वशानुगत हो गये। अनक विचारकों न अपनी रचनाओ म विभिन्न समूहो क बीच विवाह एव सामाजिक सम्बन्धो पर कठोर प्रतिबन्ध लगाकर वर्ण व्यवस्था का कठोर बना दिया। ब्राह्मणो में वर्ण व्यवस्था का आधार वशानुगत हो गया किन्तु क्षत्रियों और वैश्यों मे वर्ण का आधार वशानुगत नही था। कई ऐसे कार्य थ जैस शासन और युद्ध जा एक वर्ण तक ही सीमित नही थ। पणिक्कर न अनक एतिहासिक उदाहरण दकर बताया है कि ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र समय-समय पर शासक वश रह हैं। सातवाहन ब्राह्मण गुप्त वैश्य और नन्द वश क शासक शूद्र थे ता यवन शक और कुषाण किसी भी जाति के नही थ। वैश्य वर्ण में सम्पन्न जातियाँ, किसान एव कारीगर भी सम्मिलित थ ता शूद्र वर्ण मे निम्न आर्थिक स्थिति वाली अनक सेवाकारी जातियाँ सम्मिलित थी। विभिन्न वर्णो क बीच विवाह सम्बन्धो क द्वारा अनक जातियों का जन्म हुआ। वैश्य यदि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे ता ब्राह्मण और क्षत्रिय विभिन्न अधिकारो से सम्पन्न थ अत उन्हे समाज म सम्मान और प्रभुत्व प्राप्त था। जब बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ तो जाति व्यवस्था का भी धक्का लगा।

आश्रम व्यवस्था— इस युग की एक अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक व्यवस्था आश्रम व्यवस्था थी। भारतीय विचारका न मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानकर उसे चार भागो (आश्रमों) में विभाजित किया, व हैं— ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम। प्रत्यक आश्रम की आयु 25 वर्ष थी। इन चारों आश्रमो म क्रम स रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है। पुरुषार्थों का जीवन क मूल उद्दश्य या सिद्धान्त माना गया था जिनक द्वारा व्यक्ति, परिवार एव समाज क प्रति दायित्वों का ज्ञान कराया जाता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन का सबस पहला आश्रम है जिसमे व्यक्ति 8 स 12 वर्ष की आयु के बीच उपनयन सस्कार क बाद प्रवश करता था। इस आश्रम म गुरु क पास गुरुकुल मे रहकर व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करता, अपना शारीरिक मानसिक एव बौद्धिक विकास करता तथा चरित्र व व्यक्तित्व का निर्माण करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम मे अध्ययन कार्य पूर्ण करन के पश्चात् विवाह करक व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवश करता था जिसमें पचास वर्ष की आयु तक रहता था। वह परिवार का पालन करने के साथ-साथ धर्म का निर्वाह भी करता। वह पच महायज्ञ करता एव देव-ऋण, पितृ-ऋण एव ऋषि-ऋण से मुक्ति का प्रयास करता। गृहस्थाश्रम का सभी आश्रमो का मूल कहा गया है। 50 वर्ष की आयु पूरी करने पर व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवश करता जहाँ 75 वर्ष की आयु तक

रहता। 75 वर्ष के बाद की आयु वह संन्यास आश्रम में व्यतीत करता। इन दोनों आश्रमों में वह संसार का त्याग कर जंगल में रहता, ईश्वर भजन करता, कन्द-मूल-फल खाता और मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता। आश्रम व्यवस्था ने व्यक्ति के समाजीकरण व्यक्तित्व के विकास, समाज कल्याण और समाज की उन्नति में बहुत योग दिया।

मध्यकालीन भारतीय समाज : इस्लाम का प्रभाव
(Mediaeval Indian Society : Impact of Islam)

मध्य काल को हम राजपूत काल एवं मुस्लिम काल दो भागों में बाँट सकते हैं। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक उत्तरी भारत में राजपूतों का शासन रहा। इस समय अनेक छोटे-छोटे राज्य बन गए जो परस्पर लड़ते रहते थे। इस युग में धार्मिक कर्म-काण्डों की वृद्धि हुई, उच्च वर्ग का नैतिक पतन हुआ व विलासी जीवन व्यतीत करने लगे। दक्षिणी भारत में देवदासी प्रथा का प्रचलन हुआ। बाल-विवाह एवं जौहर का प्रचलन था तथा विधवा पुनर्विवाह का अभाव एवं सती प्रथा का प्रचलन था। जागीरदारी प्रथा एवं सामन्तवादी व्यवस्था राजपूतों की ही देन है। जाति-प्रथा इस समय दृढ़ हुई।

ग्यारहवीं सदी में मुहम्मद गोरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया और पृथ्वीराज चौहान को हराकर मुस्लिम राज्य की नींव डाली। धीरे-धीरे राजपूत राजाओं की शक्ति क्षीण हुई और मुस्लिम शासकों का प्रभाव बढ़ता गया। भारत में मुसलमानों के विभिन्न वंशों जैसे गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैय्यद वंश एवं लोदी वंश आदि का 600 वर्षों तक शासन रहा। मुसलमानों से पूर्व जितने भी आक्रमणकारी यहाँ आये, जैसे यवन, शक, हूण, कुषाण, सिथियन व मंगोलियन आदि वे सब भारतीय समाज में विलीन हो गये किन्तु मुसलमानों का पृथक् अस्तित्व बना रहा क्योंकि दोनों के धर्म, संस्कृति, देवी-देवता, खान-पान एवं जीवन-दर्शन में काफी अन्तर था। लम्बे समय तक हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क के कारण कला, धर्म, साहित्य, परिवार, विवाह, संगीत और संस्कृति के कई क्षेत्रों में दोनों में बहुत आदान-प्रदान हुआ। भारत में संख्या की दृष्टि से मुसलमानों का दूसरा स्थान है। हिन्दुओं के बाद उनका सबसे बड़ा समूह है। हिन्दू और इस्लाम परम्पराओं में संघर्ष, तनाव, व्यवस्थापन और समन्वय की प्रक्रिया काफी लम्बे समय से चलती रही है।

इस्लाम के भारतीय समाज पर प्रभाव का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इसका प्रभाव क्षेत्र मुख्यतः नगरों तक सीमित रहा, ग्रामों में नहीं। चूँकि मुसलमान बाहर से आये, अतः वे संख्या में कम थे किन्तु उन्होंने यहाँ के कई हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। इसलिए यहाँ के मुसलमानों में कई तत्त्व दोनों ही संस्कृतियों के साथ-साथ दिखायी देते हैं। चूँकि मुसलमान शासक वर्ग के थे अतः जनता ने दबाव एवं स्वेच्छा से मुस्लिम संस्कृति को अपनाया। इस्लाम के भारतीय समाज पर निम्नांकित प्रभाव पड़े

(1) हिन्दुओं में एकेश्वरवाद एवं निर्गुण ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ हुई। भक्ति आन्दोलन एवं सामन्तवादी आदर्शों का जन्म हुआ। कबीर पंथ, दादू पंथ, अद्वैतवाद, सिख धर्म तथा रामानुज, वल्लभाचार्य, चैतन्य एवं रैदास के धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ।

(2) जातीय कठोरता कम हुई, अस्पृश्यता और ऊँच-नीच का भेद-भाव समाप्त होने लगा। जातीय कठोरता के कारण निम्न जातियों ने धर्म-परिवर्तन कर इस्लाम को ग्रहण किया किन्तु जातीय विशेषताओं के कारण इस्लाम में भी जाति प्रथा प्रारम्भ हो गयी।

(3) हिन्दुओं मे मुस्लिम प्रभाव से पर्दा-प्रथा का प्रचलन हुआ।

(4) बाल-विवाह बढे, विधवा पुनर्विवाह समाप्त हुए और सती प्रथा को महत्त्व दिया गया बहु-पत्नी प्रथा एव दहेज प्रथा बढी।

(5) मुस्लिम वेश-भूषा जैस चूडीदार पाजामा, अचकन एव शेरवानी का प्रचलन शुरू हुआ।

(6) भोजन मे माँसाहारी प्रवृत्ति बढी। कलाकन्द, बर्फी, गुलाब जामुन, बालूशाही, हलवा, इमरती एव जलबी मुसलमानो की दन है।

(7) उर्दू एव खडी बोली का प्रादुर्भाव हुआ।

(8) स्थापत्य कला के क्षत्र में हिन्दुओ ने मुसलमानो स गुम्बद, ऊँची मीनारें, मेहराब तथा तहखान बनाना सीखा। मुसलमानो न अनेक हिन्दू मन्दिरों का तोडकर उनमे हराफरी करके उन्हे मस्जिदों क रूप मे बदल दिया।

(9) चित्रकला के क्षेत्र में मनुष्यों, पशुओं, पुष्पों एव पक्षियों के सजीव चित्र बनाना तथा विभिन्न रूपहले रगो का भरना मुस्लिम सस्कृति की देन है। तुर्की व ईरान की प्यूराइड चित्रकारी मुसलमान ही भारत में लाये। मथुरा के द्वारकाधीश मन्दिर मे इसी शैली में कृष्णलीला का चित्रण किया गया है।

(10) कव्वाली गजल, ठुमरी तथा तबला व सितारवादन भी इस्लाम की ही देन है।

(11) दास प्रथा, बेगार, मालगुजारी भी इस्लाम की देन है। इस युग में रगाई-छपाई, बर्तन एव दस्तकारी के उद्योगों तथा धातु, शक्कर, ईंट, पच्चीकारी एव कलई व्यवसायो का भी काफी विकास हुआ।

उपर्युक्त विवरण स स्पष्ट है कि इस्लाम के प्रभाव क कारण भारतीय समाज सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव राजनैतिक सभी क्षेत्रों में प्रभावित हुआ और यह प्रभाव ब्रिटिश काल तक बना रहा। केवल हिन्दुओं न ही इस्लाम से ग्रहण नही किया वरन् मुसलमानो ने भी हिन्दू सस्कृति के अनक तत्त्वों को ग्रहण किया। मुसलमानो में क्रूरता कम हुई, उनमें भक्ति, श्रद्धा, सहृदयता व दयालुता की प्रवृत्ति पैदा हुई। उन्होन भी हिन्दुओ के खान-पान, जाति-प्रथा, उत्सवों एव अन्धविश्वासो का ग्रहण किया। इस प्रकार दोनों सस्कृतियो के सम्पर्क से एक नवीन सस्कृति हिन्दू-मुस्लिम सस्कृति का जन्म हुआ।

ब्रिटिश काल : भारतीय समाज पर पश्चिम का प्रभाव
(British Period : Impact of West Indian Society)

भारत मे अग्रेजी राज की नीव ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने डाली। 1856 ई तक सिन्धु नदी से ब्रह्मपुत्र तथा हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक अंग्रेजो का झण्डा यूनियन जैक फहराने लगा। 15 अगस्त, 1947 को अग्रेजो के लगभग दो सौ वर्षों के शासन स मुक्ति मिली और भारत स्वतन्त्र हुआ।

ब्रिटिश प्रभाव—लम्बे समय तक अग्रेजो के सम्पर्क मे रहने के कारण भारतीय समाज पर पाश्चात्य जगत का विभिन्न क्षेत्रो में प्रभाव पडा। ईसाई मिशनरियों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार किया और निम्न जातियो एव जनजातियों के काफी लोग धर्मान्तरण कर ईसाई बन गये। भारत में अँग्रेजी शिक्षा का प्रचलन हुआ। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत एक राजनैतिक इकाई के

रूप में संगठित हुआ। सारे देश में रेल, वायुयान, डाक-तार एव समान कानूनों की व्यवस्था हुई। सारे देश की एक ही सेना बनी। देश मे राजनीतिक चेतना जाग्रत हुई, अनेक संगठन बने और देश के विभिन्न भागों में कई आन्दोलन हुए। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई। के एम पणिक्कर का मत है कि ब्रिटिश शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन भारत का एकीकरण था। यह एकीकरण भारत की भलाई के लिए नही वरन् अपने राज्य को कायम करने और उसे सुचारू रूप से चलाने के लिए किया गया। इसके लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों को सड़को एव रेलों तथा यातायात एव संचार के साधनों द्वारा जोड़ा, सारे देश में समान कानूनों एव न्यायपालिका की व्यवस्था की, उत्पादन के क्षेत्र में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित किये। पश्चिमी समाज के प्रभाव के कारण भारतीय समाज मे भी तार्किकता, समानता, स्वतन्त्रता और भाई-चारे की भावना, प्रजातन्त्रीय मूल्य, विज्ञानवाद और प्रौद्योगिक विश्व दृष्टि एव मानवतावाद का संचार हुआ। प्रदत्त एव जातीय आधारों के स्थान पर अर्जित आधारों को बल मिला।

अंग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के लिए भारत के समाजशास्त्री प्रो. एम.एन. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की अवधारणा का प्रयोग किया। पश्चिमीकरण के कारण प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, वैचारिकी और मूल्यों आदि में परिवर्तन हुआ। पश्चिमीकरण के कारण भारतीय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव निम्नांकित हैं

(1) खान-पान और रहन-सहन पर प्रभाव— अंग्रेजों के प्रभाव के कारण मॉस, मदिरा और अण्डे का प्रयोग बढ़ा। टेबल, कुर्सी पर बैठकर कॉटे व चम्मच से भोजन किया जाने लगा। चाय, कॉफी, बिस्कुट केक, आइसक्रीम, आलू, लहसुन, प्याज एव चुकन्दर आदि का प्रयोग होने लगा। पुरुष धोती-कुर्ते के स्थान पर पेन्ट शर्ट, टाई एव हैट तथा स्त्रियाँ मेक्सी,गाउन, जीन्स एव टॉपलेस वस्त्र धारण करने लगीं। दैनिक बोलचाल में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बढ़ा। रेडियो टी वी , टेप, फ्रिज कुकर, स्टोव एव गैस के चूल्हे का उपयोग किया जाने लगा।

(2) जाति प्रथा पर प्रभाव— अंग्रेजों के प्रभाव के कारण जातीय नियम कमजोर हुए, छुआछूत कम हुआ। जातियों के वंशानुगत व्यवसाय समाप्त होने लगे। जाति पंचायतें शिथिल हुईं, अन्तर्जातीय विवाह होने लगे, जजमानी प्रथा भी शिथिल हुई।

(3) स्त्रियों की स्थिति पर प्रभाव — ब्रिटिश काल में स्त्री-पुरुषों की समानता पर जोर दिया गया। स्त्रियाँ शिक्षा ग्रहण कर सार्वजनिक जीवन में भाग लेने लगी, उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लिया, व घर की चहारदीवारी से निकलकर विस्तृत जगत से परिचित हुईं।

(4) परिवार पर प्रभाव— ब्रिटिश काल मे संयुक्त परिवारों का विघटन होने लगा तथा छोटे-छोटे परिवारों की ओर रुझान बढ़ा। परिवार में वैयक्तिकता एव स्वतन्त्रता बढ़ी, कर्त्ता का नियन्त्रण शिथिल हुआ।

(5) विवाह पर प्रभाव— ब्रिटिश काल में बाल-विवाह कम हुए, विलम्ब विवाह होने लगे, विधवा पुनर्विवाह, प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, कोर्ट मैरिज होने लगे तथा विवाह एक धार्मिक संस्कार न होकर एक सामाजिक समझौता माना जाने लगा। विवाह को अनिवार्यता समाप्त हुई, एक विवाह का प्रचलन सामान्य हो गया। पति को परमेश्वर न मानकर मित्र या सहयोगी माना जाने लगा तथा कन्यादान की धारणा में भी परिवर्तन आया।

(6) धर्म पर प्रभाव— ब्रिटिश काल में ईसाई धर्मान्तरण हुआ, कई शिक्षित लोगों ने भी ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। हिन्दू धर्म की बुराइयो का दूर करने के लिए अनेक धर्म सुधार आन्दोलन हुए। राजा राममाहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहस, विवकानन्द, एनीबीसेंग्ट ने ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन एवं थियासाफिकल सासाइटी के द्वारा हिन्दू धर्म की बुराइयो का दूर करन का प्रयत्न किया। इनक प्रयत्नो स धार्मिक कर्म-काण्डों एव रूढिवादिता मे कमी आई। यदि अग्रज भारत मे नहीं आये हात ता न जान यहाँ कब तक सामाजिक बुराइयाँ प्रचलित रहतीं।

(7) शिक्षा एवं साहित्य पर प्रभाव— अंग्रेजी साहित्य का भारतीय साहित्य पर गहन प्रभाव पडा। भारत में अंग्रजी शिक्षा का प्रचलन हुआ जा सार्वजनिक शिक्षा थी। अँग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ 1835 में लार्ड मैकाल द्वारा किया गया था जिसका उद्दश्य अग्रजो का राज-काज में सहयोग दन क लिए बाबू वर्ग तैयार करना था। किन्तु अँग्रेजी शिक्षा क कई अप्रत्यक्ष प्रभाव भी पडे। भारत मे चिकित्सा, तकनीकी विज्ञान एव सामान्य शिक्षा भी प्रदान की जाने लगी।

भारतीय लेखको न लखन में पश्चिमी शैली का प्रयाग किया। शक्सपियर,, गाल्र्सवर्दी, बर्नार्ड शॉ, जॉनसन, बायरन, कोट्स एवं शैली आदि साहित्यकारों की रचनाओं का भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद, अस्तित्ववाद एव रूमानी विचारधारा का उदय हिन्दी साहित्य मे भी हुआ।

(8) कला पर प्रभाव— अंग्रेजों ने भारत के प्रमुख नगरा में भवन निर्माण का कार्य करवाया जिसमे रामन, गॉथिक तथा विक्टोरिया युग की स्थापत्य कला का मिश्रण पाया जाता है। कई फिल्मी निर्देशक पश्चिमी शैली क गीतो एव नृत्यों स प्रभावित हुए एव फिल्मो मे उनका प्रयोग किया। मॉडर्न आर्ट का प्रचलन बढा। पार्टियों, क्लबो एव सगीत सभाओं मं पाश्चात्य धुनों,यन्त्रो एव नृत्यों का प्रचलन बढा।

(9) आर्थिक क्षेत्र पर प्रभाव— अग्रजों स पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। अग्रजा न भारत मे बडे-बड कारखान स्थापित किए जिनमें मशीनो की सहायता स उत्पादन किया जाने लगा। उन्होंने भारत मे औद्योगीकरण की नीव रखी। औद्यागीकरण न नगरीकरण का भी जन्म दिया तथा यातायात एव सचार क साधनो का भी विकास हुआ। औद्योगीकरण क कारण भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी वृद्धि हुई। बैंकिग व्यवस्था भी अंग्रेजी राज की दन है। विशाषीकरण, आधुनिक पूँजीवाद, श्रमिकों की समस्याएँ औद्योगीकरण का प्रतिफल है। औद्योगीकरण न अनेक सामाजिक-आर्थिक समस्याओ का भी जन्म दिया।

(10) मानवतावाद—अग्रजों न भारत को मानवतावादी मूल्य प्रदान किय। मानवतावाद का अर्थ है किसी धर्म, जाति, लिग, आयु और आर्थिक स्थिति का ध्यान में रखे बिना सभी लोगों के कल्याण में समान रुचि रखना। समतावाद और लौकिकीकरण मानवतावाद के अग हैं।

इस प्रकार से पश्चिमीकरण क प्रभाव स भारतीय समाज एव संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए और उनका परम्परात्मक स्वरूप बदला। स्वतन्त्रता के बाद पश्चिमीकरण को गति और तीव्र हुई। साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीय एकता एव धर्म-निरपेक्षता पर पश्चिमी विचारकों के विचारों का लाभदायक प्रभाव पडा।

स्वतन्त्र भारत में भारतीय समाज
(Indian Society in Independent India)

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। देश को आजादी दिलाने में गाँधी, नेहरू, पटेल, सुभाषचन्द्र बोस, तिलक और हजारों गुमनाम लोगों ने त्याग व बलिदान किया। आजादी तो मिली लेकिन भारत का विभाजन हुआ और भारत एवं पाकिस्तान दो राष्ट्र बने। आजाद भारत के सामने शरणार्थियों एवं छोटे-छोटे रजवाड़ों को एक करने की समस्याएँ आईं। स्वतन्त्र भारत के लिए नया संविधान बनाया गया जिसे 26 जनवरी, 1950 से लागू किया गया। इसमें भारत को धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया। संविधान में सभी नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता, समानता, न्याय प्राप्त करने, शिक्षा प्राप्त करने, सांस्कृतिक विशिष्टता बनाये रखने एवं संवैधानिक उपचार आदि के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई। राज्य के लिए नीति निर्देशक तत्त्वों का भी उल्लेख किया गया जिनके अनुसार देश में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की दिशा तय की गई। वर्तमान भारतीय समाज की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं.

(1) **सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य**— भारतीय संविधान ने भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया है। अब भारत पर किसी विदेशी सत्ता का अधिकार नहीं है। भारत में राजसत्ता जनता में निहित है। पंचायत से लेकर संसद तक जनता को अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार है। यह विभिन्न राज्यों का एक संघ है।

(2) **समाजवादी समाज**— संविधान में भारत को समाजवादी राज्य घोषित किया गया है। इसमें समाजवादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न किये जायेंगे। समाजवादी समाज होने के कारण लोगों को न्यायिक समानता प्रदान की गई है। कानून के समक्ष देश के सभी नागरिक समान हैं और किसी के साथ भी धर्म, रंग, लिंग, व्यवसाय आदि के आधार पर भेद-भाव नहीं किया जायगा। इसी सन्दर्भ में सन् 1969 में राजा-महाराजाओं का दिया जाने वाला राजभत्ता भी समाप्त कर दिया गया। स्त्रियों को भी सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ समानता का अधिकार दिया गया है। अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है तथा अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों के उत्थान हेतु अनेक उपाय किये गये हैं। उनके लिए शिक्षा एवं नौकरियों में तथा पंचायत से लेकर संसद तक आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

(3) **शिक्षा में प्रगति**— आजादी के समय देश में साक्षरता का प्रतिशत लगभग 16 था जो बढ़कर 1991 में 52.21 हो गया। आज देश में शिक्षितों की संख्या बढ़ी है। अनेक शिक्षण संस्थाएँ कायम हैं। आज देश में लगभग 176 विश्वविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षण संस्थाएँ एवं महाविद्यालय, सीनियर सैकण्डरी स्कूल, उच्च प्राथमिक एवं प्राथमिक विद्यालय हैं। आज छात्राओं को चिकित्सा, इन्जीनियरिंग, व्यावसायिक एवं प्रौद्योगिक प्रशिक्षण, कम्प्यूटर, कला, विज्ञान, कानून और वाणिज्य की शिक्षा प्रदान की जा रही है। सरकार ने शिक्षा के विकास तथा उसके राष्ट्रीय स्वरूप को तय करने के लिए 1964 में कोठारी आयोग की नियुक्ति की। सन् 1986-87 से नई शिक्षा नीति लागू की गई। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए छात्रवृत्ति, बुक बैंक, शुल्क मुक्ति, छात्रावासों की सुविधा की गई तथा प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के लिए परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये। शिक्षा के लिए त्रि-भाषा फार्मूला लागू किया गया।

(4) राज्यो का पुनर्गठन—क्षेत्रवाद की समस्या का समाधान करन के लिए 1955 में राज्य पुनर्गठन आयाग की सिफारिश के अनुसार भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राजा-रजवाडों एव सामन्ती प्रथा को समाप्त किया गया, उन्हें सरकार द्वारा दिया जाने वाला राजभत्ता (प्रीवीपर्स) एव मुआवजा समाप्त किया गया। इसके साथ ही जमीदारी प्रथा भी समाप्त हा गई, भूमि सुधार क अनेक उपाय किये गये। कृषि में हरित क्रान्ति के अन्तर्गत उन्नत किस्म के बीज, खाद, नवीन यन्त्रों एव तकनीक के द्वारा कृषि उत्पादन बढाया गया तथा भारत आज खाद्यान्न क क्षेत्र में आत्मनिर्भर है।

(5) धर्म-निरपेक्षता— भारतीय सविधान ने भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया है। इसका तात्पर्य है कि भारत का कोई राजधर्म नही होगा। सभी धर्मों को फलने-फूलने का समान अधिकार हागा और किसी भी धर्मावलम्बी के साथ धर्म के आधार पर भेद-भाव नही किया जायगा। व्यक्ति का किसी भी धर्म का मानने का पूरा अधिकार होगा।

(6) पंचवर्षीय योजनाएँ सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन—भारत ने विकास के लिए नियोजित परिवर्तन का मार्ग अपनाया है। देश मे 1950 में प्रथम पचवर्षीय योजना आरम्भ की गई। देश में अब तक आठ पचवर्षीय और तीन एक-वर्षीय योजनाएँ पूरी हो चुकी हैं तथा नवी याजना चल रही है। पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा देश मे बडे-बडे उद्याग स्थापित किये गये, बाँध बनाये गये, विद्युत योजनाएँ निर्मित की गईं, खनिज, यातायात एव सचार, विज्ञान एव तकनीकी, कृषि एव सिचाई, शिक्षा एव सामाजिक सेवाओ के क्षेत्र मे प्रगति हुई।

ग्रामों के विकास के लिए 2 अक्टूबर, 1959 से ही सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की गयी जो अब एकीकृत ग्रामीण विकास योजना में सम्मिलित कर ली गई हैं। ग्राम पचायत व्यवस्था को पचायती राज के अन्तर्गत नये सिर से गठित किया गया है। नगरों के विकास के लिए नगर नियोजन की योजनाएँ चल रही हैं। सहकारिता के द्वारा उपभोक्ताओं के हितों का सरक्षण किया गया है तथा आर्थिक शायण से बचाने एव ऋण की सुविधा उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया गया है। देश में गरीबी एव बकारी को दूर करन के लिए अनेक योजनाए चल रही हैं। श्रीमती गाँधी के प्रधानमन्त्री काल में 20-सूत्री कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। अन्त्योदय एव काम के बदल अनाज याजनाओं ने भी ग्रामीण बेकारी व गरीबी का दूर करने में कुछ योग दिया है।

(7) नवीन सामाजिक विधान— परिवार, विवाह, स्त्रियों की प्रस्थिति एव अस्पृश्यता के सन्दर्भ में स्वतन्त्र भारत में अनक विधान बनाये गये हैं। विशेष विवाह अधिनियम 1954, हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, विवाह के नवीन प्रावधान करता है तथा स्त्रियों का तलाक एव विशेष स्थितियों में भरण-पोषण की सुविधाएँ दता है, बाल-विवाह पर रोक लगाता है। स्त्रियों को सम्पत्ति में उत्तराधिकार देने के लिए 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम बनाया गया, अस्पृश्यता की समाप्ति हेतु 1955 में अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम बना, दहेज को राकन के लिए दहज निरोधक अधिनियम, 1961 बना। इनके अतिरिक्त हिन्दू दत्तक ग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम, स्त्रियों व कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, नाबालिक तथा संरक्षता अधिनियम आदि ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का ऊँचा उठाने में योग दिया।

(8) **सामाजिक समस्याएँ**—इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् 1947 से लेकर आज तक भारतीय समाज को प्रगति की दिशा में आगे बढ़ाने के अनेक प्रयत्न किए गये परन्तु प्रयत्नों में आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिली। यही कारण है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पचास वर्षों बाद भी आज देश में अनेक समस्याएँ विकराल रूप धारण किये हुए खड़ी हैं जो राष्ट्रीय एकीकरण और देश के समग्र विकास में बाधक हैं। देश की प्रमुख समस्याएँ क्षेत्रवाद, भाषावाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, अशिक्षा, अपराध, बाल-अपराध, गरीबी, बेकारी, मादक द्रव्य, व्यसन, युवा-असन्तोष, बढ़ती जनसंख्या, भ्रष्टाचार आदि हैं। क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण अनेक अधिकारी एवं राजनेता सत्ता एवं अधिकारों का खुल कर दुरूपयोग करते दिखायी देते हैं. देश में नैतिक मूल्यों का पिछले पचास वर्षों में काफी ह्रास हुआ है। यह स्थिति राष्ट्र के चहुँमुखी विकास में बाधक है।

उपर्युक्त सभी समस्याओं एवं बाधाओं के उपरान्त भी स्वतन्त्र भारत ने आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से प्रगति की है। देश आधुनिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ा है। परन्तु विकास के नाम पर जितनी अपार धन-राशि खर्च की गयी है, उसका बहुत ही सीमित लाभ देशवासियों को मिल पाया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि नेताओं पर जनता का अंकुश हो ताकि नेता स्वार्थों से ऊपर उठ कर राष्ट्र-हित की दृष्टि से सोचें व काम कर सकें। इसके लिए नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकना और जन-जन में प्रखर राष्ट्रीयता को विकसित करना अनिवार्य है।

प्रश्न

1. प्राचीन भारत में समाज पर एक लेख लिखिए।
2. विभिन्न युगों में भारतीय समाज के उद्विकास को समझाइये।
3. मध्यकालीन भारत की समाज-व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
4. ब्रिटिश काल में भारतीय समाज पर पश्चिम का प्रभाव दर्शाइए।
5. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के भारत की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का उल्लेख कीजिये।



2

भारतीय समाज : प्रमुख लक्षण (विशेषताएँ), एकता एवं विविधता

(Indian Society : Major Features - Unity and Diversity)

भारतीय समाज व संस्कृति अति प्राचीन व गौरवपूर्ण है। वास्तव में किसी भी समाज की संस्थाओं का स्वरूप और उसका संगठन उस समाज की संस्कृति द्वारा निर्धारित और संगठित होता है। अत किसी भी समाज की संरचना और संस्कृति में एकता और विविधता का सिंहावलोकन करने के लिए उसकी सांस्कृतिक विशेषता का अध्ययन अनिवार्य होता है। इस दृष्टिकोण से जब हम भारतीय समाज और संस्कृति को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता उसकी सहिष्णुता व ग्रहणशीलता और गत्यात्मक प्रकृति है। इस प्रकृति का विशाल स्रोत विभिन्नता में एकता है।

भारतीय समाज मे आर्य, अनार्य, द्रविड, शक, हूण, पुर्तगाली, फ्रांसिसी तथा मंगोल, पारसी आदि अनेक प्रजातियों के लोग समय-समय पर यहाँ आए और यहाँ की संस्कृति के रंग में रंगते हुए राष्ट्रीय धारा में समा गये। इतना ही नहीं बल्कि विश्व की विभिन्न संस्कृतियो, विचारों, दर्शनों, धर्मों, भाषाओं आदि के प्रति सहनशीलता का परिचय देते हुए उन्हे अपने में समाहित किया है। फलत भारतीय समाज एव संस्कृति विभिन्नताओ की एक लीलाभूमि बन गया है। इन्हीं विविधताओं को देखकर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत विभिन्न जातियो, प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं प्रथाओं एव परम्पराओं का एक गडबडझाला देश है और इसकी संस्कृति में एकता का नितान्त अभाव है, किन्तु ऐसा निष्कर्ष भारतीय समाज, संस्कृति एव जन-जीवन को ऊपरी सतह देखकर लिया गया और इसकी आंतरिक मूलभूत एकता अनदेखी ही रह गई।

यद्यपि भारतीय समाज और संस्कृति का बाह्य स्वरूप अनेक विभिन्नताओं का पुंज है, किन्तु इसका आन्तरिक स्वरूप एक है, मौलिक व अखण्ड रूप में एक है। इस अध्याय में हम इन्ही सब बातो पर विचार करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय समाज तथा संस्कृति में किस तरह की विविधतापूर्ण एकता बनी हुई है।

भारतीय समाज की विशेषताएँ
(Characteristics of Indian Society)

भारतीय समाज एव संस्कृति मानव समाज की एक अमूल्य निधि है। यदि संसार की कोई संस्कृति अमर कही जा सकती है तो निस्सन्देह वह भारतीय संस्कृति ही है जो अपनी समस्त आभा और प्रतिभा के साथ चिरकाल से स्थायी है। अपने सुदीर्घ इतिहास में भारतवासियों ने एक ऐसी समाज-व्यवस्था एव संस्कृति का विकास किया जो अपने आप मे मौलिक, अनूठी और विश्व की अन्य संस्कृतियों एव समाज-व्यवस्थाओ से भिन्न है। इस देश के महापुरुष, तीर्थ-स्थान, प्राचीन कलाकृतियाँ, धर्म, दर्शन और सामाजिक संस्थाएँ भारतीय समाज एव संस्कृति के सजग प्रहरी रहे हैं। इस देश की संस्कृति का अजर-अमर बनाने मे इन्होने भारी योगदान दिया है। हम यहाँ भारतीय समाज एव संस्कृति की उन विशेषताओ का उल्लेख करेंगे जिनके कारण हजारों साल बीत जाने पर भी वह आज भी जीवित है।

1. प्राचीनता एवं स्थायित्व

भारत की संस्कृति एव समाज व्यवस्था विश्व को प्राचीनतम संस्कृतियों एव समाज व्यवस्थाओ मे स एक है। समय के साथ-साथ मिस्र, असीरिया, यूनान, राम आदि की प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं और उनक अवशेष मात्र ही बचे है किन्तु हजारों वर्ष बीत जाने पर भी भारत की आदि-संस्कृति व समाज व्यवस्था आज भी जीवित है। आज भी हम भारत में वैदिक धर्म को मानते हैं, पवित्र वैदिक मन्त्रो का यज्ञ एवं हवन के समय ब्राह्मणो द्वारा उच्चारण किया जाता है। विवाह वैदिक रीति स होता है। ग्राम-पचायत, जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली आज भी विद्यमान है। गीता, बुद्ध और महावीर क उपदेश आज भी इस देश में जीवित और जाग्रत हैं। आध्यात्मवाद, प्रकृति-पूजा, पतिव्रता धर्म, कर्म और पुनर्जन्म, सत्य, अहिसा और अस्तेय क सिद्धात की गूंज आज भी इस दश क लोगो को प्रेरित करती है। सदियाँ बीत गयी, अनेक परिवर्तन हुए, विदशी आक्रमण हुए, किन्तु भारतीय समाज व संस्कृति का दीपक आज भी प्रज्वलित है, उसका अतीत वर्तमान में भी जीवित है।

2. समन्वयवादी दृष्टिकोण

जनजातीय, हिन्दू, मुस्लिम, शक, हूण, ईसाई आदि सभी संस्कृतियों क प्रभाव स भारतीय संस्कृति नष्ट नही हुई वरन् उनसे समन्वय एव एकता ही स्थापित हुई हैं। मुसलमानो के सम्पर्क से 'दीन ईलाई' धर्म पनपा। मुसलमानों का सूफी सम्प्रदाय भारत क आध्यात्मवाद, योग, साधना और रहस्यवाद का संस्करण है। राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता स्थापित कर महापुरुषों द्वारा हिन्दू और इस्लाम धर्म में समन्वय करन का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार से बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म का ही अग बन गया है। डाडवल न भी कहा है कि भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है जिसमें अनक नदियाँ आकर मिलती हैं। भारतीय समाज एव संस्कृति में समन्वय की महान् शक्ति है जो निरन्तर गतिमान रही है और आज तक विद्यमान है।

3. आध्यात्मवाद

धर्म और आध्यात्मिकता भारतीय समाज व संस्कृति की आत्मा है। भारतीय संस्कृति में भौतिक सुख और भोग-लिप्सा को कभी भी जीवन का ध्येय नहीं माना गया। यहाँ आत्मा और ईश्वर के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और शारीरिक सुख क स्थान पर मानसिक एवं आध्यात्मिक आनन्द को सर्वोपरि माना गया है। इसमें भोग और त्याग का सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

4. धर्म की प्रधानता

भारतीय समाज क जनजीवन पर वेदों, उपनिषदों, पुराण, महाभारत, रामायण, भागवद् गीता, कुरान एव बाइबिल का अत्यधिक गहरा प्रभाव है। इन महान् ग्रन्थों ने यहाँ क लोगो को आशावादिता, आस्तिकता, त्याग, तप, सयम आदि का पाठ पढाया है। भारत क लोग सूर्योदय से सूर्यास्त तक तथा जन्म स मृत्यु पर्यन्त अनक धार्मिक कार्यों की पूर्ति करत हैं।

5. सहिष्णुता

भारतीय समाज एव संस्कृति की एक महान् विशषता इसकी सहिष्णुता है। भारत में सभी धर्मों जातियों प्रजातियों एव सम्प्रदायों के प्रति उदारता, सहिष्णुता एव प्रेमभाव पाया जाता है। हमार यहाँ समय समय पर अनेक विदेशी संस्कृतियों का आगमन हुआ और सभी को फलन-फूलने

का अवसर दिया गया। हमारे द्वारा असहिष्णु हाकर कभी भी विदेशियों एवं अन्य संस्कृति के लोगों पर बर्बर अत्याचार नही किये गये।

6. अनुकूलनशीलता

भारतीय सस्कृति का अमर बनाने मे इसकी अनुकूलनशील प्रवृत्ति का महान् योगदान है। भारतीय सस्कृति अपन दीर्घ जीवन के लिए समय चक्र और परिस्थितियों के अनुसार सदैव समाज क साथ सामन्जस्य करती रही है जिसक परिणामस्वरूप यह आज तक बनी रही है। भारतीय परिवार, जाति, धर्म एव सस्थाएँ समय के साथ अपने का परिवर्तित करत रहे हैं।

7. विचार और आदर्श

भारतीय सस्कृति में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो युग-युगान्तर तक व्यक्ति क अस्तित्व के आधार होत हैं। 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धात अपरिग्रह को श्रप्ठता प्रदान करता है। इसी प्रकार इस आदर्श और विचारधारा स प्ररणा प्राप्त करने वाला प्रत्यक प्राणी विश्व कुटुम्ब का सदस्य होता है। वह विश्व का एकता का पाठ पढाता है तथा सबको एक सूत्र मे बाधता है (वसुधैव कुटुम्बकम्)। भारतीय समाज और सस्कृति के ऐसे आदर्श और विचार सदैव एकता को बनाये रखन का प्रयत्न करते हैं।

8. वर्णाश्रम

प्राचीन भारतीय सस्कृति की उल्लखनीय विशषता है, वर्ण एव आश्रमो की व्यवस्था। समाज मे श्रमविभाजन हतु चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र वर्ण की रचना की गयी। ब्राह्मण समाज को बुद्धि और शिक्षा के प्रतीक हैं ता क्षत्रिय शक्ति क। वैश्य भरण पाषण एव अर्थ-व्यवस्था का सचालन करते हैं तो शूद्र समाज की सवा करते हैं।

वर्ण व्यवस्था क साथ-साथ प्राचीन मनीषियो ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर उसका चार आश्रमों- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास मे विभाजन किया था। आश्रमो का उद्देश्य मानव के चार पुरुषार्थों- धर्म, अर्थ, काम और माक्ष की पूर्ति करना है जा कि व्यक्ति का सामाजिक और व्यावहारिक जीवन सम्भव बनाते हैं। भारतीयों को वर्णाश्रम व्यवस्था विश्व इतिहास को एक अद्वितीय देन है।

9. कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त

भारतीय सस्कृति में कर्म को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यह माना जाता है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा मिलता है। श्रेप्ठ कर्म करने वाल का ऊँची यानि में जन्म और सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है जबकि बुरे कर्म करने वाले को निम्न योनि में जन्म लेना हाता है तथा नाना प्रकार के कप्ट उठाने पडते हैं। अत कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धात द्वारा भारतीयो का सदैव अच्छे कर्म करने की प्ररणा दी गयी है।

10. सर्वागीणता

भारतीय समाज एव सस्कृति की एक विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध किसी एक जाति, वर्ग, धर्म, या किसी व्यक्ति विशष से नही होकर समाज क सभी पक्षों स है और इसके निर्माण में

राजा, किसान, मजदूर, शिक्षित, शूद्र, ब्राह्मण आदि सभी का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' अर्थात् सभी सुखी हों।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय समाज और संस्कृति की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं। उन्हीं के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में सदैव एकता रही है और भारतीय संस्कृति की ज्योति आज भी प्रकाशमान है।

भारतीय समाज में विभिन्नता
(Diversity in Indian Society)

भारत एक विभिन्नताओं का देश है। भारतीय समाज और संस्कृति के विभिन्न पक्षों में सर्वत्र अनेकता के दर्शन होते हैं। क्षेत्रगत, भाषागत, जातिगत, प्रजातिगत तथा धार्मिक विभिन्नता सम्पूर्ण समाज में व्याप्त है। इसी कारण भारतीय समाज एवं संस्कृति को एक रंगीन साड़ी नहीं वरन् बहु-रंगी चुनरी की संज्ञा दी जाती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्त्वों का एक अनुपम समन्वय देखने को मिलता है। भारतीय समाज में सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ पायी जाती हैं। विभिन्न भाषा-भाषी लोग भी यहाँ मौजूद हैं। साथ ही अनेक धर्मों का जन्म-स्थल भी है। यहाँ कोई हिन्दू है तो कोई मुसलमान, कोई ईसाई है तो कोई बौद्ध, सिक्ख आदि। यह देश भौगोलिक दृष्टि से भी अनेक क्षेत्रों में बँटा हुआ है। यहाँ जलवायु सम्बन्धी भिन्नताएँ भी कम नहीं हैं। साथ ही हम लोगों के रहन-सहन, खान-पान और वेशभूषा में भी कई प्रकार की भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। हम यहाँ इन विविधताओं का इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं-

1. भौगोलिक दशाओं में विभिन्नताएँ (Geographical Diversities)

भारत एक विशाल देश है। इसी विशालता के कारण सम्पूर्ण भारतीय समाज विभिन्न क्षेत्रों में बँटा हुआ है। भारत में यदि एक ओर हिम से ढकी हुई व आकाश को छूती पर्वतों की चोटियाँ और हिमालय की लम्बी व ऊँची पर्वत श्रेणियाँ हैं, तो दूसरी ओर समुद्र की लहरों से खेलते हुए विस्तृत उपजाऊ मैदान है। यदि एक ओर राजस्थान का शुष्क मरुस्थल है जहाँ मीलों मानव का नामोनिशान तक नहीं है, तो दूसरी ओर सिन्धु-गंगा का मैदान भी है जहाँ विशाल मानव-जीवन हिलोरें ले रहा है। यहाँ दोमट और कछारी, काली और लाल विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ पायी जाती हैं। किसी क्षेत्र की जमीन सोना उगलती है, तो किसी क्षेत्र की जमीन में बबूल भी नहीं उगता। इस भौगोलिक विभिन्नता का प्रभाव यहाँ के निवासियों के रंग-रूप, बनावट, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, साज-सज्जा, भाषा, धर्म और विधि-विधानों पर पड़ता है।

2. जलवायु की विभिन्नताएँ (Climatic Diversities)

भारत की जलवायु में भी बड़ी भिन्नता देखने को मिलती है। भारत भौगोलिक दृष्टि से पाँच बड़े प्राकृतिक खण्डों में विभाजित किया गया है:-

(1) उत्तर का पर्वतीय प्रदेश, (2) उत्तरी भारत का बड़ा मैदान, (3) दक्षिण का पठारी प्रदेश, (4) राजस्थान का मरुस्थल, तथा (5) समुद्रतटीय मैदान। इन विभिन्न क्षेत्रों में जलवायु सम्बन्धी काफी भिन्नता देखने को मिलती है। मैदानी क्षेत्रों में ऋतु एवं तापमान में परिवर्तन आता

रहता है। पहाड़ी क्षेत्रों मे अधिकाशत: सर्दी का मौसम रहता है तो दूसरी ओर रेगिस्तानी प्रदेशों में गर्मी का। कई प्रदेशों मे भारी वर्षा होती है तो कई क्षेत्रों मे साल भर में मुश्किल से दो-चार इच वर्षा होती है। अतएव विभिन्न स्थानो की सास्कृतिक भिन्नता का एक कारण जलवायु सम्बन्धी भिन्नता भी है।

3. धार्मिक विभिन्नताएँ (Religious Diversities)

भारत विभिन्न धर्मों की लीलाभूमि है। मूलत: भारतवर्ष नौ धर्मों का सगम स्थल रहा है किन्तु कालान्तर मे विभिन्न सस्कृतियों के लोगो के आगमन के फलस्वरूप यहाँ अन्य धर्मों का भी प्रसार हुआ जिससे धार्मिक विभिन्नता और भी बढती गयी। यहाँ विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों की सख्या का प्रतिशत इस प्रकार है- हिन्दू 82.60 प्रतिशत, मुसलमान 11.35 प्रतिशत, ईसाई 2 43 प्रतिशत, सिक्ख 1 96 प्रतिशत, बौद्ध 0 71 प्रतिशत, जैन 0.48 प्रतिशत तथा अन्य 0 30 प्रतिशत। हिन्दू धर्म मे अनेक देवी देवताओं की पूजा-आराधना की जाती है। धार्मिक उत्सव, दान, व्रत, हवन, यज्ञ, तीर्थ-यात्रा आदि का विशेष महत्त्व है। बौद्ध धर्म में सद् दृष्टि, सद्भाव, सद् भाषण सद् कर्म, सद् निर्वाह, सद् प्रयत्न, सद् विचार और सद् ध्यान इन आठ सयमों पर बल दिया जाता है। जैन धर्म ने त्याग और अहिसा पर बल दिया है। इस्लाम धर्म एकेश्वरवादी धर्म है। सिक्ख धर्म एकेश्वरवादी व मूर्तिपूजा विरोधी है, अत: धर्मों की विभिन्नता भारत की अपनी रोचक विशेषता है।

4. भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएँ (Diversities of Language)

मानवीय अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन मानव की भाषा होती है। भाषा के माध्यम से ही विभिन्न सास्कृतिक तत्त्वो को एक पीढी दूसरी पीढी को हस्तान्तरित करती है। भारत विभिन्न भाषायी लोगो का देश है। हमारे देश में 189 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ प्रचलित हैं। भारतीय सविधान मे 18 भाषाओं को मान्यता दी गयी है। इन 18 भाषाओं के अतिरिक्त मालवी, मैथिली, मारवाड़ी भोजपुरी, पहाड़ी, राजस्थानी आदि भाषाएँ भी यहाँ महत्त्वपूर्ण हैं जिनका प्रयोग लोग बोल-चाल मे करते हैं। भाषायी भिन्नता पृथकतावाद के लिए उत्तरदायी है। हैरिसन ने आन्ध्र-प्रदेश के तीन चुनावों के अध्ययन के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि भाषायी पृथकता से लोग उद्वेगात्मक रूप से प्रभावित हैं।[1]

5. प्रजातीय विभिन्नताएँ (Racial Diversities)

भारत प्रजातियों का एक अजायबघर (Museum of Races) है। यहाँ प्रमुखत: नीग्रिटो, प्रोटोआस्ट्रेलाइड, नार्डिक, भूमध्य सागरीय, मगोल और आर्य भाषा-भाषी प्रजाति जैसे अल्पाइन, दीनारिक, आर्मीनियाई आदि पाई जाती हैं। यही कारण है कि भारत की अपनी कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं है। यह कहा जाता है कि 'स्मरणातीत युगो से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियों और सभ्यताओं का सगम स्थल रहा है और इसमें आत्मसातकरण तथा समन्वय की प्रकियाएँ चलती रही हैं। सभी प्रजातियों में शारीरिक विभिन्नताओ के साथ-साथ रहन-सहन खान पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज एव प्रथा परम्पराओं सम्बन्धी भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं।'

---

1 S S Harrison India The Most Dangerous Decades, 1960

6. जनसंख्यात्मक विभिन्नताएँ (Demographic Diversities)

इस देश में जनसंख्या की दृष्टि से अनेक भिन्नताएँ पायी जाती हैं। यहाँ विभिन्न जनजातीय लोगों की कुल जनसख्या 6.78 करोड है। प्रत्येक जनजातीय समूह को जीवन की एक विशिष्ट पद्धति है जो अन्य जनजातियों की जीवन-पद्धति से भिन्न है। भारत की जनसंख्या में संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। यहाँ 1901 में देश की जनसख्या करीब 23 करोड थी जो 1991 में बढ कर 84.63 करोड हो गयी। यहाँ पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का अनुपात कम है। वर्तमान में देश में 1,000 पुरुषों पर 927 स्त्रियाँ हैं। देश के विभिन्न भागों में जनघनत्व (Density of Population) में भी काफी अन्तर पाया जाता है। पूरे देश का जनघनत्व 216 व्यक्ति प्रति वर्ग किलामीटर है। यहाँ 76 7 प्रतिशत लोग गाँवों में तो 23.3 प्रतिशत लोग नगरों में निवास करते हैं। इस देश के विभिन्न भागों में साक्षरता का प्रतिशत भी भिन्न-भिन्न है। देश की कुल जनसख्या में 52.21 प्रतिशत लोग साक्षर हैं। पुरुषों में साक्षरता का प्रतिशत 63.86 और स्त्रियों में 39.42 है। राजस्थान में साक्षरता का कुल प्रतिशत 38.81 है। पुरुषों में 53.07 तथा महिलाओं में केवल 20.84 है। जनसख्या सबंधी इन विविधताओं के कारण भारतीय समाज विभिन्न खण्डों में बँटा हुआ है।

7. सांस्कृतिक विभिन्नताएँ (Cultural Diversities)

भारत के विभिन्न प्रदेशों में भाषा, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, कला, सगीत तथा नृत्य, लोकगीत, लोकगाथा, विवाह-प्रणाली तथा जीवन सस्कारों में हमें अनेक रोचक व आकर्षक भेद देखने को मिलते हैं। ग्रामीण और नगरीय लोगों की, हिन्दू और मुसलमानों की परम्परावादी और आधुनिक कहे जाने वाले लोगों की वेश-भूषा और खान-पान में रात-दिन का अन्तर है। यहाँ विभिन्न नृत्य शैलियों के अतिरिक्त तुर्की, ईरानी, भारतीय व पाश्चात्य चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला के विविध रूप देखने को मिलते हैं। यहाँ मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, स्तूपों आदि में कला की भिन्नताओं का सरलता से पता लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त सभी विभिन्नताओं के बावजूद भारत के विभिन्न भागों में एक दूसरे के साथ निकट का सम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध शरीर और उसके विभिन्न अंगों के बीच पाया जाता है। इस सम्बन्ध में फिलिप मेसन का कथन है - लोगों में सम्बन्धों की विविधता तथा अन्य समुदायों के प्रति जागरूकता ने भारतीयों में भिन्नता में एकता (Unity in Diversity) के विचार को पनपाया।[1]

भारतीय समाज में विभिन्नताओं में मौलिक एकता (Fundamental Unity among Diversities in India)

भारतीय समाज और सस्कृति के अन्तर्गत पायी जाने वाली उपर्युक्त विभिन्नताओं को देखते हुए कहा जाता है कि भारतीय समाज अनेक क्षेत्रों में विभक्त विभिन्न प्रजातियों, भाषाओं, जनजातियों, पशु-पक्षियों तथा विभिन्न धर्मों के अनुयायियों का एक विशाल अजायबघर है जिसमें

1 Philip Mason (ed) India & Ceylon Unity & Diversity p.27

विभिन्नता ही विभिन्नता दिखलाई पडती है। इसके एक छोर से दूसरे छोर के बीच थोडी-थोडी दूरी पर भाषागत, जातिगत, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, विधि-विधान, रीति-रिवाज सम्बन्धी अन्तर पाये जाते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. रामनाथ शर्मा का कथन है कि पजाब, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र, मद्रास (चेन्नयी), मुम्बई, राजस्थान आदि में स्त्रियों की वेश-भूषा को लेकर बनाई गई गुडियाएँ एक अच्छी खासी नुमाइश-सी लगती हैं। यही बात पुरुषों की वेश-भूषा के बारे में कही जा सकती है।[1] परन्तु हम यदि भारतीय समाज व जन-जीवन का गहराई से अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि इन विभिन्नताओं और विषमताओं के पीछे आधारभूत अखण्ड मौलिक एकता भारतीय समाज में व्याप्त है जो संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट विशेषता है। बाहरी तौर पर तो विषमता और अनेकता ही झलकती है परन्तु इसके अन्तर में आधारभूत एकता है जो देशवासियों को एक सूत्र में पिरोये हुए है।

विभिन्नताओं के होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र में एकता के दर्शन होते हैं। इस सन्दर्भ में सर हर्बर्ट रिज़ले ने उचित ही लिखा है- भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है। वास्तव में भारत का एक विशिष्ट चरित्र एवं व्यक्तित्व है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है।[2] सी. ई. एम. जोड के अनुसार "जो भी कारण हो विचारों तथा जातियों के अनेक तत्वों में समन्वय अनेकता में एकता उत्पन्न करने की भारतीयों की क्षमता एव तत्परता ही मानव जाति के लिए इनकी विशिष्ट देन रही है।" भारत की विभिन्नता में एकता के दर्शन जिन क्षेत्रों में किये जाते हैं वे इस प्रकार हैं-

1. भौगोलिक विविधता मे एकता

यद्यपि भारतवर्ष को भौगोलिक दृष्टिकोण से कई क्षेत्रों में विभक्त किया गया है फिर भी भारत एक सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई है। प्रायद्वीप का सीमा क्षेत्र दुर्गम हिमाच्छादित पर्वतों, सागरों का बना है जो इस देश के लोगो को अन्य देशों व वहाँ की संस्कृतियों से पृथक् तो करता ही है, साथ ही इस भू-भाग में बसने वालों को राष्ट्रीय स्वरूप भी प्रदान करता है। यहाँ की पर्वत मालायें, नदियाँ, कछार, पठार, मैदान तथा सागर तट एक दूसरे के पूरक होकर जन जीवन को प्रभावित करते हैं तथा किसी एक भू-भाग पर आक्रमण अथवा अतिक्रमण होने पर समूचा देश उद्वलित हो उठता है।

2. विभिन्न धर्मों में एक ही स्वरूप

देश में विभिन्न धर्मावलम्बी हैं जो अपनी पद्धति के अनुसार पूजा उपासना करते हैं। ये धर्म व्यक्ति के जन्म व जाति से जुडे रहते हैं। देश के सभी क्षेत्रों मे विभिन्न धर्मावलम्बियो के तीर्थ-स्थल हैं। आध्यात्म, मत-मतान्तर एव साहित्य ने एक दूसरे धर्म से बहुत कुछ अंगीकार किया है और जन-जीवन पर गंगा जमुना ने बहुरंगी छवि छोडी है। धार्मिक सहिष्णुता का पराक्रम ऐसा रहा है कि सभी धर्म एक ही रंग मे रंग से गये हैं।

1 शिक्षा और एकता विशेषांक : भारतीय संस्कृति में विविधता में एकता पृष्ठ 33
2 H Risley People of India

3. सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता में एकता

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसे लोगों के परिवार, विवाह, रीति-रिवाज, वस्त्र शैली आदि में भी पर्याप्त भिन्नता के बावजूद भारतीय समाज व्यवस्था में सांस्कृतिक एकता के दर्शन होते हैं। संयुक्त परिवार-प्रणाली, जाति प्रथा, ग्राम-पंचायत, गौत्र व वंश व्यवस्था भारतीय समाज के आधार रहे हैं। रक्षा बन्धन,दशहरा, दीपावली, होली, ईद, मोहर्रम आदि त्यौहारों का फैलाव समूचे भारत में है। इसी प्रकार सारे देश में जन्म-मरण के संस्कार व विधियाँ, विवाह-प्रणालियाँ, शिष्टाचार, आमोद-प्रमोद, उत्सव, मेलों, सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं में पर्याप्त समानता देखने को मिलती है। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने ठीक ही कहा है कि भारतीय संस्कृति की कहानी एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन प्रतिमानों के पूर्ण संयोग के विकास की कहानी है। यह प्राचीन काल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सदैव बनी रहेगी। दूसरी संस्कृतियाँ नष्ट हो गयी परन्तु भारतीय संस्कृति व इसकी एकता अमर है।

4. प्रजातीय विभिन्नता में एकता

यह सच है कि भारतवर्ष प्रजातियों का एक अजायबघर है। यहाँ विश्व की तीन प्रजातियाँ श्वेत, पीत और श्याम वर्ण तथा इनकी उप-शाखाओं के लोग निवास करते हैं। प्रजातीय भिन्नता होने पर भी अमेरिका एवं अफ्रीका की भाँति यहाँ प्रजातीय संघर्ष एवं टकराव रंगभेद के आधार पर नहीं हुए वरन् पारस्परिक सद्भाव और सहयोग ही पनपा है। बाहर से आयी आर्य, द्रविड, शक, हूण, तुर्क, पठान,मंगोल आदि प्रजातियाँ हिन्दू समाज में इतनी घुल मिल गई हैं कि इनका पृथक् अस्तित्व आज पहचानना कठिन है।

5. जातीय विभिन्नता में एकता

भारत में विभिन्न जातियाँ पायी जाती हैं, जिनकी अपनी संस्कृति, प्रथाएँ और रीति-रिवाज हैं। फिर भी व सभी हिन्दू जाति-व्यवस्था की ही अंग रही हैं और साथ ही जजमानी प्रथा द्वारा एक दूसरे पर निर्भर रही हैं। विभिन्न जातियों के लोग भारत की धरा पर रहते हुए एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं और उनमें जाति-गत पृथकता होने पर भी आन्तरिक एकता पायी जाती है। उस एकता का प्रत्यक्ष दर्शन युद्ध जैसी संकटकालीन स्थिति में होता है जब सब संकट का सामना करने के लिए एक साथ उठ खडे होते हैं।

6. राजनीतिक विविधता में एकता

इसमें सन्देह नहीं कि भारत में सदैव अनेक राज्य बनते बिगडते रहे हैं किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत सदैव एक रहा है। भारत के सभी महत्वाकांक्षी सम्राटों का ध्येय सम्पूर्ण भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर चक्रवर्ती बनने का रहा है और इसी ध्येय से राजसूय, वाजपेय, अश्वमेघ यज्ञ किये जाते थे और राजाधिराज, चक्रवर्ती आदि उपाधियों से सम्राट अपने को विभूषित करके यह व्यक्त करते थे कि भारत का विस्तृत भूखण्ड राजनीतिक तौर पर वास्तव में एक है। मध्य युग के कई मुसलमान बादशाहों जैसे अलाउद्दीन, अकबर, औरंगजेब द्वारा सम्पूर्ण भारत पर राज्य करने के प्रयत्न किये गए और वे इसमें सफल भी हुए। स्वतंत्रता के बाद सारे देश में एक ही प्रजातन्त्रीयसरकार की स्थापना हुई। राजनीतिक एकता और राष्ट्रीय भावना के आधार पर

ही राष्ट्रीय आन्दालनो व स्वतन्त्रता सग्राम मे दश क विभिन्न प्रान्तो क निवासियो ने खुलकर सक्रिय भाग लिया। इस राष्ट्रीय एकता को परख चीन एव पाकिस्तान क आक्रमण क दौरान सामन आई।

7. ऐतिहासिक विभिन्नता मे एकता

प्राचीन काल स ही भारत म विभिन्न धर्मों एव प्रजातियों क लाग आत रह हैं। उनको संस्कृति मे पृथकता हाना स्वाभाविक हे, किन्तु जब व भारत मे स्थायी रूप स बस गय ता उन्होन एक समन्वित संस्कृति एव समान परम्पराओ व इतिहास की रचना की। तात्पर्य यह है कि एतिहासिक दृष्टिकाण स भी भारतीय समाज व संस्कृति मे सदैव एकता विद्यमान रही है।

8. भाषाई विभिन्नता मे एकता

भारतवर्ष म भाषाआ की बहुलता हे, परन्तु राचक तथ्य ता यह हे कि व सभी एक ही साँच मे ढली हुई हैं। अधिकाश भाषाओं की वर्णमाला एक ही हे व उन सभी पर सस्कृत भाषा का प्रभाव दखन का मिलता है। डॉ. लूनिया न लिखा है कि ईसा स पूर्व तृतीय शताब्दी म इस विशाल देश की एक ही राष्ट्रभाषा प्राकृत भाषा थी। कतिपय शताब्दी पश्चात् सस्कृत जैसी एक अन्य भाषा ने इस उप महाद्वीप क दूरस्थ कानो मे भी अपना प्रभाव जमा लिया। त्रिभाषा फार्मूल क अन्तर्गत शिक्षण सस्थाओ म छात्रो का हिन्दी, अग्रजी व एक अन्य प्रान्त की भाषा सिखायी जाती है। इसस विभिन्न भाषा-भाषियो क बीच एकता क भाव पैदा हुए हैं। समस्त दश क विद्वानो न समाज को एक सूत्र में पिरान का काम पहले प्राकृत व सस्कृत भाषा द्वारा किया बाद म अग्रजी एव आज हिन्दी द्वारा कर रहे हैं।

9. कलात्मक विभिन्नता मे एकता

भारतीय जीवन में कला की एकता भी कम उल्लेखनीय नही है। स्थापत्य कला, मूर्तिकला चित्रकला, नृत्य, सगीत आदि क क्षत्र मे हम अखिल भारतीय समानता दखन का मिलती है। दश क विभिन्न भागो मे बने मन्दिरो मस्जिदो, गिरजाघरो आवास भवनों तथा इमारतों मे भी कला क अपूर्व संयाजन का आभास हाता है। दरबारी, ध्रुपद भजन, टप्पा, गजल यहाँ तक कि पाश्चात्य धुना का भी विस्तार सार भारतवर्ष मे है। इसी प्रकार भरतनाट्यम, कथककली, कत्थक आदि नृत्य भारत क सभी भागो में प्रचलित हैं। अत कला क क्षत्र मे भी भारत मे अखण्ड एकता है।

साथ ही साथ समान आर्थिक हित, समान अवसर और सकट तथा राजनैतिक चतना आदि न भी विविधतापूर्ण भारतीय समाज व सस्कृति में एकता पेदा की है। डॉ. राधाकृष्णन ने उचित ही कहा है भारत की सस्कृति में एकता क चिन्ह पाय जात हैं, यद्यपि परीक्षण करन पर व विभिन्न प्रकार क रगों मे बिखर दिखत हं। यह भिन्नता पूर्ण रूप स समाप्त नही हा सकी है। यद्यपि सभ्यता क उदय से लकर अब तक दश म नताओ क मन मस्तिष्क म एकता क विचार घूमत रह हैं।'

उपर्युक्त विवरण स स्पष्ट है कि बाहरी तौर पर भारतीय समाज सस्कृति व जनजीवन म विभिन्नताएँ दिखलाई दने पर भी भारत एक है, मोलिक व अखण्ड रूप स एक है। एक है इसकी संस्कृति, धर्म, भाषा, विचार और राष्ट्रीयता। इस एकता का नष्ट नही किया जा सकता। हजारो वर्षो

1 Dr Radhakrishnan Religion and Society p 102

की अग्नि-परीक्षा और विदेशी आक्रमणों ने इस सत्य को उजागर किया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित एक कविता के भावार्थ के अनुसार "भारत महान् मानवता के लिए एक पुण्य तीर्थ के समान है। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यों की इतनी धाराएँ (प्रजातियाँ) दुगुने वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आई और महा समुद्र रूपी इसी भारत में समाकर घुल मिल गईं। समय-समय पर जो लोग रक्त की धारा बहाते हुए, उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए, रेगिस्तानों और पर्वतों को लाँघकर इस देश में आए, वे सबके सब एक होकर भारत माँ की गोद में विद्यमान हैं।"

विनोबाजी ने भारत की इस विभिन्नता में एकता को बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है कि भारत में अनेक धर्म, भाषाएँ और जातियाँ हैं। यह महान् भूमि अनेक सामाजिक समूहों का संगम स्थल रही है। इस प्रकार का महान् दृश्य अन्य कोई देश उपस्थित नहीं करता जहाँ भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले भिन्न-भिन्न धर्मों के उपासक और भिन्न-भिन्न जाति के लोग एक साथ बस गये हैं फिर भी उल्लेखनीय है कि सभी लोग भारत को अपना घर, अपना देश मानते हैं। अतः भारतीय समाज और संस्कृति के अनेक स्वरूप होते हुए भी भारतीय संस्कृति एक है, क्योंकि अनेकता में एकता ही इसकी महानता की धोतक है अनेकता में एकता अर्थात् 'अविभक्त विभक्तेषु' ही इसकी आत्मा है।

प्रश्न

1. 'भारत में विविधता में भी एकता निहित है।' इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. 'भारतीय समाज तथा संस्कृति में एकता एवं विविधता' पर एक लेख लिखिए।
3. भारतीय समाज और संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।



राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा को अनेक रूपों में देखा-समझा गया है, जैसे राजनीतिक व प्रशासकीय दृष्टि से एक सत्ता के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे राज्यों के बँध जाने, सांस्कृतिक-सामाजिक दृष्टि से एक ही प्रकार की सांस्कृतिक प्रथाओं, रीति-रिवाजों का पालन करने, एक भाषा, त्यौहारों, उत्सवों आदि के प्रचलित होने तथा मानसिक दृष्टि से सभी लोगों में एकता की भावना के उत्पन्न होने के रूप में। इस प्रकार कुछ लोग राष्ट्रीय एकता को मूर्तरूप में देखते हैं तो कुछ इसकी व्याख्या मानसिक बन्धनों के रूप में अमूर्त रूप से करते हैं।

डॉ. घुरिये ने राष्ट्रीय एकीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है, "यहाँ राष्ट्रीय एकीकरण को मनोवैज्ञानिक और शैक्षणिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित या वर्णित किया जा सकता है जिसमें एकता, दृढ़ता और सम्बद्धता की भावना का विकास सम्मिलित है, जिसमें लोगों के हृदयों में सामान्य नागरिकता की धारणा तथा राष्ट्र के प्रति वफादारी की भावना पायी जाती है।"[1] डॉ. घुरिये ने अपनी परिभाषा में राष्ट्रीय एकीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है जिसमें मानसिक एवं शैक्षणिक प्रक्रिया के साथ-साथ लोगों के मन में राष्ट्र के प्रति एकता, दृढ़ता, संगठन और वफादारी की भावना पायी जाती है। ऐसे सभी लोग अपने को एक ही राष्ट्र का नागरिक स्वीकार करते हैं। सम्बद्धता की भावना राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही भावना लोगों को एक सूत्र में पिरोती है।

ब्रजमोहन के अनुसार, "हम राष्ट्रीय एकीकरण को एक मनो-सामाजिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसमें स्थानीय वफादारी से परे राष्ट्र द्वारा स्वीकृत उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सभी समूहों द्वारा सहभागिक प्रयास किया जाता है। एक अव्यवहार्य लक्ष्य के रूप में राष्ट्रीय एकीकरण एक अमूर्त धारणा है क्योंकि इच्छित और वास्तविक स्तर में सदैव ही पिछड़न मौजूद रहती है।"[2]

इस प्रकार राष्ट्रीय एकीकरण को एक मानसिक तथा शैक्षणिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। एकीकरण की स्थिति में विभिन्न इकाइयाँ अपने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक, जातीय एवं क्षेत्रीय भेदभावों को भुलाकर राष्ट्र-भक्ति एवं देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर सामूहिक कल्याण के लिए प्रयत्न करती हैं। राष्ट्रीय एकीकरण की अवस्था में सभी देशवासी छोटे-मोटे मतभेदों और संकुचित स्थानीय स्वार्थों को भुलाकर एकात्मकता की अनुभूति करते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि सम्पूर्ण देश एक है, सारे देशवासी हमारे बन्धु-बान्धव हैं। इस स्थिति में सभी लोगों में अपनत्व की भावना पायी जाती है और उनके लिए सारा देश एक विराट पुरुष के रूप में प्रेरणा का स्रोत होता है।

---

1 "Herein is defined or described national integration as a psychological and educational process involving the development of a feeling of unity, solidarity and cohesion in the hearts of the people a sense of common citizenship (destiny) and a feeling of loyalty to the nation."
— G S Ghurye *Social Tension in India* p 502

2 "We may define national integration as a psycho-social process that involves beyond parochial loyalties a common participation of all groups towards the accomplishment of nationally accepted goals As a utopian target national integration is an abstract concept because the lag between desired and real level would always exist."
— Brij Mohan *India's Social Problems* p 108

राष्ट्रीय एकीकरण के आधार
(Bases of National Integration)

राष्ट्र की एकता का निर्माण किसी एक तत्त्व के सम्मिलन से न होकर कई तत्त्वों के सम्मिलन से होता है। वरनर और लनडकर ने सन् 1950-54 में अमेरीकन जरनल ऑफ सोशियोलॉजी में अपने एक लेख 'एकीकरण के प्रकार और उनका माप' में चार प्रकार के एकीकरण का उल्लेख किया है-(1) सांस्कृतिक एकीकरण, (2) आदर्शात्मक एकीकरण, (3) संरचनात्मक एकीकरण, (4) प्रकार्यात्मक एकीकरण। इन चारों प्रकार के एकीकरण में चार भिन्न तत्त्वों को आधार माना गया है। जेम्स एस कालमेन एवं कार्ल जी. राजवर्ग ने भी राष्ट्रीय एकीकरण के दो प्रकारों का उल्लेख किया है-(1) राजनीतिक एकीकरण, (2) भू-क्षत्रीय एकीकरण। इन दोनों वर्गीकरणों का आधार क्रमश: राजनीतिक सत्ता और प्रशासन तथा भौगोलिक इकाइयाँ हैं।

भारत में अनेकता के बीच भी एकता के दर्शन होते हैं। भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की अवस्था को निर्मित करने वाले प्रमुख तत्त्व एवं आधार इस प्रकार हैं-

(1) भौगोलिक एकता—भौगोलिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत को हम एक इकाई के रूप में देख सकते हैं। उत्तर में हिमालय एवं दक्षिण में हिन्द महासागर इसकी सीमा तय करते हैं। कुछ समय पूर्व तक बर्मा, श्रीलंका, पाकिस्तान और बंगला देश भी भारत की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत ही आते थे। वर्तमान में कश्मीर से कन्याकुमारी तक और असम से गुजरात तक भारत राष्ट्र फैला हुआ है। उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में पुरी और पश्चिम में द्वारिका भारत के धार्मिक तीर्थ-स्थल हैं जो सभी देशवासियों को एकता के सूत्र में बाँधते हैं और उनमें एक ही भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने की भावना को जाग्रत करते हैं। देश की प्राकृतिक सीमाओं ने देशवासियों में एकता और जन्म-भूमि के प्रति अगाध प्रेम पैदा किया है। "माता भूमि पुत्रो अहं पृथिव्या" (पृथ्वी मेरी माँ है और मैं इसका पुत्र हूँ), "जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि" (जिस धरती पर जन्म लिया है वह स्वर्ग से भी प्यारी है) आदि धारणाओं ने देश के लोगों में बलिदान और त्याग की भावना पैदा की है। भारत माता या हिन्दुस्तान जैसे शब्दों के उच्चारण मात्र से हमारे शरीर में एक स्पन्दन पैदा हो जाती है।

(2) ऐतिहासिक एकता— सम्पूर्ण भारत का एक ही इतिहास रहा है इतिहासवेत्ताओं की मान्यता है कि अति प्राचीन काल में सम्पूर्ण भारत में द्रविड़ों का निवास था, फिर यहाँ आर्यों ने आक्रमण किया और वे यहीं बस गये। धीरे-धीरे आर्य संस्कृति सारे भारत में फैल गयी। वैदिक युग से आज तक का भारतीय इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यहाँ विभिन्न धर्म मत, सम्प्रदाय, जातियाँ और प्रजातियाँ बनी रही हैं, फिर भी देश में समन्वय और एकता की भावना साधारणत सदैव ही मौजूद रही है।

(3) धार्मिक समन्वय – भारत विभिन्न जातियों-प्रजातियों की ही नहीं वरन् अनेक धर्मों की जन्म भूमि भी रहा है। हिन्दू, जैन बौद्ध एवं सिक्ख धर्मों का उदय भारत में ही हुआ है। प्रत्येक धर्म में भी कई मतमतान्तर हैं और उनके अनुयायी हजारों वर्षों से साथ-साथ निवास कर रहे हैं। ऊपरी तौर पर इन धर्मों में हमें भिन्नता दिखायी देती है किन्तु सभी के मूल सिद्धान्तों में मौलिक समानता है। सभी धर्म आध्यात्मवाद ईश्वर नैतिकता दया ईमानदारी सत्य अहिंसा आदि

में विश्वास करते हैं। धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की भावना ने ही सभी लोगों में एक होने अर्थात् एकीकरण का भाव पैदा किया है। देश के चारों कोनो में स्थित हमारे धार्मिक तीर्थ-स्थल भी धार्मिक एकता के प्रतीक हैं। गाँव के कुएँ पर स्नान करते समय एक व्यक्ति गगा, गोमती, नर्वदा, कावेरी, सिन्धु, सरस्वती आदि सभी नदियों से उस जल में प्रवेश की प्रार्थना करता है। इस प्रकार से देश के लोग विभिन्न भागों में स्थित नदियों, पहाड़ों, मन्दिरों और तीर्थ स्थानों के उपासक हैं जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म ने भारत को सदियों से एकता के सूत्र में बाँधने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। यहाँ इस्लाम एवं ईसाई धर्म को मानने वाले लोग भी करोड़ों की सख्या में हैं। लेकिन भारत एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है जहाँ प्रत्यक को अपन धर्म पालन की पूर्ण स्वतन्त्रता है। किन्तु जब धार्मिक विद्वेष पनपता है तो वह एकता के मार्ग में बाधक बन जाता है। परन्तु यदि देशवासियों में अटूट राष्ट्र-प्रेम कूटकूट कर भरा हो तो धार्मिक मतमतान्तर राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक सिद्ध नही होते।

(4) सामाजिक-सांस्कृतिक एकता—प्राचीन काल से ही भारत की सामाजिक सरचना एवं सस्कृति में एकता के दर्शन होते हैं। सयुक्त परिवार प्रणाली, जाति व्यवस्था, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सम्पूर्ण भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही मौजूद रही हैं। भाषा, रहन-सहन और खान-पान में भेद होने के बावजूद भी कई सामाजिक-धार्मिक उत्सवों एव त्यौहारों का प्रचलन सामान्य रूप से सारे देश में रहा है। होली, दिवाली, रक्षा-बन्धन, दशहरा, राम नवमी जैसे त्यौहार धूमधाम से सभी प्रान्तों में मनाये जाते हैं। राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा, सीता, लक्ष्मी, सरस्वती आदि का पूजन सभी लोग करते हैं। आध्यात्मवाद, पुनर्जन्म, जीवन-चक्र,स्वर्ग-नरक आदि से सम्बन्धित धारणाओं में सभी भारतीयों का विश्वास रहा है। सदियों से पुरानी अनक प्रथाएँ, रीति-रिवाज, रूढ़ियाँ एव परम्पराएँ अब भी यहाँ प्रचलित हैं। सास्कृतिक सहिष्णुता के कारण यहाँ अनक बाह्य सस्कृतियाँ भारतीय सस्कृति में विलीन हो गयी। भारतीय सस्कृति का स्वरूप अनेक सस्कृतियों के सम्पर्क के बावजूद भी अक्षुण्ण बना रहा। वर्तमान समय में भी विभिन्न धर्मों, जातियों, क्षेत्रों एव भाषायी समूहों के बावजूद भी यहाँ एकता के भाव मौजूद हैं। शिक्षितों एव अशिक्षितों, ग्रामीण एवं शहरी लोगों तथा प्रशासक एव जनता में सामाजिक दृष्टि से निर्माणात्मक सम्बन्ध आज कायम हैं। प्रजातन्त्र ने देश में भाई-चारे और समानता की भावना के विकास में योग दिया है।

(5) राजनीतिक एकता—राजनीतिक एकता से तात्पर्य है-सम्पूर्ण देश का एक केन्द्रीय सत्ता के शासन में होना। अशोक एवं अकबर के समय को छोडकर सम्पूर्ण भारत कभी भी एक [illegible] रहा। अग्रेजों के शासनकाल मे पहली बार सारे देश पर एक ही सरकार [illegible] राजनीतिक सीमा के साथ-साथ इस समय भौगोलिक सीमा का भी निर्धारण हुआ। [illegible] रूप से भारत में राजनीतिक एकता का उदय स्वतन्त्रता के सघर्ष के दौरान हुआ जो [illegible] तक बना हुआ है।

(6) मानसिक एकता—मानसिक एकता का अर्थ है कि भारत के विभिन्न प्रान्तों में [illegible] वाले, विभिन्न धर्मों को मानने वाले, अनेक सस्कृतियों एव रीति-रिवाजों को मानते हुए सभी लोग मानसिक रूप से अपने आप को भारत राष्ट्र का एक अग मानें तथा व्यक्तिगत एवं क्षेत्रीय हितों के स्थान पर राष्ट्रीय हितों को महत्त्व दें। सभी देशवासी अपने को मानसिक एकता के सूत्र में बँधा हुआ महसूस करें और अवसर आने पर बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर रहें। इस प्रकार

मानसिक एकता में एक राष्ट्रीय मानस (मन) के निर्माण की स्थिति पायी जाती है। इस प्रकार की एकता हमें भारत-चीन तथा भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय देखने को मिली जब सारा राष्ट्र छोटे-मोटे मतभेदों को भुलाकर एक विराट पुरुष के रूप में उठ खड़ा हुआ।

(7) जातीय एकता—हिन्दू जाति-व्यवस्था एक खण्डात्मक संरचना है जिसमें अनेक उपजातियाँ सम्मिलित हैं। प्रत्येक खण्ड की अपनी विशेषताएँ, रीति-रिवाज और प्रथाएँ हैं। इन विभिन्नताओं के बावजूद सभी जातियों में कई समानताएँ भी हैं। विभिन्न जातियों के बीच पायी जाने वाली पारस्परिक अन्त:निर्भरता ने भी जातियों को एकता के सूत्र में पिरोये रखा। प्रारम्भ में भारत विभिन्न धर्मों, प्रजातियों एवं संस्कृतियों का द्रवण-पात्र रहा है। समय समय पर अनेक बाह्य आक्रमणकारी लोग यहाँ आते रहे हैं किन्तु वे सभी भारतीय जाति-व्यवस्था में घुल-मिल गये और उसी के अंग बन गये। जाति व्यवस्था ने सारे भारत को एकता उस समय भी बनाये रखी जबकि सम्पूर्ण यूरोप बर्बरता के दलदल में फँसा हुआ था। राष्ट्रीय एकीकरण के विकास में समान आर्थिक हितों की पूर्ति ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। सभी देशवासी अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए एक होकर प्रयास करते रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओं और विकास योजनाओं ने भारतीयों के मन में एकता का भाव पैदा किया है।

सामान्य आधिपत्य और संकट भी एकता का निर्माण करने में योग देते हैं। अंग्रेजों के शासन को समाप्त करने के समय तथा चीन और पाकिस्तान के युद्ध के दौरान सारे देश में एकता का अपूर्व भाव दिखायी पड़ता था।

राजनीतिक चेतना भी राष्ट्रीय एकीकरण के निर्माण के लिए आवश्यक है। भूतकालीन राजनीतिक जीवन और भविष्य के राजनीतिक जीवन की आकांक्षाएँ भी लोगों को राष्ट्रीय एकीकरण के सूत्र में पिरोने में सहायक हैं।

स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत प्राचीन समय से ही ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय आधारों पर एकता के सूत्र में बँधा रहा है, किन्तु समय-समय पर इसकी राजनीतिक एकता बनती और बिगड़ती रही है, फिर भी एकता के अन्य तत्त्वों ने राष्ट्र के सभी लोगों को एकीकरण के सूत्र में पिरोये रखा है।

भारत में राष्ट्रीयता का उदय
(Rise of Nationalism in India)

भारत में राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्रीय एकता के उदय का ऐतिहासिक दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) अंग्रेजों के पूर्व का काल,
(2) अंग्रेजों के समय में, तथा
(3) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का काल।

(1) अंग्रेजों के पूर्व का काल—यह काल प्राचीन समय से लेकर अंग्रेजों के आवागमन के पूर्व तक रहा है। इस काल में सारे देश में आध्यात्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एकता थी, किन्तु राजकीय और प्रशासकीय एकता नहीं थी। इस प्रकार की एकता को बनाये रखने में यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों एवं सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्वों का योग रहा है। हिमालय

से लेकर कन्याकुमारी तक फैले इस विशाल उपमहाद्वीप मे अनक भौगोलिक विषमता तथा जलवायु सम्बन्धी भिन्नताएँ हैं। घन जगल, रेगिस्तान, समुद्रतटीय भाग, कलकल बहती नदियाँ एव विभिन्न प्रकार की वनस्पति ने भारतीयों के जीवन, सामाजिक संगठन एव इतिहास को प्रभावित किया है। अनेक मानवशास्त्रीय और पुरातत्वीय खोजों ने इस बात का स्पष्ट किया है कि प्राचीन समय स ही भारत एक सामाजिक एव सास्कृतिक इकाई रहा है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सस्कृति वैदिक युग से भी प्राचीन है। आधुनिक भारतीय समाज के अवशेष पाषाण युग और पूर्व-पाषाण युग में भी मिलते हैं जो यह बताते हैं कि सम्पूर्ण भारत का एक सामान्य इतिहास रहा है। प्राचीन काल से ही यहाँ अनेक धर्मों, प्रजातियो और सस्कृतियो क लाग आत रह, किन्तु उनका काई पृथक् अस्तित्व नहीं बना रहा वरन् वे भारतीय सस्कृति एवं समाज-व्यवस्था में विलीन हो गय। आर्यों के आगमन से ही यहाँ की समाज-व्यवस्था में जाति जैसी सस्था का उदय हुआ जो अब तक चली आ रही है। इस व्यवस्था न समाज क विभिन्न उपखण्डों का एकता में बाँधे रखा है। जाति पचायत, ग्राम पचायत, सयुक्त परिवार प्रणाली आदि सामाजिक सगठनों का प्रचलन भी प्राचीन काल से हो रहा है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पौत्र अशोक के समय में भी सम्पूर्ण भारत एक था। तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयों में भारत के विभिन्न भागों स छात्र पढने आते थ। विदेशी पर्यटक मेगस्थनीज ने अपन यात्रा वर्णन में भारतीय संस्कृति की एकता का उल्लेख किया है। महाभारत काल में भी राज-घराने के लोगो ने भारत क विभिन्न भागो में विवाह द्वारा अपने सम्बन्ध स्थापित किये थे। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी गान्धार देश (वर्तमान अफगानिस्तान) की थी। इस प्रकार से सौवीरा (सिन्ध), कामरूप (असम), द्रविड देश (मदुराई), विदर्भ (बरार) आदि स्थानो से भी यहाँ क शाही घरानों के सम्बन्ध थे। स्वय श्रीराम न जो अयोध्यावासी थे, जनकपुरी (नेपाल) में विवाह किया था। दक्षिण मे पाड्या वश क शासक उत्तर क पाण्डवो के ही वशज थे। य सभी उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि सम्पूर्ण दश मे राजघरान के लोग एक ही थे। रामायण में उत्तर और दक्षिण की सस्कृति का उल्लख है। राम उत्तर की सस्कृति और रावण दक्षिण की सस्कृति से सम्बन्धित रहे हैं। रामायण, महाभारत, विभिन धर्म ग्रन्थ तथा कालीदास आदि अनेक विद्वानों की रचनाओं में सम्पूर्ण भारतीय सस्कृति क दर्शन होत हैं। शकराचार्य ने जो कि मालाबार के निवासी थे, सस्कृत में वेदान्त की रचना की। उनके दर्शन का आज भी लोगो पर काफी प्रभाव है। तामिल के वैष्णव सन्तों के आधार पर रामानुज न वैष्णव धर्म मे सुधार प्रस्तुत किये। इस प्रकार प्राचीन समय से ही सम्पूर्ण देश सामाजिक-सांस्कृतिक एकता के सूत्र मे बंधा रहा है।

(2) **अंग्रेजो के समय मे**—अग्रेजो के आगमन क पूर्व जो एकता सम्पूर्ण दश में थी, उसे हम सामाजिक-सास्कृतिक एकता के नाम स जानते हैं। अग्रजों के समय मे पहली बार सा[illegible]जिक-सास्कृतिक एकता के साथ-साथ भारत में राजनीतिक और प्रशासकीय एकता स्थापित [illegible]। अग्रेजो ने सम्पूर्ण भारत पर एकछत्र राज्य किया और देश के भीतर अनेक छोटे-छोटे सामन्तों [illegible] शासकों का अपने राजनीतिक आधिपत्य में रखा। वर्तमान में जिस राष्ट्रीयता की धारणा का [illegible] पश्चिमी देशों में हुआ है, उसमे एक शासन क अन्तर्गत शासित रहने को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। अग्रेजों के शासनकाल मे ही भारत को भौगोलिक सीमा क साथ-साथ राजनीतिक सीमा का भी निर्धारण हुआ। अग्रेजो क शासन ने दश में राष्ट्रीय जागरण में योग दिया। काँग्रेस ने देश के विभिन्न भागों में निवास करने वाल लोगों को अपने धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक, भाषायी और क्षेत्रीय मतभदों को भुलाकर आजादी के सघर्ष में भाग लेन के लिए प्रेरित किया। काँग्रेस

के इस आह्वान को देशवासियों ने स्वीकार किया और सभी नर-नारियों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर विदेशी शासन को समाप्त करने में सहयोग दिया। आजादी के संघर्ष के दौरान सारे राष्ट्र में एकता की लहर दौड़ पड़ी।

किन्तु इस चेतना और एकता को भी अंग्रेजों ने गहरी चोट पहुँचायी तथा उन्होंने विभाजन की नीति अपनायी और भारतीय समाज के विभिन्न अंगों में परस्पर तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ।

(3) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद—सन् 1947 में देश स्वतन्त्र हुआ और पाकिस्तान को छोड़कर, शेष भाग को धर्मनिरपेक्ष भारत राष्ट्र के नाम से जाना जाने लगा। सरदार पटेल के सद्प्रयत्नों से विभिन्न रियासतों को भारतीय संघ में मिला दिया गया और इससे राजनीतिक एकीकरण का कार्य पूरा हुआ। किन्तु अब भी भावात्मक एकीकरण की आवश्यकता बनी हुई थी। इस समय एक देश, एक भाषा, एक संस्कृति और एक शासन की बात कही गयी। सम्पूर्ण देश के लिए एक संविधान बनाया गया और एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। अखिल भारतीय सेवाएँ जैसे आई. ए. एस., आई. पी. एस., आई. एफ. एस. आदि का निर्माण किया गया। सारे राष्ट्र के लिए एक झण्डा (तिरंगा), एक गान (जन-गण-मन), एक चिन्ह (त्रिमूर्ति शेर) तथा एक गीत (वन्देमातरम्) निर्धारित किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्रीय एकता निर्बाध रूप से अधिक समय तक नहीं बनी रह सकी। कभी भाषा के नाम पर, कभी क्षेत्र के नाम पर, तो कभी धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर तनाव और संघर्ष हुए जिन्होंने सम्पूर्ण देश को एक बार फिर झकझोर दिया। केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों में और विभिन्न राज्यों में परस्पर नदी पानी वितरण, सीमा-निर्धारण एवं विभिन्न योजनाओं को लेकर विवाद हुए, यहाँ तक कि मद्रास जैसे राज्य में भारतीय संघ से पृथक् होने और अलग राज्य बनाने तक की भी माँग उठी। पंजाब में कुछ उग्रवादियों ने 'खालिस्तान' नामक पृथक् राज्य बनाने की माँग की है। इस प्रकार इस काल में सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता में बाँध रखने की आवश्यकता बनी रही। इसके लिए समय-समय पर हमारे नेताओं ने प्रयास भी किये। सन् 1955 में बंगलौर में प्रधानमन्त्री पं. नेहरू ने राष्ट्रीय एकीकरण पर बल देते हुए कहा था, "हम भारतीय गणतन्त्र के नागरिक भूमि पर पाँवों को दृढ़ता से रोपे हुए आकाश की ओर निहारते हुए, कमर सीधी करके खड़े हों, और समन्वय तथा एकीकरण स्थापित करें। कुछ सीमा तक राजनीतिक एकीकरण तो हो गया है लेकिन मैं जिस एकीकरण को चाहता हूँ वह बहुत गहन है–वह है भारतीय लोगों का भावात्मक एकीकरण–जिससे कि हम एकता में बँधें और एक राष्ट्रीय इकाई का निर्माण करें, साथ ही हम सभी आश्चर्यजनक विभिन्नताओं को बनाये रखें।"[1] इस प्रकार नेहरू ने विभिन्नता में एकता (Unity in diversities) की बात कही थी। समय-समय पर अनेक सम्मेलनों तथा कॉन्फ्रेंसों आदि का आयोजन भी किया जाता रहा है जिनमें राष्ट्रीय एकता हेतु अनेक सुझाव दिये गये, फिर भी आज देश में भावात्मक एकता एक कल्पना मात्र बनकर रह गयी है।

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक कारक
(Obstacles to National Integration in India)

अब हम यहाँ उन कारकों या बाधाओं का उल्लेख करेंगे जो भारत में राष्ट्रीय एकीकरण

1 J. L. Nehru: A speech made at Banglore in Oct. 1955, Quoted by G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 491

के मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा करते रह हैं—

(I) क्षेत्रवाद
(Regionalism)

यहाँ सर्वप्रथम क्षेत्र और क्षेत्रवाद की अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है। साधारण अर्थों में प्रान्तवाद और क्षेत्रवाद का पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है स्थानीयतावाद, पृथक्करण और अलगाव।[1] वेब्स्टर डिक्शनरी के अनुसार, "क्षेत्रवाद में एक विशिष्ट उप-राष्ट्र या अधो-राष्ट्र क्षेत्र के प्रति जागरूकता और भक्ति पायी जाती है जिसकी विशेषता सामान्य संस्कृति, पृष्ठभूमि या हित है।"[2]

"क्षेत्रवाद का निर्धारित करने वाले प्रमुख दो कारक हैं- (i) व्यक्तिपरक (Subjective), (ii) वस्तुपरक या वैषयिक (Objective)। क्षेत्रवाद का निर्धारण करने वाले व्यक्तिपरक कारकों में हम एक समूह के जीवनयापन के तरीके, प्रथाओं, परम्पराओं, कलाकृतियों, भाषा, साहित्य, सामाजिक विरासत, विश्वासों, धारणाओं तथा मूल्यों आदि को गिन सकते हैं। ऐसा समूह अपने आपको एक क्षेत्रीय समूह मानता है। वैषयिक तत्त्वों में भू-क्षेत्र और मानव-पर्यावरण संकुल सम्मिलित है जिसमें क्षेत्रीय समूह निवास करता है।"[3]

सैद्धान्तिक रूप से क्षेत्रवाद की निम्नांकित विशेषताएँ हैं- (i) क्षेत्र के आधार पर प्रशासन का विकेन्द्रीकरण पाया जाता है। (ii) राष्ट्रीय एकता के लिए जब सभी इकाइयों पर एक ही राजनीतिक विचारधारा, भाषा, सांस्कृतिक प्रतिमान आदि थोपे जाते हैं, तो प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक प्रति-आन्दोलन (Counter-movement) किया जाता है। (iii) संघात्मक संरचना में अधिकाधिक उपसंस्कृतियाँ स्वायत्तता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक प्रति-आन्दोलन (Political Counter-movement) करती हैं। (iv) इकाइयों में राजनीतिक आकांक्षाओं (Political aspirations) को प्राप्त करने के लिए पृथक्करण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ऐसा करने के पीछे चार उद्देश्य हो सकते हैं- (1) क्षेत्रीय संस्कृति को पुनर्जीवित करना और उप-संस्कृति का निर्माण करना। (2) प्रशासकीय और राजनीतिक जुए को उतार फेंकना। (3) केन्द्र व राज्य तथा क्षेत्र की दो या अधिक संस्कृतियों के बीच टकराव को दूर करना। (4) केन्द्र व राज्यों या उप-संस्कृतियों में आर्थिक व राजनीतिक सन्तुलन कायम करना।[4]

भारत में क्षेत्रवाद की भावना को विकसित करने में कई भौगोलिक, मानव-पर्यावरण, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियों का योगदान रहा है। वर्तमान में भारत में क्षेत्रवाद को जन्म देने में चार प्रमुख मुद्दे रहे हैं-(i) भाषा समस्या आर्थिक विपन्नता और स्थानीय _न को अधिक मजबूत बनाने आदि विषयों को लेकर एक क्षेत्र के लोग अपने को सम्पूर्ण भारत

"In popular parlance it (Regionalism) is supposed to be a synonym of provincialism which breeds localism, isolationism and separatism" - Arun K. Chatterji "*Sociological Context of Regionalism in India a Conceptual Framework Regional and National Integration (ed.)* by Satish Chandra and Others p 31

"Regionalism is consciousness of and loyalty to a distinct subnational or supernational area usually characterised by a common culture background or interest" -Webster's *Third International Dictionary* II, 1902 (Chicago 1966)

Arun Kumar Chatterji, *op cit* p 31

Ibid pp 11-22

के स्थान पर एक प्रान्त या क्षेत्र से अधिक जुड़ा हुआ मानते हैं। (ii) राष्ट्रीय नेतृत्व पर अधिक बल दिया जाता है। (iii) केन्द्र व राज्यों में आर्थिक एवं राजनीतिक हितों को लेकर टकराव। (iv) केन्द्रीय सत्ता का उल्लंघन।

क्षेत्रवाद के कई प्रभाव पड़े हैं जैसे राजनीतिक दलों में साम्प्रदायिकता पनपी है। क्षेत्रीय पक्षपात की भावना, अन्तर्क्षेत्रीय तनाव एवं संघर्ष, भाषावाद एवं आर्थिक और राजनीतिक हितों को लेकर टकराव उत्पन्न हुए हैं। इससे क्षेत्रीय अहंवाद अर्थात् अपने ही क्षेत्र को प्रधानता देने की प्रवृत्ति को बल मिला है। प्रान्तों ने अधिकाधिक स्वायत्तता और अधिकारों की माँग की है जिसके परिणामस्वरूप पृथकतावादी विचारों ने जोर पकड़ा है। इन सब ने प्रजातन्त्र और राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा उत्पन्न किया है।

भारत में क्षेत्रवाद की धारणा के उदय के प्रमुख तीन कारण रहे हैं— (1) राजनीतिक, (2) आर्थिक, (3) सामाजिक।

(1) राजनीतिक कारण— क्षेत्रवाद को जन्म देने के प्रमुख कारण केन्द्र व राज्यों के तथा एक राज्य के अन्य राज्य या राज्यों से तनावपूर्ण सम्बन्ध भी हैं। ये तनाव कई कारणों को लेकर उत्पन्न हुए जैसे विभिन्न प्रोजेक्ट्स किस प्रान्त में लागू किये जायँ, केन्द्र से दी जाने वाली आर्थिक सहायता, प्रान्तों द्वारा अधिकाधिक खाद्यान्न देने की माँग, प्रान्तों की सीमा-निर्धारण, नदी पानी बँटवारे का विवाद आदि। अपनी माँगों को मनवाने के लिए स्थानीय एवं प्रान्तीय राजनीतिक दबाव समूहों का उदय हुआ जिन्होंने स्थानीय राजनीति को जन्म दिया।

(2) आर्थिक कारण— क्षेत्रवाद की भावना को जन्म देने में आर्थिक कारकों ने भी योग दिया। आर्थिक रूप से पिछड़े हुए क्षेत्रों ने अपने यहाँ उद्योग खोलने की माँग की। ऐसा करते समय वे भूल जाते हैं कि आर्थिक दृष्टि से वह उद्योग उस क्षेत्र में लाभदायक सिद्ध होगा या नहीं। जब प्रान्तीय दबाव बढ़ जाता है तो उद्योग के आर्थिक दृष्टिकोण को छोड़ना पड़ता है। योजना बनाने वाले के सम्मुख भी तब एक समस्या आ जाती है। राजनेता जन-भावनाओं को उभार कर समूह मनोविज्ञान का पोषण करते समय यह भूल जाते हैं कि इन आर्थिक समस्याओं को प्रजातन्त्रीय तरीकों से किस प्रकार हल किया जाय। आर्थिक विकास की कौन-सी योजनाएँ किस क्षेत्र में प्रारम्भ हों इस बात को लेकर केन्द्र एवं राज्यों के बीच उत्पन्न विवाद हमारे योजनाबद्ध आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करते रहे हैं। यदि हम भारत के विभिन्न प्रान्तों की प्रति व्यक्ति आय को देखें तो पायेंगे कि महाराष्ट्र, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और गुजरात में अन्य राज्यों की तुलना में प्रति व्यक्ति आय अधिक है। इस प्रकार से सार्वजनिक क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना में बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा आदि राज्यों में पूँजी का विनियोग अधिक किया गया है। इस प्रकार आर्थिक कारणों ने भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधा उत्पन्न की।

(3) सामाजिक कारण— क्षेत्रवाद को जन्म देने में सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का भी योगदान रहा है। भाषा, संस्कृति आदि की समस्याओं और क्षेत्रीय आधार पर बनी सेनाओं जैसे शिव सेना, लच्छित सेना एवं हिन्दी सेना आदि ने भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया। इन सेनाओं का उद्देश्य सामूहिक समस्याओं का हल करना था।

हम यहाँ क्षेत्रवाद से सम्बन्धित पिछले वर्षों में घटित कुछ घटनाओं का उल्लख करेंगे। क्षेत्रवाद का उदय प्रमुख रूप से दक्षिणी राज्यों मे हुआ। 19 जून, सन् 1966 मे बाल ठाकरे न महाराष्ट्र में क्षेत्रवाद क आधार पर शिव सेना की स्थापना की। महाराष्ट्र मे मराठो की तुलना में दक्षिणी भारत के लोग व्यापार, उद्याग, प्रशासन, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षत्र में उच्च पदों पर अधिक आसीन थे। इसका कारण दक्षिण के लोगों द्वारा अग्रजी भाषा पर अधिकार था। आजादी के तीन दशक तक अधिकाश मराठ कृषि कार्य में लगे हुए थे और उनकी कोई विशष आर्थिक महत्त्वाकाक्षाएँ नहीं थीं। किन्तु इसके बाद शिव सना आदि न उच्च महत्त्वाकाक्षाएँ पैदा की जिसे लोग शीघ्र पूरा करना चाहते थ, अत महाराष्ट्र के लोगों में दक्षिण के लागों के प्रति घृणा की भावना पैदा की गयी और अपन प्रान्त स बाहर निकालने क लिए आन्दोलन भी किया गया। शिव सेना न महाराष्ट्र वालों का कोई भला तो नही किया वरन् महाराष्ट्रियों और गैर-महाराष्ट्रियों में तनाव पैदा कर दिया। इसके परिणामस्वरूप वहाँ राजनीतिक दलो, ट्रेड यूनियनो आदि में फूट पड गयी जो राष्ट्रीय एकता व प्रजातन्त्र के मार्ग में बाधक बन गयी।[1] असम में असमी और गैर असमी की समस्या के कारण तनाव पैदा हुआ। पजाब में 'आनन्द साहब प्रस्ताव' को मनवाने के लिए अकालियों का आन्दोलन चला और उग्रवादी पृथक् 'खालिस्तान' राज्य की माँग का लकर हिंसा, दगे, लूट-पाट एव बैंक-डकैतियाँ करते रहे। जरनलसिंह भिंडरवाला एव उग्रपंथियो ने स्वर्ण मन्दिर को अपनी गतिविधियो का कन्द्र बनाया। इसे समाप्त करने के लिए सना ने ब्लू स्टार एक्शन लिया और स्वर्ण मन्दिर में प्रवेश कर उग्रवादियों का सफाया किया। इससे उत्तेजित हाकर सतवन्तसिंह एव बेअन्त सिंह जैसे सिरफिरे लागो न जो सुरक्षा प्रहरी थे देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या कर दी।

राज्यों के पुनर्गठन और छोटे-छाट राज्यो के निर्माण को लेकर तथा सीमा-निर्धारण के अधिकार पर भी विभिन्न प्रान्तों मे परस्पर सघर्ष हुए। बम्बई राज्य का भाषा क आधार पर महाराष्ट्र और गुजरात मे विभाजन हुआ। पजाब का विभाजन पजाब और हरियाणा दा राज्यों मे हुआ, फिर भी चण्डीगढ विवाद का विषय बना रहा। मैसूर और महाराष्ट्र क बीच बेलगाँव को लेकर तथा तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल में केसरगडे गाँव तथा उडीसा और आन्ध्र में कुछ समीपवर्ती गाँवो को लेकर विवाद रहे हैं। गुजरात, राजस्थान एव मध्य प्रदश के बीच नदी के पानी के बँटवार का लेकर, पजाब और हरियाणा मे भाखरा-नाँगल का लेकर तथा आन्ध्र में तेलगाना को लेकर कई विवाद पनपे हैं। असम में नागाओं ने पृथक् राज्य की माँग की। दक्षिण में उग्र क्षत्रवादी विचारों को द्रविड मुन्नेत्र कषगण (D M K) ने जन्म दिया। डी.एम क पार्टी ने मद्रास, मैसूर, करल एव आन्ध्र को ... द्रविडनाड बनाने की माँग की। इसके लिए डी.एम.के नेता अन्नादुरै ने कश्मीर की तरह जनमत सग्रह की माँग की। यहाँ तक कि उन्होंने पृथक् झण्डे की माँग भी की और भारत पृथक् होने की बात भी कही। मद्रास और अनक दक्षिणी शहरों में रेलें रोकी गयी, राजकीय ..., पोस्ट ऑफिसों एव सचिवालयों पर धरने, घराव, हडताल, तोडफोड एव आगजनी ... घटनाएँ हुईं। सन् 1962 में चीन के आक्रमण के कारण इस माँग मे शिथिलता आ गयी और

[1] For detailed study see Structure and Symbols of Regional Movement The Case of Shiv Sena in Maharashtra' by K.K. Gangadharan *Regionalism and National Integration (ed) by Satish Chandra and Others pp 53-54*

इस आन्दोलन को दबा दिया गया। डी.एम.के. पार्टी ने भी पृथक्करण की अपनी माँग का त्याग दिया किन्तु मद्रास राज्य का नया नाम तमिलनाडु रखा गया।

उपर्युक्त घटनाओं से स्पष्ट है कि क्षेत्रवाद ने भारतीय राष्ट्रीय एकता की धारणा पर गहरी चोट की है और एकीकरण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित की है।

(II) भाषावाद
(Linguism)

भाषा के विवाद ने भी पृथकतावादी प्रवृत्ति को तेज करने में आग में घी का काम किया है। यह एक आम धारणा है कि राष्ट्र की एक ही भाषा होनी चाहिए। एक राष्ट्र, एक भाषा की धारणा पश्चिम से ग्रहण की गयी है क्योंकि वहाँ विभिन्न भाषा-भाषी लोग एक ही राष्ट्र के अन्तर्गत एक ही भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार करके रह रहे हैं। भारतीय राजनीतिज्ञों ने भी यहाँ वही प्रतिमान अपनाया। आजादी के पूर्व से लेकर एक लम्बे समय तक सम्पूर्ण भारत राजनीतिक दृष्टि से कभी भी एक नहीं रहा। उस समय सम्पूर्ण भारत छोटे-छोटे सामन्तों के अधीन था। राजकाज की भाषा अभिजात-वर्ग की भाषा ही थी। प्रजातन्त्रीय प्रणाली के अभाव में साधारण व्यक्ति राजकाज के कार्यों में भाग नहीं लेता था, अतः 11वीं से 16वीं सदी तक राजकाज की भाषा कोई समस्या नहीं थी।

भाषा का विवाद मुसलमानों और अंग्रेजों के आगमन के बाद पैदा हुआ। मुसलमानों ने उर्दू को और अंग्रेजों ने उर्दू के स्थान पर अंग्रेजी को राजकाज और न्यायालय की भाषा बनाया। आजादी के संघर्ष के दौरान काँग्रेस ने गाँधीजी के आगमन के साथ स्थानीय भाषाओं को महत्त्व दिया। काँग्रेस ने सन् 1920 के नागपुर के अधिवेशन में भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण और अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग की। स्वतन्त्र भारत की संविधान निर्मात्री सभा ने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसकी लिपि देवनागरी रखी गयी। साथ ही यह भी कहा गया कि जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रचलन नहीं है वे प्रान्तीय भाषा या अंग्रेजी का प्रयोग कर सकते हैं। 10 वर्ष के भीतर केन्द्रीय स्तर पर तथा शिक्षण संस्थाओं में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग की बात कही गयी। साथ ही यह भी कहा गया कि संसद जब तक चाहे अंग्रेजी को बनाये रखने की अवधि बढ़ा सकती है।

भाषावाद तब पैदा होता है जब अनेक भाषाएँ होने पर एक भाषा-भाषी समूह अपनी भाषा को दूसरी भाषाओं से श्रेष्ठ होने का दावा करता है। साहित्यिक दृष्टि से उस भाषा को श्रेष्ठ समझा जाता है जो अन्य भाषाओं की तुलना में सुस्पष्ट और समृद्ध हो। परन्तु भाषा के साथ व्यक्ति का मानसिक लगाव होता है। अतः जब एक भाषा बोलने वालों पर दूसरी भाषा थोपी जाती है तो तनाव पैदा होता है। भारत में भाषा समस्या अनेक पहलुओं को लेकर पैदा हुई, जैसे (1) राष्ट्र-भाषा क्या हो? (2) अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी का प्रचलन। (3) अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग। (4) शिक्षा का माध्यम क्या हो? (5) विभिन्न प्रान्तों एवं केन्द्र के बीच सम्पर्क-भाषा क्या हो? (6) भाषा के आधार पर प्रान्तों का निर्माण आदि।

सन् 1948 में भाषायी प्रान्त कमीशन (Linguistic Provinces Commiss on) ने भाषा के आधार पर राज्य के निर्माण की बात को तो स्वीकार किया किन्तु फिलहाल वैसा न करने की बात कही थी क्योंकि उस समय कश्मीर विवाद चल रहा था तथा देश के सामने कई आर्थिक

और प्रशासकोय कठिनाइयाँ थीं। उस समय तक राज्यो का पूरी तरह स एकीकरण नही हुआ था। किन्तु इस बात को लेकर भारत क कई प्रान्तों मे दग हुए। बम्बई राज्य को गुजरात और महाराष्ट्र मे बाँट दन की माँग की गयी। सन् 1953 मे राज्य पुनर्गठन कमीशन की नियुक्ति की गयी जिसने सन् 1955 मे अपना प्रतिवदन प्रस्तुत किया। कमीशन न भाषा और संस्कृति क आधार पर राज्यो क पुनर्गठन का राष्ट्रीय एकीकरण के लिए आवश्यक माना। अत मद्रास, आन्ध्र, मैसूर, केरल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि सभी राज्यो का पुनर्गठन किया गया। किन्तु इस पुनर्गठन न सीमा-विवाद का जन्म दिया। आन्ध्र में तलगू भाषा वालो न पृथक् तलगाना राज्य की और पजाब में मास्टर तारासिंह ने पजाबी भाषी लोगों क लिए पजाबी सूब की माँग की। इसक लिए आन्दालन, भूख हडताल और आत्मदाह की धमकियाँ दी गयी। अन्ततः पजाब का विभाजित कर पजाब और हरियाणा दा राज्य बनाय गये।

भाषावाद न उस समय भी उग्र रूप धारण किया जब सन् 1963 मे हिन्दी का राजकाज की भाषा बनान का बिल ससद मे पेश किया गया। दक्षिण के राज्यों प्रमुखत मद्रास और द्रविड मुन्नत्र कषगम जैसे राजनीतिक दलो न इसका विराध किया। दक्षिण में द्रविड मुन्नत्र कषगम दल का समर्थन भाषा-विवाद पर सी राजगापालाचार्य एव स्वतन्त्र पार्टी न भी किया। दक्षिण के प्रान्त हिन्दी क स्थान पर अग्रजी का बनाय रखन क पक्ष में थे। अत अपना विराध प्रकट करन क लिए दक्षिण प्रान्तो मे ताड-फोड, दग, हडतालें आदि हुईं तथा मद्रास मे 13 अक्टूबर सन् 1963 को अन्नादुरै क नतृत्व मे रेलें रोकी गयी रला म बिना टिकट यात्रा की गयी, उन कार्यालयों में जहाँ हिन्दी पढायी जाती थी, धरन दिय गय तथा राज्य एव केन्द्रीय मत्रियो का काल झण्डे दिखाय गय, तथा भाषा विधेयक बिल की प्रतिया जलायी गयी। हिन्दी मे लिख पास्टरो और बाडों को फाडा गया एव कालतार पाता गया। हिन्दी विराधी आन्दोलन की प्रतिक्रिया उत्तरी भारत म हिन्दी भाषी प्रान्तों मे हुई और उन्हाने अग्रजी क विरोध मे वैसा ही किया जैसा दक्षिण राज्यो मे हिन्दी के विराध में हो रहा था।

भाषा की समस्या शिक्षा क क्षेत्र में भी पैदा हुई। अहिन्दी भाषी लाग अग्रजी को शिक्षा का माध्यम बनाय रखना चाहत थ जबकि हिन्दी भाषी नही। केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रतिवर्ष हाने वाली विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओ का माध्यम हिन्दी व अग्रजी दानों का रखा गया। शिक्षण सस्थाओं में भाषा समस्या को हल करन क लिए सन् 1959 मे केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने राज्यों से सलाह करके त्रिभाषा सूत्र (Three Language Formula) बनाया। इसका उद्देश्य अग्रेजी के स्थान पर धीरे-धीरे हिन्दी को लाना था। इस सूत्र क अनुसार हिन्दी भाषी प्रान्तो मे प्रत्येक बच्च का अग्रेजी और हिन्दी ... साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं में स काई एक भाषा सीखन की बात रखी गयी। साथ । अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी व अग्रजी क साथ-साथ अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय ... म से कोई एक भाषा सीखनी हागी। किन्तु मद्रास सरकार ने इस सूत्र को भी अस्वीकार ... सन् 1957 में तत्कालीन शिक्षा मन्त्री की अध्यक्षता मे ससद मे भाषा समस्या पर एक ... बनायी गयी जिसमें डी एम के , जनसघ एव अन्य दलो क भी सदस्य थ। इस कमेटी न ... भाषाओ का सुझाव दिया- प्रथम 5 वर्ष क अध्ययन के दौरान छात्र केवल अपनी मातृ-भाषा ... हीं शिक्षा ग्रहण करेगा। शेष समय वह मातृ-भाषा के साथ-साथ सविधान की अनुसूची 8 में ... भाषाओ में से कोई भी एक भाषा कक्षा 10 तक पढेगा और छात्र चाहे तो आठवी कक्षा

क बाद तृतीय भाषा का भी अध्ययन कर सकता है। इस सूत्र को भी कई लोगा न आलाचना की। हिन्दी भाषी प्रान्तो में आन्दोलन हुए। इन राज्यो मे विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों की बैठक बुलायी गयी जिसमे उन्हे निर्देश दिया गया कि 5 वर्ष के भीतर हिन्दी का लागू किया जाय सुमित्रानन्दन पन्त, महादवी वर्मा और सठ गाविन्ददास न अग्रजी क विराध मे अपनी पद्मभूषण का उपाधियाँ केन्द्रीय सरकार का लौटा दी।

उपर्युक्त विवरण स स्पष्ट है कि भाषा समस्या न देश क सभी प्रान्तो म घृणा, हिसा, तनाव और सघर्ष की स्थिति पैदा की जिसक परिणामस्वरूप दश मे एकता का धक्का लगा और दश क विभिन्न भागो मे बसने वाले लागो मे परस्पर घृणा, द्वष और मनमुटाव का बढावा मिला।

(III) साम्प्रदायिकता
(Communalism)

विभिन्न सम्प्रदायो क बीच तनाव भी राष्ट्रीय एकीकरण मे बाधक रहा है। पुलिस रिकार्ड क अनुसार अधिकारा साम्प्रदायिक तनावो क पीछ छाट-माटे कारण रह हैं जैस मूर्ति ताड दना, गौहत्या कर दना, मुसलमानों पर रग छिडक दना, मस्जिद क सामन बैण्ड बजाना या सगीत का कार्यक्रम रखना, धार्मिक जुलूसो एव उत्सवो मे पथराव करना आदि। इस प्रकार की घटनाएँ मानसिक सकीर्णता की परिचायक हैं। भारत मे साम्प्रदायिकता अग्रजों की दन है। उन्होन अपन शासन का बनाय रखन क लिए 'फूट डाला और राज करा' की नीति अपनायी थी तथा हिन्दुओ, मुसलमानों एव हरिजनो का आपस मे लडात रह। इस साम्प्रदायिकता का ही परिणाम था कि भारत का विभाजन हुआ। विभाजन क दौरान दश में कई स्थानो पर दगे, खून, आगजनी लूटपाट, बलात्कार आदि की घटनाएँ हुईं। भारत क दो टुकडे हा जान पर भी साम्प्रदायिकता की समस्या नही सुलझी क्योकि जा मुसलमान पाकिस्तान नही जाना चाहत थ, भारत म ही बस रह। भारत-विभाजन मे मुसलमानो क सक्रिय याग के ही कारण उन्हें शका की दृष्टि स दखा जाता रहा है। यही नहीं स्वय मुसलमानों न भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाय रखन का प्रयास किया है। प्रो. दयाकृष्ण[1] का मत है कि भारतीय मुसलमानों न भारत की भूतकालीन परम्पराओ मे भागीदार हान क प्रति उदासीनता दर्शायी है और उन्होंने अपन सामाजिक विधानो मे काई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया है जबकि हिन्दुओ न धर्मनिरपक्ष सविधान अपनाया तथा अपन सामाजिक-पारिवारिक जीवन स सम्बन्धित नय सुधारो और कानूनों का स्वीकार किया है। इसलिए ही राष्ट्रीय स्वयसवक सघ जैस सगठन न मुसलमाना क भारत की मुख्य धारा में घुलमिल जान की और उनक भारतीयकरण की माँग की। मुसलमानों न उर्दू का उत्तर प्रदश में द्वितीय राज्य भाषा का स्तर दन की माँग की। सन् 1961 में तथाकथित राष्ट्रीय मुस्लिम कन्वेंशन हुआ जिनमे राष्ट्रीय गान क स्थान पर माहम्मद इकबाल क गीत स कार्यवाही प्रारम्भ की गयी। सन् 1967 क चुनावो मे मुसलमानों न अपन लिए उर्दू का शिक्षा का माध्यम बनान मुसलमानों क व्यक्तिगत कानून (Personal Law) का बनाय रखन एव विधान सभाओं में अनुपात क अनुसार प्रतिनिधित्व दन की माँग की। अन्य शब्दो म य माँगे दो-राष्ट्रवाद सिद्धान्त पर ही आधारित थीं जिसका परिणाम भारत सन् 1947 में विभाजन क रूप मे भुगत चुका है।

---

1 P C Mathur Regionalism and National Integration p 187

साम्प्रदायिकता की कलुषित भावना के कारण देश के विभिन्न भागों में दंगे हुए। जबलपुर, रांची, इन्दौर, भिवानी, अहमदाबाद, मेरठ, मुरादाबाद, बिहार शरीफ तथा अलीगढ़ आदि अनेक शहरों में साम्प्रदायिकता की आग भड़की। इन दंगों के पीछे धार्मिक एवं सामाजिक कारणों के साथ-साथ आर्थिक कारण भी महत्त्वपूर्ण रहे हैं। अहमदाबाद में जगन्नाथ मन्दिर पर कुछ लोगों ने आक्रमण किया किन्तु यह स्पष्ट नहीं था कि आक्रमणकारी मुसलमान ही थे। फिर भी उनके प्रति रोष बढ़ा और प्रतिक्रियास्वरूप पास की एक दरगाह पर आक्रमण किया गया। 24 घण्टे के अन्दर सारे शहर में तनावपूर्ण वातावरण बन गया और दोनों ही पक्षों ने मारकाट तथा आगजनी प्रारम्भ कर दी। मकान, मोटरें, दूकानें तथा रामायण और कुरान की प्रतियाँ जलायी गयीं। बहुसंख्यकों का मत है कि यदि आक्रामक रवैया नहीं अपनाया जाता तो उन्हें अल्पसंख्यकों के आक्रमण का शिकार होना पड़ता।

साम्प्रदायिक दंगों के पीछे मुसलमानों की देश-भक्ति में शंका प्रकट करने के अतिरिक्त आर्थिक कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। यह बात अहमदाबाद के उदाहरण से स्पष्ट है। अहमदाबाद में उत्तर प्रदेश और दिल्ली के कई मुसलमान बस हुए हैं जो कि दक्ष और अदक्ष कार्यों में लगे हुए हैं। लगभग तीन पीढ़ियों से ये लोग यहाँ बसे हुए हैं फिर भी वहाँ की संस्कृति और भाषा से अपने को उन्होंने पृथक् रखा है। अहमदाबाद में आस-पास के क्षेत्र से भी कई लोग काम की खोज में आते हैं किन्तु काम के अभाव में उन्हें निराश होना पड़ता है। यह निराशा उनमें प्रान्तीयता और भाषावाद की भावना पैदा करती है तथा वे एकजुट होकर बाह्य लोगों से संघर्ष करते हैं।

अहमदाबाद में लगभग 50 प्रतिशत जनसंख्या बाह्य प्रान्तों के लोगों की है। यहाँ के मूल निवासी (Son of the soil) बाहरी लोगों को यहाँ नहीं चाहते क्योंकि उन्होंने यहाँ के लोगों के लिए बेकारी की समस्या पैदा कर दी है। अतः वहाँ बहुसंख्यक लोगों ने अल्पसंख्यकों के साथ काम करने से मना कर दिया। उन्होंने भरती पद्धति एवं उच्च पदों पर बाह्य लोगों के काम करने पर असन्तोष प्रकट किया। इससे परस्पर तनाव और संघर्ष पैदा हुआ। इन्दौर में हुए साम्प्रदायिक दंगों के पीछे भी यही कारण था। स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक तनावों के पीछे ऊपरी तौर पर जो कारण दिखायी देते हैं वे नहीं वरन् उनके पीछे निहित आर्थिक एवं स्वार्थ तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कारण ही उत्तरदायी हैं। वोटों की राजनीति और विशेषतः मुसलमानों को अपना वोट बैंक बनाये रखने की प्रवृत्ति ने भी साम्प्रदायिकता को बढ़ाने और राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा पहुँचाने में योग दिया है।

(IV) जातिवाद
(Casteism)

जातिवाद ने भी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न की है। एक जाति जब अन्य जातियों की तुलना में अपनी जाति को श्रेष्ठ समझती है तथा अन्य जातियों के हितों की अनदेखी कर अपनी ही जाति के लोगों के हितों की रक्षा करती है तो हम उसे जातिवाद के नाम से पुकारते हैं। वर्तमान में जातियों ने अपने स्थानीय घेरों को तोड़कर प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर के संगठन बनाये हैं। राजनीतिक क्षेत्र में जातिवाद के परिणामस्वरूप जाति विशेष के लोगों ने अक्सर अपनी ही जाति के सदस्यों के पक्ष में मतदान किया है। डॉ. एम. एन. श्रीनिवास का मत है कि मैसूर में पंचायतों के चुनावों से लेकर राज्य में मन्त्रियों और सचिवों की नियुक्ति तक में जातीय आधार अपनाया गया।[1]

1 M N Srinivas *Caste in Modern India and Other Essays* pp 98-111

रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय राजनीति में जाति' (Caste in Indian Politics) तथा रुडोल्फ एवं रुडोल्फ ने अपनी पुस्तक माडर्निटी ऑफ ट्रेडीशन (Modernity of Tradition) में जाति और राजनीति के गहरे सम्बन्धों का विस्तार से उल्लेख किया है। प्रजातन्त्र के कारण सत्ता प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में टकराव पैदा हुआ है। राजस्थान मे राजपूत और जाटों में; महाराष्ट्र में मराठा, ब्राह्मण और महार में; आन्ध्र में रड्डी और कामा में; उत्तरप्रदेश मे जाट, कायस्थ और बनियों में, बिहार में भूमिहर और क्षत्रियो के बीच; गुजरात मे बनिया, पाटीदार और कालियों में;करल मे मुसलमान और इजावह लोगों में; तमिलनाडु मे ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणो में राजनीतिक हितों को लेकर सघर्ष हुए हैं। प्रत्येक जाति साधारणत: अपनी और अपने सदस्यों क हितों को रक्षा के लिए राजनीति का सहारा लेती है और अपने प्रतिनिधियों को विधान सभाओं और ससद में भेजकर अपन कानूनी, राजनैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा क लिए प्रयत्न करती है। इससे जातिवाद की भावना और प्रबल हुई है। निम्न जातियाँ सविधान द्वारा प्रदत्त राजनैतिक, प्रशासकीय और आर्थिक सुविधाओं का लाभ लम्बी अवधि तक उठाते रहन के लिए सगठित हुई हैं। धार्मिक एव सार्वजनिक स्थानो क उपयाग को लकर उच्च और निम्न जातियो में सघर्ष हुए हैं। राल्फ निकोलस ने उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु क गाँवों का अध्ययन किया तो पाया कि वहाँ निम्न जातियो ने उच्च जातियों का चुनौती द रखी थी। राजनैतिक दलों न भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो में प्रभुत्वशाली और बहुसख्यक जातियों का चुनावों में सहारा लिया है और शासन में आन पर अपने समर्थकों का अधिकाधिक हित करने का प्रयास किया। इस प्रकार जातिवाद ने राष्ट्रीय एकीकरण का भारी नुकसान पहुँचाया है।

(v) धार्मिक पूर्वाग्रह (Religious Prejudices)—भारत में अनेक धर्मो का प्रचलन रहा है किन्तु कभी-कभी छोटे-छोटे स्वार्थों का लकर विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच तनाव और सघर्ष हुए हैं, अधिकाशत हिन्दुओं और मुसलमानो मे। मुसलमानों ने हिन्दुओं का काफर और हिन्दुओं न मुसलमानों का म्लच्छ क नाम स सम्बोधित किया है। हिन्दू एव मुस्लिम धर्म मे टकराव उस समय प्रारम्भ हुआ जब मुसलमान आक्रमणकारी क रूप में यहाँ आये और उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों का जबरन मुसलमान बनाया। इस प्रकार धार्मिक पूर्वाग्रहों ने भी विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच फूट, तनाव और मतभद पैदा किये जिसस राष्ट्रीय एकता को धक्का लगा।

(vi) उग्रपंथी विचार—कई ऐसे दल और सगठन हैं जो हिंसा में विश्वास करत हैं और उन्होंने अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा का सहारा लिया है। नक्सलवादियों न कुछ समय पूर्व बगाल, बिहार, उडीसा और अन्य प्रान्तों में तोड-फाड और मार काट की। फासिस्ट और माओवादी विचारधारा क समर्थकों न भी समय-समय पर हिंसा की घटनाएँ की हैं। आनन्द मार्ग मानता रहा है कि प्रजातन्त्र, भीडतन्त्र या मूर्खतन्त्र है। आनन्दमार्ग क प्रणेता प्रभात सरकार प्रजातन्त्र के स्थान पर एकतन्त्र में विश्वास करत हैं तथा इससे मुक्ति के लिए रक्त-क्रान्ति को आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार क प्रतिक्रियावादी तथा तोड-फोड करने वाल तत्त्वो न भी राष्ट्रीय एकीकरण का ठेस पहुँचाई है।

(vii) आर्थिक विषमता—राष्ट्रीय एकीकरण का आर्थिक विषमता ने भी खतर में डाला है। दिनों दिन बढती महँगाई, बेकारी और गरीब-अमीर क बीच बढती खाई ने भी लोगों के बीच विद्रोह की भावना पैदा की है। दश क एक चौथाई स भी अधिक लोग गरीबी की रेखा से नीच

का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। दूसरी ओर कुछ लोग कालाबाजारी, स्मगलिंग, मुनाफाखोरी, मिलावट और संग्रह करके तथा सत्ता का दुरूपयोग कर सम्पन्न बन रहे हैं। प्रो. एम. वी. माथुर[1] का मत है कि ऊपरी तौर पर तो ऐसा लगता है कि हमारे देश में होने वाली घटनाओं के पीछे साम्प्रदायिकता, भाषावाद और क्षेत्रवाद का हाथ है किन्तु इसके मूल में विकास की कमी और उपलब्ध साधनों का उचित वितरण न होना है। इस आर्थिक विषमता ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया है।

(viii) **राष्ट्रीय जागृति**—की कमी ने भी विघटनकारी तत्त्वों को खुलकर खेलने का अवसर दिया है और उन्होंने राष्ट्रीय एकता पर कुठाराघात किया है।

(ix) **राष्ट्रीय चरित्र में गिरावट**—ने भी राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा उपस्थित की है।

(x) **स्वार्थपूर्ण नेतृत्व और राजनीतिक भ्रष्टाचार**—ने भी राष्ट्रीय हितों के स्थान पर वैयक्तिक और दलीय हितों को महत्त्व देकर लोगों में फूट, तनाव और संघर्ष को जन्म दिया है।

(xi) **विकास योजनाओं की असफलताओं**—ने भी लोगों में असन्तोष और रोष पैदा किया है।

(xii) **राज्यों और केन्द्रों के तनावपूर्ण सम्बन्धों**—ने भी एकता की भावना को ठेस पहुँचाई है।

(xiii) **छात्र असन्तोष**—ने भी विभिन्न आन्दोलनों को जन्म दिया है और इन आन्दोलनों में छात्रों ने तोड़-फोड़ और हिंसात्मक उपायों का सहारा लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समय-समय पर अनेक तत्त्वों ने राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा उपस्थित की है, फिर भी इन बाधाओं से देश जूझता रहा है और अपनी राष्ट्रीय एकता और गरिमा को आज भी बनाये हुए है।

राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में इन बाधाओं के कारण देश में समय-समय पर हिंसा की आग भड़की है। प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ प्रबल हुई हैं, पृथकतावादी शक्तियों ने सिर उठाया है, राष्ट्रीय दृढ़ता का ह्रास हुआ है, बाह्य आक्रमण और आन्तरिक संकट पैदा हुए हैं, राष्ट्रीय शक्ति और स्रोतों की हानि हुई है। देश में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न हुई है। साथ ही स्वार्थी तत्त्वों ने 'बहुजन हिताय' की कीमत पर अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति की है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक इन तत्त्वों से शक्ति के साथ निपटा जाय और एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण किया जाय। राष्ट्रीय एकीकरण को बनाये रखने के लिए प्रयत्नों की आवश्यकता है, अब हम यहाँ उनका उल्लेख करेंगे।

---

1 Lot of things happened in our country in the name of communal disturbance, linguistic disturbances, regional rivalaries but their root cause lies in having lack of development and lack of equitable distribution of whatever we have got."

— Prof. M.V. Mathur in his inaugural speech in the seminar on *Regionalism and National Integration*, p 117

राष्ट्रीय एकीकरण के उपाय
(Measures for National Integration)

राष्ट्रीय एकीकरण को बनाये रखने के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार से दिये जा सकते हैं-

(1) सारे देश में राष्ट्रीय एकीकरण के लिए प्रचार-प्रसार किया जाय और इसके लिए रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन,अखबार, पत्र-पत्रिकाओं आदि का उपयोग किया जाय। वर्तमान समय में ये सभी साधन जनमत-निर्माण के सशक्त साधन हैं। जनता को ऐसे लोगों से सावधान रहने का कहा जाय जो साम्प्रदायिक और धार्मिक विद्वेष फैलाते हैं और उनकी सार्वजनिक रूप से निन्दा की जाय।

(2) शिक्षण संस्थाओं में सभी धर्म, प्रान्त, भाषा, संस्कृति आदि से सम्बन्धित लोगों को एक ही साथ शिक्षा प्रदान की जाय। जाति, धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर चलने वाली शिक्षण संस्थाओं एवं छात्रावासों पर रोक लगायी जाय क्योंकि ये धार्मिक और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह पैदा करते हैं। शिक्षा का तेजी से प्रसार किया जाय क्योंकि अज्ञानता अनेक बुराइयों को जन्म देती है। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे विश्व-विद्यालयों की स्थापना की जाय जो सभी धर्मों के सिद्धान्तों की शिक्षा प्रदान करें। शिक्षण संस्थाओं में राष्ट्रीय गान के बाद ही शिक्षण प्रारम्भ किया जाय तथा सभी छात्रों में समभाव, राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावना पैदा की जाय।

(3) विभिन्न प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को समाप्त किया जाय और इसके लिए जनमत तैयार किया जाये।

(4) राजनीतिक दल जाति, जनजाति एवं क्षेत्रीय भावनाओं को त्यागें और राष्ट्रीय हितों का ध्यान में रखकर कार्य करें।

(5) अन्तर्प्रान्तीय सहयोग को बढ़ावा दिया जाय। राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार के खेलों, शिविरों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि का आयोजन किया जाय जिसमें सभी प्रान्तों के व्यक्ति भाग ले सकें ताकि विभिन्न प्रान्तों में परस्पर मेल-मिलाप एवं सहयोग की भावना उत्पन्न हो।

(6) जनजातियों और अल्पसंख्यकों एवं गरीबों के हितों की विकास-योजनाओं को प्राथमिकता दी जाय ताकि वे अपने को उपेक्षित न समझें और उनमें हीनता एवं उग्रता की भावना न पनपे।

(7) प्रतिक्रियावादियों, फासिस्ट ताकतों, माओवादियों और ऐसे ही अन्य संगठनों पर रोक लगायी जाय जो हिंसा और आतंक में विश्वास करते हों। ऐसे तत्त्वों से निपटने के लिए कठोर कानून और दण्ड की व्यवस्था की जाय।

(8) केन्द्र एवं प्रान्तों के आपसी सीमा-विवादों, नदी जल विवादों, आदि के लिए इस प्रकार के ट्रिब्यूनल बनाये जायें जिनमें सम्बन्धित पक्षों के भी प्रतिनिधि हों ताकि वे अपनी बात भी कह सकें और उनके द्वारा लिये गये निर्णयों का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन किया जा सके।

(9) सभी भाषाओं की शिक्षा देने के साथ-साथ हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए प्रचार, प्रसार एवं प्रशिक्षण का कार्य किया जाय। हिन्दी अहिन्दी भाषी प्रान्तों पर थोपी नहीं जाय वरन् उन प्रान्तों में ऐसे प्रयास किये जायें कि वहाँ के लोग स्वयं ही हिन्दी को अपनाने के लिए आग्रह करें। अंग्रेजी को ऐच्छिक विषय के रूप में चालू रखा जाय।

(10) सभी प्रकार की क्षेत्रीय सेनाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय क्योंकि ये लोगों में प्रान्तीयता और भाषायी भावनाएँ भड़काकर समूह मनोविज्ञान का शोषण करते हैं।

(11) सभी प्रान्तों और लोगों के आर्थिक हितों की रक्षा की जाय। केन्द्र द्वारा प्रारम्भ की जाने वाली विकास योजनाएँ लागू करते समय प्रान्त की आर्थिक स्थिति, जनसंख्या और उपलब्ध साधनों का भी ध्यान रखा जाय तथा उद्योगों का केन्द्रीयकरण न किया जाय। ऐसा करने से उन क्षेत्रों में पानी, बिजली, गन्दी बस्तियों, मकानों और अपराधों की समस्या पैदा होती है।

(12) यातायात के साधनों (सड़कों आदि) का अधिकाधिक विकास कर लोगों को भौगोलिक गतिशीलता के लिए प्रोत्साहित किया जाय ताकि वे अपने घर, गाँव और प्रान्त छोड़कर बाहर जा सकें और कूपमण्डूकता एवं संकीर्णता से मुक्ति पा सकें। इससे वे अपने विचारों में विश्व-दृष्टिकोण पैदा कर सकेंगे।

(13) अधिकाधिक धर्म-निरपेक्ष मूल्यों को बढ़ावा और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया जाय ताकि मानव धर्म और मानवीय दृष्टिकोण का तार्किक विकास हो सके।

राष्ट्रीय एकीकरण हेतु प्रयत्न
(Efforts Made for National Integration)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से ही राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी क्योंकि जो एकता देश में आजादी के संघर्ष के दौरान पैदा हुई वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद लड़खड़ाने लगी थी और देश में अनेक स्थानों पर भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि को लेकर कई दंगे और संघर्ष हुए थे। इन विघटनकारी घटनाओं को रोकने और एकीकरण को प्रोत्साहन देने के लिए 15 मई, 1961 को भारत-सरकार द्वारा भावात्मक एकीकरण समिति (Emotional Integration Committee) की स्थापना की गई। इस समिति ने सन् 1962 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति के उद्घाटन के अवसर पर पं. नेहरू ने एकीकरण के विभिन्न सांस्कृतिक, शैक्षणिक, भाषायी और प्रशासकीय पक्षों को स्पष्ट किया। पं. नेहरू स्वयं राष्ट्रीय एकीकरण के महान् समर्थक थे। उन्होंने समय-समय पर एकीकरण के लिए काफी कोशिश की। भारत के 14वें स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर लाल किले से प्रसारित अपने भाषण में नेहरू ने राष्ट्रीय एकीकरण पर बल देते हुए कहा था, "भारत में जबकि नये सूर्य का उदय हो रहा है, हम सभी के लिए यह उपयुक्त होगा कि हम सही मार्ग पर रहें, धीरे-धीरे एकता की ओर बढ़ें, स्वतन्त्रता की रक्षा करें और राष्ट्रीय समृद्धि के लिए कार्य करें।"[1] भारतीय एकीकरण समिति ने कई निर्णय लिये जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—(i) यदि कोई व्यक्ति या समूह भारतीय संघ से पृथक् होने की वकालत करता है तो ऐसा करना अपराध माना जायेगा। (ii) इंजीनियरिंग, मेडिकल एवं वन विभाग की अखिल भारतीय सेवाएँ बनायी जायें तथा इन सेवाओं में अफसरों का क्रमावर्तन (Rotation) हो। (iii) प्रत्येक प्रान्त के उच्च न्यायालय में एक न्यायाधीश उस प्रान्त के बाहर का हो। (iv) अल्पसंख्यकों की भाषा का संरक्षण प्रदान किया जाय।

1 "When a new sun is rising in India it behoves all of us to remain on the right path, forge unity, defend freedom and work for the prosperity of the nation."

—J. L. Nehru, quoted by G. S. Ghurye, *op. cit.* p. 499

28 सितम्बर, 1961 को त्रि-दिवसीय राष्ट्रीय एकीकरण कॉन्फ्रेंस का दिल्ली में आयोजन किया गया जिसमें 130 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें राष्ट्रीय एकीकरण समिति तथा सन् 1958 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं मई, जून और अगस्त सन् 1961 में प्रान्तों के मुख्यमन्त्रियों की बैठकों में प्रकट किये गये विचारों एवं सुझावों का विस्तारपूर्वक लेखा-जोखा किया गया। इस कॉन्फ्रेंस ने निम्नांकित निर्णय लिये-(i) लोगों में समझ, पारस्परिक सद्भाव और राष्ट्रीय दृढ़ता पैदा करने के लिए सभी राज्यों के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में दूसरे प्रान्तों के अध्ययन करने वाले छात्रों को भी छात्रवृत्तियाँ, प्रवेश और अन्य सुविधाएँ दी जायें। (ii) भारत में सभी स्कूलों में शिक्षण कार्य राष्ट्रगान के बाद ही प्रारम्भ किया जाय। (iii) राष्ट्रीय एकीकरण का विकास करने के लिए राजनीतिक दलों, प्रेस, छात्रों एवं सामान्य नागरिकों के लिए व्यवहार के नियम तय किये जायें। (iv) इस कॉन्फ्रेंस में राष्ट्रीय एकता परिषद् की स्थापना करने का सुझाव भी दिया गया जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होंगे। (v) यह परिषद् छात्रों, राजनीतिक दलों, प्रेस एवं जनता के लिए व्यवहार के नियम बनायेगी तथा अल्पसंख्यकों की शिकायतें दूर करने के सुझाव देगी। राजनीतिक एवं अन्य उद्देश्यों के लिए किये जाने वाले उपवास की औचित्यता पर भी विचार करेगी। (vi) राष्ट्रीय एकीकरण के लिए आर्थिक कार्यक्रमों को लागू करने में क्षेत्रीय सन्तुलन लाया जाय तथा अल्पसंख्यकों एवं ग्रामीण क्षेत्रों के विकास पर अधिक जोर दिया जाय। (vii) सभी प्रकार के झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण तरीकों से हो।

सन् 1961 में राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् की स्थापना इन्दिरा गाँधी की अध्यक्षता में हुई जिसके सोलह सदस्य थे उनमें से नौ मुसलमान, पाँच हिन्दू एवं एक-एक ईसाई और सिक्ख थे। इस परिषद् ने अपनी रिपोर्ट में एकीकरण के लिए निम्नांकित सुझाव दिये— (i) नौकरी में समुदायों की संख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित नहीं किये जायें। (ii) अल्पसंख्यक समुदायों को व्यावसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण हेतु सुविधाएँ दी जायें तथा उन्हें सरकारी और गैर-सरकारी सेवाओं, उद्योग एवं वाणिज्य में सेवा करने के अवसर प्रदान किये जायें।

मार्च सन् 1968 में राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् की तीन उप-समितियाँ बनायी गयीं जो साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीय विभेद और जन-शिक्षण प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित थीं। इस परिषद् की तीनों कमेटियों ने राष्ट्रीय एकीकरण के लिए निम्नांकित सुझाव दिये—

साम्प्रदायिक कमेटी ने अफवाहें फैलाने, उत्तेजक समाचार छापने, साम्प्रदायिक तत्त्वों को बढ़ावा देने, पूजा-गृहों एवं धार्मिक समाजों में साम्प्रदायिकता का प्रचार करने आदि पर रोक लगाने के लिए कठोर कार्यवाही करने की सलाह दी तथा साम्प्रदायिक दंगों की निष्पक्ष जाँच कराने की बात कही। नागरिकों में परस्पर सद्भाव और सामंजस्य पैदा करने के लिए जिला और राज्य स्तर पर नागरिक परामर्श समितियों की स्थापना करने का भी सुझाव दिया।

क्षेत्रीयता की समस्या से सम्बन्धित कमेटी ने भाषा और सीमा विवादों को सुलझाने के लिए स्थायी समिति के निर्माण का सुझाव दिया। अन्तर्राज्यीय जल विवादों का निपटारा अन्तर्राज्यीय जल-विवाद अधिनियम,1956 के आधार पर हो। क्षेत्रीय एवं आर्थिक विषमता को दूर करने के प्रयत्न किये जायें जिनका आधार जनसंख्या न होकर पिछड़ापन हो। जन आक्रोश को भड़काने वाले एवं क्षेत्रीय भावना पैदा करने वाले संगठनों और सेवाओं पर रोक लगा दी जाय।

शिक्षा तथा जन-समूह सचार समिति न कन्द्र द्वारा एक राष्ट्रीय बोर्ड की स्थापना की बात कही जा कि पाठ्य-पुस्तकों का निर्धारण करे। ग्रामीण क्षत्रों में शिक्षा को बढ़ावा दिया जाए एव विश्वविद्यालयों मे अन्य राज्यों क छात्रों का भी योग्यता छात्रवृत्तियाँ दी जायें।

'राष्ट्रीय एकता परिषद्' की स्थायी समिति न सन् 1969 में राजनीतिक दलों को कहा कि व साम्प्रदायिक मत-जाल तथा पारस्परिक सहयोग बढान हतु जन-आन्दोलन चलायें। राष्ट्रीय एकता परिषद् की सगठन समिति न सुझाव दिया कि साम्प्रदायिकता को किसी भी रूप में बढावा नहीं दिया जाना चाहिए और अल्पसख्यका की समस्याओं का हल किया जाना चाहिए। दिसम्बर 1970 में गठित अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति न सुझाव दिया कि साम्प्रदायिक सगठनों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिए जायें। 1976 मे राष्ट्रीय एकता स सबधित समस्याओं पर विचार करने हतु दो कार्य-दल बनाय गए। इन दलो न साम्प्रदायिक हिसा एव अन्य प्रकार की हिसा की समाप्ति पर जोर दिया। इसन सुझाव दिया कि अल्पसख्यका की व्यवसाय सबधी समस्याओं को विशेषत हल किया जाए। आदिवासियो तथा अनुसूचित जातियों क प्रति विभेदकारी एव अमानवीय व्यवहार रोका जाए। सन् 1980 तथा फिर 1986 मे राष्ट्रीय एकता परिषद् का पुन गठन किया गया। इसन तनाव की स्थिति और दश म बढती साम्प्रदायिकता पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। 1990 में प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता म राष्ट्रीय एकता परिषद् का फिर स गठित किया गया। इस परिषद् न अपनी बैठक में कश्मीर की स्थिति को विस्फोटक बताया और स्पष्ट किया कि दश की एकता को तोड़न वालों के साथ सरकार किसी भी प्रकार का कोई समझौता नहीं करगी। राष्ट्रीय एकता परिषद् की समय-समय पर बैठकें होती रहती हैं जो राष्ट्रीय एकता का खतरा पैदा करन वाली समस्याओं पर विचार करती और बाधक कारणों को दूर करन का प्रयास करती हैं, परन्तु प्रयासों क पीछ दृढ राजनैतिक इच्छा-शक्ति का होना आवश्यक है।

उपराक्त विवरण स स्पष्ट है कि प्राचीन काल स ही भारत में राष्ट्रीय एकता विद्यमान रही है। अति प्राचीन काल म इसका आधार सामाजिक, सास्कृतिक, भौगोलिक एव ऐतिहासिक समानता रहा है। वर्तमान मे इसमे राजनीतिक एकता भी जुड गयी है। एकता को समय-समय पर भाषावाद, क्षत्रवाद जातिवाद, धर्म साम्प्रदायिकता आदि स सबधित उग्र भावनाओं ने नष्ट करने का प्रयास किया है। इन बाधाओं स निपटन क लिए अनक नताओं द्वारा प्रयास किए गये। सरकार न कई सम्मलनों और परिषदों का आयोजन एव गठन किया है जिन्होंन समय-समय पर एकीकरण के लिए अनक सुझाव दिए हैं। सभी प्रकार की बाधाओं और विघटनकारी शक्तियों स लोहा लेते हुए भी भारत न अपनी सदियों पुरानी राष्ट्रीय एकता और अक्षुण्णता को बनाये रखा है। आज भी यह एक सशक्त राष्ट्र क रूप में सिर ऊँचा किए खडा है। इस सन्दर्भ मे हर्बर्ट रिजल ने उचित ही लिखा है "भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओं के होत हुए भी जीवन की एक विशष एकरूपता कन्याकुमारी स लकर हिमालय तक देखी जा सकती है। वास्तव में भारत एक अलग चरित्र एव व्यक्तित्व है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।"[1]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन क आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनक कारकों के सयुक्त प्रभाव क फलस्वरूप हमारे दश म राष्ट्रीय एकीकरण की विकट समस्या रही है। यह सत्य है कि

1 Sir Herbert Risley *People of India*

धार्मिक दृष्टि से देश के विभिन्न भागों में भावात्मक एकता अवश्य पायी जाती है। लेकिन अंग्रेजों के शासन काल में तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात अनेक निहित स्वार्थों के कारण राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ विविध रूपों में उत्पन्न हुई हैं। वोटों की राजनीति ने भी अक्सर संकीर्ण मनोवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। यदि लोगों के सामने एक समग्र राष्ट्र की स्पष्ट कल्पना हो, इस देश के कण-कण, नदी-नालों, पर्वतमालाओं से प्यार हो और इन सबसे ऊपर प्रखर राष्ट्रीय चरित्र हो तो राष्ट्रीय एकीकरण की कोई समस्या नहीं रहेगी। यह सब उसी समय सम्भव है जब देश का नेतृत्व समर्पित भावना से कार्य करे और व्यक्तिगत एवं दलीय क्षुद्र स्वार्थों से अपने को मुक्त रखे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि देश में सभी समूह, चाहे वे आदिवासी समूह हों, हरिजन समूह हों, उच्च या निम्न जातीय समूह हों, हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई समूह हों, अपने-अपने दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लायें और तार्किक, धर्म-निरपेक्ष तथा सार्वभौम बनें।

आज देश के अनेक भागों विशेषत: कश्मीर, पंजाब तथा असम में विघटनकारी शक्तियाँ राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों में संलग्न हैं। अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों के आरक्षण ने जातीय तनाव एवं विद्वेष बढ़ाया है। पिछले कुछ वर्षों में देश में अलगाववादी, आतंकवादी तथा हिंसक गतिविधियाँ बढ़ी हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि सरकार सभी प्रकार की विघटनकारी शक्तियों का डट कर मुकाबला करे। इसके लिए सभी राजनीतिक दलों को आगे बढ़ कर सरकार का पूरी तरह सहयोग करना होगा, क्षुद्र दलीय स्वार्थों से ऊपर उठना होगा, अपूर्व साहस और इच्छा-शक्ति का परिचय देना होगा। राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करना सरकार, विभिन्न राजनीतिक दलों, धार्मिक एवं सामाजिक संगठनों सभी का पुनीत दायित्व है।

प्रश्न

1. राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा समझाइए। भारत में राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. भारत में राष्ट्रीय एकीकरण में भाषा एवं जातिवाद की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. "भारत में विभिन्न सांस्कृतिक विभेदों के रहते हुए भी हम एकता स्थापित कर सकते हैं।" विवेचना कीजिए।
4. भारत में विभिन्न विभाजनात्मक कारकों की व्याख्या कीजिए। इन्हें नियन्त्रित करने के उपाय बताइए।
5. भारत में राष्ट्रीय एकीकरण प्राप्त करने के उपाय बताइए।
6. भारत में राष्ट्रीय एकीकरण में क्षेत्रवाद, भाषावाद एवं जातिवाद जैसे मुख्य बाधक तत्त्वों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
7. भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया के प्रतिकूल कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही हैं? इसकी सविस्तार समझाइए।
8. राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए एवं हमारे देश में इसे प्रतिस्थापित करने के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत कीजिए।
9. "जातिवाद और साम्प्रदायिकता को मात्र कानून ही समाप्त नहीं कर सकता।" इस कथन के सन्दर्भ में भारतीय सामाजिक परिदृश्य से इन बुराइयों को दूर करने के उपाय बताइए।
10. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए
    (अ) क्षेत्रवाद (ब) जातिवाद (स) भाषावाद (द) साम्प्रदायिकता



4

वर्ण व्यवस्था
(Varna System)

मैकाइवर और कूल आदि समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि सामाजिक वर्ग विश्व के सभी समाजों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाये जाते हैं। कहीं पर सामाजिक वर्गों का निर्माण जन्म के आधार पर होता है तो कहीं पर धन के आधार पर। इतना निश्चित है कि सामाजिक वर्ग प्रत्येक समाज में पाये अवश्य जाते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों तथा व्यवसायों के आधार पर उन्हें विभिन्न वर्गों में बाँटने के प्रयत्न प्राचीन समय से ही होते रहे हैं। इन प्रवृत्तियों तथा व्यवसायों के आधार पर समाज का विभाजन संसार के सभी देशों में पाया जाता है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान एच.जी. वैल्स (H G Wells) का कहना है कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के आधार पर समाज-विभाजन से समाज का श्रेष्ठ विकास होता है तथा उसकी शक्ति बढ़ती है। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) और मूर (Moore) ने सामाजिक वर्गों का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि समाज अपनी स्थिरता एवं उन्नति के लिये अपने व्यक्तियों को उनकी योग्यता एवं प्रशिक्षण को ध्यान में रखते हुए विभिन्न वर्गों में बाँट देता है। प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारकों ने भी मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) की एक सुनियोजित नीति को अपनाया तथा कार्यात्मक दृष्टि से समाज को चार वर्गों में विभाजित किया। ये वर्ण हैं — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन के मौलिक तत्त्व के रूप में पायी जाती है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर बतलाया गया है कि उस समय समाज का सम्पूर्ण कार्य व्यवस्थित ढंग से चलता था। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान तथा उससे सम्बन्धित कार्य उसकी प्रवृत्तियों अर्थात् गुणों पर आधारित थे। वर्ण और आश्रम दो ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जिनके आधार पर हिन्दुओं का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन संगठित हुआ है। "वर्णाश्रम-व्यवस्था" व्यक्ति की प्रकृति एवं उसके पालन-पोषण की समस्याओं से सम्बन्धित है। यह व्यवस्था सामाजिक संगठन के हिन्दू सिद्धान्त की आधार-शिला के रूप में कार्य करती है। भारतीय मनीषियों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप में ऐसी अनोखी व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें समाज एवं व्यक्ति- दोनों को समान रूप से महत्त्व मिला है। वे इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे कि समाज का विकास व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है और इसकी समुचित सुविधाओं के उपलब्ध होने पर ही सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है। इन्हीं दो लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था का निर्माण किया गया है। भारतीय सामाजिक विचारधारा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये इन दोनों व्यवस्थाओं का अध्ययन आवश्यक है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के कार्यात्मक विभाजन की दृष्टि से समाज को चार भागों में बाँटा गया है। आश्रम-व्यवस्था में व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत बनाने एवं व्यक्तिगत-विकास के पूर्ण अवसर प्रदान करने हेतु जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया है। ये दोनों व्यवस्थाएँ परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित

हैं। इनके अन्तर्गत व्यक्तियों के अलग-अलग कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है। व्यक्ति आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत अपने व्यक्तित्व का विकास, जीवन का अनुशासित और धर्मानुसार अपने दायित्वों का निर्वाह करता है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वही व्यक्ति अपनी शक्तियों का उपयोग सामूहिक हित में करता है, सामाजिक कल्याण हेतु अपने वर्ण-धर्म का पालन करता है। आश्रम-व्यवस्था का वर्णन अन्य अध्याय में पूर्व में किया गया है। यहाँ वर्ण-व्यवस्था पर विचार किया गया है. वर्ण-व्यवस्था के पूर्ण विवेचन के लिये यह आवश्यक है कि "वर्ण" शब्द के अर्थ को ठीक प्रकार से समझ लिया जाए।

वर्ण का अर्थ
(Meaning of Varna)

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' (वृत-वरणे) धातु से हुई है जिसका अर्थ है वरण अथवा चुनाव करना। इस प्रकार, व्यक्ति अपने कर्म तथा स्वभाव के आधार पर जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, वही वर्ण है। सर्वप्रथम वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में रंग अर्थात् काले और गोरे रंग की जनता के लिए किया गया है और प्रारम्भ में आर्य तथा दास इन दो वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। डॉ. घुरिये ने बतलाया है कि आर्य लोगों ने यहाँ के आदिवासियों को पराजित करके उन्हें दास या दस्यु नाम दिया और अपने तथा उनके बीच अन्तर प्रकट करने के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ रंग-भेद से है।[1] वर्ण के इस अर्थ से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शब्द का प्रयोग आर्यों तथा दस्युओं के बीच पाये जाने वाले प्रजातीय अन्तर को स्पष्ट करने हेतु किया गया।

पाण्डुरंग वामन काणे की मान्यता है कि प्रारम्भ में गौर वर्ण का प्रयोग आर्यों के लिए तथा कृष्ण वर्ण का दासों या दस्युओं के लिए किया जाता था। धीरे-धीरे वर्ण शब्द का प्रयोग गुण तथा कर्मों के आधार पर बने हुए चार बड़े वर्गों के लिए किया गया। फ्रेन्च विद्वान सेनार्ट ने इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि आर्यों तथा दस्युओं के रंग को व्यक्त करने वाला वर्ण शब्द बाद में समाज के चार वर्गों को व्यक्त करने लगा।[2] वास्तव में वर्ण शब्द का अर्थ शाब्दिक दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से पाया जाता है। जिन व्यक्तियों के गुण तथा कर्म एक से थे अर्थात् जिनमें स्वभाव की दृष्टि से समानता थी, वे एक वर्ण के माने जाते थे। इस बात का प्रमाण हमें भगवद्गीता में मिलता है जहाँ श्रीकृष्ण ने कहा है- "मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है।"[3] स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के गुण तथा कर्म पर आधारित है जिसके अन्तर्गत समाज का चार वर्णों के रूप में कार्यात्मक विभाजन हुआ है। समाज में सभी कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के उद्देश्य से व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का ध्यान में रखते हुए उन्हें विभिन्न समूहों अर्थात् चार वर्णों में विभाजित किया गया था। प्रत्येक वर्ण अपने कार्यों को पूर्ण करता हुआ सामाजिक उन्नति में योग देता था।

---

1 G S Ghurye Caste, Class and Occupation p 45
2 Senart Caste in India, p 128
3 चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः. गीता अध्याय-4, श्लोक 13

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति
(Origin of Varna System)

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किय गय हैं। वद, उपनिषद्, महाभारत, गीता तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों में इस व्यवस्था की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ इन्ही ग्रन्थों में विद्वानों द्वारा प्रकट किय गय विचारो क आधार पर हम वर्णों की उत्पत्ति का समझन का प्रयत्न करेंग।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णो की उत्पत्ति क सम्बन्ध मे बतलाया गया है कि ब्राह्मण पुरुष अर्थात् विराट स्वरूप परमात्मा क मुख रूप हैं, क्षत्रिय उनकी भुजायें हैं, वैश्य उनकी जघाएँ अथवा उदर हैं और शूद्र उनक पाँव हैं।[1] ब्राह्मण की उत्पत्ति पुरुष क मुख स हुई है और मुख का कार्य बालना है, इसलिए ब्राह्मणों का कार्य बालना तथा अध्यापकों और गुरुओं क रूप मे अन्य व्यक्तियों का शिक्षित करना है। भुजाएँ शक्ति की सूचक हैं, इसलिए क्षत्रियों का कार्य शासन-सचालन एव शस्त्र धारण कर समाज की रक्षा करना है। जघाएँ बलिष्ठता एव पुष्टता की प्रतीक हैं, इसलिए वैश्यो का कार्य कृषि तथा व्यापार क द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन और लागो की उदर पूर्ति करना है। शूद्र विराट पुरुष क पैरो स उत्पन्न हुए हैं और पैरों का कार्य शरीर क भार का वहन करना है, इसलिए शूद्रा का कार्य सवा द्वारा समाज क भार का वहन करना है। विराट पुरुष क शरीर क विभिन्न अगो स चार वर्णों की उत्पत्ति इस बात का व्यक्त करती है कि चारो वर्णों म भिन्न-भिन्न स्वभावगत विशषताएँ पायी जाती हैं तथा एक ही शरीर क अलग-अलग अवयव या भाग हाने के कारण उनमे पारस्परिक अन्तर्निर्भरता दिखलायी पडती है। स्पष्ट है कि पुरुष-सूत्र क इस श्लोक क आधार पर विभिन्न वर्णों क पृथक्-पृथक् गुण तथा कर्म मान गय हैं।

उत्तर वैदिक काल मे रचित उपनिषदा मे बृहदारण्यक तथा छान्दाग्य उपनिषद् में वर्णों की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् क अनुसार ब्रह्मा न प्रारम्भ में कवल ब्राह्मणों का ही जन्म दिया। लकिन व समाज स सम्बन्धित सभी कार्यों का ठीक प्रकार से पूरा नहीं कर सक। एसी दशा में कल्याण का दृष्टि मे रखकर ब्रह्मा न क्षत्रिय वर्ण की रचना की। क्षत्रिय क अन्तर्गत अनक दवता जैस इन्द्र वरुण, साम तथा यम आदि आत हैं। जब ब्रह्मा न दखा कि क्षत्रियो की उत्पत्ति क उपरान्त भी सन्तापजनक तरीक स कार्यों का सचालन नहीं हो रहा है, तब उन्होंने वसु, आदित्य, मारुत आदि दवताओं क रूप में वैश्यों की उत्पत्ति की। इन सबके जन्म क पश्चात् भी जब काफी प्रगति नही हा सकी, सामाजिक कार्यों का पूर्णता क साथ सम्पादन नहीं हा सका तब पुशान देवता क रूप मे शूद्र की उत्पत्ति हुई। स्वर्ग लाक की इस वर्ण-व्यवस्था क आधार पर ही मृत्युलाक क वर्णों की उत्पत्ति हुई।[2] इसस स्पष्ट है कि अलग-अलग समय पर सामाजिक परिस्थितियों क अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई और इनका मूल आधार इनके द्वारा की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सवाएँ रही हैं। छान्दाग्य उपनिषद् में विशिष्ट वर्ण की सदस्यता के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि यह व्यक्ति क पूर्वजन्म मे किय गये कर्मों की प्रकृति पर निर्भर

1 ब्राह्मणाऽस्य मुखमासीत् बाहु राजन्य कृत
उरु तदस्य यद्वैश्य. पदाभ्या. शूद्र अजायत्। ऋग्वद 10/90/12

2 Prof Ranade A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy" p 60

करता है। जिन्होंने पूर्वजन्म में अच्छे कार्य और आचरण किये हैं, उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण में जन्म लेने का सुअवसर प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर व्यक्ति की स्वभावगत विशेषताएँ बनती हैं और उसके वर्ण का निर्धारण होता है। इस प्रकार उपनिषदों में विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का आधार व्यक्ति के विविध गुण तथा कर्म मान गये हैं।

महाभारत में भी वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अगों से मानी गई है। ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की भुजाओं से, वैश्यों की जंघाओं से और शूद्रों को पाँव से। ब्राह्मणों की उत्पत्ति वेदों तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों की रक्षा के लिए, क्षत्रियों की शासन-सचालन तथा अन्य सभी प्राणियों की रक्षा के लिए, वैश्यों की अन्य दो वर्णों तथा स्वय के भरण-पोषण हेतु कृषि एव व्यापार करने के लिए और शूद्र की शेष तीन वर्णों की सेवा करने के लिए हुई है। शान्तिपर्व में अपने शिष्य भारद्वाज को सम्बोधित करते हुए महर्षि भृगु ने कहा है कि प्रारम्भ में केवल एक ही वर्ण ब्राह्मण (द्विज) था। यही वर्ण बाद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभक्त हो गया। ब्राह्मणों का रंग श्वेत था जो पवित्रता-सतोगुण का परिचायक था। क्षत्रियों का लाल रग था जो क्रोध एवं राजस गुण को व्यक्त करता था, वैश्यों का पीला रग था जो रजोगुण एवं तमोगुण के मिश्रण का सूचक था और शूद्रों का काला रग था जो अपवित्रता एवं तमोगुण की प्रधानता का द्योतक था। इससे स्पष्ट है कि भृगु ने वर्णों की उत्पत्ति रंग-भेद अथवा जन्म के आधार पर न मानकर गुण तथा कर्म के आधार पर मानी है। प्रारम्भ में ब्रह्मा ने बिना ऊँच-नीच के भेद के सबको समान उत्पन्न किया था। लेकिन कालान्तर में जो ब्राह्मण अपने वर्ण धर्म से भिन्न प्रकार की विशेषताएँ व्यक्त करने लगे, उन्हें उनके गुण एवं कर्म के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कहा गया। इस प्रकार विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई। 10361

गीता में कहा गया है कि समाज का चार वर्णों में विभाजन गुण के आधार पर हुआ है और भारतीय दर्शन के अनुसार ये गुण-सत्व, रज तथा तम हैं। साख्य दर्शन के अनुसार इस ससार का विकास इन तीनों गुणो से हुआ है। इन गुणो के द्वारा ही मन की रचना होती है और उसकी तीन प्रवृत्तियाँ- सात्विक, राजसिक तथा तामसिक बनती हैं। इनसे चार प्रवृत्तियाँ बनती हैं- सात्विक, सात्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक और तामसिक। इन चार प्रवृत्तियों के आधार पर ही समाज का चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन किया गया है। सात्विक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखता है और ब्राह्मण कहलाता है। सात्विक और राजसिक प्रवृत्ति से युक्त व्यक्ति क्रियाशीलता की प्रधानता के कारण क्षत्रिय कहलाता है। राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति वैश्य कहलाता है। तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति में अज्ञानता पायी जाती है और ऐसे व्यक्ति को शूद्र कहा गया है।

महाभारत काल तक वर्णों की उत्पत्ति का आधार गुण तथा कर्म को माना गया। परन्तु धीरे-धीरे स्मृतिकारों का झुकाव सामाजिक स्तरीकरण की इस व्यवस्था को कठोर बनाने की ओर था। अत उन्होंने ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की व्याख्या अपने ही तरीके से करना प्रारम्भ कर दिया और वर्ण व्यवस्था को एक ईश्वरीय व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि गुण तथा कर्म पर आधारित उदार वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आती गई और व्यक्ति के लिए वर्ण परिवर्तन साधारणत: सभव नहीं रहा।

वर्ण-व्यवस्था का आधार-जन्म अथवा कर्म
(Basis of Varna-System-Birth or Karma)

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक मूल प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह जन्म पर आधारित थी अथवा गुण व कर्म पर। व्यक्ति की वर्ण विशेष की सदस्यता का निर्धारण उसके किसी विशिष्ट परिवार में जन्म के आधार पर होता था अथवा उसके गुण एवं कर्म के आधार पर। साधारणतः वर्ण सदस्यता का आधार जन्म को न मानकर गुण तथा कर्म को माना जाता है, लेकिन फिर भी इस सम्बन्ध में विद्वानों ने विरोधी मत व्यक्त किये हैं।

वर्ण-सदस्यता के आधार के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विचारक डॉ. राधाकृष्णन् का कथन है कि इस व्यवस्था में वंशानुसंक्रमणीय क्षमताओं का महत्त्व अवश्य था, परन्तु फिर भी मुख्यतया यह व्यवस्था गुण तथा कर्म पर आधारित थी। आपने बतलाया है कि महाभारत एवं इसके पूर्व के काल की घटनाओं के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि उस समय वर्ण परिवर्तन सम्भव था। विश्वामित्र, राजा जनक, महामुनि व्यास, वाल्मीकि, अजमीढ़ और पुरामीढ़ अपने गुण तथा कर्मों के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तित कर पाये। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में सन्तानु एवं देवापि नामक दो भाइयों का उल्लेख करते हुए कहा है कि उनमें से एक ने क्षत्रिय राजा के रूप में और दूसरे ने ब्राह्मण पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। भागवत में तो यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि राष्ट्र नाम की क्षत्रिय जाति अपने कर्मों के आधार पर ब्राह्मण बन गई। स्मृति के अनुसार जन्म के समय व्यक्ति को शूद्र मानना और तत्पश्चात् उपनयन तथा अनेक अन्य संस्कारों के द्वारा शुद्ध होने पर उसे द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान करना भी यही प्रकट करता है कि वर्ण सदस्यता के निर्धारण में कर्म का महत्त्व मुख्य था। यदि वर्ण का आधार जन्म होता तो यह सम्भव नहीं हो सकता था।

डॉ. जी. एस. घुरिये ने कर्म को वर्ण का आधार माना है। आपने बतलाया है कि प्रारम्भ में भारत में दो ही वर्ण थे- आर्य और दास अथवा दस्यु। आर्य भारत में विजेता के रूप में आये थे। उन्होंने अपने को श्रेष्ठ और यहाँ के मूल निवासियों-द्रविड़ों को निम्न समझा, स्वयं को द्विज तथा द्रविड़ों को दास या दस्यु कहा। समय के साथ-साथ जैसे-जैसे आर्यों की संख्या में वृद्धि हुई- उनके कर्मों में भी विभिन्नता आती गई और द्विज वर्ण गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों में विभक्त हो गया। इन तीनों वर्णों के लोग एक ही मूल वर्ण-द्विज (आर्य प्रजाति) से सम्बन्धित थे। यही कारण है कि प्रारम्भ में इनमें आपस में वैवाहिक सम्बन्ध होते थे तथा खान-पान एवं सामाजिक सम्पर्क पर कोई कठोर प्रतिबन्ध नहीं था।

के. एम. पणिक्कर की मान्यता है कि विभिन्न वर्णों का आधार कर्म है न कि जन्म। आपका कथन है कि यदि जन्म ही वर्ण सदस्यता का आधार होता तो विभिन्न वर्णों के पेशों में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नहीं था। परन्तु प्राचीन साहित्य से उपलब्ध प्रमाण यह प्रकट करते हैं कि ब्राह्मण न केवल धर्म-कार्यों का सम्पादन एवं अध्ययन ही करते थे बल्कि वे साथ ही औषधि, शस्त्र निर्माण एवं प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में भी लगे हुए थे। 'जातक' नामक बौद्ध ग्रन्थ में ब्राह्मणों को व्यापारियों एवं आखेटकों के रूप में दिखलाया गया है। वैदिक काल से ही

अनेक ऐसे उदाहरण पाए जाते हैं जिनके अनुसार जातीय संस्तरण में निम्नतम स्थिति वाले लोग भी उन व्यवसायों तक को अपना सके जो सिद्धान्त रूप में अन्य जातियों के एकाधिकार के अन्तर्गत आते हैं। वैदिक साहित्य में कहीं ऐसा वर्णन नहीं मिलता जिससे प्रकट हो कि लोगों के लिए जन्म के आधार पर व्यवसाय का चुनना अनिवार्य था। पवित्र ग्रन्थ 'एतरेय ब्राह्मण' की रचना एक ब्राह्मण ऋषि एवं उनकी दस्यु पत्नी से उत्पन्न आरस पुत्र ने की थी। इस कथन से स्पष्ट है कि वर्ण की सदस्यता कर्म के आधार पर प्राप्त होती थी न कि जन्म के आधार पर।

पणिक्कर ने तो यहाँ तक कहा है कि समाज का चार वर्णों के रूप में विभाजन का अस्तित्व वस्तुतः कभी नहीं रहा, इसे ऐतिहासिक आधार पर सिद्ध किया जा सकता है।[1] हिन्दू समाज में केवल ब्राह्मणों को ही एक वर्ग अथवा एकीकृत जाति के रूप में माना जा सकता है। केवल ब्राह्मणों के ही सामान्य धार्मिक विधि विधान एवं जीवन के प्रति एक से दृष्टिकोण पाए जाते हैं। अन्य तीन वर्ण अथवा जातियों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। उनके अनुसार ऐसे ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं जिनसे सिद्ध हो कि क्षत्रिय तथा वैश्य नाम के वर्ण भी पाये जाते थे। महापद्मनन्द के समय से इतिहास में क्षत्रिय राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता, केवल उन्नीसवीं शताब्दी में राजघराना ने उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु अपने को क्षत्रिय माना। अपने-आप को क्षत्रिय कहने वाले लोग अपने विशिष्ट व्यवसाय के आधार पर ही ऐसा कहते हैं। वैश्यों के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। आनुवंशिक व्यवसाय के रूप में जो लोग व्यापार एवं वाणिज्य में लगे, वे स्वयं को वैश्य कहने लगे। एक एकीकृत जाति के रूप में वैश्यों का अस्तित्व नहीं पाया जाता। 'शूद्र' वर्ण अथवा जाति एक ऐसा विविध समूह रहा है जिसके अन्तर्गत वे लोग आते हैं जिनका उपनयन संस्कार नहीं हुआ अर्थात् जो जनेऊ धारण नहीं करते हैं।

पणिक्कर की मान्यता है कि हिन्दू समाज सदैव से अनेक उपजातियों में विभक्त रहा है। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था मात्र एक सैद्धान्तिक व्यवस्था रही है, जिससे अनेक उपजातियाँ गोत्र-समूह एवं पारिवारिक समूह अपने को सम्बन्धित मानते रहे हैं। केवल सैद्धान्तिक व्यवस्था होते हुए भी यह आज तक हिन्दू जीवन को अनेक रूपों में नियंत्रित करती रही है। प्रत्येक जाति स्वयं को इन चार वर्णों में से किसी एक के साथ सम्बन्धित मानती है। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के आधार के रूप में कर्म का महत्त्व स्वीकार किया गया है।

तथ्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था गुण तथा कर्म पर आधारित थी। कालान्तर में आनुवंशिक व्यवसाय का महत्त्व बढ़ता गया एवं व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में निश्चितता और व्यवसाय की भिन्नता के कारण व्यक्तियों को स्वभावगत विभिन्नता में भिन्नता आने लगी। आज वर्ण व्यवस्था समाज के एक सिद्धान्त के रूप में अवश्य महत्त्वपूर्ण है, वस्तुतः सैकड़ों जातियों और उपजातियों आज हिन्दू सामाजिक जीवन का आधार बन गई है।

---

1 "That the four fold division never in fact existed can be historically proved."
K.M. Panikkar "Hindu Society at Cross Roads" p 7

विभिन्न वर्णों के धर्म
(Duties of Various Varnas)

विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में अलग-अलग वर्णों के कर्त्तव्यों अथवा उनके वर्ण-धर्मों का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक वर्ण के लोगों से यह आशा की गई है कि वे अपने-अपने दायित्वों का निर्वाह करें। वर्ण-धर्म पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन की एक ऐसी सुनियोजित व्यवस्था थी जिसके द्वारा सभी प्रकार के कार्यों को विशेष ज्ञान के आधार पर पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाता था।

(1) ब्राह्मणों का धर्म— ब्राह्मणों के प्रमुखतः छः कर्म बताये गये हैं जिनमें अध्ययन और अध्यापन, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना आते हैं। इन सभी कर्मों का सम्बन्ध सात्विक गुणों के साथ पाया जाता है। सात्विक गुण की प्रधानता के कारण ही ब्राह्मण को सबसे उच्च स्थिति प्रदान की गई है। भीष्म के अनुसार ब्राह्मण का मुख्य कर्त्तव्य पढ़ना, आत्म-नियंत्रण करना एवं तप का अभ्यास करना है। मनु ने बतलाया है कि वेदों का अनुशीलन (अभ्यास), तप, अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञों का सम्पादन करना ब्राह्मण के प्रमुख दायित्व हैं।[1] ब्राह्मण के लिए यह भी बतलाया गया है कि उसे शान्त प्रकृति का होना चाहिए, धर्म के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए और पवित्रतापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। ब्राह्मण को यह आज्ञा भी दी गई है कि विशिष्ट परिस्थितियों में आपद् धर्म के रूप में क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए भी वह अपनी आजीविका कमा सकता है।

(2) क्षत्रियों का धर्म— मनुस्मृति में बतलाया गया है कि प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा विषयों में आसक्ति न रखना क्षत्रियों के प्रमुख कर्म हैं।[2] महाभारत में बतलाया गया है कि क्षत्रिय वह है जो वेदों के अध्ययन में लगा रहता है, जो ब्राह्मणों को दान देने में रुचि रखता है तथा जो क्षत्रियोचित कर्मों का पालन करता है। क्षत्रिय का प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा करना, वीरता दिखाना, युद्ध से कभी मुँह नहीं मोड़ना तथा दुष्टों को दण्ड देने में समर्थ होना आदि बतलाये गये हैं। क्षत्रिय का यह भी धर्म है कि उसे प्रजा में धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए और प्रजा को सद्कर्मों की ओर प्रेरित करना चाहिए।

(3) वैश्यों का धर्म— महाभारत के अनुसार वेदों के अध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशुपालन तथा कृषि कार्य से अन्न का संग्रह करने में रुचि रखने वालों को वैश्य माना गया है। वैश्यों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में मनुस्मृति में बतलाया गया है कि पशुओं की रक्षा करना, दान देना तथा कृषि करना उनके मुख्य कार्य हैं।[3] गीता में बतलाया गया है कि कृषि, गो-रक्षा और व्यापार वैश्यों के प्रमुख कर्म हैं। शुक्राचार्य के अनुसार उन लोगों को वैश्य कहा गया है जो क्रय-विक्रय करने में कुशल हैं, व्यापार ही जिनका जीवन है, जो पृथ्वी पर पशुओं की रक्षा करते हैं और कृषि कार्यों में लगे हुए हैं।

---

1 वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।
अध्यापनमध्ययनं भजनं याजनं तथा। मनुस्मृति 2/166

2 प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः। मनुस्मृति 1/89

3 पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च। मनुस्मृति, 1/90

(4) शूद्रों का धर्म— शूद्रों का केवल एक ही धर्म माना गया है और वह है- अन्य तीन वर्णों की बिना ईर्ष्या भाव के सेवा करना।[1] शूद्र के लिए यह भी बतलाया गया है कि जहाँ तक सम्भव हो, उसे किसी ब्राह्मण के सेवक के रूप में ही कार्य करना चाहिए। शूद्र के लिए अध्ययन करना, अन्य वर्णों के व्यवसाय को अपनाना तथा धन का संग्रह करना वर्जित बतलाया गया है। शूद्र का प्रमुख कार्य अपने स्वामी की स्वार्थरहित भाव से सेवा करना है। जहाँ शूद्रों का कार्य अन्य वर्णों की सेवा करना है वहाँ अन्य वर्णों का यह दायित्व भी है कि वे शूद्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें। महाभारत में शूद्र उसे माना गया है जो वेद और सदाचार को त्याग कर सदैव सब कुछ खाने में लगा रहता है और सभी तरह के काम करता है।

महाभारत में बतलाया गया है कि वर्णों का विभाजन उपर्युक्त धर्मों के आधार पर ही किया गया है, न कि वर्ण के आधार पर उनके धर्म का निर्धारण।[2] इससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार प्रधानतः गुण तथा कर्म ही था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति अपने कार्यों से वर्ण-च्युत हो जाता था तो उसे पुनः अपने पूर्व वर्ण में नहीं माना जा सकता था। वर्णों के उपरोक्त विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त कुछ सामान्य धर्म भी बतलाये गये हैं, जैसे क्षमावान होना, सरल भाव रखना, किसी से द्रोह नहीं करना, सभी जीवों का भरण-पोषण करना, पत्नी से ही सन्तान को जन्म देना, पवित्रता बनाये रखना, क्रोध नहीं करना, सच बोलना तथा धन बाँट कर उसको उपयोग में लेना आदि। इनका पालन प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के लिए आवश्यक माना गया है।

वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व
(Importance of Varna System)

उपनिषदों, महाभारत तथा कुछ स्मृतियों में वर्ण-व्यवस्था का जो रूप देखने को मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि यह सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसके माध्यम से मनोवैज्ञानिक आधार पर समाज का कार्यात्मक विभाजन किया गया था। इस व्यवस्था ने सभी वर्ण के लोगों को अपना दायित्व समुचित ढंग से निभाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समाज के हित की दृष्टि से प्रत्येक वर्ण के कार्य को महत्ता प्रदान की गई और व्यक्तियों में इस भावना को कूट-कूट कर भरा गया कि उनका हित इसी में है कि वे अपने वर्ण-धर्म का पालन करें। जब तक व्यक्ति के सम्मुख दायित्व-निर्वाह की समुचित प्रेरणा नहीं होगी तब तक वह अपने कार्यों को सुचारू रूप से नहीं कर पायेगा। इस व्यवस्था ने व्यक्तियों को कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसके द्वारा व्यक्तियों को यह विश्वास दिलाया गया कि जो व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म का पालन करेंगे, उन्हें दूसरे जन्म में उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त होगी। इस व्यवस्था ने समाज को विभिन्न खण्डों में बाटने के बजाय उसे संगठित बनाये रखने का प्रयास किया, पारस्परिक अन्तर्निर्भरता को प्रोत्साहन दिया। निम्नलिखित आधारों पर वर्ण-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्त्व को स्पष्ट किया जा सकता है—

---

1 एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया। मनुस्मृति 1/91

2 महाभारत शान्तिपर्व 189/ 2-8

(1) इस व्यवस्था ने लोगों को वर्ण-धर्मानुसार अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा दी, उन्हें अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक बनाया। इसके अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कार्यों का निर्धारण कर लोगों को एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से रोका गया, अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियंत्रण लगाकर उन्हें संघर्षों से मुक्त रखा गया।

(2) यह श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण की एक अद्वितीय व्यवस्था रही है। बाल्यावस्था से ही व्यक्ति अपने पारिवारिक पर्यावरण में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर विशेषीकृत ज्ञान का लाभ उठा सके हैं। विभिन्न वर्णों में सभी प्रकार के कार्य बाँट कर समाज को प्रगति की ओर बढ़ाया जा सका है।

(3) वर्ण-व्यवस्था एक ऐसी लचीली व्यवस्था रही है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों को अपने गुणों तथा कर्मों के आधार पर अपनी सामाजिक परिस्थिति को उन्नत करने का अवसर प्रदान किया गया। इसमें व्यक्ति को अपने गुण तथा कर्म के आधार पर वर्ण-परिवर्तन का सुअवसर भी प्राप्त था। स्पष्ट है कि नियंत्रित गतिशीलता के आधार पर इस व्यवस्था ने सामाजिक प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

(4) वर्ण-व्यवस्था समता की नीति पर आधारित रही है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का चार वर्णों के रूप में कार्यात्मक विभाजन अवश्य हुआ है परन्तु प्रत्येक वर्ण की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्त्व दिया गया है। विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति यही प्रकट करती है कि प्रत्येक अंग के पृथक् पृथक् कार्य होते हुए भी कार्यात्मक दृष्टि से सभी का समान महत्त्व है।

(5) इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न प्रजातीय समूह रक्त की शुद्धता को बनाये रख सके। अलग-अलग वर्णों के रूप में संगठित होने से विभिन्न प्रजातीय समूहों को एक ओर रक्त की शुद्धता बनाये रखने का अवसर मिला और दूसरी ओर अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को सुगमता से पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तांतरित करने का।

(6) वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसने समाज में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने में योग दिया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत यह प्रयत्न किया गया कि विभिन्न शक्तियाँ कुछ व्यक्तियों या उनके समूह विशेष में केन्द्रित न हो जाएं। समाज में चार प्रकार की शक्तियाँ पायी जाती हैं- शास्त्र या ज्ञान-शक्ति, शस्त्र या सेना-बल, अन्न या सम्पत्ति और सेवा या श्रम का बल। यदि ये सभी शक्तियाँ कुछ ही व्यक्तियों या उनके किसी समूह विशेष में केन्द्रित हो जाएं तो समाज में अत्याचार बढ़ेंगे। इन शक्तियों से युक्त समूह में अहंकार तथा निरंकुशता की वृद्धि होगी। यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था में चारों शक्तियाँ और पुरस्कार पृथक् पृथक् रखे गये हैं। ब्राह्मण अपने ज्ञान से समाज की सेवा करता और पुरस्कार के रूप में आदर प्राप्त करता है, क्षत्रिय समाज की रक्षा करता और शासन के रूप में पुरस्कार प्राप्त करता है, वैश्य अन्नादि के उत्पादन द्वारा समाज की भोजन-सबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति कर धन के रूप में पुरस्कार प्राप्त करता है और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके पुरस्कार के रूप में जीवन की आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करता है। इस व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण के पास सम्मान था परन्तु धन तथा शासन-शक्ति नहीं थी, क्षत्रिय के पास शासन शक्ति थी परन्तु उसे ब्राह्मण जितना सम्मान और वैश्य जितना धन नहीं दिया गया था, वैश्य के पास धन था परन्तु उसे शासन-शक्ति और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जितना सम्मान नहीं दिया गया था। यदि सम्मान

शासन-शक्ति और धन सभी कुछ एक ही के पास केन्द्रित हो जायें तो उस दशा में समाज में अन्याय और अत्याचारों के बढ़ने की संभावना रहेगी। ऐसी स्थिति में समाज में असन्तोष बढ़ेगा और परिणामस्वरूप सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होंगे। इसी से बचने के लिए वर्ण-व्यवस्था में सम्मान, शासन तथा धन को एक दूसरे से पृथक् रखा गया था।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था एक अत्यन्त विकसित सामाजिक व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करती है। यहाँ सामाजिक प्रगति हेतु सभी व्यक्तियों को अपनी शक्तियों एवं योग्यताओं का उपयोग में लाने का समुचित अवसर दिया गया है। वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए मैरेयर विल्सन ने कहा है कि यह मनुष्य को स्वार्थ-त्याग का पाठ पढ़ाती, दुराचार से रोकती, दरिद्रता को दूर करती तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है।

वर्ण व्यवस्था के दोष
(Defects of Varna System)

प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था के गुणों का लाभ समाज को मिलता रहा। लेकिन जब प्रत्येक वर्ण सैकड़ों-हजारों जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गया तो कालान्तर में समाज को कुछ हानियाँ भी उठानी पड़ीं। वर्ण-व्यवस्था के आधार पर हिन्दू समाज धीरे-धीरे अगणित जातियों में बँट गया, लोगों की साम्प्रदायिक भावना अत्यन्त संकुचित हो गई और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित हुई। परिणामस्वरूप विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत को पददलित कर यहाँ सैकड़ों वर्षों तक शासन किया। इसी वर्ण-व्यवस्था ने आगे चलकर अस्पृश्यता को जन्म दिया। आज वर्ण के आधार पर विभिन्न जातियाँ एवं उपजातियाँ एक होकर अपना वीभत्स रूप प्रकट कर रही हैं, व प्रजातन्त्र के मार्ग में बाधा स्वरूप हैं इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के एक बड़े वर्ग-शूद्रों को अपने विकास के समुचित अवसर प्राप्त नहीं हो सके और उन्हें अन्य वर्णों की सेवा करके ही अपनी जीविका कमानी पड़ी। यहाँ हमें इस बात का ध्यान में रखना है कि ये दोष प्रारम्भिक वर्ण-व्यवस्था के नहीं बल्कि कालान्तर में विकसित जाति-व्यवस्था के हैं। वर्ण-व्यवस्था ने तो वास्तव में समाज को अनेक संघर्षों से बचाया है विभिन्न वर्णों को धर्मानुसार अपने पृथक्-पृथक् कर्तव्य पालन करने हेतु प्रेरित किया है, आध्यात्मिकता को प्रोत्साहन एवं विभिन्न वर्णों में पारस्परिक सहयोग पर बल दिया है। आज वर्ण व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र है और अब इसका स्थान जाति-व्यवस्था ने ले लिया है।

प्रश्न

1. भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण स्तरण के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
2. भारतीय समाज में स्तरीकरण का परम्परागत आधार क्या है? विवेचना कीजिए।
3. वर्ण व्यवस्था की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। वर्ण व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था से किस प्रकार भिन्न है? समझाइए।
4. हिन्दू वर्ण-व्यवस्था पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
5. हिन्दू समाज में विभिन्न वर्णों के धर्म की व्याख्या कीजिए।
6. वर्ण का अर्थ स्पष्ट करते हुए वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।
7. वर्ण व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

5

आश्रम-व्यवस्था
(Ashrama System)

भारतीय सस्कृति में त्यागमय भोग का अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँ आध्यात्मवाद एवं सांसारिकता में समन्वय स्थापित करन का अपूर्व प्रयास मिलता है। हिन्दू जीवन पद्धति में व्यक्ति का ससार के प्रति उदासीन रहन का आदश नही है और न ही सासारिकता में, विभिन्न भोगों में इतना लिप्त हा जाने का कि जिसस वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य- 'मोक्ष-प्राप्ति' का ही भूल जाय। हिन्दू शास्त्रकारों न जीवन क प्रत्यक क्षत्र में धर्म को महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने धर्म को प्राप्ति को ही जीवन का मुख्य लक्ष्य घाषित किया। श्रीकृष्ण न धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए महाभारत में बतलाया है-

'प्रभवार्थ च भूताना धर्म प्रवचन कृतम्।'

अर्थात् प्राणियों क लाभ या परमार्थ के लिए धर्म का प्रवचन किया गया है। वास्तव में धर्म वही है जिसस किसी प्राणी का हानि न पहुँच। अपने तथा समाज के जीवन को उन्नत बनाने के लिए भारतीय सस्कृति मे यह आवश्यक माना गया है कि इस ससार मे रहते हुए मनुष्य त्यागमय भोग की ओर प्रेरित हा धर्म क अनुसार अपन कर्त्तव्यों का पालन करे और अपने जीवन के अन्तिम उद्देश्य– मोक्ष की प्राप्ति कर। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमारे यहाँ सुविचारित एव क्रमबद्ध जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता को अनुभव किया गया है। अत यहाँ व्यक्ति के जीवन को चार भागो मे विभाजित किया गया है जिसे आश्रम-व्यवस्था कहा जाता है।

आश्रम व्यवस्था हिन्दू सामाजिक सगठन का एक मूल आधार रही है। डॉ. प्रभु ने उचित ही लिखा है, "हिन्दुओं क द्वारा सोची तथा सुनियाजित की गई आश्रम-व्यवस्था विश्व के सामाजिक विचारों के सम्पूर्ण इतिहास में एक अपूर्व दन है।"[1] वास्तव में जीवन-व्यवस्था का इतना सुन्दर ढग अन्यत्र कही नही मिलता। मनुष्य क सम्पूर्ण जीवन तथा उससे सम्बन्धित कार्यों को आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया गया है। आश्रम व्यवस्था क माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करता हुआ एक उन्नत समाज के विकास में योग दे सकता है। इस व्यवस्था के अनुसार कार्य करता हुआ वह अपने *उद्देश्यों की पूर्ति में सफल होता है।* एक हिन्दू के लिए सम्पूर्ण जीवन ज्ञान-प्राप्ति एव आत्मानुशासन का काल है। इस अवधि में चार विभिन्न अवस्थाओं में रह कर उसे प्रशिक्षण प्राप्त करना पडता है। इसे ही आश्रम-व्यवस्था कहा गया है। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढने में व्यतीत करना चाहिए और सम्पूर्ण विद्याओ का ज्ञान प्राप्त कर उसके द्वारा संसार की उन्नति करने

---

1 "The scheme of the ashramas as thought out and devised by the Hindu is a unique contribution in the whole history of the social thought of the world"

– P N Prabhu "Hindu Social Organization" p 75

के लिए गृहस्थाश्रम में भी अवश्य प्रवेश करना चाहिए। साथ ही विद्या और संसार के उपकार के लिए एकान्त में बैठकर (वानप्रस्थ के अनुसार) समस्त जगत के अधिष्ठाता ईश्वर का ज्ञान भली प्रकार प्राप्त करना और मनुष्यों को समस्त व्यवहारों का उपदेश देना चाहिए। तत्पश्चात् समस्त सन्देहों के छेदन और सत्य के निर्धारण हेतु संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना सम्पूर्ण पक्षपात से मुक्ति मिलना बहुत कठिन है।

आश्रम का अर्थ
(Meaning of Ashrama)

डॉ. प्रभु के अनुसार आश्रम शब्द मूल रूप में संस्कृत की श्रम धातु से बना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आश्रम का अर्थ है: (अ) एक स्थान जहाँ प्रयत्न या उद्योग किया जाता है तथा (ब) इस प्रकार के प्रयत्न या उद्योग की क्रिया।[1] इस प्रकार आश्रम को एक क्रिया-स्थल माना गया है जहाँ कुछ समय ठहर कर व्यक्ति उद्योग करता है। शाब्दिक दृष्टि से आश्रम ठहरने या विश्राम करने का स्थान है। यहाँ पर ठहरकर व्यक्ति अपने आपको आगे की यात्रा के लिए तैयार करता तथा अपने में उपयुक्त गुणों का विकास करता है। डॉ. प्रभु ने कहा है कि आश्रम को जीवन के अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष प्राप्ति हेतु व्यक्ति द्वारा की जाने वाली यात्रा के मार्ग में पड़ने वाला विश्राम-स्थल मानना चाहिए।[2] प्रत्येक आश्रम जीवन की एक अवस्था है जिसमें कुछ समय तक रहकर व्यक्ति स्वयं को प्रशिक्षित करता और इस प्रशिक्षण के आधार पर कार्य करता हुआ अपने को दूसरी अवस्था के योग्य बनाता है। इस सम्बन्ध में महाभारत में व्यासजी ने कहा है कि जीवन के चार विश्राम-स्थल अर्थात् आश्रम व्यक्ति के विकास की चार सीढ़ियाँ हैं। इन पर क्रम से चढ़ते हुए व्यक्ति 'ब्रह्म' की प्राप्ति करता है।[3]

आश्रम-व्यवस्था में पुरुषार्थ के सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। व्यक्ति के सम्पूर्ण दायित्वों को इस सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्त किया गया है। पुरुषार्थ चार माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। व्यक्ति इन चारों दायित्वों का निर्वाह तभी कर सकता है जब वह अपना मानसिक, शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करे, यानि अपने व्यक्तित्व का चहुँमुखी विकास करे। विभिन्न आश्रमों में रहता हुआ व्यक्ति स्वयं में इन सब गुणों के विकास का प्रयत्न करता हुआ जीवन के अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष प्राप्ति के लिए अपने को योग्य बनाता। आश्रम-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति अर्थ तथा काम का उपभोग करते हुए धर्म तथा मोक्ष को भी प्राप्त करता है। डॉ. कापड़िया ने उचित ही लिखा है, "हिन्दू आश्रम-व्यवस्था में पुरुषार्थ सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति की गई है।"[4] इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति धर्म को जीवन में प्रमुख स्थान देता है, वह संसार में रहता हुआ काम तथा अर्थ की प्राप्ति करता है, स्वार्थवश होकर नहीं बल्कि परमार्थ तथा सामाजिक कर्तव्य को ध्यान में रखकर।

---

1 "The word ashrama is originally derived from the sanskrit root ashrama to exert oneself, therefore it may mean, by derivation (i) a place where exertions are performed and (ii) the action of performing such exertions" —P N Prabhu "Hindu Social Organization" p 83

2 "The ashramas, then, are to be regarded as resting places during one's journey on the way of final liberation which is the final aim of life" Ibid p 83

3 महाभारत, शान्ति पर्व 242/15

4 "The theory of purusharthas is given concrete expression in the Hindu scheme of ashramas" —K.M Kapadia "Marriage and Family in India", p.27

वह काम और अर्थ का धर्म तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन-मात्र मानते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार यह अपूर्व व्यवस्था है जो हिन्दू जीवन को विभिन्न स्तरों में विभाजित कर, व्यक्ति को समय-विशेष के लिए प्रत्येक स्तर पर रखकर उसे भावी जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करती है कि वह संसार की वास्तविकताओं के मध्य अपने प्रयास द्वारा समस्त दायित्वों को क्रमबद्ध रूप से पूर्ण करता हुआ, जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके। यह प्रणाली हिन्दू जीवन के प्राथमिकता पर आधारित क्रमबद्ध एवं सुनियोजित तरीका को व्यक्त करती है। यह प्रयासमय जीवन की ओर संकेत करती है जिसका चरम लक्ष्य मोक्ष है।

आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति
(Origin of Ashrama System)

आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। डॉ. अल्तेकर ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आश्रम व्यवस्था वैदिक काल की सांस्कृतिक प्रतिभा का ही एक अंग थी। यद्यपि वैदिक साहित्य में आश्रम शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि इतना अवश्य ज्ञात होता है कि उस समय इस योजना पर विचार आरम्भ हो चुका था जीवन को विभिन्न स्तरों में विभाजित करने का प्रयास चालू हो गया था। अथर्ववेद में मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है।

यह उत्तर वैदिककालीन व्यवस्था है। विकास के प्रारम्भिक स्तर पर केवल तीन आश्रमों का ही वर्णन मिलता है। वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम एक-दूसरे से मिले हुए थे जिन्हें कालान्तर में पृथक किया गया। डॉ. मादा तथा आल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फ्रेन्स के विभिन्न निबन्धों में दिए गए उदाहरणों से ज्ञात होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् में जीवन के तीन क्रमों का वर्णन मिलता है—गृहस्थ वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचर्य। यहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम को जीवन का अन्तिम स्तर माना गया है।[2] मनुस्मृति में भी आश्रम व्यवस्था का उल्लेख मिलता है लेकिन इस समय तक केवल तीन आश्रम ही विकसित हो पाये थे।[3] कल्लूक नामक विद्वान की मनुस्मृति टीका से भी यही व्यक्त होता है। जाबालि उपनिषद् में सर्वप्रथम चारों आश्रमों का व्यवस्थित रूप में वर्णन मिलता है। स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था की वैचारिक पृष्ठभूमि वैदिक काल में निर्मित हो चुकी थी, परन्तु व्यवहार रूप में इसका विकास उपनिषद् काल में हुआ।

आश्रमों का विभाजन
(Division of Ashramas)

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत साधारणत व्यक्ति की आयु को 100 वर्ष मान कर उसकी सम्पूर्ण जीवन अवधि को चार बराबर भागों में बाँटा गया है। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम की अवधि 25 वर्ष मानी गयी है।

व्यक्तिगत जीवन के समुचित विकास के लिए जीवन-यात्रा की सम्पूर्ण अवधि को चार

1 Vedic Index by Macdonell and Keith Vol 1 pp 68 69 and C V Vaidya History of Sanskrit Literature " Vol I Sec II p 180

2 छान्दोग्य उपनिषद् 2/23, 1

3 मनुस्मृति 2/230

आश्रमों में विभाजित किया गया है। ये चार आश्रम निम्नलिखित हैं—

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम – विद्यार्थी के रूप में जीवन व्यतीत करने का स्तर। इस स्तर पर विद्यार्थी स्थायी रूप से गुरु के घर पर ही निवास करता है।

(2) गृहस्थ आश्रम – वैयक्तिक एवं परिवार से सम्बन्धित दायित्वों के निर्वाह का जीवन। इस स्तर पर एक व्यक्ति से यज्ञ, अध्ययन और दान करने की आशा की जाती है। यहाँ वह धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति करता है।

(3) वानप्रस्थ आश्रम— घर का त्याग कर जंगल में तपस्यामय जीवन व्यतीत करने का स्तर ताकि सांसारिक इच्छाओं से छुटकारा प्राप्त किया जा सके। इस स्तर पर एक व्यक्ति से तप करने की आशा की जाती है।

(4) सन्यास आश्रम— सांसारिक सम्बन्धों एवं बन्धनों के पूर्ण त्याग का स्तर। यहाँ व्यक्ति अपने आपको मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न में पूर्णतः लगा देता है।

मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा वाले प्रत्येक हिन्दू के लिए क्रमशः इन चारों आश्रमों में रहना आवश्यक बतलाया गया है, परन्तु कौथ का मत है कि आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत केवल तीन आश्रमों की व्यवस्था ही उचित है। उनका तर्क है कि सन्यासी का आश्रम की सीमाओं से परे सब आश्रमों से ऊपर माना जाता था। वह एक 'सामाजिक व्यक्तित्व' के रूप में नहीं देखा जाता था। वह पारिवारिक बन्धनों से मुक्त होता, भिक्षा माँग कर जीवनयापन करता, उसके पास कोई सम्पत्ति अथवा वस्तुएँ नहीं होतीं, यहाँ तक कि वह अपने पूर्व नाम का भी त्याग कर देता था। तात्पर्य यह है कि वह प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर देता था। जब सन्यासी का परिवार, समाज और संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता तो ऐसी दशा में एक सामाजिक व्यवस्था में अर्थात् आश्रम व्यवस्था में सन्यास आश्रम को सम्मिलित करना उचित प्रतीत नहीं होता।

प्रत्येक आश्रम में जीवन व्यतीत करने की अवधि के विषय में विद्वानों के अलग-अलग मत रहे हैं। कामसूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति का जीवन सौ वर्ष का है, इसलिए उसे इस अवधि को बाँट कर प्रत्येक आश्रम में रहना चाहिए। इन चारों आश्रमों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि व्यक्ति एक के कर्तव्यों का पूर्ण सफलता से निर्वाह किये बिना, दूसरे के दायित्वों का पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक आश्रम उत्तरोत्तर अन्य आश्रमों में प्रवेश हेतु प्रशिक्षण का एक स्थल है, भावी जीवन की तैयारी का काल है। व्यक्ति इन आश्रमों में सफलतापूर्वक जीवन यापन करने के पश्चात् ही अन्त में मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनता है। यहाँ प्रत्येक आश्रम की प्रकृति और महत्त्व पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1 *ब्रह्मचर्य आश्रम (Brahmacharya Ashrama)*

उपनयन संस्कार (जनेऊ धारण) के पश्चात् बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। इस संस्कार के सम्पादन का समय विभिन्न वर्णों के लिए अलग-अलग बतलाया गया है। यही कारण है कि इस आश्रम में प्रवेश की आयु ब्राह्मण बालक के लिए 8 वर्ष, क्षत्रिय-बालक के लिये 11 वर्ष और वैश्य बालक के लिए 12 वर्ष बताई गई है। ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'ब्रह्म' और 'चर्य'। 'ब्रह्म' का तात्पर्य है महान् और 'चर्य' का अर्थ है, अनुसरण करना अथवा चलना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ है महानता के मार्ग पर चलना अर्थात् महान् आत्माओं का

अनुसरण करना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य संयम से भी है लेकिन यह ब्रह्मचर्य का केवल एक पक्ष है। डॉ. मातृदत्त त्रिवेदी के अनुसार, ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय-निग्रह से नहीं था, अपितु इन्द्रिय-निग्रह पूर्वक वेदाध्ययन से था, क्योंकि ब्रह्म और वेद ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। ब्रह्मचारी तप के माध्यम से अपने जीवन की साधना करता था। इस आश्रम में बालक अनेक गुणों का विकास करता और अपने चरित्र का निर्माण कर भावी जीवन हेतु प्रशिक्षण प्राप्त करता था।

ब्रह्मचारी अपने गुरु के घर पर रहकर वेदों का अध्ययन प्रारम्भ करता था। परन्तु उपनयन संस्कार के तत्काल पश्चात् ही बालक अध्ययन प्रारम्भ नहीं कर देता था। गुरु उसे बहुत-से कार्य, जैसे ईंधन लाने, पशुओं की देखभाल करने और दान प्राप्त करने की आज्ञा देता था। जब बालक अपने दैनिक कार्यों से गुरु को प्रसन्न कर लेता और गुरु यह समझता कि बालक में अध्ययन करने की वास्तविक इच्छा और जिज्ञासा है तभी उसे वेदाध्ययन की आज्ञा दी जाती थी। सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने, ऋषि-ऋण से छुटकारा पाने और ऋषियों के प्रति आदर-भाव व्यक्त करने के लिए वेदों का अध्ययन आवश्यक था।

धर्मशास्त्रों तथा मनुसंहिता में विद्यार्थी की दिनचर्या सम्बन्धी बहुत से नियम बताए गए हैं। उसका यह कर्त्तव्य है कि वह प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व उठे, दिन में केवल दो बार भोजन करे, शहद, नमक, मीठी वस्तुएँ, माँस, गन्ध, जूता, छतरी आदि का प्रयोग न करे। उसके लिए नृत्य, गायन, जुआ, झूठ, हिंसा आदि वर्जित है। ब्रह्मचारी के लिए विभिन्न कर्त्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार किया गया है कि वह अपना शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास कर सके। इस आश्रम में वह अपने शरीर को स्वस्थ बनाता, बौद्धिक विकास करता, अनेक विद्याओं से स्वयं को परिपूर्ण करता और अपनी आत्मा को पवित्र बनाता था। ऐसा करने के लिए वह यौगिक संयम, यथार्थ आचरण, सत्य-प्रयोग एवं सत्य की खोज करता तथा आध्यात्मिक विकास हेतु अनेक यम-नियमों का पालन करता था। योग दर्शन में कहा गया है कि शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-पूजा ये नियम हैं। इनसे मानसिक विकास होता है। आध्यात्मिक विकास हेतु यमों का पालन आवश्यक है। यमों के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्त्व

हम देखते हैं कि ब्रह्मचर्य आश्रम विद्यार्थी के जीवन-निर्माण अर्थात् उसके व्यक्तित्व के विकास का काल माना जाता था। इस काल में गुरु के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहता हुआ वह बौद्धिक कुशलता प्राप्त करता और संयमी जीवन व्यतीत करता हुआ अपना चरित्र-निर्माण करता एवं नैतिक जीवन को उन्नत बनाता था। इस अवधि में विद्यार्थी अपनी यौन-इच्छाओं पर नियंत्रण रखते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता था।

डॉ. कापड़िया ने इस आश्रम के महत्त्व का इस प्रकार स्पष्ट किया है, "छात्रत्व जीवन अवधि का वह समय है जिसमें वेग होता है। यह समय तूफान और तनाव, आतुरता, शारीरिक-शक्तिवर्द्धन, भावात्मक अस्थिरता, यौन-प्रवृत्ति के विकास, यौनिक उत्तेजना और आत्म-प्रदर्शन का काल होता है। हिन्दू मनीषियों ने विद्यार्थी जीवन को इस प्रकार नियंत्रित करने का प्रयास किया है कि उसकी युवावस्था का विकास सन्तुलित रूप में हो सके। उन्होंने मस्तिष्क तथा शरीर के लिए उचित नियम निर्धारित किए हैं। वास्तव में, यह जीवन अत्यन्त कष्टपूर्ण था, परन्तु जीवन का यह ढंग यौवनावस्था के प्रबल

वेग को नियंत्रित करता था। इसे नियंत्रित जीवन कहा जा सकता है। लेकिन जब सम्पूर्ण दैनिक जीवन नियमबद्ध हो जाता है तथा इसे जीवन के महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुशासित कर दिया जाता है, तब इसके दमन का प्रश्न नहीं उठता है।"[1] ब्रह्मचर्य आश्रम का इस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व था कि उस समय सांस्कृतिक परम्पराएँ मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती थी। समाज का एक वर्ग अध्ययन, संवर्धन तथा प्रसारण द्वारा अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं और तत्त्वों को संजीवित रखता था। इसी आश्रम के माध्यम से कई शताब्दियों तक हमारे व्यावहारिक प्रतिमानों और सामाजिक आदर्शों को अपने विशुद्ध रूप में देखा जा सका था। ब्रह्मचर्य आश्रम में सरल और सादगी से पूर्ण जीवन व्यतीत करके विद्यार्थी यह सीखता था कि भौतिक आवश्यकताएँ आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति में केवल साधन मात्र हैं। वह सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श की ओर प्रेरित होता था। इस आश्रम में रहकर बालक सर्वप्रथम अपना उचित धर्म सीखता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में पठन-पाठन का कार्य सम्पूर्ण कर विद्यार्थी एक प्रतीकात्मक स्नान करता। तत्पश्चात् वह स्नातक कहलाता और द्वितीय आश्रम-गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी बनता। प्रतीकात्मक स्नान के पश्चात् गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर वह स्नातक अपने घर लौटता। इसे 'समावर्तन संस्कार' कहा जाता है।

2. गृहस्थ आश्रम (Grihastha Ashrama)

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् विवाह-संस्कार सम्पन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। विवाह धार्मिक तथा सामाजिक कर्तव्य पालन हेतु किया जाता था। विवाह का उद्देश्य धर्म, प्रजा तथा रति था। इस आश्रम में व्यक्ति मर्यादा युक्त धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति करता था। इसके माध्यम से वह स्वयं, परिवार तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करते हुए अगले आश्रमों के लिए अपने को तैयार करता। यह आश्रम कर्म का महान् स्थल है, जहाँ गृहस्थ ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त शिक्षाओं को मूर्त रूप देता है। गोखले गृहस्थ-धर्म के सम्बन्ध में बतलाते हैं कि इस आश्रम के अन्तर्गत एक गृहस्थ का धर्म है कि वह जीव-हत्या, असंयम तथा असत्य से दूर रहे; पक्षपात, शत्रुता, निर्बुद्धिता तथा डर को पास न आने दे। मादक द्रव्यों का सेवन, कुसंग, अकर्मण्यता और चाटुकारों पर धन व्यय न करे; माता-पिता, आचार्यों और वृद्धों का आदर करे; पत्नी के प्रति उसका व्यवहार धर्म, अर्थ तथा काम की मर्यादाओं के अनुसार हो। इस प्रकार परिवार के सदस्यों में पारस्परिक आदर तथा एक-दूसरे के कल्याण का ध्यान ही कुल धर्म का सार है।[2]

गृहस्थ धर्म-पूर्ति के लिए प्रतिदिन पंच महायज्ञ करता था। इसके द्वारा वह ऋषियों, देवताओं, माता-पिता, अतिथियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता था। इन महायज्ञों का उद्देश्य विभिन्न प्रकार की हिंसा से अपने को मुक्त करना था। मनु के अनुसार, गृहस्थ के घर में चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल-मूसल तथा जलपात्र अनेक जीव जन्तुओं की हिंसा के स्थान हैं। इनसे होने वाली हिंसा के प्रायश्चित स्वरूप पंच महायज्ञों का विधान किया गया है। इनका मुख्य लक्ष्य यही था कि व्यक्ति ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखे, वैदिक साहित्य का अध्ययन करे, अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करे, ऋषि-मुनियों, गुरुजनों, माता-पिता तथा अतिथियों के प्रति

1 K.M. Kapadia, "Marriage and Family in India", p.29-30

2 B.G. Gokhale, "Indian Thought Through the Ages", p.41

अपना दायित्व निर्वाह कर, प्राणी मात्र के कल्याण का ध्यान रखे तथा त्यागमय जीवन व्यतीत करता हुआ अपने और समाज के जीवन को उन्नत बनाए। विभिन्न ऋणों अर्थात् देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण से मुक्त होने के लिए गृहस्थ के लिए यज्ञों की पूर्ति आवश्यक बतायी गई है। पंच महायज्ञ ये हैं— ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ। ब्रह्मयज्ञ को ऋषि यज्ञ भी कहा जाता है। इस यज्ञ के अन्तर्गत दो कर्म आते हैं–स्वाध्याय एवं सन्ध्योपासना। स्वाध्याय का तात्पर्य है कि व्यक्ति सदैव प्रातः एवं संध्या समय वैदिक तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का पठन पाठन करे, जिससे उसमें सद्गुणों का विकास हो। सन्ध्योपासन का अर्थ है कि व्यक्ति प्रातः तथा सायंकाल सन्ध्या तथा ईश्वर आराधना करे। ईश्वरोपासना से आत्मिक शुद्धि, बुरे विचारों का नाश, नैतिकता का विकास और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ के द्वारा एक ओर सांस्कृतिक परम्पराओं को सुरक्षित बनाये रखने में और दूसरी ओर व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में योग मिलता है। देवयज्ञ को अग्नि होम भी कहते हैं। इस यज्ञ में देवताओं के प्रति स्वाहा के साथ कुछ आहुतियाँ दी जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है वह देवताओं की कृपा का ही परिणाम है। अतः देवताओं के ऋण से उऋण होने के लिए आहुतियों के रूप में कुछ वस्तुएँ देवताओं को समर्पित करना चाहिए। अग्नि को प्रज्वलित करके उनमें आहुतियाँ देने से जन कल्याण भी होता है। इससे व्यक्ति में कल्याणकारी उत्तम विचार पैदा होते हैं, आन्तरिक और बाह्य शुद्धता आती है एवं शरीर तथा मन बलिष्ठ बनता है।

पितृयज्ञ में माता-पिता के ऋण से उऋण होने के लिए व्यक्ति को सन्तानोत्पत्ति एवं उनका पालन पोषण करना होता है। यह यज्ञ केवल गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है। इस यज्ञ में श्राद्ध के अवसर पर पितरों को जलदान या तर्पण एवं भोग प्रदान किया जाता है। तर्पण या पिण्डदान करने का अधिकारी विशेषतः पुत्र ही होता है। अतः पुत्र-प्राप्ति हेतु व्यक्ति का गृहस्थाश्रम में प्रवेश अनिवार्य है। सृष्टि विकास एवं ज्ञान परम्परा की निरन्तरता के लिए भी यह यज्ञ आवश्यक है। भूतयज्ञ में हानिकारक प्रेतात्माओं, जानवरों, कीड़े-मकोड़ों, अपाहिजों एवं अस्पृश्यों को बलि अर्थात् भोजन का कुछ अंश दिया जाता है जिससे इन सबके जीवन की रक्षा हो सके। इस यज्ञ से व्यक्ति की दान एवं त्याग भावना और त्यागमय भोग का आदर्श अभिव्यक्ति होता है तथा उसका मानवतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। डॉ. कापड़िया का कथन है कि समस्त निम्न से निम्न जीवधारी प्राणियों के प्रति हिन्दू आचार-शास्त्र का यह दृष्टिकोण इस बात का उत्तम उदाहरण है कि मानवता का क्षेत्र वास्तव में कितना विस्तृत है।[1] नृयज्ञ को अतिथि यज्ञ भी कहते हैं। साधु-सन्तों एवं अन्य अतिथियों के प्रति आदर भाव व्यक्त करने के दृष्टिकोण से यह यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। इसके अन्तर्गत अतिथियों का सत्कार सम्मिलित है। उनकी साधना के अनुसार भोजन, वस्त्र, दक्षिणा आदि देना गृहस्थ का परम पवित्र कर्त्तव्य है और इसे उसका सामाजिक-धार्मिक एवं नैतिक दायित्व माना गया है।

इन पंच महायज्ञों के द्वारा गृहस्थ ऋषियों, देवताओं, माता-पिता, गुरुजनों, अतिथियों और समस्त जीवधारियों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता था। वह ईश्वर में भक्ति-भाव रखता, सत्-साहित्य का पठन-पाठन करता और मानव मात्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करता था।

---

1 K.M. Kapadia, "Marriage & Family in India" p.33

गृहस्थ-आश्रम का महत्त्व

गृहस्थ जीवन के साथ अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक कर्तव्य जुड़े हुए होने से गृहस्थाश्रम का महत्त्व बढ़ जाता है। इसी कारण महाभारत तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों में कहा गया है कि गृहस्थाश्रम में जीवन व्यतीत किए बिना व्यक्ति के लिए मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नहीं है। अन्य सभी आश्रमों के लोग अपने भरण-पोषण के लिए गृहस्थ पर ही निर्भर रहते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि गृहस्थाश्रम वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व बना हुआ है। गृहस्थाश्रम-चारों आश्रमों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसकी सफलता पर ही जीवन की सफलता निर्भर करती है। मनु ने बतलाया है कि जिस तरह वायु का आश्रय लेकर सब जीव-जन्तु जीते हैं उसी तरह गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम जीवन प्राप्त करते हैं। सभी आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों का गृहस्थ से ही भोजन एवं पवित्र ज्ञान प्राप्त होने के कारण गृहस्थाश्रम ही सर्वोपरि आश्रम है। जिस प्रकार सभी छोटी और बड़ी नदियाँ अन्त में समुद्र में ही स्थायी रूप से विश्राम पाती हैं उसी प्रकार सब आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ के हाथों में ही सुरक्षा एवं स्थायित्व प्राप्त करते हैं।[1] स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है- "गृहस्थ सारे समाज की नींव सदृश्य है, वही मुख्य धन उपार्जन करने वाला होता है। जीवन के इन भिन्न-भिन्न आश्रमों में भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य होते हैं। वास्तव में इन आश्रमों में से कोई किसी से श्रेष्ठ नहीं है, एक गृहस्थ का जीवन भी उतना ही श्रेष्ठ है, जितना कि एक ब्रह्मचारी का जिसने अपना जीवन धर्म-कार्य के लिए उत्सर्ग कर दिया है। यह कहना व्यर्थ है कि 'गृहस्थ से सन्यासी श्रेष्ठ है।' संसार को छोड़कर स्वच्छन्द और शान्त जीवन में रहकर ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए ईश्वर की उपासना करना बहुत कठिन है।"[2] गृहस्थाश्रम का मूल आधार धर्म है। धर्मानुसार कर्त्तव्यपालन करते हुए गृहस्थ स्वयं को वानप्रस्थ के लिए तैयार करता तथा मोक्ष प्राप्ति हेतु अपना मार्ग प्रशस्त करता है।

स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम का महत्त्व अन्य सभी आश्रमों से इस दृष्टि से सबसे अधिक है कि यहाँ व्यक्ति अर्थ का उपार्जन और काम का उपभोग कर सकता है अन्य आश्रमों में इनकी व्यवस्था नहीं है। गृहस्थाश्रम सामूहिक जीवन से सम्बन्धित है। पंच महायज्ञों के निर्वाह का यही केन्द्र-स्थल रहा है। इन्हीं यज्ञों के माध्यम से वह समस्त जीवधारियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर सका, सामान्य कल्याण में योग दे सका। मनुस्मृति में बतलाया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वी पर स्थायी प्रसन्नता एवं स्वर्ग का आशीर्वाद चाहते हैं उनके लिए गृहस्थ आश्रम के दायित्वों का परिश्रम और लगन से पूरा करना आवश्यक है क्योंकि दुर्बल मन के व्यक्ति गृहस्थाश्रम के महान् दायित्वों को कठिनता से पूर्ण कर सकते हैं।[3] इस प्रकार, हम देखते हैं कि गृहस्थाश्रम का महत्त्व सभी दृष्टिकोणों से सर्वोपरि है।

3. वानप्रस्थ आश्रम (Vanprasth Ashrama)

करीब 25 वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात् 50 वर्ष की आयु में व्यक्ति के वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने का विधान शास्त्रकारों ने किया है। मनु ने इस सम्बन्ध में लिखा है

1 मनुस्मृति 3/78 4/90
2 विवेकानन्द 'कर्मयोग', पृष्ठ 30
3 मनुस्मृति 3/79

'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्य समाश्रयेत्।'[1]

अर्थात् जब गृहस्थ यह देख कि उसक शरीर की त्वचा शिथिल हो गई है, उसमें झुर्रियाँ पड गई हैं बाल पक गए हैं, उसके पुत्र क भी पुत्र हो गया है, तब विषयों स मुक्त होकर वह वन का आश्रय ले। 50 से 75 वर्ष तक क आयु के समय का वानप्रस्थ आश्रम में रहकर व्यतीत करने की व्यवस्था की गई है। इस आश्रम में व्यक्ति सपत्नीक अथवा अकेले प्रवश कर सकता था। वह अपना घर तथा गाँव त्याग कर वन का आश्रय लेता और विषय-भोगों से विमुख होता हुआ उन पर पूर्ण नियंत्रण पाने का प्रयास करता। घर की चहार-दीवारी से निकल कर वह वन में सरल, त्यागमय और सवायुक्त पवित्र जीवन व्यतीत करता तथा प्रभु-चिन्तन में निमग्न होता। वानप्रस्थी अकर्मण्य जीवन व्यतीत नही करता था। गृहस्थाश्रम में वह सकाम-कर्म करता था, यहाँ वह निष्काम-कर्म करता। वह समाज-कल्याण में रत रहता, विद्यार्थियों को नि.शुल्क शिक्षा प्रदान करता और उनके चरित्र एव व्यक्तित्व क निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देता।

इस आश्रम में वानप्रस्थी सासारिक सुखों स धीरे-धीर विरक्त होन का प्रयत्न करता। यहाँ वह कदमूल और फलों का सवन करता तथा मृगचर्म या पड की छाल-पत्तों के वस्त्र पहनता था। वह जमीन पर सोता तथा घास-फूस से बनी कुटिया में अथवा वृक्ष क नीचे निवास करता। वह भयकर गर्मी में भी अग्नि क सामन बैठ कर तपस्या करता। वह इस आश्रम में भी गृहस्थाश्रम में किए जाने वाल पच महायज्ञ जारी रखता और अपने भोजन के लिए जो कुछ प्राप्त करता, उसमें स दान दता तथा अतिथियों का आदर-सत्कार करता था। वह वेदों, उपनिषदों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करता, तप द्वारा शरीर को पवित्र करता, आत्म-चिन्तन करता, परम सत्य की खाज में अपन आपको लगा दता तथा परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करता। इस प्रकार, इस आश्रम में व्यक्ति का जीवन स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सयम और सब प्राणियों के प्रति करुणा तथा मैत्री स पूर्ण होता था। यहाँ सयमी और सदाचारी जीवन व्यतीत करते हुए वानप्रस्थी सन्यास आश्रम में प्रवश करन क पूर्ण योग्य बनता।

वानप्रस्थ आश्रम का महत्त्व

वानप्रस्थी के द्वारा किए जाने वाले कार्य सामाजिक-कल्याण में अपूर्व योग देते थे। पचास वर्ष की आयु में गृहस्थ क वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने से युवा पीढी के लोगों के लिए स्वत. ही स्थान रिक्त हो जात थे। समाज को आर्थिक समस्या का सामना नही करना पडता था, बेकारी की समस्या ही उत्पन्न नही हो पाती थी। वानप्रस्थी के यहाँ, जगल में नि.शुल्क शिक्षा प्राप्त करने से, समाज को शिक्षा सबधी समस्याओं का भी सामना नही करना पडता था, वानप्रस्थी अपने ज्ञान तथा अनुभव के द्वारा ब्रह्मचारियों को शिक्षा प्रदान करता, उनके चरित्र-गठन और व्यक्तित्व के विकास में योग देता।

4. संन्यास आश्रम (Sanyasa Ashrama)

वानप्रस्थी के रूप में जीवन के तृतीय भाग का वन में व्यतीत करने के पश्चात् चतुर्थ भाग में व्यक्ति संसार का परित्याग करके सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। वानप्रस्थाश्रम तक वह

1 पूर्व उद्धृत 6/2

समाज का सदस्य था, परन्तु अब वह सब प्रकार के सामाजिक तथा सांसारिक सम्बन्धों से स्वयं को मुक्त कर लेता। यहाँ तक कि इस आश्रम में प्रवेश करने पर वह अपना सामाजिक नाम भी त्याग देता और सन्यासी के रूप में नवीन नाम ग्रहण करता। वह इस आश्रम में परिव्राजक बन जाता अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता और लोगों को उपदेश देता रहता। इस आश्रम में प्रवेश करने पर उसे अपने पास कुछ भी रखने की आज्ञा नहीं थी। वह भिक्षा के लिए दिन में केवल एक बार जा सकता था। अधिक मिलने पर वह प्रसन्न नहीं होता और कम या न मिलने पर दुःखी नहीं होता। वस्तुतः वह जीवन-मृत्यु की चिन्ता से मुक्त होता था।

वायु पुराण (अध्याय 8) में सन्यासी के दस कर्त्तव्य बताए गए हैं- भिक्षा-वृत्ति से भोजन प्राप्त करना, चोरी न करना, बाह्य तथा आन्तरिक पवित्रता रखना, प्रमादी न होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, दया करना, प्राणियों के प्रति क्षमावान होना, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना तथा सत्य बोलना। ये उसके परम कर्त्तव्य माने गए हैं। मनु ने सन्यासी के लिए लिखा है-

"दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाच मनः पूतं समाचरेत् ।।"[1]

अर्थात् सन्यासी को अपने पर पूर्ण संयम रखना चाहिए। उसे नीची दृष्टि करके चलना चाहिए, कपड़े से छानकर जल पीना चाहिए, सत्य से पवित्र करके वाणी का प्रयोग करना चाहिए एवं मन को पूर्ण पवित्र रखकर आचरण करना चाहिए।

सन्यासी निर्लिप्त भाव से प्राणी-मात्र के कल्याण में लगता था। मिट्टी और सोना दोनों के प्रति उसका समभाव होता था। संन्यासी कर्म-फल की इच्छा से रहित निष्काम कर्म करता था, जन-जन के जीवन को उत्तम एवं उन्नत बनाने में योग देता था। वह आत्मा और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों का पता लगाने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार, इस आश्रम में विभिन्न कर्त्तव्य पूर्ण करते हुए सन्यासी समाज-कल्याण में लगता, अमरत्व-प्राप्ति योग्य बनता और जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता।

साधारणतः वानप्रस्थ आश्रम में अपना जीवन व्यतीत करने के पश्चात् ही व्यक्ति सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। लेकिन यदि व्यक्ति में गृहस्थाश्रम में ही वैराग्य और संसार के प्रति अनासक्ति भाव पैदा हो जाता तो वह सीधा संन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता था। इसी प्रकार, यदि कोई ब्रह्मचारी विषय-भोग की कामना से पूर्णतः रहित, जितेन्द्रिय तथा जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होता तो वह भी सीधा ही संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता था। शास्त्रकारों का ऐसा मत है।

संन्यास आश्रम का महत्त्व

कुछ लोगों का विचार है कि सन्यास आश्रम सामाजिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है। इसका कारण यह है कि जब एक व्यक्ति अपने ज्ञान तथा अनुभवों के आधार पर नवीन विचारों से समाज के सदस्यों का मार्ग-दर्शन करने योग्य होता है तब उसे संसार से पूर्णतः विरक्त होकर सन्यासी बनकर जंगल के किसी कोने में जाने के लिए विवश किया जाता था। वहाँ मोक्ष-प्राप्ति ही उसका एकमात्र

1 मनुस्मृति 6/46

उद्देश्य रहता था। इस प्रकार, यह आश्रम-व्यवस्था कुछ अर्थों में समाज के प्रति उदासीनता की भावना को जन्म देती है। इस व्यवस्था से सम्बन्धित भारतीय दृष्टिकोण को स्वार्थपूर्ण कहा गया है क्योंकि जब व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से जंगल में चला जाता तो समाज उसकी सेवाओं का लाभ नहीं उठा पाता था।

परन्तु वास्तव में सन्यासी का संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण नहीं होता था। वह अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर लोगों का मार्ग दर्शन करने की क्षमता रखता था और वह ऐसा करता भी था। कुटिया बनाकर एक स्थान पर रहने की बजाय वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर अनेक ग्रामों का भ्रमण करता रहता था। लोग उस श्रेष्ठ पुरुष-सन्यासी का स्वागत कर उसके जीवन से अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करते, उससे परामर्श और मार्ग-दर्शन प्राप्त करते। सन्यासी के जीवन को असामाजिक नहीं माना जा सकता। वह तो परमात्मा स्वरूप माना जाता था जिसके आगे श्रद्धा से लोग नत-मस्तक होते थे। वह व्यक्तियों को अनेक रूपों में सद्कर्म करने के लिए प्रेरित करता और उनके जीवन को प्रभावित करता था।

आश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त
(Fundamental Principles of Ashrama System)

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आश्रम-व्यवस्था का निर्माण किन आधारभूत सिद्धान्तों को लेकर किया गया था। आश्रम व्यवस्था वास्तव में तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक मूल्यों एवं जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय संस्कृति सदैव ही समूह कल्याण के आदर्श की ओर उन्मुख रही है। यहाँ समूह हित का ध्यान में रखते हुए व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर दिया गया, लेकिन व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहित न कर उस पर अंकुश रखा गया। आश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में निम्नलिखित सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं—

ऋणों की धारणा, यज्ञों की धारणा, पंच महायज्ञ, संस्कार एवं पुरुषार्थ। यहाँ प्रत्येक का पृथक् से वर्णन किया जा रहा है।

ऋणों की धारणा—हिन्दू जीवन व्यवस्था में, आश्रम-व्यवस्था के मूल में ऋणों की धारणा पायी जाती है। हमारे यहाँ यह मान्यता है कि प्रत्येक हिन्दू अनेक चर एवं अचर तत्त्वों का ऋणी है, समाज का उस पर अनेक रूपों में ऋण पाया जाता है। साधारणतः व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण माने गये हैं-देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण और भूत-ऋण। व्यक्ति ने जो कुछ भी प्राप्त किया है, वह जो कुछ भी है, उसका जैसा भी विकास हुआ है, उन सबके लिए वह दूसरों का ऋणी है। देवताओं ने व्यक्ति को अनेक वस्तुएँ प्रदान की हैं, जैसे- जल, भूमि, वायु तथा अन्य महत्त्वपूर्ण साधन जिन्होंने उसके विकास और अस्तित्व को बनाये रखने में योग दिया है। ऋषियों ने अपने ज्ञान, तप, साधन एवं अनुभूति से व्यक्ति के बौद्धिक एवं उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में योग दिया है। माता-पिता ने व्यक्ति को जन्म देकर उसके पालन-पोषण और शिक्षा की समुचित व्यवस्था करके उसके विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

समाज के उन अनेकानेक व्यक्तियों ने भी उसके विकास में योग दिया है जिन्होंने ब्रह्मचारी के रूप में उसकी आवश्यकताएँ पूरी की हैं। अनेक अन्य जीवधारियों ने भी समय-समय पर व्यक्ति की रक्षा की है, उसके अस्तित्व को बनाये रखने में योग दिया है। ऐसी दशा में हम इन सबके ऋणी,

हैं। देवताओं, ऋषियों, माता-पिता, अतिथियों और अनेक अन्य जीवधारियों के ऋण से उऋण होने के लिए यह आवश्यक है कि इन सबके प्रति हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, इनके प्रति आदर और त्याग की भावना व्यक्त करें तथा मानवता का परिचय दें।

विभिन्न आश्रमों में अनेक कर्त्तव्य सम्पादन करते हुए व्यक्ति इन ऋणों से उऋण होने का प्रयत्न करता है जिससे वह जीवन के अन्तिम-लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। इन ऋणों की अवधारणा के माध्यम से व्यक्ति में प्रेम, सहानुभूति, दया, उदारता,त्याग, आदर-भावना आदि गुणों का विकसित करने तथा समाज के प्रति दायित्व-निर्वाह की ओर लोगों को अग्रसर करने का प्रयास किया गया है।

यज्ञों की धारणा एवं पंच महायज्ञ— विभिन्न ऋणों से उऋण होने के लिए आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत यज्ञों के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी ज्ञान-यज्ञ करता है, गुरु निर्देशित निषेधों एवं नियमों का पालन करते हुए, अपने पर नियंत्रण रखता है। गृहस्थाश्रम में यह गुरु द्वारा समावर्तन संस्कार के अवसर पर दिये गये उपदेश (मातृ देवो-भव, पितृ देवो-भव, आचार्य देवो भव) का ध्यान में रखता हुआ माता-पिता, गुरुजनों और अतिथियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों से सामाजिक दायित्वों की पूर्ति और ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करता है। इन सबकी पूर्ण सेवा ईश्वर सेवा ही समझी गई है। इस प्रकार, इस आश्रम में व्यक्ति अपने साधनानुसार कर्म-यज्ञ करता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति सन्यासाश्रम के लिए स्वयं को प्रस्तुत और समर्पित करता है। अन्तिम आश्रम-संन्यास में वह सब सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर अन्तिम यज्ञ मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करता है। यहाँ वह सर्वस्व त्याग कर पूर्ण आत्म-समर्पण करता है जिससे आत्म-साक्षात्कार हो सके। इस प्रकार, इन अन्तिम दो आश्रमों में यह भक्ति-यज्ञ करता है, ज्ञानी भक्त बन जाता है। वह समझ लेता है कि न तो वह इस संसार से सम्बन्धित है और न ही यह संसार उससे। वह यहाँ अन्तिम-लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

इनके अतिरिक्त पंच महायज्ञों का विधान किया गया है जिनका वर्णन इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है।

संस्कार-आश्रम व्यवस्था के एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में विभिन्न संस्कारों का महत्त्व रहा है। इन संस्कारों द्वारा व्यक्तिगत जीवन को परिष्कृत कर व्यक्तित्व के विकास का उत्तम प्रयास किया गया है। संस्कारों का विस्तृत वर्णन पृथक् अध्याय में किया गया है।

पुरुषार्थ-आश्रम व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्त के रूप में 'पुरुषार्थ' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। डॉ. प्रभु ने पुरुषार्थ को आश्रम-व्यवस्था का मानसिक-नैतिक आधार (Psycho-Moral basis) माना है। हमारे यहाँ चार पुरुषार्थ माने गये हैं- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। ये जीवन के चार लक्ष्यों के रूप में हैं जिनकी प्राप्ति का प्रयत्न प्रत्येक हिन्दू विभिन्न आश्रमों में करता है। विभिन्न पुरुषार्थों का उल्लेख पृथक् अध्याय में किया गया है।

स्पष्ट है कि भारतीय जीवन-दर्शन में ऋणों, पंच महायज्ञों, संस्कारों एवं पुरुषार्थों का महत्त्व होने के कारण आश्रम-व्यवस्था जैसी समन्वित व्यवस्था का विकास हो सका जिसने एक ओर व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में और दूसरी ओर समाज की प्रगति में अपूर्व योग दिया।

आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्त्व
(Sociological Importance of Ashrama System)

आश्रम व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन के एक मौलिक आधार के रूप में रही है। इस व्यवस्था का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि इसने व्यक्तियों के समाजीकरण में अपूर्व योग दिया है। भारतीय विचारक इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे कि व्यक्ति के समुचित विकास के बिना समाज प्रगति की ओर आगे नहीं बढ़ सकता। आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व निम्न आधारों पर समझा जा सकता है—

(1) आश्रम व्यवस्था ने मानवीय गुणों के विकास में काफी सहायता प्रदान की है। विभिन्न आश्रमों में व्यक्ति के कर्त्तव्य इस प्रकार से निर्धारित किये गये कि उन्होंने व्यक्ति में त्याग, परोपकार, निष्ठा, सरलता, कर्त्तव्य-परायणता, बन्धुत्व तथा आध्यात्मिकता के गुणों को विकसित करने में योग दिया।

(2) आश्रम व्यवस्था ने समष्टिवादी दृष्टिकोण के विकास में योग दिया है। व्यक्ति प्रत्येक आश्रम में रहता हुआ यह अनुभव कर सका है कि वह केवल स्वयं के लिए नहीं जीता है और वह जो कुछ भी है, केवल स्वयं के प्रयत्नों का ही परिणाम नहीं है। समाज ने उसे अपने विकास हेतु विविध प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की हैं। अतः समाज के प्रति उसका कुछ दायित्व है। इस प्रकार इस व्यवस्था ने व्यक्ति और समाज की पारस्परिक निर्भरता पर जोर दिया।

(3) आश्रम व्यवस्था ने सामाजिक नियंत्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। व्यक्ति के कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया था कि व्यवहार के मान्यता प्राप्त तरीकों या आदर्श मानदण्डों से उसके विचलित होने का साधारणतः प्रश्न ही नहीं उठता। उसके चरित्र का गठन और व्यक्तित्व का विकास ही कुछ ऐसा होता था कि वह साधारणतः अनुचित कार्य कर ही नहीं पाता था।

(4) आश्रम व्यवस्था ने बौद्धिक विकास, ज्ञान के संग्रह एवं प्रसार तथा समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करने में अपूर्व योग दिया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में आदर्श गुरुओं की देख-रेख में बालक का प्रशिक्षण प्रारम्भ होता था। उसे गुरुओं के ज्ञान और संचित अनुभव का लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त होता। यहाँ उसे अपने बहुमुखी विकास एवं व्यक्तित्व के निर्माण का अवसर मिलता है। वेदों एवं अन्य धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा न केवल उसका बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता, बल्कि समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं का भी हस्तांतरण होता रहता।

(5) आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यावहारिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण सर्वत्र बनाये रखा गया है। यहाँ धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है। पंच महायज्ञों के द्वारा व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता है। गृहस्थ के रूप में व्यक्ति आर्थिक क्रियाएँ एवं धन का उपार्जन करता है ताकि समाज के सभी लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

(6) आश्रम-व्यवस्था ने व्यक्तिवादिता पर अंकुश रखने, पारिवारिक और सामाजिक तनावों से व्यक्तियों को छुटकारा दिलाने और जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करने में सहायता पहुँचायी है। केवल मानव-मात्र की सेवा करना ही यहाँ व्यक्ति का पुनीत कर्त्तव्य नहीं बतलाया गया

है, बल्कि पशु-पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों और कीटनाशकों तक का भरण-पोषण करना उसका दायित्व समझा गया है। प्रत्येक गृहस्थ के पचास वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने से युवा पीढ़ी को समय पर अधिकार प्राप्त हो जाते और ऐसी स्थिति में पारिवारिक संघर्षों की संभावना नहीं रहती। वानप्रस्थी और सन्यासी जन-जन के कल्याण हेतु सेवा-कार्य में अपने को लगाते, लोगों का मार्ग-दर्शन करते और उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए उचित परामर्श देते।

कुछ लोगों के मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि आश्रम व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र थी अथवा व्यावहारिक भी। समाज के कितने लोग इस व्यवस्था की परिधि में आते थे ? इस व्यवस्था ने समाज के लोगों को कहाँ तक प्रभावित किया ? इन प्रश्नों पर ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। महाभारत काल में अनेक स्थलों पर आश्रम-व्यवस्था का वर्णन मिलता है। इस व्यवस्था को केवल सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र नहीं माना जा सकता। यदि यह व्यवस्था केवल सैद्धान्तिक व्यवस्था ही होती तो सदियों तक लोगों के व्यवहारों को विविध रूपों में प्रभावित करना इसके लिये सम्भव नहीं होता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पचास वर्ष की आयु के बाद अपने परिवार को छोड़कर वानप्रस्थी बनने में कभी-कभी व्यक्ति के सामने कठिनाई अवश्य आती होगी।

आश्रम व्यवस्था के सम्पूर्ण विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज-दृष्टाओं ने जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु परमार्थ पर आधारित आश्रम व्यवस्था को जन्म दिया था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक कृत्यों की पूर्ति तथा अपने जीवन के उद्देश्य-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह वेदों के अध्ययन के द्वारा अपने धर्म को समझता था, गृहस्थाश्रम में धर्म के अनुसार अर्थ तथा काम का उपभोग करता था तथा वानप्रस्थाश्रम में परिवार से अलग, वन में अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखता हुआ, समाज के हित में कार्य करता था। इन तीनों आश्रमों में रहकर वह देव-ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण चुकाता था। अन्त में संन्यासाश्रम में रहकर आत्म-चिन्तन में लीन हो वह मोक्ष-प्राप्त करता था। वास्तव में आश्रम-व्यवस्था जीवन को सुचारू रूप से चलाने की एक अति सुन्दर और आदर्श व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक आश्रम का व्यावहारिक पक्ष के साथ-साथ सामाजिक उपयोगिता मूलक पक्ष भी रहा है।

प्रश्न

1. हिन्दू समाज में आश्रम-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्त्व को प्रकट कीजिये।
2. *"आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में आश्रम-व्यवस्था केवल एक आदर्श-मात्र रह गयी है।"* समालोचना कीजिये।
3. भारतीय जीवन व्यवस्था में गृहस्थाश्रम के समाजशास्त्रीय महत्त्व की व्याख्या कीजिये।
4. *गृहस्थाश्रम के समाजशास्त्रीय महत्त्व की विवेचना कीजिए। इस आश्रम को अन्य सभी* आश्रमों से अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों माना गया है?
5. आश्रम व्यवस्था पर एक लेख लिखिए।
6. *ब्रह्मचर्य आश्रम पर टिप्पणी लिखिए।*
7. आश्रम व्यवस्था क्या है? क्या आधुनिक भारतीय समाज में यह व्यवस्था उपयुक्त हो सकती है? विवेचना कीजिए।

❑❑❑

6

धर्म

(Dharma)

जीवन के मौलिक प्रश्नों पर भारतीय चिन्तक आदि-काल से ही विचार करते और समय-समय पर ऐसी व्यवस्थाओं को प्रस्तावित करते रहे हैं जो मानवता के विकास में योग देती हैं, मनुष्य को अपना जीवन सफल बनाने में सहायता पहुँचाती हैं और उसे अपने कर्त्तव्यों का बोध कराते हुए पालन करने की प्रेरणा देती हैं। भारतीय विद्वानों के चिन्तन, मनन और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त अनुभवों का प्रभाव भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर बहुत गहरा पड़ता है। कुछ लोगों की तो यह मान्यता है कि संस्थाओं के विकास के पश्चात् उन्हें तर्क-संगत ठहराने की दृष्टि से मत रच जाते हैं। इन विचारों को हृदयगम कर हम भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाओं को अधिक सरलता से समझ सकते हैं। अतः विविध भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर विचार करने के पूर्व यहाँ प्रमुख मतों की चर्चा तथा धर्म की विवेचना करना आवश्यक है जो हिन्दू सामाजिक संगठन का मूलभूत आधार है।

भारतीय समाज धर्म-प्राण समाज कहलाता रहा है और धर्म की प्रत्येक क्षेत्र में महत्ता रही है। धर्म व्यक्ति, परिवार, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करता रहा है। यहाँ भौतिक सुख प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य नहीं मानकर धर्म संचय को प्रधानता दी गई है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था मूलतः धर्म पर आधारित है। यहाँ धर्म के आधार पर जीवन के समस्त कार्यों की व्यवस्था करने का प्रयास किया गया है। भारतीय समाज में व्यक्ति ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता रहा है। वह सत्, चित् और आनन्द की प्राप्ति का प्रयास तथा जीवन के परम सत्य को जानने की कोशिश में लगा रहा। डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है, "धर्म की धारणा के अन्तर्गत हिन्दू उन सब अनुष्ठानों और गतिविधियों को ले आता है, जो मानवीय जीवन को गढ़ती और बनाये रखती हैं। हमारे पृथक्-पृथक् हित होते हैं, विभिन्न इच्छायें होती हैं और विरोधी आवश्यकता होती है, जो बढ़ती है और बढ़ने की दशा में ही परिवर्तित भी हो जाती हैं। उन सबको घेरकर एक समग्र रूप में प्रस्तुत कर देना धर्म का प्रयोजन है। धर्म का सिद्धान्त हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं की मान्यता देने के प्रति सजग रहता है। संसार से विरक्ति द्वारा नहीं अपितु इसके जीवन में, इसके व्यवसाय (अर्थ) और इसके आनन्द (काम) में आध्यात्मिक विश्वास की नियन्त्रण शक्ति का प्रवेश कराने के द्वारा प्राप्त होता है। जीवन एक है और इसमें पारलौकिक (पवित्र) और ऐहिक (सांसारिक) का कोई भेद नहीं है। भक्ति और मुक्ति एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। धर्म, अर्थ और काम साथ ही रहते हैं। दैनिक-जीवन के सामान्य व्यवसाय सच्चे अर्थों में भगवान की सेवा है। सामान्य कृत्य भी उतने ही प्रभावी हैं जितनी कि मुनियों की साधना।

स्पष्ट है कि धर्म हिन्दुओं के जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक रूपों में प्रभावित करता रहा है। टाल्सटॉय ने कहा है–"हमारे युग के उद्‌भट विद्वानों ने तय कर दिया है कि अब

धर्म की कोई आवश्यकता नहीं तथा यह भी कि विज्ञान धर्म का स्थान लेगा अथवा ले चुका है। किन्तु फिर भी यह सत्य अमिट है कि धर्म के बिना न पहले, तथा न अब-कोई मनुष्य, समाज और विवेकी पुरुष जीवित रहा है, न रह सकता है।"[1] डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने बतलाया है, "भारतीय जीवन रचना का निर्माण आत्मा, प्रकृति तथा परमात्मा और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करने वाले सूक्ष्म आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर हुआ है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था धर्म पर आधारित रही।

धर्म का अर्थ (Meaning of Dharma)

धर्म के अर्थ को "रिलीजन" (Religion) शब्द के अनुवाद के रूप में नहीं समझा जा सकता। धर्म एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। धर्म उस मौलिक शक्ति के रूप में जाना जा सकता है जो भौतिक और आध्यात्मिक व्यवस्था का आधार रूप है और जो उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। गिलिन और गिलिन ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक सामाजिक समूह में व्याप्त उन संवेगात्मक विश्वासों को जो किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित हैं और साथ ही ऐसे विश्वासों से सम्बन्धित प्रकट व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं एवं प्रतीकों को धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र में सम्मिलित माना जा सकता है।"[3] 'रिलीजन' शब्द के अन्तर्गत अलौकिक विश्वास एवं अधि-प्राकृतिक शक्तियाँ आती हैं, परन्तु हिन्दू धर्म का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के कर्तव्य-बोध से है। हिन्दू धर्म एक ज्ञान है जो अलग-अलग परिस्थितियों में व्यक्तियों के विभिन्न कर्त्तव्यों को बतलाता है, उन्हें कर्तव्य पथ पर चलते रहने की प्रेरणा प्रदान करता है, मानवोचित गुणों को उनमें विकसित करता है। वेद, उपनिषद्, गीता, स्मृतियाँ, पुराण तथा मनुष्य का अन्तःकरण हिन्दू धर्म के मूल स्रोत हैं। ये ग्रन्थ ऋषियों के अनुभूत प्रयोगों के परिणाम हैं, उनके चिन्तन और मनन के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन धर्म-ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। इन ग्रन्थों में धर्म की विस्तृत व्याख्या की गई है, अनेक अर्थों में धर्म का प्रयोग किया गया है।

डॉ. इन्द्रदेव ने लिखा है, "धर्म के अन्तर्गत नैतिक नियम, कानून,रीति-रिवाज, वैज्ञानिक नियम इत्यादि बहुत-सी धारणायें आ जाती हैं। मौज ने अपनी पुस्तक 'धर्म एण्ड सोसायटी' में प्राचीन साहित्य में प्राप्त धर्म शब्द के अनेक अर्थों का विवेचन किया है। उन्होंने बतलाया है कि धर्म शब्द का प्रयोग मूर्त अथवा अमूर्त दोनों रूपों में हुआ है। भागवत्, महाभारत आदि में धर्म की एक देवता के रूप में कल्पना मिलती है। महाभारत में चीरहरण के समय धर्म ने ही द्रौपदी की लाज बचाई थी। युधिष्ठिर का कुत्ता भी धर्म का अवतार बताया गया है। भागवत् में धर्म का वर्णन वृष (बैल) के रूप में मिलता है और पृथ्वी को गौ माना गया है। इस धर्म के चार पैर सत्य, दया, तप और दान हैं। सतयुग में धर्म इन चारों पैरों पर खड़ा था। इसका एक पैर घटता गया। त्रेता में धर्म तीन पैरों पर, द्वापर में दो पैरों पर और कलियुग में एक पैर (दान) पर खड़ा रह गया है। धर्म की यह कल्पना एक रूपक प्रतीत होती है। इसी प्रकार अधर्म की कल्पना को भी मूर्त

1. डॉ. राधाकृष्णन 'धर्म और समाज' पृ. 121-122
2. डॉ. राधाकमल मुकर्जी 'भारतीय समाज विन्यास' पृ. 46
3. J.H. Gillin and J.P. Gillin. Cultural Sociology, p.459

रूप दिया गया है।. उसे निम्न जाति के व्यक्ति का रूप दिया गया है जो समाज से तिरस्कृत कर दिया गया है और असत्य, मद, हिंसा और द्वेष से पूर्ण है।"[1]

ऋत के अर्थ में भी धर्म का प्रयोग किया गया है। ऋत का वेदों में ऐसे अमूर्त सिद्धान्त के रूप में वर्णन मिलता है जिससे सभी लोकों में समुचित व्यवस्था बनी रहती है। धर्म का प्रयोग नैतिक कर्त्तव्यों क रूप में भी किया गया है। मनुस्मृति मे धर्म के दस लक्षणों की विवेचना की गई है। ये लक्षण निम्नलिखित हैं. धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध पर नियन्त्रण।[2] पुण्य और नैतिक व्यवस्था के रूप में भी धर्म का प्रयोग किया गया है। व्यक्ति के पुण्य-कर्म ही मृत्यु के पश्चात् उसका साथ देते हैं। धर्म ही व्यक्ति में अच्छे और बुरे का विवेक जाग्रत करता है, उसे बतलाया है कि अच्छे कर्मों का फल उत्तम होता है और बुरे कर्मों का फल निम्न और व्यक्ति का अपने सभी प्रकार के कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

धर्म का निष्काम भक्ति के रूप में भी प्रयोग किया गया है। गीता में निष्काम कर्म की ओर व्यक्ति को अग्रसर किया गया है, उसे सुझाया गया है कि बिना फल की कामना के अपना कर्म करना चाहिए, अपने कर्त्तव्य-पथ पर सदैव बढ़ना चाहिए। परम सत्य अथवा ईश्वर के रूप में भी धर्म को माना गया है। धर्म का प्रयोग रीति-रिवाजों, परम्पराओं, सामाजिक नियमों और कानून के रूप में भी किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'धर्म वह है जो मानव को इस संसार और परलोक में आनन्द की खोज के लिए प्रेरित करता है। धर्म कर्म पर प्रस्थापित है। धर्म मानव का रात-दिन इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये कार्य करवाता है।'[3] डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है, "जिन सिद्धान्तों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करना है, व उस वस्तु द्वारा नियत किये गये हैं, जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप मे ढालने की शक्ति है।"[4] पी. वी. काणे ने धर्म का परिभाषित करते हुए बतलाया है, "धर्म शास्त्रों के लेखकों ने धर्म का अर्थ एक मत या विश्वास नही माना है, अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक संहिता माना है जो व्यक्ति के समाज के सदस्य के रूप में और व्यक्ति के रूप में, कार्य एवं क्रियाओं को नियमित करता है और जो व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया गया है और जो उसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायता करता है।"[5] डॉ. भगवानदास ने लिखा है, "धर्म शाब्दिक दृष्टि से वह है जो किसी वस्तु को धारण किये होता है, उसे वह जो कुछ है बनाता है, उसे टूटने और किसी अन्य वस्तु में परिवर्तित होने से बचाता है, इसका प्रमुख कार्य, इसका विशिष्ट लक्षण, इसका मौलिक गुण, इसकी अनिवार्य प्रकृति, इसका धर्म है प्रमुखतया उसके प्राणी होने का नियम है।"[6]

---

1 डॉ इन्द्रदेव : 'भारतीय समाज', पृष्ठ 39
2 मनुस्मृति : अध्याय 6, श्लोक 2
3 Swami Vivekanand Complete works V P 349
4 डॉ राधाकृष्णन : पूर्व उद्धृत, पृ 120
5 P V Kane History of Dharma Shastra
6 Bhagwan Das The Science of Social Organisation Vol 1 PP 49-50

धर्म की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारतीय धर्म-ग्रन्थों में धर्म का प्रयोग संकुचित अर्थों में नहीं हुआ है। इसका प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है, किसी सम्प्रदाय विशेष के विचार मात्र को व्यक्त करने के लिये नहीं हुआ। धर्म मानव के कर्त्तव्य निर्धारित करता है, उसे सत्य की ओर अग्रसर करता हुआ उसके व्यवहार को दिशा देता है और उचित अनुचित का बोध कराता है। धर्म की समाजशास्त्रीय विवेचना के रूप में धर्म के अन्तर्गत उन सब कर्त्तव्यों को लिया जा सकता है जो व्यक्ति के जीवन को सफल बनाने की दृष्टि से आवश्यक हैं। देश, काल और पात्र के अनुसार शास्त्रकारों ने व्यक्ति के अलग-अलग कर्त्तव्य बतलाये हैं। व्यक्ति से यह आशा की गई है कि वह अपने वर्ण और आश्रम को ध्यान में रखते हुए अपनी क्षमताओं के अनुसार अपने धर्म का पालन और अपने नियत कर्त्तव्यों को पूरा करेगा। हिन्दू धर्म में दार्शनिक पक्ष पर सामान्यतः और आचरण पक्ष पर विशेषतः जोर दिया गया है। वास्तव में धर्म जीवन को पूर्णता प्रदान करने की विधि है। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है, "अन्य धर्मों के समान हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के मत-मतान्तरों पर आधारित विश्वास से सम्बन्धित नहीं है, वरन् हिन्दू धर्म प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा साक्षात्कार का धर्म है। हिन्दू धर्म में आध्यात्मिकता का एक जातीय भाव निहित है। यह अनुभूति की वस्तु है, अपने द्वारा कही गई मनमानी बात, मतवाद अथवा युक्ति-मूलक कल्पना नहीं है-चाहे वह कितनी ही सुन्दर क्यों न हो। आत्मा का ब्रह्म के रूप में समझ लेना और उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है। धर्म केवल सुन लेने अथवा मान लेने की चीज नहीं है, बल्कि जब समस्त मन-प्राण विश्वास के साथ एक हो जाएं, तब इसी को हम 'धर्म' कहते हैं। नि:स्वार्थता और कर्त्तव्य-परायणता ही धर्म की कसौटी है। जो जितना अधिक नि:स्वार्थी और कर्त्तव्य-परायण है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिव के समीप है।"[1] डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म की व्याख्या करते हुए बतलाया है, यह 'धृ' धातु (बनाए रखना, धारण करना, पुष्ट करना) से बना है। यही वह मानदण्ड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी वस्तु का वह मूल तत्त्व है, जिसके कारण वह वस्तु वह है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं (स्कन्धों) का उल्लेख किया गया है, जिनका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों से है। जब तैतिरीय उपनिषद् हमसे धर्म का आचरण करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्त्तव्यों के पालन से होता है, जिसमें कि हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग भागवत् गीता और मनुस्मृति, दोनों में हुआ है। वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिसमें आनन्द (अभ्युदय) और परमानन्द नि:श्रेयस् की प्राप्ति हो, वह धर्म है। अपने प्रयोजन के लिए धर्म की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं,"यह चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्त्तव्य है।"[2]

धर्म के इस विवेचन से स्पष्ट है कि यह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार है, जीवन का शाश्वत सत्य है, जो कुछ श्रेष्ठ है, उसकी आदर्श अभिव्यक्ति है। धर्म का तात्पर्य धारण करने से है, बनाए रखने से है और जिससे सभी बने रहें, सयमित रहें, सुव्यवस्थित रहें, वही धर्म है। हिन्दू धर्म व्यक्ति के श्रेष्ठ विकास में योग देता है, उसके सर्वांगीण विकास में सहायता

1. कल्याण धर्मांक से उद्धृत, पृ 398.
2. डॉ राधाकृष्णन: पूर्व उद्धृत, पृ. 123.

पहुँचाता है, उसमे मानवीय गुणो का जाग्रत करता है, उसे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व क प्रति कर्त्तव्यो का बाध कराता है उसक सफल समायाजन म याग दता है एव धार्मिक मर्यादाओं म अर्थ का उपार्जन और काम का उपभाग करत हुए जीवन क परम लक्ष्य माक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। हिन्दू धर्म मे त्याग और भाग का आदर्श समन्वय पाया जाता है। व्यक्ति को यहाँ सासारिक सुखा का उपभाग और जीवन की वास्तविकताआ स परिचय प्राप्त करत हुए, अपन इहलाक और परलाक का उत्तम बनान की आर अग्रसर किया गया है। हिन्दू धर्म में कर्त्तव्य की भावना पर जार दिया गया हे। डॉ राधाकृष्णन क अनुसार– "धर्म का मूल सिद्धान्त मानवीय आत्मा क गौरव का प्राप्त करना ह जा भगवान का निवास स्थान है। सब धर्मों का सर्व स्वीकृत मूल सिद्धान्त यह ज्ञान ही हे कि परमात्मा प्रत्यक जीवित प्राणी के हृदय मे निवास करता है। समझ ला कि धर्म का सार यही हे ओर फिर इसक अनुसार आचरण करा, दूसरो क प्रति वैसा व्यवहार मत करो, जसा तुम नही चाहत कि काई तुम्हार साथ कर। हमे दूसरो क प्रति एसा कुछ नही करन चाहिए जा यदि हमार प्रति किया जाए, तो हमे अप्रिय लग। यही धर्म का सार है शप सारा बर्ताव ता स्वार्थपूर्ण इच्छाआ स प्ररित हाता है। हम दूसरा का अपना जैसा ही समझना चाहिए। जा अप मन वचन और कर्म स निरन्तर दूसरा क कल्याण मे लगा रहता है और जा सदा दूसरों का मि रहता है वही धर्म का ठीक-ठीक समझता है।"[1]

धर्म के विविध रूप (Various forms of Dharma)

हिन्दू धर्म मे व्यक्ति क कर्त्तव्यो की विशद् व्याख्या की गई है, यह बतलाया गया है कि अलग अलग परिस्थितियो मे दश काल आर पात्र क अनुसार व्यक्तिया क कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न होते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति की रुचियो मानसिक याग्यताओ और कार्य क्षमताओ मे भी अन्तर पाया जाता है। इस अन्तर क कारण सभी लाग धर्म क एक ही स्वरूप का अपनाकर अपन 'अभ्युदय' और 'नि श्रयस्' म वृद्धि नही कर सकत। एसी दशा मे धर्म क अनक रूपो का विकास हा जाता है, अलग अलग साधन प्रणालियाँ और आचार-सहिताएँ विकसित हा जाती हें। हिन्दू धर्म की एक मौलिक विशषता यह है कि प्रत्येक का अपने धार्मिक विश्वासा क अनुसार आराधना करने, ध्यान पद्धति अपनान विधि-सस्कार सम्पन्न करन और स्वय के आत्म कल्याण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म आज तक अपने अस्तित्व को बनाय हुए है और विभिन्न व्यक्तियो और समूहों क लिए शान्ति और प्ररणा का अमिट स्रात बना हुआ है। यहाँ हमें हिन्दू धर्म के प्रमुख स्वरूपो पर विचार करना है जो निम्नलिखित है.

(1) सामान्य धर्म,
(2) विशिष्ट धर्म और
(3) आपद्धर्म।

1. सामान्य धर्म (Samanya Dharma)

सामान्य धर्म का मानव धर्म भी कहत हैं। इसक अन्तर्गत व नैतिक नियम आते हैं जिनके अनुसार आचरण करना प्रत्यक का परम दायित्व है। इस धर्म का लक्ष्य मानव मात्र में सद्गुणों का

1 डॉ राधाकृष्णन उपर्युक्त पृष्ठ 124

विकास और श्रेष्ठता को जाग्रत करना है। यह वह धर्म है जो प्रत्येक के लिए अनुसरणीय है। चाहे बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष गरीब हो या अमीर, सवर्ण हो या अवर्ण, राजा हो या प्रजा, सबके लिए सामान्य धर्म का पालन करना आवश्यक कर्त्तव्य है। श्रीमद्भागवत् मे सामान्य धर्म के तीस लक्षण बतलाए गए हैं सत्य, दया तपस्या, पवित्रता, कष्ट सहन की क्षमता, उचित अनुचित का विचार, मन का सयम, इन्द्रियो का सयम अहिसा ब्रह्मचर्य त्याग स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, सभी के लिए समान दृष्टि सेवा, उदासीनता, मौन आत्म चिन्तन, सभी प्राणियो मे अपने आराध्य को देखना और उन्हें अन्न देना महापुरुषों का सग ईश्वर का गुण-गान, ईश्वर-चिन्तन, ईश्वर-सेवा, पूजा और यज्ञो का निर्वाह ईश्वर के प्रति दास्य भाव, ईश्वर-वन्दना, सखा-भाव, ईश्वर का आत्म-समर्पण।[1] धर्म के ये लक्षण सामान्यत सभी संस्कृतियों में पाये गये हैं। ये ऐसे लक्षण हैं जो व्यक्तित्व के चहुँमुखी विकास में योग देते हैं जो व्यक्ति को दायित्व निर्वाह की ओर अग्रसर करते हैं तथा आध्यात्मिकता की ओर बढने के लिए प्रेरित करते हैं।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणो पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्।।[2]

ये दस लक्षण हैं — धृति अर्थात् अपनी जीभ या जननेन्द्रियों पर सयम रखना, क्षमा अर्थात् शक्तिशाली होते हुए भी क्षमाशील होना उदार कार्य करना, दूसरो को क्षमा कर देना, काम एवं लोभ पर नियन्त्रण अर्थात् शारीरिक वासनाओ पर सयम रखना, अस्तेय अर्थात् सोये हुए, पागल या अविवेकी व्यक्ति से विविध तरीको द्वारा कपट करके कोई वस्तु न लेना, शुचिता अर्थात् पवित्रता, अपने मन, जीवात्मा और बुद्धि को पवित्र रखना। सत्य के द्वारा मन, तप के द्वारा जीवात्मा और ज्ञान के द्वारा बुद्धि पवित्र होती है। मनुस्मृति में न्याय से प्राप्त किया गया धन सर्वश्रेष्ठ माना गया है; इन्द्रिय- निग्रह अर्थात् इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना। गीता में बतलाया गया है कि इन्द्रियों पर नियन्त्रण नही रखने से विषयो मे आसक्ति बढती है, कामनाओ की सन्तुष्टि नही होने से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से अविवेक होता है, अविवेक से स्मृति-भ्रम हो जाता है, स्मृति का नाश होने पर बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि का नाश होता है तो मनुष्यों का ही सर्वनाश हो जाता है।[3] धी का तात्पर्य बुद्धि के समुचित विकास से है, किसी वस्तु के गुण-दोष की विवेचना शक्ति से है। विद्या वह है जो व्यक्ति को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि क्षुद्र वृत्तियो से मुक्त करती है और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, पुरुषार्थों को समझाकर तदनुरूप आचरण योग्य बनाती है। सत्य को व्यक्ति का परम धर्म माना गया है। महाभारत में सत्य को तेरह रूपों में व्यक्त किया गया है–पक्षपात नही करना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना क्षमाशीलता, सहिष्णुता, लज्जा, बिना प्रतिकार किये कष्ट का सहन करने की क्षमता, दान, ध्यान, करने और न करने योग्य कार्यो को समझने की प्रवृत्ति, धृति, दया और अहिसा स्पष्ट है कि 'सत्य' शब्द के अन्तर्गत ही सामान्य धर्म के सभी लक्षण आ जाते हैं। अक्रोध अर्थात् क्रोध न करना। क्रोध का सम्बन्ध मनुष्य की अपूर्ण इच्छाओं के साथ पाया जाता है। क्रोध आने पर व्यक्ति शान्त मन से किसी स्थिति पर विचार नही कर पाता विवेकपूर्ण निर्णय

1 श्रीमद्भागवत् 7/11/8 12
2 मनुस्मृति, 6/92
3 गीता 2/62/63

नही ले पाता, और अपने कर्त्तव्यों का पालन करने मे असमर्थ रहता है। अत: क्रोध को नियन्त्रित करना सामान्य धर्म का एक लक्षण है।

सामान्य धर्म के उपर्युक्त लक्षण मानव मात्र के विकास में योग देते हैं, इन गुणों को अपने आप में विकसित करने की प्रत्येक मानव से अपेक्षा की जाती है।

2. विशिष्ट धर्म *(Vishishta Dhanna)*

विशिष्ट धर्म 'स्वधर्म' के नाम से भी जाना जाता है। विशिष्ट धर्म क अन्तर्गत वे कर्त्तव्य आते हैं जिनका समय, परिस्थिति और स्थान विशेष का ध्यान मे रखते हुए पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक है। ब्राह्मण और शूद्र का एक दूसरे स भिन्न धर्म है, अलग-अलग कर्त्तव्य हैं, ब्रह्मचारी और गृहस्थ के धर्म में भिन्नता पाई जाती है, स्त्री और पुरुषो का धर्म, पिता और पुत्र का धर्म, गुरु और शिष्य का धर्म एक-दूसरे से भिन्न है, दानों के अलग-अलग कर्त्तव्य हैं।

समाज के अन्य सदस्यो के सन्दर्भ में व्यक्ति अपनी प्रस्थिति और परिस्थितियो को ध्यान में रखते हुए जिन कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है, वह विशिष्ट धर्म कहलाता है। अपने विशिष्ट धर्म का पालन करने पर ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बनता है, हिन्दू समाज मे ऐसी मान्यता पाई जाती है। विशिष्ट धर्म के पालन से समूची सामाजिक व्यवस्था क बने रहन मे सहायता मिलती है। विशिष्ट धर्म को 'स्वधर्म' भी कहा गया है क्योंकि यह व्यक्ति विशेष का अपना धर्म होता है। जहाँ कही सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म पालन मे व्यक्ति से विरोधी अपेक्षाएँ की जाये, एक दूसरे के विपरीत निर्देश पाये जावे, वहाँ शास्त्रो मे स्वधर्म पालन को अधिक महत्ता दी गई है। स्वधर्म क निर्धारण का आधार यद्यपि शास्त्रो को ही माना गया है तथापि विवेक को काम में लेना भी आवश्यक है। बृहस्पति ने बतलाया है कि कर्त्तव्य के निर्णय क लिए केवल शास्त्र का आश्रय पर्याप्त नही है। बुद्धि से विचार किये बिना काम करने से धर्म की हानि होती है।[1]

विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, युग धर्म, मित्र धर्म, गुरु धर्म आदि आते हैं। हिन्दू समाज में मानव जीवन के चार मौलिक लक्ष्य— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गए हैं जिन्हे पुरुषार्थ कहते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रथम तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति भी हिन्दू शास्त्रकारों ने आवश्यक मानी है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे धर्म को अर्थ और काम से ऊँचा लक्ष्य माना है और अर्थ और काम में से अर्थ को प्रधानता दी है।

हिन्दू शास्त्रकारों ने व्यक्ति के अपने, अन्य व्यक्तियों से और सम्पूर्ण समाज के प्रति कर्त्तव्यों को ध्यान में रखते हुए जीवन को चार अवस्थाओ में विभाजित किया है जिन्हे ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम कहा गया है। ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में सादा जीवन व्यतीत करते हुए विद्याध्ययन, अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास तथा मानवोचित गुणों से अपने को विभूषित करता था। धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति गृहस्थ क परम कर्त्तव्य थे। वह पच महायज्ञों द्वारा अन्य लोगों क प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता था और सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज की निरन्तरता में योग देता था। वानप्रस्थी निष्काम भाव से धर्म-सचय

1. केवल शास्त्रम् आश्रित्य न कर्त्तव्यो विर्णिय ।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानि प्रजायते।।

और मानव कल्याण के लिए अपने आपको लगा देता था। वह सम्पत्ति, परिवार और संसार का मोह त्याग जंगल में कुटिया बनाकर रहता था तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्य आश्रमवासियों का मार्ग-दर्शन करता था। संन्यासी का धर्म संसार का पूर्णतया त्याग करके अपने आपको परम सत्य की खोज में लगाना, ईश्वर में लीन रखना और मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होना था।

आश्रम व्यवस्था के अलावा वर्ण-व्यवस्था भी हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का मुख्य अंग रही है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के विभिन्न अंगों के स्थान और कार्य निश्चित किये गये हैं; वर्ण चार हैं-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ण के अलग-अलग कर्त्तव्य बतलाये गये हैं। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ और धार्मिक कार्यों की व्यवस्था करना आदि है। क्षत्रिय का जीवन व सम्पत्ति की रक्षा, युद्ध और शासन है, वैश्य का कृषि, उद्योग एवं व्यवसाय से धनापार्जन और विभिन्न वर्णों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना और शूद्र का उपर्युक्त तीन वर्णों की मन, वचन व कर्म से सेवा करना है। आदि पुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों से अलग-अलग वर्णों की उत्पत्ति के वर्णन का लाक्षणिक दृष्टि से महत्त्व है। यह वर्णन विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति और कार्यों को बतलाता है। व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण कर्म के आधार पर होता था अथवा जन्म के आधार पर, इस सम्बन्ध में विरोधी मत पाये जाते हैं। जो लोग जन्म के आधार पर वर्ण के निर्धारण को महत्ता देते हैं, वे कर्म के सिद्धान्त को आधार मानकर चलते हैं। पूर्व जन्म में व्यक्ति के जैसे अच्छे-बुरे कर्म थे, जैसे संस्कार थे, उन्हीं के अनुसार उसे कर्म-फल भोगने पड़ते हैं, दूसरा जन्म ग्रहण करना पड़ता है। अतः वर्ण विशेष की सदस्यता व्यक्ति के पूर्व जन्म के कृत्यों का ही फल माना गया है।

कुल धर्म का लक्ष्य पारिवारिक संगठन को बनाये रखना, कुल परम्पराओं की रक्षा करना और विभिन्न संस्कारों को पूरा करना है। परिवार या कुल की सामाजिक व्यवस्था में केन्द्रीय स्थिति है। परिवार के सदस्य के रूप में अन्य सदस्यों के प्रति व्यक्ति के कुछ कर्त्तव्य होते हैं। पति का पत्नी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, माता-पिता का सन्तान के प्रति और सन्तान का माता-पिता के प्रति, भाई का भाई के प्रति कर्त्तव्य, कुल धर्म होता है। परिवार में प्रत्येक सदस्य से उसकी विशिष्ट प्रस्थिति और आयु के अनुसार व्यवहार करने की आशा की जाती है। गृहस्थ के लिए पंच महायज्ञों के रूप में अपने कुल धर्म का पालन करना, अपने कर्त्तव्यों को निभाना आवश्यक माना गया है। वह प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञ द्वारा विविध प्राणियों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता है। कुल धर्म के अनुसार व्यक्ति को यज्ञ-शेष का ही अधिकार दिया गया है। इस सम्बन्ध में डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है, "मनुष्य के सारे कर्म और उनके परिणामों, स्वास्थ्य-समृद्धि और शक्ति के देवताओं के लिए किये गये यज्ञ के रूप में लिया गया है और मनुष्य को प्राप्त होने वाले ज्ञान और आनन्द को *यज्ञ-शेष कहा गया है। इस दृष्टि से सम्पत्ति* के व्यक्तिगत उपभोग नाम की कोई वस्तु रहती ही नहीं, अपितु असीम उत्तरदायित्वों को निभाने और ब्राह्मणों को चुकाने के आवश्यक धर्मोचित आचार के पश्चात जो शेष रह जाता है मनुष्य उसी का उपभोग करने का अधिकारी होता है।"[1] जो मनुष्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के पश्चात् सुख का उपभोग करता है, वह श्रेष्ठ है, वह पापों से मुक्त हो जाता है और जो लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन किये बिना ही भोजन का उपभोग करते हैं, वे पाप के भागी होते हैं।

1 राधाकमल मुकर्जी : पूर्व उद्धृत, पृ 218

राज धर्म क अन्तर्गत राजा या प्रजा के शासक क प्रति कुछ कर्त्तव्य आत हैं जिनका पालन करना उसके लिए जनहित की दृष्टि से आवश्यक है। महाभारत के अनुशासन पर्व मे बतलाया गया है कि एसा राजा जा अपन दश और धर्म को रक्षा करता हुआ वीरगति को प्राप्त हाता है, माक्ष का अधिकारी हाता है। राजा का धर्म ह कि वह राजोचित व्यवहारो का पालन कर अर्थात् उस दृढ-प्रतिज्ञावान हाना चाहिए। अपन कर्मचारियो क पाषण की समुचित व्यवस्था, याद्धाओ का आदर सत्कार करना एव उद्दश्य प्राप्ति क लिय कुटिल नीति का भी प्रयाग कर लना चाहिय।

युग धर्म का काल धर्म क नाम स भी पुकारत हैं। हिन्दू शास्त्रकार इस तथ्य से परिचित थ कि समय-परिवर्तन क साथ-साथ व्यक्ति क कर्तव्यो म परिवर्तन भी आना आवश्यक है। जो धर्म स्थिर हा जाता हे जिसमे गति नहीं रहती वह मनुष्य क व्यवहारों को अधिक समय तक प्रभावित नहीं कर पाता ओर विघटित हान लगता हे। मनुस्मृति पाराशर स्मृति और पद्मपुराण में इस युग धर्म की चर्चा की गई ह। अलग अलग युगा में व्यक्ति क अलग-अलग कर्त्तव्य बतलाय गय हैं। प्रत्यक युग मे परिवर्तित परिस्थितियो क अनुसार नैतिक सहिताओ म परिवर्तन लाना आवश्यक होता है और समय-समय पर परिवर्तन लाय भी जाते हैं। डॉ राधाकृष्णन न बतलाया ह 'हिन्दू धर्म हमार सम्मुख नियमो और विनियमो का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है और यह अनुमति दता है कि उनमें निरन्तर परिवर्तन किया जा सकता है। धर्म क नियम अमर विचारों के मरणशील शरीर की भाति हैं और इसलिय उनम परिवर्तन किय जा सकत हैं।"

हिन्दू धर्म म मित्र धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मित्र धर्म क अन्तर्गत एक मित्र क प्रति कर्त्तव्य आत हैं, जा दाना पक्षा क लिय समान रूप स मान्य हात हैं। मित्र मे आयु धन और पद क आधार पर किसी प्रकार का काई भेद नही किया जाता। एक मित्र का अपन मित्र क प्रति यह कर्तव्य है कि वह सुख-दु ख म उसका साथ दे कर्त्तव्य का पालन करने क लिये उस प्ररित कर। मन कर्म और वचन स उसकी रक्षा करे ओर आवश्यकता पडने पर उसके लिय सब प्रकार क त्याग क लिय तत्पर रह। गुरु धर्म का भी हिन्दू समाज म विशष महत्त्व रहा है। गुरु का बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है, परन्तु साथ ही उसक कुछ कर्त्तव्य (धर्म) भी बतलाय गय हैं। उस सदेव अपन शिष्या की हित कामना करना, लाभ एव दम्भ स दूर रहना तथा अहिसा और त्याग स ज्ञान का प्रसार करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण स स्पष्ट ह कि हिन्दू-धर्म एक व्यावहारिक धर्म हे जा सामाजिक आदर्शों क अनुरूप व्यक्ति का अपन दायित्व निर्वाह हतु प्ररित करता है उस सभी तरह की परिस्थितियो मे अनुकूलन की शिक्षा दता हे ओर सामाजिक व्यवस्था का बनाय रखन मे याग दता है। विशिष्ट धर्म अथवा स्वधर्म का पालन व्यक्ति का परम कर्त्तव्य माना गया है।

3.आपद्धर्म (Apat Dharma)

आपद्धर्म का तात्पर्य यह ह कि आपत्तिकाल म या सकट क समय व्यक्ति का अपने सामान्य और विशिष्ट धर्म म कुछ परिवर्तन कर लना चाहिए। राग, शाक, विपत्ति ओर धर्म सकट की स्थिति

1 डॉ राधाकृष्णन : पूव उद्धृत पृ 125

में व्यक्ति का कर्तव्य-नियमों में कुछ छूट दी गई है व अपवाद की अनुमति प्रदान की गई है। यह परिस्थिति विशेष से सम्बन्धित अस्थायी धर्म है। जब व्यक्ति के कर्त्तव्यों की दृष्टि से दो धर्मों के बीच टकराव की स्थिति पैदा हो जाय तो अधिक महत्त्वपूर्ण धर्म या दायित्व के निर्वाह के लिये दूसरे धर्म के नियमों को कुछ समय के लिये छोड़ देना आपद्धर्म है। आपद्धर्म के नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने प्राणों की रक्षा के लिये किसी भी प्रकार का आचरण करने की स्वीकृति दी गई है। 'कल्याण' के हिन्दू संस्कृति विशेषांक में उदाहरण के रूप में एक ऋषि का वर्णन मिलता है जो अकाल के कारण भूख से पीड़ित और मरणासन्न स्थिति में थे। इस स्थिति में अपने वर्ण-धर्म के पालन की बजाय अपने प्राणों की रक्षा करना उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः उन्होंने एक शूद्र से जूठे उड़द लेकर खा लिए, परन्तु उसके यहाँ पानी नहीं पीया क्योंकि वह उन्हें अन्यत्र कहीं से भी मिल सकता था।[1] इसी प्रकार का संकट विश्वामित्र के सम्मुख भी उपस्थित हुआ था, अपने प्राणों की रक्षा हेतु उनके लिये कुत्ते का माँस चुराना आवश्यक हो गया था। उन्होंने इस चोरी का भी इस आधार पर उचित ठहराया कि मरने की अपेक्षा जीवित रहना अच्छा है। धर्मानुकूल जीने के लिये यह आवश्यक है कि पहले जीवित रहा जाय।[2] आपत्तिकाल में धर्म रक्षण के लिये झूठ बोलने तक की आज्ञा भी है, संकट की स्थिति में कर्मगत नियमों में अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेने की अनुमति दी गई है। केवल असामान्य परिस्थितियों में ही आपद्धर्म का सहारा लेने की स्वीकृति प्रदान की गई है।

धर्म के पूर्वोक्त वर्गीकरण के अलावा दार्शनिक दृष्टिकोण से उसके दो रूप बतलाये गये हैं-(1) प्रवृत्ति और (2) निवृत्ति। प्रवृत्ति मार्ग पर चलने से अभ्युदय होता है अर्थात् लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं और निवृत्ति मार्ग पर चलने से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जाता है। धर्म का एक और वर्गीकरण बौधायन ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने धर्म के स्रोतों के अनुसार उसे स्रौत धर्म, स्मार्त धर्म और शिष्टाचार में वर्गीकृत किया है। श्रुतियों अर्थात् वेदों पर आधारित नियम स्रौत धर्म, स्मृतियों पर आधारित नियम स्मार्त धर्म और पूजनीय लोगों के कार्य अथवा मार्ग का अनुसरण शिष्टाचार के अन्तर्गत आते हैं।

वर्तमान में अनेक कारकों ने हिन्दू धर्म के प्रभाव को क्षीण करने में योग दिया है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य विचारों के प्रसार, शिक्षा के बढ़ते प्रतिशत और प्रजातान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्था तथा राजकीय नीतियों ने समाज को परम्परावाद से आधुनिकीकरण की ओर बढ़ने में सहायता पहुँचाई है। आज व्यक्ति पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रभाव और जीवन की विविध क्रियाओं में धर्म-निरपेक्षवाद को प्रोत्साहन मिलता जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आज का व्यक्ति धर्म के नाम पर पाखण्ड को और अधिक सहन करने को तैयार नहीं है। यद्यपि धर्म के प्रभाव में कमी अवश्य दिखलाई पड़ता है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म, आपद्धर्म, वर्ण, पुरुषार्थ, ऋण, पुनर्जन्म और कर्मवाद की धारणा ने हिन्दुओं के आदर्शों और व्यवहार के तरीकों को लम्बे समय तक प्रभावित किया है और भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर इनका व्यापक प्रभाव रहा है। भारतीय समाज एक परम्परावादी समाज रहा है और यहाँ परम्परा

1 हिन्दू संस्कृति विशेषांक पृष्ठ 166

2 जीवितं मरणात् श्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्।

और आधुनिकता साथ-साथ चल रहे हैं। ऐसी दशा में हिन्दू धर्म व्यक्ति और समाज के सगठन तथा पारस्परिक दायित्वों को आगे भी प्रभावित करता रहेगा, एसी सम्भावना है।

हिन्दू धर्म और परिवर्तन
(Hindu Dharma and Changes)

प्रगति और परिवर्तन प्रत्येक समाज की निरन्तरता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दू धर्म में आवश्यक परिवर्तनों के महत्त्व को स्वीकार कर उनके लिये स्थान रखा गया है। डॉ. राधाकृष्णन ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "किसी भी जीवित समाज मे निरन्तर बने रहने की शक्ति और परिवर्तन की शक्ति, दोनो ही होनी चाहिए। किसी असभ्य समाज मे एक पीढी से लेकर दूसरी पीढी तक शायद ही कोई प्रगति होती हा। परिवर्तन का बहुत सन्देह की दृष्टि स देखा जाता है और सारी मानवीय ऊर्जाएँ स्थिति को यथापूर्व बनाए रखने पर केन्द्रित रहती हैं। परन्तु किसी सभ्य समाज में प्रगति और परिवर्तन ही उसकी गतिविधि की जान होते हैं। समाज के लिये अन्य कोई वस्तु इतनी हानिकारक नही है जितना कि घिसी-पिटी विधियो स, पुरानी पड गई आदतों स चिपटे रहना, जो कि केवल जडता के कारण बची चली आती हैं। हिन्दू विचारधारा मे आवश्यक परिवर्तनो के लिये स्थान रखा गया है। हमारी ललित सस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं। व अपने समय मे धूम-धाम स रहती हैं और उसके बाद समाप्त हो जाती हैं। वे काल की उपज हाती हैं और काल की ही ग्रास बन जाती हैं। परन्तु हम धर्म को इन सस्थाओं के किसी भी समूह के साथ एक या अभिन्न नही समझ सकत। वह इसलिए बना रहता है कि इसकी जडें मानवीय प्रकृति मे हैं और वह अपने किसी भी ऐतिहासिक मूर्त रूप के समाप्त हो जाने के बाद भी बचा रहेगा। धर्म की पद्धति परीक्षणात्मक परिवर्तन की है। सब सस्थाएँ परीक्षण हैं, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन भी परीक्षण है।"[1] स्पष्ट है कि समाज की प्रगति हेतु परिवर्तन आवश्यक है। सस्थाएँ समय विशेष की उपज होती हैं और समय के साथ-साथ परिवर्तित और नष्ट भी हो जाती हैं। धर्म और इन सस्थाओ का अभिन्न रूप से जुडा हुआ नही माना जा सकता।

एक युग विशेष के विश्वासो, प्रथाओ और सस्थाओ का उसी रूप मे दूसरे युगों के लिए स्थानान्तरित नही किया जा सकता। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इनमे परिवर्तन आना आवश्यक है, अन्यथा ये समाज की प्रगति मे बाधक बन जाती हैं। हिन्दू शास्त्रकार इस बात से परिचित थे कि समाज एक धीरे-धीरे होने वाले विकास का क्रम है। विज्ञानेश्वर ने बतलाया है कि अनुपयुक्त विधानो को, चाहे वे शास्त्रो द्वारा स्वीकृत ही क्यो न हो समाज को अस्वीकार कर देने का अधिकार है। कानून आवश्यकता के अनुसार बनाये जाते हैं समय विशेष की वे उपज होते हैं और समय के बदलने पर वे समाप्त भी कर दिए जाते हैं। हिन्दू कानूनों मे शास्त्रो के भाष्यकारों ने समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन किये हैं। सामाजिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न होने से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ मे भारतीय सामाजिक सस्थाओ का विश्लेषण कर उनमें आवश्यक परिवर्तनो को स्वीकार किया जाये जबकि धर्म के मौलिक सिद्धान्तो और मान्यताओं को बनाये रखा जाय।

डॉ राधाकृष्णन ने लिखा है, "इस भाग्य-निर्णायक महत्त्वपूर्ण घडी में, जबकि हमारा समाज एक मार्गहीन गहन वन गया है, हमें अपने पूर्वजों के स्वरों के साथ-साथ नई ध्वनियों को भी सुनना

1 डॉ राधाकृष्णन पूर्वोक्त पृष्ठ 131

चाहिए। कोई भी प्रथा सब कालों में सब मनुष्यों के लिए लाभदायक नहीं हो सकती। यदि हम अतीत के नियमों से बहुत अधिक चिपटे रहेंगे और मृतकों का जीवित धर्म जीवितों का मृत धर्म बन जायेगा, तो सभ्यता मर कर रहेगी। हमें बुद्धिसंगत परिवर्तन करने होंगे। यदि कोई शरीर या समाज अपने मल को बाहर निकालने की शक्ति खो बैठता है, तो वह नष्ट हो जाता है।"[1] स्पष्ट है कि समय के साथ-साथ प्रथाओं और संस्थाओं में आवश्यक परिवर्तन किये जाने चाहिए। हमें अपने पूर्वजों की कृतियों पर गौरव अवश्य होना चाहिये, लेकिन जो कुछ वे कर गये हैं, उसी से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। हमें प्राचीन को पुनः नहीं लौटाना है, वैदिक परम्पराएँ जो आज व्यावहारिक नहीं रही उनको यथावत् स्वीकार कर उनके अनुसार आचरण को नहीं ढालना है। लेकिन साथ ही नवीन के निर्माण के लिए अतीत को आधार अवश्य बनाना है। अपने पूर्वजों के सफल अनुभव का लाभ अवश्य उठाना है। हमें अपने इतिहास से बहुत कुछ सीखना और आगे बढ़ना है। हम सब कुछ नये सिरे से प्रारम्भ नहीं कर सकते। हमें स्वयं अपने अतीत को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ते हुए परिवर्तनों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाना होगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि परिवर्तन के महत्त्व को स्वीकार किया जाय और आवश्यक परिवर्तनों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया जाय। डॉ. राधाकृष्णन ने बतलाया है, "प्रत्येक समाज के इतिहास में एक ऐसा समय आता है, जबकि उस समाज को एक सजीवन शक्ति के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखना हो और अपनी प्रगति को जारी रखना हो, तो सामाजिक व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। यदि वह ऐसा प्रयत्न करने में असमर्थ रहे, यदि उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी हो और उसका पुरुषार्थ निःशेष हो चुका हो तो वह इतिहास के रंगमंच से दूर होता चला जायेगा। हमें निष्प्राण काष्ठ को काट देना होगा और निस्तेज अतीत को भी परे फेंक देना होगा। अतीत में हम इतनी अधिक बार बदलते रहे हैं कि केवल परिवर्तन भर से धर्म की आत्मा अव्यवस्थित नहीं हो जायेगी।"[2] वर्तमान समय में यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से धर्म के प्रकार्यों और अपकार्यों पर विचार, वस्तु-स्थिति का सही मूल्यांकन और आवश्यक तथ्यों को जुटाया जाय, सामाजिक परिवर्तन की दिशा का पता लगाया जाय और आवश्यकतानुसार परिवर्तनों का स्वीकार किया जाय। स्वयं, समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए यह आवश्यक होता है कि युग परिवर्तन के साथ-साथ नवीन को आत्मसात् किया जाय, निष्प्राण वस्तुओं को रास्ते से हटाकर आगे बढ़ा जाय तथा जड़ता, अन्धविश्वास और रूढ़िवाद पर विजय प्राप्त की जाय।

प्रश्न

1. धर्म से आप क्या समझते हैं? हिन्दू सामाजिक जीवन में इसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
2. सामान्य धर्म के क्या लक्षण हैं ? सामान्य तथा विशिष्ट धर्म का अन्तर बताइए।
3. हिन्दू धर्म में वर्तमान में होने वाले परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।
4. धर्म पर एक लेख लिखिए ।
5. स्वधर्म पर टिप्पणी लिखिए ।
6. धर्म की अवधारणा की विवेचना कीजिए। क्या हिन्दू समाज पर धर्म का प्रभाव कम हो रहा है?



1 डॉ. राधाकृष्णन : पृष्ठ 135-136
2 डॉ. राधाकृष्णन : पूर्वोक्त, पृ 137.

7

कर्म तथा पुनर्जन्म

(Karma and Re-birth)

चाहे लोग वेदों, उपनिषदों, गीता, महाभारत, रामायण तथा अन्य धर्मग्रन्थों के तत्त्व ज्ञान को नहीं समझते हों, परन्तु वे इतना अवश्य जानते हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। हिन्दू लोग साधारणतः इस बात को भी भली-भाँति जानते हैं कि शरीर नाशवान है, परन्तु आत्मा अमर है। जिस प्रकार व्यक्ति फटे-पुराने वस्त्रों का त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार मृत्यु के बाद आत्मा पुराने शरीर का त्यागकर नया शरीर धारण करती है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ठीक से समझे बिना चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की अवधारणा को भी भली-भाँति नहीं जाना जा सकता। इस सिद्धान्त ने वर्ण और आश्रम व्यवस्था के नैतिक आधार के रूप में कार्य किया है। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को दिशा देता है, उसे सामाजिक दायित्वों के निर्वाह की प्रेरणा प्रदान करता है और भविष्य के प्रति आशावान बनाता है। कर्म की अवधारणा ने पिछली अनेक शताब्दियों में लोगों को स्वधर्म का पालन करने, सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने और सामाजिक संगठन को स्थिरता प्रदान करने में अपूर्व योग दिया है।

कर्म का अर्थ

(Meaning of Karma)

'कर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'करना', 'व्यापार' या 'हलचल'। इस अर्थ की दृष्टि से मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब 'कर्म' के अन्तर्गत आता है, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना, चलना, विचार या इच्छा करना, दान-दक्षिणा देना, यज्ञ करना, ध्यान करना, लड़ना-झगड़ना आदि सब कार्य गीता के अनुसार 'कर्म' की श्रेणी में आते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य 'कर्म' है। कर्म का सम्बन्ध संस्कृत भाषा के शब्द 'कर्मन' से है जिसका अर्थ कर्त्तव्य, कार्य, क्रिया, कृत्य या दैव से है। इस दृष्टि से कर्म का तात्पर्य उन सभी क्रियाओं से है जो मनुष्य अपने दायित्वों के निर्वाह हेतु करता है। मैं तुमसे बात-चीत कर रहा हूँ- यह कर्म है, तुम सुन रहे हो, यह भी कर्म है, हमारा श्वास लेना या चलना भी कर्म है, जो कुछ हम करते हैं वह शारीरिक हो चाहे मानसिक, सब कर्म ही हैं जो हमारे ऊपर अपने चिन्ह अंकित कर जाता है। *गीता के अनुसार मन (मनसा), वाणी (वाचा) तथा शरीर (कायिक) से की* गयी सभी प्रकार की क्रियाएँ कर्म ही हैं। कर्म के अर्थ के अन्तर्गत तीन तत्त्व-कर्त्ता, परिस्थिति एवं प्रेरणा सम्मिलित हैं। कर्म को सम्पादित करने के लिए किसी व्यक्ति का होना आवश्यक है, जिसे कर्त्ता कहा जा सकता है। कर्त्ता द्वारा क्रिया करने के लिए परिस्थिति का होना भी आवश्यक है, क्योंकि शून्य में क्रिया करना असम्भव है। कर्म के सम्पादन हेतु परिस्थिति के अलावा व्यक्ति को प्रेरणा भी प्राप्त होनी चाहिए। प्रेरणा या कारण के अभाव में कर्म का सम्पन्न होना सम्भव नहीं है।

यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है। कर्म क्रिया के रूप में है, जबकि फल प्रतिक्रिया के रूप मे। मनुष्य जो कुछ क्रिया करता है, उसकी प्रतिक्रिया भी अवश्य होती है। इसी प्रकार मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका फल भी उसे अवश्य प्राप्त होता है। व्यक्ति को अपने सभी कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं भुगतना पड़ता। अपने कर्मों का फल भोगने के लिये व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूपों में जन्म लेना पड़ता है, एक के बाद दूसरी यानि ग्रहण करनी पड़ती है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं- (1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म और (3) क्रियमाण या संचीयमान कर्म। संचित कर्म के अन्तर्गत वे कर्म आते हैं जो व्यक्तियों द्वारा पूर्व जन्म में किये गये हैं। इन पूर्व कर्मों में से जिन कर्मों का फल व्यक्ति को वर्तमान जीवन में भोगना पड़ता है उन्हें 'प्रारब्ध कर्म' कहा जाता है। व्यक्ति द्वारा इस जीवन में किया जा रहा कर्म 'क्रियमाण कार्य' कहलाता है। व्यक्ति का आगामी जीवन संचित और क्रियमाण कर्म पर निर्भर करता है। कर्म तो पुनर्जन्म के सम्पूर्ण चक्र से सम्बन्धित है।

कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त

कर्म और पुनर्जन्म दो पृथक् सिद्धान्त नहीं होकर एक ही सिद्धान्त है तथा इनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध पाया जाता है। जिस प्रकार एक बीज पौधे का कारण बनता है, उसी प्रकार कर्म आगामी जीवन का। मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगने के लिए ही जन्म-जन्मान्तर तक विभिन्न योनियों में जीवन धारण करना पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन वैदिककाल के अन्तिम वर्षों (ईसा के 700 वर्ष पूर्व) ने किया गया। ऋग्वेद में 'ऋत'(Rita) की अवधारणा को विकसित किया गया है। यह एक ऐसी अवधारणा है जो हमारे अन्तःकरण की ईश्वरीय आवाज को व्यक्त करती है और हमें बताती है कि क्या सही है और क्या गलत है। धीरे-धीरे ऋत का प्रयोग नैतिकता के महान अंतरिक्षीय कानून के रूप में नहीं करके यज्ञीय अनुष्ठान को सही ढंग से सम्पन्न करने के लिए किया जाने लगा। वेदों में स्पष्टतः कहा गया है कि आत्मा अमर है, परन्तु शरीर नाशवान है। व्यक्ति का उस समय तक पुनः जन्म होता रहता है, जब तक कि वह अमरत्व को प्राप्त नहीं कर ले, अपने को ब्रह्म मे विलीन नहीं कर ले। जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सद्कर्मों पर विशेषतः जोर दिया गया है। यहाँ कर्म का प्रयोग एक जागरूक क्रिया से है, विभिन्न पुरुषार्थों को पूरा करने से है।

उपनिषदों में सर्वप्रथम कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणाओं को एक सिद्धान्त का रूप दिया गया। इनमें बताया गया है कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार न केवल परलोक में ही सुख-दुख प्राप्त होता है, बल्कि इस संसार में बार-बार जन्म भी धारण करना पड़ता है। सतपथ ब्राह्मण मे सबसे पहले कर्म के सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। इसमे यह भी बताया गया है कि जो व्यक्ति पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है वही ब्रह्म मे एकाकार तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो पाता है। उपनिषदों मे उल्लेख किया गया है कि कर्मों के फल के परिणामस्वरूप आत्मा का पुनर्जन्म होता है। कठोपनिषद् मे इस विचार को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है कि मृतक की आत्मा नवीन शरीर धारण करती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा मृत्यु होने पर मनुष्य के द्वारा जीवन-भर किये गये कर्मों के साथ शरीर से बाहर निकलती है और उसके ये कर्म ही उस स्वरूप का निर्धारण करते हैं जो आत्मा को दूसरे जन्म में ग्रहण करना है। इसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने बताया है कि मनुष्य का आगामी जीवन उसके स्वयं की क्रियाओं (कर्मों) द्वारा निर्धारित होता है, शुभ कर्मों का अच्छा फल और अशुभ

कर्मों का बुरा फल मिलता है। जिस प्रकार एक इल्ली (Caterpillar) घास का एक किनारा उसी समय छोड़ती है जब वह दूसरी पत्ती को पकड लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी शरीर का त्याग उसी समय करती है जब उसे अस्तित्व के किसी अन्य स्वरूप अर्थात् किसी दूसरे शरीर का सबल प्राप्त हो जाता है और जैसे एक सुनार सोने के एक टुकडे को अपनी इच्छानुसार किसी भी नवीन और अधिक सुन्दर आकृति में बदल देता है, ठीक उसी प्रकार यह आत्मा अपने लिये नवीन और अधिक सुन्दर शरीर निर्मित कर सकती है। अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म के संबंध में, इस उपनिषद् में बताया गया है कि जैसा मनुष्य का चाल-चलन और व्यवहार होता है वैसी ही उसकी आत्मा बनती है। वह जिसके कर्म शुभ होते हैं अच्छा और जिसके कर्म अशुभ होते हैं, बुरा बन जाता है। वह पवित्र कर्मों से पुण्यात्मा और पापपूर्ण कर्मों से पापी बन जाता है। इस उपनिषद् में कर्म तथा जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त करने के उपाय के संबंध में बताया गया है कि यह उसी समय संभव है, जब व्यक्ति पूर्णतः इच्छाओं से रहित हो जाय। सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर ही नाशवान व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त एवं ब्रह्म को उपलब्धि कर सकता है। अच्छे आचरण से व्यक्ति का जन्म उच्च वर्ण में और बुरे आचरण से निम्न वर्ण में और यहाँ तक कि कुत्तों एवं सूअर के रूप में भी होता है। कठोपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि आत्मा अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुसार जड वस्तुओं जैसे पेड या पौधों का स्वरूप भी ग्रहण कर सकती है।

उपनिषदों में स्पष्टतः बताया गया है कि मृत्यु होने पर शरीर नष्ट हो जाता है और आत्मा अपने पिछले कर्मों के अनुसार नवीन शरीर धारण करती है। व्यक्ति को अपने बुरे कर्मों के फलस्वरूप जड वस्तुओं अर्थात् पेड-पौधों के रूप में जन्म लेना पडता है। सद्कर्म, ज्ञान तथा सही आराधना द्वारा जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषदों में वर्णित कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि व्यक्ति जो कुछ है, जो कुछ उसकी अच्छी या बुरी परिस्थितियाँ हैं, उसके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। सामाजिक शक्तियों के बजाय उसके स्वयं के कर्म उसकी अच्छी या बुरी दशा के लिए अधिक उत्तरदायी हैं। पुनर्जन्म की अवधारणा के द्वारा यह सिद्धान्त स्पष्ट घोषणा करता है कि व्यक्ति को उस समय तक एक के बाद दूसरा जीवन धारण करना पडता है जब तक कि वह ब्रह्म की उपलब्धि या पूर्णता प्राप्त करने के प्रयत्न में सफल नहीं हो जाता। इस सिद्धान्त के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि वैदिक देवी-देवता मनुष्य के भाग्य-निर्माता नहीं हैं बल्कि स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है। कर्म का सिद्धान्त पीछे की ओर अर्थात् भूतकाल की ओर भी दृष्टि डालता है और आगे की ओर अर्थात उज्ज्वल भविष्य की ओर भी।

महाभारत के वनपर्व में स्वर्ग में मिलने वाले सुखों का उल्लेख किया गया है। यह पृथ्वी (कर्मभूमि) कर्म करने के लिए है, जबकि दूसरा विश्व अर्थात् स्वर्ग (फलभूमि) कर्म का सुख भोगने के लिए है। जैसे ही कर्मों के अनुपात में सुख भोग लिया जाता है, व्यक्ति स्वर्ग से नीचे गिर जाता है। इसके अतिरिक्त, सुख के दूसरे विश्व के परे, एक सदा-सर्वदा बने रहने वाला निवास है जो परब्रह्म के नाम से जाना जाता है जहाँ से पुनः इस विश्व में नहीं लौटना पडता, लेकिन उसकी प्राप्ति केवल निःस्वार्थी, विनम्र तथा उनके द्वारा ही की जा सकती है जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। महाभारत में ही आगे बताया गया है कि आत्मा अपने संचित कर्म के भार-सहित पुनः जन्म लेती है। जीवन में किये गये कर्मों के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति सुख-दुख, समृद्धि और निर्धनता प्राप्त करता है, ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति उस स्थिति में पहुँचता है जिसमें कोई कष्ट, कोई मृत्यु, कोई पुनर्जन्म नहीं है।

कर्म का सिद्धान्त इस बात की भी व्याख्या करता है कि कुछ व्यक्तियों का वर्तमान जीवन उनके सद्कर्मों को देखते हुए सफल और सुखी होने के बजाय असफल और कष्टमय क्यों है, जबकि इसके विपरीत कुछ अशुभ कर्म करने वालों का वर्तमान जीवन इतना सफल और वैभवपूर्ण क्यों है। इसका कारण पूर्वजन्मों में व्यक्तियों द्वारा किये गये कर्म हैं। विद्वान वृहस्पति ने युधिष्ठिर को बताया कि मृत्यु के बाद व्यक्ति के शुभ और अशुभ कार्य ही उसके साथ जाते हैं और अगले जन्म में उसके भाग्य का निर्धारण करते हैं, अतः व्यक्ति को धर्म को अर्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि वही दूसरे विश्व में व्यक्ति का सच्चा मित्र है और वही अगले जन्म में व्यक्ति के सुख-दुख का निर्धारण करता है। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिए सब प्रकार की वासनाओं का अन्त आवश्यक माना गया है। महाभारत के शान्ति-पर्व में बताया गया है कि यदि वासना की वस्तुओं को त्याग दिया जाता है तो वे सुख का स्रोत बन जाती हैं। महाभारत के अनुसार कर्मों के जीवन का अन्त करने का प्रभावशाली तरीका सभी वासनाओं को समाप्त कर देना है। यहाँ मोक्ष-प्राप्ति या जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त करने हेतु सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतः निर्लिप्त होने की बात कही गयी है। लेकिन महाभारत में मोक्ष-प्राप्ति का एक अन्य तरीका भी बताया गया है और वह है अपने नियत कर्त्तव्यों या स्वधर्म के पालन का। अपने नियत कर्म को धर्मानुकूल तरीके से करना, चाहे वह किसी को मारने का ही क्यो न हो, मोक्ष प्राप्ति का प्रभावशाली साधन है। स्वधर्म या अपने नियत कर्त्तव्यों का पालन व्यक्ति को कर्म-बन्धन मे नही बाँधता है। इस संसार में अपने स्वधर्म के अनुरूप नहीं करना या अपने कर्त्तव्यों से विमुख होना पापपूर्ण माना गया है।

महाभारत के वनपर्व में यह भी उल्लेख है कि मूर्ख लोग सदैव असन्तुष्ट रहते हैं और बुद्धिमान सदैव सन्तोष महसूस करते हैं। सन्तोष ही सबसे बडा सुख अर्थात् परमसुख है। महाभारत में व्यक्ति के वर्तमान जीवन और सुख-दुख का कारण उसके संचित कर्मों को माना गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि सब प्रकार की वासनाओं से मुक्त होने पर फल-कर्म से छुटकारा और जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिल सकता है। व्यक्ति स्वधर्म के पालन से भी कर्म के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीता में उपनिषदों की विचार परम्परा को ही आधार माना गया है। परन्तु गीता का कर्म-सिद्धान्त महाभारत में प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त से अधिक प्रगतिशील एवं प्रेरणादायक है। गीता में बताया गया है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन एक संक्रान्ति की अवधि है, पहले भी उसने कई जीवन धारण किये हैं, उसके साथ पूर्वजन्म के कर्म बँधे हुए हैं और उसे भविष्य में भी जीवन धारण करने हैं। आत्मा स्वय न कभी मरती है और न कभी जन्म लेती है, जब शरीर मरता है तब भी आत्मा नही मरती। जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपडों को त्यागकर नये कपडे धारण करता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करती है। जिसका जन्म हुआ है, वह निश्चित रूप से किसी दिन मरता भी है और जो मरता है उसका पुन. जन्म भी अवश्य होता है- जब तक कि वह मुक्ति प्राप्त नही कर ले। जो व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वह कभी जन्मता नही है। मुक्ति का तात्पर्य जन्म और मरण के चक्र से मुक्त होना है।

कर्म को ही व्यक्ति के जन्म-मरण के चक्र में फंसे रहने का कारण माना गया है। अतः कर्म सिद्धान्त पर केवल ऊपरी तौर पर विचार करने वाले इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि मनुष्य

को किसी भी प्रकार का कर्म नही करना चाहिए। एसे लोगों को मान्यता है कि कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति को निष्क्रिय और भाग्यवादी बनाता है। एसे विचारकों में मैकडोनल तथा ए.बी. कीथ के नाम उल्लेखनीय हैं, परन्तु इनके निष्कर्ष पूर्णत. भ्रामक एव अनुचित हैं। गीता में स्पष्ट घोषणा की गयी है, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलषु कदाचन्।' गीता में वर्णित कर्म सिद्धान्त का यही सार है। स्पष्ट है कि कर्म करना ही व्यक्ति का अधिकार है और यह कर्म भी बिना किसी फल की आशा के किया जाना चाहिए। स्वधर्म का पालन ही व्यक्ति का कर्म बताया गया है। युद्ध क मैदान मे कृष्ण न अर्जुन को यही कहा कि अपने शस्त्र उठाओ और युद्ध के मैदान मे योद्धा के रूप में अपने कर्त्तव्य का पालन करो। वे अर्जुन स कहत हैं कि मनुष्य का जीवन में अपनी प्रस्थिति या पद के अनुसार दायित्व का निर्वाह करना चाहिए, अपन कर्त्तव्य का निभाना चाहिए, चाह इसका परिणाम कुछ भी क्यो न हो। स्पष्ट है कि गीता मे मुख्यत इस बात पर जोर दिया गया है कि अपन कर्त्तव्य का पालन करो, अपना स्वधर्म निभाओ और कभी भी निष्क्रिय मत बनो।

गीता में कर्म करन का आदश अवश्य दिया गया है, परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि उनके प्रति आसक्ति या लगाव का कोई भाव नहीं होना चाहिए। जब तक मनुष्य जीवित है, उसे कर्म तो करन ही पडेग परन्तु उस अनासक्ति भाव स और लोगों क सामूहिक कल्याण को ध्यान में रखकर कर्म करने चाहिए। साथ ही यह भी बताया गया है कि कर्म स्वधर्म या अपने कर्त्तव्य पालन के लिए किय जायें न कि इन्द्रियो के वशीभूत होकर। गीता में निष्काम कर्म का सन्देश दिया गया है। कृष्ण ने बताया है तुम्हारा कर्त्तव्य कर्म करना है, उसके फल या परिणाम की परवाह किय बिना, कर्म करने में तुम्हे फल का उद्देश्य नही रखना चाहिए। न ही तुम्हारा झुकाव निष्क्रियता की ओर होना चाहिए। अपने निर्धारित कर्त्तव्य करत रहन पर जोर देना विभिन्न सामाजिक प्रकार्यों की पूर्ति एव समाज क समुचित विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक था। गीता मे निष्काम कर्म ज्ञान और भक्ति को उस त्रिवर्ग क रूप मे माना गया है, जिसकी सहायता से व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है जन्म-मरण क बन्धन स छूट सकता है। ज्ञान और भक्ति के माध्यम से ही व्यक्ति कर्म-बन्धन स मुक्त हो ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। गीता के कर्मयोग में मुख्य जोर स्वधर्म के पालन एव निष्काम कर्म पर दिया गया है। गीता मे कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय कहीं भी इस भाग्य के साथ जोडने का प्रयत्न नही किया गया है। हम स्वयं ही हमारे मौजूदा भाग्य के लिए उत्तरदायी हैं, हमने स्वय ही इसे चुना है।

मनु न बताया है कि सभी कर्म मन, वाणी तथा शरीर स उत्पन्न होते हैं तथा अच्छे या बुरे फल प्रदान करते हैं। व्यक्ति को अपन कर्मों का फल भोगन हतु बार-बार जन्म लेना पडता है। मनुस्मृति में उल्लेख है कि अच्छ और बुरे कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है, उसे उच्च या निम्न योनि प्राप्त होती है। अत व्यक्ति को अपना मन धर्म-कार्यों में लगाना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि कर्म अनिवार्यत पुनर्जन्म स सम्बन्धित है और कोई भी ऐसा कर्म नही जिसका फल व्यक्ति को नही भोगना पडे। जन्म और मरण के बन्धन स छुटकारा प्राप्त करने क उपाय के सम्बन्ध मे मनु न लिखा है कि यह उसी अवस्था मे सम्भव है जबकि व्यक्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त कर ले। इस ससार मे यह ज्ञान ही सभी श्रेष्ठ क्रियाओ में सर्वाधिक श्रेष्ठ है। इसी ज्ञान के द्वारा अमरत्व तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। परन्तु जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति तो आत्म ज्ञान से ही सम्भव है। अत. मनुष्य के लिये यह आवश्यक

है कि वह बिना किसी को कष्ट पहुँचाये स्वधर्म का पालन करे, प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव रखे, धर्मानुकूल आचरण और आत्म ज्ञान की प्राप्ति करे।

याज्ञवल्क्य-स्मृति और शुक्रनीतिसार में मनुस्मृति में कर्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों का ही अधिकांशतः स्वीकार किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में बताया गया है कि धर्म और अधर्म कर्म संग्रह के बीज हैं और इस कर्म संग्रह से तीन प्रकार के परिणाम निकलते हैं (1) जाति, अर्थात् उच्च या निम्न स्थिति में जन्म, (2) आयु अर्थात् जीवन की अवधि और भोग अर्थात् व्यक्ति को मिलने वाले सुख या दुख। धर्म सही कर्म करने में ही निहित है। शुक्रनीति में जीवन में भाग्य के महत्त्व का स्वीकार अवश्य किया गया है, परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि कमजोर व्यक्ति ही निष्क्रिय जीवन व्यतीत करते हैं और वे जिनमें उर्जा और शक्ति है, इस जीवन में किये गये कार्यों द्वारा अपने भावी भाग्य को बदल सकते हैं। शुक्रनीतिसार में सारांश रूप में यह बताया गया है कि मनुष्य जीवन में सब कुछ भाग्य तथा कर्म दोनों पर ही आधारित है।

पातंजलि ने बताया है कि साधारण व्यक्ति शुक्ल कर्म (अच्छे कर्म), कृष्ण कर्म (बुरे कर्म) तथा शुक्ल कृष्ण कर्म (अच्छे-बुरे कर्म मिश्रित रूप में) करता है और उनके शुभ-अशुभ फल भोगता है। लेकिन योगी के कर्म इन तीनों में से किसी भी श्रेणी में नहीं आते। वह कर्म सन्यासी के रूप में कर्म करता है, उन कर्मों का कर्त्ता स्वयं को नहीं मानता तथा कर्म-फल को ईश्वर को समर्पित कर देता है। वह ईश्वरीय इच्छा की भावना से ही सब कर्म करता है। उसका यह ज्ञान अग्नि के रूप में कार्य करता है और अविद्या को जला डालता है। अविद्या की समाप्ति से उसके सभी क्लेश दूर और अच्छे तथा बुरे दोनों ही प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे ही व्यक्ति के सब प्रकार के क्लेश और कर्म पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं, वैसे ही जन्म-मरण के बन्धन से स्वतंत्र हो जाता है। जीवित रहते हुए भी वह मुक्त (जीवन-मुक्त) हो जाता है। अतः पातंजलि के अनुसार कर्मों तथा पुनर्जन्म के अन्तहीन चक्र को समाप्त करने का साधन ज्ञान ही है।

कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त में समय के साथ स्वर्ग और नरक की धारणा तथा कर्म के साथ 'प्रसाद' तथा ईश्वरीय कृपा की धारणा भी जुड़ गयी। यह माना जाने लगा कि भक्ति की शक्ति वह ईश्वरीय माध्यम है जिससे व्यक्ति प्रभु-कृपा प्राप्त कर सकता है। यह प्रभु कृपा व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और कर्म बन्धनों से मुक्त करने में योग देती है। कर्म सिद्धान्त को सारांश रूप में इस प्रकार समझाया जा सकता है-

(1) मनुष्य का जन्म उसके भूतकालीन कर्मों के कारण होता है।

(2) मनुष्य ने मन, वचन और शरीर से जो कुछ कर्म किये हैं, चाहे अच्छे या बुरे, उनका फल उसे भोगना पड़ता है।

(3) जब तक मनुष्य कर्म करता रहता है, चाहे कर्म मन से, वाणी से या शरीर से हों, तब तक उसे पुनः पुनः जन्म धारण करना ही पड़ेगा।

(4) कर्म से स्वतंत्र हो जाने का तात्पर्य कर्म नहीं करना, निष्क्रिय हो जाना या तपश्चर्या करने से नहीं है। कर्म सिद्धान्त यह बताता है कि केवल सही कर्म ही किये जाने चाहिए अर्थात् स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए।

(5) मनुष्य जीवन में सुख-दुःख लाभ-हानि समृद्धता-निर्धनता तथा प्रसन्नता-अप्रसन्नता

सभी पूर्व जन्मों के कर्मों के परिणाम हैं। व्यक्ति को अपने भूतकालीन कर्मों का फल भोगते हुए स्वधर्म का पालन अवश्य करना चाहिए ताकि वह अपने भावी जीवन और कर्म को नियंत्रित कर सके।

(6) व्यक्ति को जन्म-मरण के बन्धन से उसी समय छुटकारा मिल सकता है जब वह मोक्ष प्राप्त कर ले अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाये। व्यक्ति ऐसी स्थिति में तभी पहुँच सकता है, जबकि वह निष्काम कर्म करे, कर्म करते हुए फल की इच्छा न करे, स्वधर्म का पालन करे, विभिन्न कर्म करते हुए भी स्वय को कर्ता न माने, भक्ति का मार्ग अपनाये तथा मन, वचन और शरीर से सद्कर्म करे।

(7) कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को भाग्यवादी नहीं बनाता। यह तो वर्तमान जीवन को पूर्वजन्मों के कर्मों का फल मानकर व्यक्ति को स्वधर्म का पालन करने या दायित्व के निर्वाह की प्रेरणा देता है और साथ ही भावी जीवन को और अधिक उन्नत बनाने को प्रोत्साहित करता है। प्रभु ने बताया है कि दैव या भाग्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बाहर से हम पर लाद दी गयी हो, यह तो हमारे भूतकालीन कार्यों का संग्रहित प्रभाव है, हमारी ही क्रियाओं की प्रतिक्रिया है और इस प्रकार हमारे द्वारा ही निर्मित है।" यह कहा जा सकता है कि हमने स्वय ने ही अपने मौजूदा भाग्य को चुना है। कोई भी अन्य शक्ति नहीं बल्कि व्यक्ति स्वय ही अपने भविष्य को बना या बिगाड सकता है। अतः कर्म-सिद्धान्त में व्यक्ति को स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता माना गया है।

कर्म और भाग्य
(Karma and Fate)

कुछ लोग मानते हैं कि भारत में कर्म-सिद्धान्त भाग्यवाद (Fatalism) का आधार रहा है। महाभारत में धर्मव्याध के कथन से ज्ञात होता है कि जीवन में भाग्य या दैव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और मनुष्य को बिना किसी द्वेष के इसे स्वीकार करना चाहिए। आर्थर कीथ ने कर्म-सिद्धान्त को भाग्यवादी-सिद्धान्त माना है। मैकडानल का कथन है कि पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप व्यक्ति को एक ओर इस जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मानकर भाग्य पर सन्तोष करने की प्रेरणा मिलती है, वहीं दूसरी ओर इससे व्यक्ति की क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है और वह विरक्ति की ओर उन्मुख होता है। यह भी कहा जाता है कि कर्म सिद्धान्त व्यक्ति को निराशावादी बनाता है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य का कहीं कोई स्थान नहीं है। कर्म-सिद्धान्त पर व्यापक रूप से विचार करने पर उपर्युक्त विचार भ्रामक व अनुचित प्रतीत होते हैं। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार कभी-कभी यह कहा जाता है कि कर्म-सिद्धान्त मानव-स्वातन्त्र्य का विरोधी है, लेकिन इसका ठीक-ठीक विवेचन करने पर वास्तविकता कुछ और ही सामने आती है। कर्म-सिद्धान्त मानव-स्वातन्त्र्य का विरोधी नहीं है। वस्तुतः इस सिद्धान्त की आधारभूत प्रेरणा यह है कि कोई भी व्यक्ति कभी भी किसी भी समय अपने उत्थान के लिए प्रयास कर सकता है। भाग्य कर्म पर आधारित है न कि कर्म भाग्य पर। मानव प्रयास के बिना भाग्य निष्फल रहता है।

आगे उल्लेख मिलता है कि कोई भी व्यक्ति जो केवल भाग्य पर निर्भर रहता है और जिसमें प्रयास करने की इच्छा का अभाव पाया जाता है, कभी भी कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता, दूसरी ओर कर्म या प्रयत्न से प्रत्येक वस्तु प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार थोड़ी-सी अग्नि भी हवा के वेग से बहुत शक्तिशाली हो जाती है, उसी प्रकार व्यक्तिगत प्रयत्न से भाग्य प्रभावशाली बन जाता है। भाग्य में अपने आप में कोई शक्ति नहीं होती। जहाँ व्यक्ति के द्वारा प्रयत्न किया जाता है, वहीं भाग्य अपना प्रभाव दिखा पाता है। शुक्र नीति में बताया गया है कि मनुष्य के स्वयं के कर्म ही केवल उसके अच्छे या बुरे भाग्य का कारण है। याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लेख है कि जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना मानव प्रयास के भाग्य पूर्णता या सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। भाग्य हमारे ही किये हुए कर्मों की प्रतिक्रिया है। हमारे मौजूदा भाग्य के लिए हम स्वयं ही जिम्मेदार हैं। प्रभु के अनुसार तुम जो कुछ हो, उसके लिए स्वयं ही पूर्णतः जिम्मेदार हो, अतः कोई भी दूसरा यहाँ तक कि ईश्वर भी, जो कुछ कर चुके हो, उसे मिटाने में तुम्हारी सहायता नहीं करेगा। तुम स्वयं ही अपने भाग्य को बना-बिगाड सकते हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म के बिना भाग्य निष्फल रहता है, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भारतीय समाज में कर्म के सिद्धान्त ने लोगों को भाग्यवादी बनाने में योग अवश्य दिया। कर्म के सिद्धान्त में 'प्रारब्ध की धारणा' ने ही आगे चलकर 'भाग्य' का रूप ग्रहण कर लिया। ऐसा इस कारण सम्भव हो सका कि पूर्वजन्म के कर्मों पर वर्तमान में कोई नियन्त्रण नहीं है, अतः वह जो कुछ है, वह पूर्वजन्म के कर्मों को साधारणतः नहीं बदल सकता। इतना अवश्य है कि वह वर्तमान में सद्कर्मों के द्वारा अपने भावी जीवन को उन्नत बना सकता है। वास्तविकता यह है कि हिन्दू शास्त्रकारों ने भाग्य की तुलना में कर्म को प्रधानता दी है और मनुष्य को ही अपने भविष्य या भाग्य का निर्माता माना है।

कर्म के सिद्धान्त का महत्त्व
(Importance of Karma Theory)

कर्म सिद्धान्त निरन्तर कर्म करते रहने और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहा है। यह सिद्धान्त स्वधर्म की धारणा और इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति का वर्तमान जीवन-परिवार, जाति तथा वर्ण विशेष में जन्म, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सुख और दुख के संयोग का फल नहीं है, बल्कि उसी के पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन धर्म भी इसके समर्थक हैं, यद्यपि हिन्दू धर्म के अनेक पक्षों के ये कटु आलोचक भी रहे हैं। डॉ. राधाकृष्णन ने बताया है कि जीवन और आचरण में कोई भी सिद्धान्त इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि कर्म सिद्धान्त। इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर मैक्स वेबर ने यहाँ तक लिखा है कि कर्म के सिद्धान्त ने सारे संसार को एक तार्किक और नैतिक व्यवस्था में बदल दिया, यह सिद्धान्त सम्पूर्ण इतिहास में सबसे अधिक सन्तुलित ईश्वरीय विश्वास का प्रतिनिधित्व करता है। कर्म के सिद्धान्त की जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्ता इस प्रकार है-

(1) कर्म के सिद्धान्त ने नैतिकता के विकास में योग दिया है। इस सिद्धान्त ने व्यक्ति को दुष्कर्मों को त्याग कर सद्कर्म या पुण्यकर्म करने को प्रोत्साहित किया। व्यक्ति जानता है कि शुभ कर्मों का अच्छा फल और अशुभ कर्मों का बुरा फल मिलेगा। अतः इस सिद्धान्त ने व्यक्तियों को अच्छे कर्मों की ओर प्रेरित किया।

(2) कर्म के सिद्धान्त न व्यक्तियो का मानसिक सन्ताप प्रदान करन और सामाजिक व्यवस्था क प्रति निष्ठा बनाय रखन मे याग दिया है। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रत्यक व्यक्ति इस जीवन मे अपनी वर्तमान स्थिति स इसलिए सन्तुष्ट रहा है कि वह इस पूर्व जन्मों क कर्मों का फल मानता है। यह सन्ताप ही स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास में सहायक रहा है।

(3) इस सिद्धान्त ने व्यक्ति का कर्तव्य पथ पर सदैव आग बढन की प्ररणा प्रदान की है। यद्यपि व्यक्ति का अपन भूतकालीन कर्मों पर कोई नियत्रण नही है, लेकिन अपन स्वधर्म का पालन करत हुए, अपन नियत कर्त्तव्यों का पूर्ण करत हुए वह अपन भावी जीवन का समुन्नत अवश्य बना सकता है।

(4) कर्म क सिद्धान्त न समाज म सघर्षों का कम करन एव सामाजिक नियत्रण मे याग दिया है। सघर्ष उस समय अधिक हात हैं, जब व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति स असन्तुष्ट और प्रयत्न क बावजूद भी असफल रहता है। कर्म क सिद्धान्त ने अपनी वर्तमान स्थिति पा मौजूदा सुख-दु ख पा सफलता-असफलता क लिए व्यक्ति का स्वय का ही उत्तरदायी माना है क्योकि यह सब कुछ उसी क 'प्रारब्ध' कर्मों का फल है। इसी व्याख्या न व्यक्तियों का अपनी सामाजिक स्थिति स सन्तुष्ट रहन और किसी प्रकार का विराध या सघर्ष न करन का प्रात्साहित किया है।

(5) इस सिद्धान्त न सभी सामाजिक व्यवस्थाओ का सगठित बनाय रखन में सहायता प्रदान की है। चाह परिवार, वर्ग, आश्रम अथवा धर्म कुछ भी क्यो न हा, व्यक्ति का प्रत्यक स सम्बन्धित अपन दायित्व का निर्वाह करन की अपन नियत कर्त्तव्यों क पालन की बात कही गयी है। कर्म क सिद्धान्त न जीवन क सभी क्षत्रों का मार्ग प्रशस्त किया है ।

(6) कर्म का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज क कल्याण स सम्बन्धित है। यद्यपि यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी प्रतीत हाता है परन्तु वास्तव मे यह समष्टिवादी है। इस सिद्धान्त का आधार स्वधर्म का पालन सभी प्राणियो क प्रति समता का भाव और निष्काम कर्म है। इसी का ज्ञान कहा गया है। जब व्यक्ति निष्काम भाव स कर्म करता है, सभी का समान समझता है और अपने प्रत्यक दायित्व का निर्वाह करता है तो परापकार म वृद्धि हाती है, समाज का कल्याण हाता है।

हिन्दुओं क अनुसार कर्म का सिद्धान्त जीवन का एक तार्किक दर्शन है। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को स्वय का अपन भाग्य का निर्माता मानता है।

कर्म सिद्धान्त के दोष

(1) धीर-धीर कर्मवाद क 'प्रारब्ध' स जुड जान क कारण इसमें व्यवहार रूप मे 'भाग्य' या दैव की धारणा अधिक प्रबल हा गयी। इस सिद्धान्त न सामाजिक असमानता में वृद्धि करन में योग दिया है।

(2) कुछ लागों का मानना है कि कर्मवाद व्यक्ति का निष्क्रिय बनाता है। जब सब कुछ पूर्व जन्म के कर्मों, प्रारब्ध या भाग्य पर आधारित है तो इस जीवन में व्यक्ति के लिए कार्य हेतु

तात्कालिक प्रेरणा क्या है? यदि इस जीवन में किये गये कर्मों का फल आगामी जीवन में मिलेगा तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति के प्रयत्नों में शिथिलता का आ जाना सम्भव है।

(3) इसमें पारलौकिक जीवन को लौकिक जीवन की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। अच्छे कर्मों के द्वारा व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति का प्रलोभन दिया गया। परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति अपने आध्यात्मिक कल्याण में लग गया और सांसारिक दायित्वों के प्रति उदासीन हो गया।

(4) कुछ लोगों की मान्यता है कि वर्ण-व्यवस्था के औचित्य को सिद्ध करने के उद्देश्य से कर्मवाद को प्रोत्साहन दिया गया। इस सिद्धान्त के आधार पर एक वर्ण-विशेष के लोगों को प्राप्त विशेषाधिकारों और विभिन्न सुविधाओं को उचित ठहराया गया।

(5) आलोचकों का कहना है कि भारतवर्ष के अधिकांश लोगों के पिछड़ेपन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण कर्मवाद है। इसने सामाजिक असमानताओं को उचित ठहराया और निम्न वर्ग के लोगों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं दिया। उनकी वर्तमान सामाजिक स्थिति की व्याख्या प्रारब्ध या भाग्य के रूप में की गयी।

प्रश्न

1. कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. "कर्म भाग्य नहीं है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. कर्म के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए एवं भारतीय जीवन क्रम में इसका महत्त्व बताइए।
4. कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए एवं इसके सामाजिक प्रकार्य की विवेचना कीजिए,
5. कर्म तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध पर एक लेख लिखिए।



8

पुरुषार्थ

(Purushartha : Man and his duties)

पुरुषार्थ के सिद्धान्त ने व्यक्ति और समूह के बीच सम्बन्धों को सन्तुलित करने में अपूर्व योग दिया है। हिन्दू जीवन-दर्शन व्यक्ति को केवल स्वयं के या अपने परिवार के लिये ही सब कुछ करने की प्रेरणा नही देता। यहाँ व्यक्ति को त्यागमय भोग की महत्ता को समझाने और उसे जीवन में उतारने के लिये प्रोत्साहित किया गया है। पुरुषार्थों के रूप में व्यक्ति के विभिन्न कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। पुरुष में चार बातें प्रधानत: पाई जाती हैं—शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। इन सबसे मिलकर जो कुछ बनता है, वही पुरुष कहलाता है। पुरुष के द्वारा इन सभी की सन्तुष्टि के लिये जो प्रयत्न या उद्यम किया जाता है, उसी का नाम पुरुषार्थ है। शरीर के लिए भोजन, वस्त्र तथा अनेक अन्य भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता पडती है जिनकी पूर्ति के लिये व्यक्ति 'अर्थ' का उपार्जन करता है। इस हेतु वह जो कुछ प्रयत्न करता है, वही 'अर्थ' के रूप में एक पुरुषार्थ है। मन विभिन्न प्रकार की इच्छाओं का केन्द्र है और इनकी पूर्ति का प्रयत्न व्यक्ति अपने जीवन में करता है। इन इच्छाओं की पूर्ति जीवन का एक लक्ष्य अर्थात् पुरुषार्थ माना गया है जिसे 'काम' की सज्ञा दी गई है।

बुद्धि में तार्किकता या निर्णय-शक्ति की प्रधानता पाई जाती है। व्यक्ति अर्थ और काम का सन्तुलित रूप से उपभोग करे एव पूर्णत. इन्ही के वशीभूत नही हो जाय, इस हेतु व्यक्ति पर धर्म का नियत्रण भी आवश्यक है। धर्म व्यक्ति को वह विवेक या तर्क-बुद्धि प्रदान करता है जिसके आधार पर वह विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति एव दायित्वों के निर्वाह के लिये उचित तरीके से धन का उपार्जन एव उपयोग करता है। धर्म व्यक्ति का मार्ग-दर्शन करता है और उसे बतलाता है कि काम का महत्त्व समाज की निरन्तरता का बनाये रखने और व्यक्ति को मानसिक तनावों से मुक्त रखने की दृष्टि से है। यही कारण है कि 'धर्म' को एक प्रमुख पुरुषार्थ माना गया है। साथ ही आत्मा की तृप्ति के लिये मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर बढने के लिए प्रेरित किया गया है। उसे अपने आपको ईश्वर चिन्तन में लगाने, जीवन के सार-तत्त्व को समझने, निष्काम कर्म और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो अमरत्व को प्राप्त करने या अपने को परमात्मा में विलीन कर देने को कहा गया है। अत. हिन्दू जीवन व्यवस्था में 'मोक्ष' को एक पुरुषार्थ के रूप में महत्त्व दिया गया है।

पुरुषार्थ का अर्थ
(Meaning of Purushartha)

पुरुषार्थ का तात्पर्य उद्योग करने या प्रयत्न करने से है। इस सबंध में कहा गया है कि 'पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थ:', जिसका अर्थ है अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए उद्यम करना ही पुरुषार्थ है। यहाँ अभीष्ट का अर्थ मोक्ष-प्राप्ति स है। अत मोक्ष जीवन का लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ या माध्यम हैं। लगातार प्रयत्न करते रहना और अपने लक्ष्य की ओर आगे बढते जाना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की धारणा में जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों या

दायित्वों का बोध मिलता है। उपनिषदों, गीता तथा स्मृतियों में जीवन के चार आधारभूत कर्त्तव्यों के रूप में 'पुरुषार्थ' का उल्लेख मिलता है जिन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाम दिया गया है। इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करके ही व्यक्ति जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है।

डॉ. कापड़िया ने बतलाया है कि 'मोक्ष' जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसका तात्पर्य है कि मानव की वास्तविक प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको अभिव्यक्त करना और इसके द्वारा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करना है। 'अर्थ' मानव में प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को बतलाता है, धन अर्जित और संग्रहीत करने तथा उसके उपयोग की प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। हिन्दू विचारकों ने धन को भी जीवन में एक पुरुषार्थ के रूप में स्थान देकर इसे उचित मानवीय आकाँक्षा माना है। 'काम' मानव के भावुक जीवन और उसके सहज स्वभाव से संबंधित है। काम का तात्पर्य व्यक्ति के केवल मूल-प्रवृत्ति संबंधी जीवन से नहीं है, इसका अर्थ साथ ही उद्वेगपूर्ण और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। मानव की सौन्दर्यात्मक भावना की अभिव्यक्ति सुन्दर एवं उत्कृष्ट वस्तु के निर्माण और उसकी प्रशंसा द्वारा होती है। जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है। अर्थ और काम को व्यक्ति के लिये वाछनीय या अभीष्ट मानकर, हिन्दू विचारकों ने बतलाया है कि मानव की आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति केवल तभी होती है जब उसका जीवन आर्थिक दरिद्रता या उद्वेगात्मक अतृप्ति से ग्रसित न हो। 'धर्म' यह जानता है कि काम और अर्थ साधन है, न कि साध्य। ऐसा वह जीवन जो इनकी अनियंत्रित सन्तुष्टि में अपने आपको लगा देता है, अवांछनीय तथा घातक है। अतः यह आवश्यक है कि जीवन का निर्देशन आध्यात्मिक अनुभूति के आदर्श से होना चाहिए, और धर्म को यही करने की आवश्यकता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओं और आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करना है।[1]

पुरुषार्थ व्यक्ति को उसके चार मौलिक कर्त्तव्यों का बोध कराते हैं। डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि वर्णों और आश्रमों के धर्मों और उत्तरदायित्वों की पूर्ति मनुष्य द्वारा चार पुरुषार्थों के आकलन पर निर्भर करती है। भारतीय दृष्टि से जीवन के मूल्यों को चार पुरुषार्थों में बाँट दिया गया है। गृहस्थ जीवन के उद्देश्य-अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के आधीन रखा गया है। इसमें मोक्ष ही अन्तिम ध्येय है, उसी में जीवन के सर्वोच्च और शाश्वत आदर्श की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जीवन के सभी मूल्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय होता है।[2] स्पष्ट है कि पुरुषार्थ का तात्पर्य जीवन के चार प्रमुख लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उद्यम या प्रयत्न करने से है।

पुरुषार्थ के प्रकार
(Types of Purushartha)

पुरुषार्थ के सिद्धान्त के अनुसार चार पुरुषार्थ (जीवन के लक्ष्य)— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं जिनमें से प्रत्येक का यहाँ पृथक् से वर्णन किया जा रहा है।

1. धर्म (Dharma)

धर्म का एक प्रमुख एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ माना गया है। धर्म व्यक्ति को कर्त्तव्य पथ पर आगे बढ़ने और अपने दायित्वों को निभाने की प्रेरणा देता है। धर्म का तात्पर्य

1 K.M. Kapadia : Marriage and Family in India p.25-27

2 डॉ. राधाकमल मुकर्जी : भारत समाज विन्यास, पृ. 45

भाग्य, अन्ध-विश्वास या रुढिवादिता' से नही है। धर्म वही है जिसे धारण किया जा सके, जिसे जीवन मे उतारा जा सके या जिसके अनुरूप आचरण किया जा सके। यहाँ पुरुषार्थ के रूप में धर्म के सामाजिक पक्ष पर जोर दिया गया है । प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति को धर्म के अनुरुप आचरण करने का कहा गया है। धर्म आचरण संहिता के रूप मे व्यक्ति को सही मार्ग पर ले जाता है। धर्म अनेक गुण जैसे आत्म-संयम, संतोष दया सहानुभूति, उदारता, क्षमा, अहिंसा, अक्रोध तथा कर्त्तव्य पालन आदि के ग्रहण की प्रेरणा देता है।

धर्म का तात्पर्य उन सभी कर्त्तव्यों के पालन से है जो व्यक्ति के साथ साथ समाज की प्रगति मे भी योग देते हैं। श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि धर्म वह है जो सभी प्राणियो की रक्षा करता है और उन सभी का धारण करता है। धर्म का तात्पर्य सामान्य धर्म एव स्वधर्म दोनो के पालन से है। व्यक्ति को अपने वर्ण-धर्म के पालन का आदेश दिया गया है। वह पंच महायज्ञों के द्वारा पाँच प्रकार के ऋणो से उऋण होता है, माता पिता, देवी-देवता ऋषि-मुनियों, अतिथियों तथा प्राणी-मात्र के प्रति अपने दायित्व को निभाता है त्यागमय भोग की ओर अग्रसर होता है। श्रीकृष्ण ने गीता में इस पुरुषार्थ के सबध मे कहा है कि जो व्यक्ति प्रत्येक कार्य का फल चाहते हैं एव जिनका यह विचार है कि स्वर्ग से बढकर अन्य कोई दूसरी वस्तु नही है वे अविवेकी होने के साथ ही भोग और ऐश्वर्य में ही आसक्ति रखते हैं उनके अन्त करण मे कोई निश्चयात्मक बुद्धि नही होती। इस पुरुषार्थ की प्राप्ति वही व्यक्ति कर पाता है जो कर्म करने मे विश्वास करता है, उससे प्राप्त होने वाले फल मे नही। डॉ पी वी काणे ने बतलाया है कि धर्म का सम्बन्ध किसी विशेष ईश्वरीय मत से नही है बल्कि यह तो आचरण की संहिता है जो व्यक्तियों के क्रिया कलापों को नियन्त्रित करती है। इसका लक्ष्य व्यक्ति को इस योग्य बनाता है कि वह मानव अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त कर ले। वास्तव मे जिस कार्य के करने से इस लोक मे उन्नति और परलोक मे कल्याण हो वही धर्म है। इस प्रकार 'धर्म' को एक पुरुषार्थ मानकर धर्मानुकूल आचरण करने की व्यक्ति से अपेक्षा की गई है ताकि उसका यह लोक और परलोक दोनो ही उन्नत हो।

2. अर्थ (Artha)

'अर्थ' का तात्पर्य केवल धन अथवा सम्पत्ति से नही है बल्कि उन साधनों से है जिनकी सहायता से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते एव अपने अस्तित्व को बनाये रखते हैं। यहाँ अर्थ को साध्य नही मानकर एक साधन मात्र माना गया है। अर्थ का शाब्दिक तात्पर्य है — वस्तु, चीज, पदार्थ। इस अवधारणा के अन्तर्गत वे समस्त स्पर्शीय या भौतिक वस्तुएँ आ जाती हैं जिन्हे हम अपने अधिकार मे रख सकते है जिनसे सुख प्राप्त कर सकते हैं तथा जो हम खो भी सकते है और जो परिवार के भरण-पोषण समृद्धि तथा धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए अर्थात् जीवन के दायित्वों को उचित तरीके से निभाने के लिए आवश्यक हैं। डॉ प्रभु का कथन है कि अर्थ का तात्पर्य उन सभी साधनो से है जो सासारिक समृद्धि जैसे धन या शक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं।[1] डॉ कापडिया के अनुसार 'अर्थ' मानव के प्राप्त करने के सहज-स्वभाव की ओर संकेत करता है और उसकी धन के संग्रह उसके उपभोग से प्राप्त होने वाले सुखो तथा अन्य

1 P H Prabhu, Hindu Social Organization p 79 80

तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियो को बतलाता है।[1] वैदिक साहित्य के आधार पर गोखले ने बताया कि 'अर्थ' के अन्तर्गत वे सभी भौतिक वस्तुएँ आ जाती हैं जो परिवार बसाने, गृहस्थी चलाने एवं विभिन्न धार्मिक दायित्वों का निभाने के लिए आवश्यक हैं। इसमें पशु, भाजन, मकान तथा धन- धान्य आदि को सम्मिलित किया गया है।[2] ऋग्वेद में आर्यों ने इन्द्र तथा सोम देवताओं से प्रार्थना की है कि हमारे धन में वृद्धि हो, विविध प्रकार के भौतिक पदार्थ हमें प्राप्त हों तथा हम स्थायी समृद्धि के स्वामी हों। यहाँ 'अर्थ' पुरुषार्थ का प्रयोग समृद्धि और शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न के रूप में किया गया है। यह कहा जा सकता है कि 'अर्थ' उन सभी भौतिक पदार्थों एवं साधनों की प्राप्ति से सम्बन्धित है जिनके द्वारा मनुष्य अपना तथा परिवार का भरण-पोषण करता है तथा मानव मात्र ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र के प्रति अपने दायित्वों का निभाता है।

अर्थ के महत्त्व के सम्बन्ध मे महाभारत मे कहा गया है कि धर्म का पालन पूर्णत अर्थ पर आधारित है तथा जिसके पास अर्थ नहीं है, वह अपने दायित्वों को ठीक से नहीं निभा सकता। कौटिल्य का मत है कि सभी प्रकार के दान एवं इच्छा-पूर्ति अर्थ पर ही आश्रित हैं। निर्धनता को एक पापपूर्ण स्थिति माना गया है। धन के अभाव में मनुष्य धार्मिक कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता पंच महायज्ञों को सम्पन्न कर पाँच प्रकार के ऋणों से मुक्त नहीं हो सकता। पंचतंत्र में बताया गया है कि दरिद्रता एक अभिशाप है जो मृत्यु से भी बढ़कर है। धन के अभाव को प्रत्येक बुराई की जड़ माना गया है। अत जीवन में 'अर्थ' का काफी महत्त्व है। इसके बिना व्यक्ति न तो भली-भाँति अपने बालकों का भरण-पोषण कर सकता है और न ही पूरी तरह परिवार के लिए सुख-सुविधाएँ जुटा सकता है, न यज्ञ, दान-दक्षिणा एवं अतिथियों का सत्कार कर सकता है। यही कारण है कि उद्यम द्वारा गृहस्थ आश्रम में अर्थ का अर्जित करने पर जोर दिया गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्थ का जीवन में काफी महत्त्व है, परन्तु साथ ही यहाँ इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि उचित साधनों से धन कमाया जाए। ईमानदारी से कमाया हुआ अर्थ (धन) ही व्यक्ति के सुख और सन्तोष में वृद्धि करता है। धन का उपभोग भी इसी प्रकार किया जाना चाहिए कि इससे किसी को कष्ट न हो तथा निन्दनीय कार्यों को किसी भी रूप में बढ़ावा न मिले। हिन्दू शास्त्रकारों ने बताया है कि प्रत्येक को धर्म के अनुसार न्यायोचित ढंग से अर्थोपार्जन और उसका सदुपयोग करना चाहिए। डॉ राधाकृष्णन का कथन है कि अर्थ एवं सुख की प्राप्ति का प्रयत्न मनुष्य की उचित इच्छा है, परन्तु यदि वह मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक है तो उसे उचित तरीके से ही अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिए। अत जोर इस बात पर दिया गया है कि व्यक्ति सद्उपायों से ही धन कमाये और सद्कर्मों मे ही उसे खर्च करे। साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति को धन कमाने या भौतिक सुख- सुविधाओं को प्राप्त करने के प्रयत्न में अपने आपको पूर्णत नहीं लगा देना है उसे इसे ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं समझ लेना चाहिए। यही कारण है कि यहाँ अर्थ को धर्म के अधीन माना गया है और केवल जीवन के एक स्तर अर्थात् गृहस्थ आश्रम मे ही इसे अर्जित करने का आदेश दिया गया है।

3. काम (Kama)

हिन्दू विचारकों ने 'काम' को भी जीवन का एक लक्ष्य माना है। काम का तात्पर्य केवल

1 K M Kapadia op cit p 25
2 B G Gokhale Indian Thought Through the Ages p 51

भोग वासना ही नही है बल्कि सभी प्रकार की इच्छाओं या कामनाओं से है। 'काम' का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है, एक संकुचित अर्थ में और दूसरा व्यापक अर्थ में। संकुचित अर्थ में काम का तात्पर्य यौनिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि या यौन इच्छाओं की पूर्ति से है। व्यापक अर्थ में काम के अन्तर्गत मानव की सभी प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ तथा कामनाएँ आ जाती हैं। कर्वे के अनुसार सीमित अर्थ में काम का तात्पर्य यौन-सबंधी इच्छा से है जबकि व्यापक रूप में इसका तात्पर्य व्यक्ति की इच्छा तथा आकांक्षा से है। इस दृष्टि से व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है या चाहने की जो कुछ अभिलाषा उसके भीतर है, वही काम है। काम के अन्तर्गत एक प्राणिशास्त्रीय और सांस्कृतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की सभी इच्छाएँ, कामनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं।

काम जीवन के आनन्द को व्यक्त करता है और यह आनन्द शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्तरों पर प्राप्त किया जाता है। यौन सम्बन्ध के द्वारा जहाँ व्यक्ति को शारीरिक स्तर पर आनन्द प्राप्त होता है, वहाँ कलात्मक जीवन के माध्यम से मानसिक स्तर पर सुख या आनन्द की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि 'काम' पुरुषार्थ में केवल यौन-तृप्ति ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के आनन्द का उपभोग भी आता है।

काम के दो पहलू हैं— एक पहलू मानव के यौन-सबधी जीवन को और दूसरा उसके सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन को व्यक्त करता है। प्रथम पहलू पर विचार करने पर हम पाते हैं कि मानव में यौन-सबधी इच्छा का पाया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि यह उसकी मूल प्रवृत्ति के अन्तर्गत आती है। परन्तु वह यौन सुख को ही सब कुछ समझ बैठे, इसकी आज्ञा उसे नहीं दी गई है। यही कारण है कि हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यों में 'रति' को सबसे निम्न स्थान दिया गया है। यहाँ धर्म और सन्तानोत्पत्ति को रति की तुलना में प्रमुखता दी गई है। यौन-सबध का महत्त्व केवल इस दृष्टि से नहीं है कि इससे शरीर-सुख मिलता है, बल्कि इस दृष्टि से भी है कि वह उत्तम सन्तानों के जन्म का माध्यम है। काम का दूसरा पहलू मानव के सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन से सबंधित है। मनुष्य अपने सौन्दर्यात्मक या उद्वेगात्मक जीवन को कला के माध्यम से व्यक्त करता है। साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि व्यक्ति के इसी जीवन की अभिव्यक्ति है। वह जो कुछ सुन्दर है उसको देखता है, उसकी प्रशसा करता है और आनन्द का अनुभव करता है। वह केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि अपनी रचनात्मक कल्पना की सहायता से सौन्दर्य को मूर्त रूप देने का भी प्रयत्न करता है। वह कला का सृजन करता है, चित्र बनाता है, मूर्ति का निर्माण करता है, गीत गाता है, नृत्य करता है और आनन्द-विभोर हो उठता है, अपने आपको भूल जाता है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिये मानव की सौन्दर्य-वृद्धि एव सौन्दर्य-सृष्टि की प्रवृत्ति को विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करना आवश्यक है।

काम का व्यक्ति और समूह के जीवन में विशेष महत्त्व है। काम व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति कर उसे मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। काम के आधार पर पति-पत्नी में पारस्परिक प्रेम पनपता है, सन्तानोत्पत्ति होती है और व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त होता है, अपने माता-पिता को मोक्ष का अधिकारी बनाता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा व्यक्ति अमरता को प्राप्त करता है और समूह अथवा समाज की निरन्तरता को बनाये रखने में योग देता है। काम का धार्मिक दृष्टि से यह महत्त्व है कि व्यक्ति काम-इच्छाओं को पूर्ण कर विरक्ति की ओर आगे बढ़ता

है तथा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है। अतृप्त इच्छाओं को लेकर व्यक्ति वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ के मार्ग पर उचित रीति से नहीं बढ़ पाता है। काम पुरुषार्थ का इस दृष्टि से भी महत्त्व है कि व्यक्ति को इसके माध्यम से अपनी सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त कर अपने व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास का अवसर मिलता है।

4. मोक्ष (Moksha)

मोक्ष को जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ माना गया है। बौद्ध साहित्य में इसे 'निर्वाण' और जैन साहित्य में 'कैवल्य' के नाम से पुकारा गया है। डॉ. कापडिया के अनुसार इसका (मोक्ष का) अर्थ यह है कि मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का लक्ष्य इसे प्रकट करना और इसके ज्ञान और आनन्द को प्राप्त करना है। हिन्दू विचारक इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि जीवन में अर्थ और काम का महत्त्व है। परन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि इन्हीं में अपने आपको जकड़े रखना भी उचित नहीं है। अतः सांसारिक सुख-प्राप्ति के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति भी आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य आत्म-ज्ञान प्राप्त कर ले, ईश्वर-चिन्तन में अपने को पूर्णतः लगा दे और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर ले। मोक्ष का तात्पर्य है हृदय की अज्ञानता का नाश। मीमांसा में स्वर्ग-प्राप्ति को ही मोक्ष माना गया है। 'बौद्ध दर्शन' में मोक्ष को जीवन मुक्ति और विदेह-मुक्ति के रूप में व्यक्त किया गया है। जीवन-मुक्ति का तात्पर्य है संसार में रहते हुए संसार के कष्टों से छुटकारा तथा तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति। विदेह-मुक्ति का अर्थ है जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होना अर्थात् मरने के पश्चात् पुनः संसार में लौटकर नहीं आना।

शिव गीता के अनुसार मोक्ष किसी स्थान पर रखी कोई वस्तु नहीं है और न ही विभिन्न गाँवों में घूम कर इसे प्राप्त किया जा सकता है। हृदय की अज्ञानता-ग्रन्थि के नाश होने अर्थात् व्यक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेने को ही मोक्ष कहा गया है। 'गीता' में बताया गया है कि बाह्य सुख-दुःख की आशा न कर जो अन्तःकरण में ही सुखी हो जाय, जो अपने आप में ही आनन्द प्राप्त करने लग जाय और जिसे अन्तः प्रकाश मिल जाय, वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है और उस ही ब्रह्म में मिल जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जिन ऋषियों की द्वन्द्व-बुद्धि समाप्त हो गयी है, अर्थात् जो यह जान चुके हैं कि सभी स्थानों में एक ही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो चुके हैं तथा जो आत्म-संयम से सभी प्राणियों का हित करने में लगे रहते हैं, उन्हें निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त होता है।[1]

अद्वैत वेदान्तियों का मानना है कि आत्मा स्वयं ही परब्रह्म स्वरूप है और जब आत्मा अपने इस स्वरूप को पहचान लेती है, तब यही स्थिति उसकी मुक्ति या मोक्ष है। इसी कारण अद्वैतवादियों का कहना है कि अपनी आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, नित्य एवं सर्वव्यापी स्वरूप को पहचान कर उसी में लीन हो जाना ज्ञानवान व्यक्ति का इस संसार में प्रथम कर्त्तव्य है। स्पष्ट है कि जब व्यक्ति संसार में सुख, दुःखों का उपभोग करके यह अनुभव कर लेता है कि वे सब अस्थायी और अपूर्ण हैं तो वह अपने आपको सांसारिक बन्धनों से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। वह यह अनुभव करता है कि व्यक्ति को पुनः पुनः जन्म लेकर इस संसार में आना पड़ता है और अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः वह जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करता है और इस

1. गीता 5/25-26

प्रयत्न में सफलता ही वास्तविक मोक्ष है। अन्य शब्दों में आवागमन के बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग एवं भक्ति-मार्ग का वर्णन किया गया है। (अ) कर्म-मार्ग के अन्तर्गत बताया गया है कि जो व्यक्ति अपने निर्धारित कर्मों का ठीक प्रकार से पालन और धर्मानुकूल आचरण करता है वही मोक्ष प्राप्त करता है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को बताया है कि जो व्यक्ति बिना फल की इच्छा के अपने कर्मों को धर्मानुकूल रीति से करते रहते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। (ब) ज्ञान-मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विचारों के आधार पर परब्रह्म या ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप में अपने मन को स्थिर कर लेता है। वह सभी प्राणियों के प्रति सम भाव रखता है और सुख-दुःख, हानि-लाभ, जन्म-मरण आदि को समान समझता है। (स) भक्ति-मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति ईश्वर को साकार मानकर उसकी पूजा-आराधना, भजन-कीर्तन करता है, अपने को समर्पित कर देता है। प्रेम और भक्ति के द्वारा ईश्वर को पाने का प्रयत्न करता है। ईश्वर के लिए कहा गया है कि वह प्रेम और भक्ति के आगे स्वयं झुक जाता है। भक्ति-मार्ग पर चलने वाले को संसार त्याग कर कहीं जंगल में तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस मार्ग पर चलने वाले भगवान को ही माता-पिता, बन्धु, मित्र, सहायक और रक्षक के रूप में मानते हैं। स्पष्ट है कि जब व्यक्ति स्वधर्म का पालन करते हुए भगवान की शरण में चला जाता है और अपने को पूर्णतः समर्पित कर देता है तो वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक सुख-दुःख से अप्रभावित रहता है और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

पुरुषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्त्व
(Sociological Significance of Purushartha)

डॉ. कापड़िया के अनुसार आश्रम-व्यवस्था में पुरुषार्थ के सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। व्यक्ति के सम्पूर्ण दायित्वों को इस सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्त किया गया है।[1] डॉ. प्रभु ने पुरुषार्थ को आश्रम-व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक-नैतिक आधार माना है।[2] पुरुषार्थ को मनोवैज्ञानिक आधार इसलिए माना गया है कि व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति द्वारा मानसिक सन्तोष प्राप्त करता है और जीवन के उच्चतम आदर्श-मोक्ष प्राप्ति की ओर आगे बढ़ता है। पुरुषार्थ को नैतिक आधार मानने का कारण यह है कि यह व्यक्ति को मानवीय गुणों के विकास और धर्मानुकूल आचरण की प्रेरणा देता है, कर्त्तव्यों के पालन हेतु प्रोत्साहित करता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त हिन्दू विचारकों की भारतीय समाज को एक अनुपम देन है जो केवल भोगवाद की ओर व्यक्ति को प्रवृत्त नहीं करके उसे आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करती है। पुरुषार्थ-सिद्धान्त में जीवन के प्रति एक समन्वित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया है। यदि व्यक्ति केवल अर्थ और काम में ही डूबा रहे तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं होगा। महाभारत में बताया गया है कि आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिए समान रूप से स्वाभाविक हैं। यदि मनुष्यों और पशुओं में कुछ अन्तर है तो वह केवल धर्म का। जिस मनुष्य में धर्म नहीं है वह पशु के समान है।[3]

---

1. K.M. Kapadia, op. cit., p. 27
2. P.H. Prabhu, op. cit., p. 78
3. महाभारत, शान्ति पर्व 294/29

पुरुषार्थ का सिद्धान्त मानव की पशु प्रवृत्तियों का समाजीकरण करता है, उसकी आसुरी वृत्तियों को नियन्त्रित करता है। यह सिद्धान्त सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के बीच, इहलोक और परलोक के बीच अर्थात् स्वार्थ और परमार्थ के बीच एक सुन्दर समन्वय स्थापित करता है।

पुरुषार्थ के सिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्त्व इसी दृष्टि से है कि यह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति और समूह के बीच संबंधों का सन्तुलित करता है। यदि व्यक्ति अपने को ही सब कुछ मान ले और अन्य व्यक्तियों या समाज की बिल्कुल चिन्ता न करे तो जन-कल्याण नहीं हो सकता, समाज प्रगति की ओर आगे नहीं बढ़ सकता। डॉ. प्रभु ने बताया है कि पुरुषार्थ व्यक्ति और साथ ही समूह दोनों से संबंधित है। पुरुषार्थ बतलाते हैं कि व्यक्ति और समूह के बीच किस प्रकार का संबंध होने चाहिए, वे व्यक्ति और समूह की क्रियाओं के बीच उचित संबंधों को परिभाषित करते हैं, वे व्यक्ति और समूह के बीच अनुचित संबंधों की ओर भी ध्यान दे जाते हैं ताकि व्यक्ति ऐसे संबंधों से बच सके। इस तरह, पुरुषार्थ व्यक्ति और समूह को नियन्त्रित करते हैं और साथ ही उनके अन्तर-सम्बन्धों को भी।

धर्म का एक पुरुषार्थ के रूप में इसी दृष्टि से महत्त्व है कि यह काम और अर्थ को नियन्त्रित करता है। काम और अर्थ ही जीवन के परम लक्ष्य नहीं हैं बल्कि धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं। काम और अर्थ के उचित मात्रा में ही उपभोग पर पुरुषार्थ-सिद्धान्त के अन्तर्गत जोर दिया गया है। धर्म एक पुरुषार्थ है जो व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों के पालन की प्रेरणा देता है, उसे गलत मार्ग पर जाने से रोकता है। यह अनुचित तरीके से धन कमाने या काम-इच्छाओं की पूर्ति करने पर नियन्त्रण लगाता है। सामाजिक दृष्टि से इस पुरुषार्थ का महत्त्व यह है कि यह सभी के कल्याण का आदर्श प्रस्तुत करता है। धर्म व्यक्ति को मानसिक संघर्षों से मुक्त करता है, उसे दायित्व बोध कराता है। विपदाओं के समय भी धैर्य बनाए रखने को प्रेरित करता है।

अर्थ का एक पुरुषार्थ के रूप में यही महत्त्व है कि यह व्यक्ति और समाज दोनों की सुख-समृद्धि की दृष्टि से आवश्यक है। यह पुरुषार्थ व्यक्ति को प्रयत्न या उद्यम करने के लिए प्रेरित करता है। व्यक्ति अर्थ के उपार्जन द्वारा ही स्वधर्म का पालन करता है, विभिन्न ऋणों से मुक्त होता है, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, सन्यासी और यहाँ तक कि पशु, पक्षियों की आवश्यकताओं तक की पूर्ति करता है। व्यक्ति के द्वारा उद्यम किए बिना समाज का आर्थिक विकास सम्भव नहीं है और आर्थिक विकास के अभाव में समाज शक्तिशाली बन नहीं सकता। यही कारण है कि गृहस्थी के लिए अर्थ को एक पुरुषार्थ के रूप में जीवन का एक लक्ष्य माना गया है। लेकिन अर्थ को धर्म के अधीन रखा गया है, ताकि इसका उपार्जन और उपभोग उचित रीति से ही हो। आज अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का एक मूल कारण अर्थ को अपने आप में एक लक्ष्य मानकर जीवन में बहुत अधिक महत्त्व देना है। धर्म के नियन्त्रण के शिथिल पड़ जाने से व्यक्ति धन कमाने या उसका उपभोग करने में उचित और अनुचित रीति का विवेक खो चुका है।

काम पुरुषार्थ, यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि तथा मानसिक तनाव को कम और स्नेह सम्बन्धों को दृढ़ करता है। काम इच्छाओं की पूर्ति से सन्तानोत्पत्ति होती है, वंश-परम्परा चलती रहती है, समाज की निरन्तरता बनी रहती है और सांस्कृतिक परम्पराएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। काम के द्वारा ही सन्तानों को जन्म देकर व्यक्ति पितृ-ऋण से उऋण होता है और धार्मिक दायित्वों को निभा पाता है। काम व्यक्ति की कलात्मक या सृजनात्मक प्रवृत्तियों का विकास का

अवसर प्रदान करता है। काम व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। काम पुरुषार्थ का यद्यपि जीवन में काफी महत्त्व है, परन्तु इसे धर्म के अधीन रखा गया है।

मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और धर्म, अर्थ तथा काम का इसी लक्ष्य की पूर्ति के साधन। व्यक्ति जीवन में अर्थ और काम का उपभोग करता है लेकिन इसके बाद भी उसे निराशा, कष्ट, दुःख, चिन्ता एवं विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इनसे विचलित हुए बिना कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ते रहने की प्रेरणा मोक्ष-पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त होती है। यहाँ मोक्ष की धारणा पर जोर अवश्य दिया गया है, परन्तु इस सम्बन्ध में व्यक्ति को अपने दायित्वों के प्रति उदासीन होने को नहीं कहा गया है। इस पुरुषार्थ ने व्यक्तियों का मानवीय गुणों के विकास, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति और परब्रह्म में अपने को लीन करने की प्रेरणा दी है।

मनु ने लिखा है कि मानवता का कल्याण तीनों पुरुषार्थ (त्रिवर्ग) अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के सन्तुलित समन्वय में है। आपने बताया है कि कुछ कहते हैं कि मनुष्य का हित धर्म और अर्थ में है, कुछ कहते हैं कि यह केवल धर्म में है, जबकि दूसरे इस बात पर जोर देते हैं कि इस पृथ्वी पर केवल अर्थ ही मनुष्य का प्रमुख हित है। लेकिन सही स्थिति यह है कि मनुष्य का हित या कल्याण इन तीनों के सन्तुलित समन्वय में है। अतः सभी पुरुषार्थों का अपना-अपना महत्त्व है और ये परस्पर सम्बन्धित हैं। किसी एक पुरुषार्थ पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर जीवन का सन्तुलित विकास नहीं किया जा सकता। संसार में शायद ही अन्यत्र कहीं ऐसी व्यवस्था रही हो जहाँ सांसारिक और पारलौकिक जीवन में इतना व्यावहारिक समन्वय स्थापित किया गया हो जितना कि भारत में। पुरुषार्थ सिद्धान्तों के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के दायित्वों का इस प्रकार से निर्धारण किया गया है कि दोनों एक-दूसरे के विकास में सहायक हो सकें।

उपर्युक्त विवेचन से पुरुषार्थ सिद्धान्त का महत्त्व स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। वर्तमान समय में अर्थ और काम की ही प्रधानता है, धर्म तथा मोक्ष का जीवन के लक्ष्य के रूप में महत्त्व बहुत कम हो गया है।

प्रश्न

1. पुरुषार्थ की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. पुरुषार्थ क्या है? इसके समाजशास्त्रीय महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
3. पुरुषार्थ कितने प्रकार के हैं? प्रत्येक का संक्षेप में विवेचन कीजिये।
4. 'चारों पुरुषार्थों में सामाजिक दृष्टि से धर्म सबसे महत्त्वपूर्ण है।' सिद्ध कीजिए।
5. पुरुषार्थ की व्याख्या कीजिए। काम और अर्थ, धर्म से किस प्रकार सम्बन्धित हैं?
6. चारों पुरुषार्थों का सामाजिक महत्त्व बताइए।
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-
   (1) पुरुषार्थ।
   (2) मोक्ष की अवधारणा।
   (3) हिन्दू समाज और पुरुषार्थ।

□□□

9
संस्कार
(Sanskars)

हिन्दुओं में धार्मिक जीवन के लिए परिशुद्धता एवं पवित्रता को आवश्यक माना गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न संस्कारों की व्यवस्था की गई है। ये संस्कार ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति एक परिष्कृत तथा समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन पाता है। संस्कार वे विधियाँ या धार्मिक अनुष्ठान हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के 'अहम्' का समाजीकरण एवं व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। संस्कार में यद्यपि कुछ अनुष्ठान तथा कर्मकाण्ड सम्मिलित होते हैं, परन्तु इसका अर्थ इन्हें सम्पन्न करने मात्र से नहीं है। संस्कार वास्तव में व्यक्ति की आत्म-शुद्धि एवं उसे सामाजिक दायित्वों से भली-भाँति परिचित कराने से सबंधित हैं। इस दृष्टि से संस्कार एक धार्मिक-सामाजिक अवधारणा है जो व्यक्ति को अपने समाज के सांस्कृतिक जीवन का बोध कराती है। संस्कारों के माध्यम से ही समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप व्यक्ति का समाजीकरण किया जाता है।

संस्कार का अर्थ (Meaning of Sanskars)

संस्कार शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि,संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप, स्मरण शक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, शुद्धि-क्रिया, धार्मिक-विधि-विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता आदि अर्थों में हुआ है।

डॉ. पाण्डेय ने लिखा है कि संस्कार का अर्थ व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत एवं शुद्ध करने एवं उसके प्रशिक्षण और समाजीकरण से सबंधित है। हिन्दू संस्कारों में अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम एवं अनुष्ठान भी सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही नहीं हो कर, व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि एवं पूर्णता भी है। जैमिनी के सूत्रों में संस्कार शब्द उस क्रिया के लिए काम में लिया गया है जिसके करने से कोई पदार्थ उपयोगितापूर्ण बन जाता है। तन्भवार्तिक के अनुसार संस्कार वे क्रियाएँ एवं रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। इस योग्यता के दो प्रकार बताये गये हैं-प्रथम, पापपूर्ण क्रियाओं को नष्ट करने की योग्यता, तथा द्वितीय नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता में वृद्धि करना।

संस्कार के अर्थ के बारे में वीर मित्रोदय ने बताया है— यह एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्र सम्मत क्रियाओं के सम्पादन से उत्पन्न होती है। इस योग्यता के दो प्रकार बताये गये हैं-प्रथम जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न क्रियाओं के योग्य होता जाता है एवं द्वितीय, जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न दोषों से मुक्त हो जाता है। स्पष्ट है कि संस्कार वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्तियों को समाज के मूल्यों , प्रतिमानों एवं आदर्शों से परिचित कराया जाता तथा उनके अनुरूप व्यवहार करने की दृष्टि से ही उन्हें संस्कारित किया जाता है।

स्पष्ट है कि संस्कार के अन्तर्गत व धार्मिक विधि-विधान, अनुष्ठान या कृत्य आते है, जिनके करने से कोई व्यक्ति या पदार्थ उपयोगितापूर्ण बन जाता है। अन्य शब्दों में ये व्यक्ति के परिष्कार, शुद्धि एवं प्रशिक्षण से संबंधित हैं। ये संस्कार व्यक्ति के क्रमिक विकास प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं और उसे सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी बनाने मे योग देते हैं।

संस्कारो का उद्देश्य (Objectives of Sanskars)

संस्कारों के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है—

(1) अशुभ शक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति को बचाना संस्कारों का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है। हिन्दू लोग यह मानते रहे हैं कि व्यक्ति अपने चारों ओर अतिमानवीय शक्तियों से घिरे हुए है। ये शक्तियाँ व्यक्तियों का अहित और हित दोनों ही कर सकती हैं। इन शक्तियों के हानिकारक या अशुभ प्रभाव से व्यक्तियों की रक्षा करने हेतु भूतों एवं पिशाचों को भोजन एवं बलि देने की रीति पाई जाती रही है। डॉ. पाण्डेय ने लिखा है कि अवांछित प्रभावों के निराकरण के लिए हिन्दुओं ने अपने संस्कारों के अन्तर्गत अनेक साधनों का अवलम्बन किया। उनमें प्रथम स्थान आराधना का था। भूतों, पिशाचों और अन्य अशुभ व्यक्तियों की स्तुति की जाती, उन्हें बलि व भोजन दिया जाता था, जिससे वे बलि से तृप्त होकर बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए लौट जाएँ।

(2) संस्कारों का एक उद्देश्य संस्कार्य व्यक्ति के हित के लिये अभीष्ट प्रभावों को आमन्त्रित एवं आकर्षित करना रहा है। यही कारण है कि विभिन्न संस्कारों के अन्तर्गत देवताओं की पूजा एवं आराधना की जाती है। उदाहरण के रूप में गर्भाधान संस्कार के अवसर पर विष्णु की आराधना की जाती है ताकि विवाह के पश्चात् नव-दम्पति सन्तानोत्पादन द्वारा सृष्टि की रचना में योग दे सके। विष्णु को सृष्टि का रक्षक माना गया है। इसी कारण गर्भाधान संस्कार के अवसर पर उनकी विशेष रूप से अर्चना की जाती है।

(3) संस्कारों का भौतिक उद्देश्य सांसारिक समृद्धि प्राप्त करना रहा है। विभिन्न संस्कारों के माध्यम से सुख-समृद्धि, धन-धान्य, सम्पत्ति, पशु, दीर्घ जीवन, शक्ति एवं बुद्धि की प्राप्ति की इच्छा की जाती रही है। हिन्दुओं की यह धारणा रही है कि आराधना एवं प्रार्थना के द्वारा देवता व्यक्तियों की इच्छाओं तथा आकांक्षाओं को समझ लेते हैं और विभिन्न रूपों में उनकी पूर्ति करते हैं।

(4) संस्कारों का एक उद्देश्य व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करना रहा है। व्यक्ति को समय समय पर हर्ष, आनन्द एवं दुख होता रहता है और इन्हें व्यक्त करने हेतु विविध संस्कारों की व्यवस्था की गई है। उदाहरण के रूप में डॉ. पाण्डेय का कथन है कि सन्तान की प्राप्ति लुभाने वाली वस्तु थी, अतः उसके जन्म के समय पिता को असीम आनन्द होना स्वाभाविक था। विवाह मनुष्य जीवन के सबसे बड़े उत्सव का अवसर था। शिशु के प्रगतिशील जीवन का प्रत्येक चरण परिवार को सन्तोष और हर्ष से पूर्णतः भर देता था। मृत्यु शोक का अवसर था जो चारों ओर करुणा का दृश्य उपस्थित कर देता था। वह अपने हर्ष के भावों को साज-सजावट, संगीत, भोज तथा उपहारों के रूप में व्यक्त करता और उसके शोक की अभिव्यक्ति अन्त्येष्टि-कृत्य में होती थी।

(5) संस्कारों का सांस्कृतिक प्रयोजन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। हमारे विधि-निर्माताओं ने संस्कारों में धर्म एवं पवित्रता का समावेश करने का प्रयत्न किया है। शरीर को आत्मा के निवास हेतु उपयुक्त माध्यम बनाने की दृष्टि से शरीर-संस्कार आवश्यक माने जाते थे। मनु के अनुसार स्वाध्याय, व्रत, होम, देव-ऋषियों के तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति इच्छा एवं पंच महायज्ञ के अनुष्ठान से यह शरीर ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य हो जाता है। संस्कारों का एक उद्देश्य स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति भी रहा है।

(6) संस्कारों का एक लक्ष्य व्यक्ति में नैतिक गुणों का विकास करना रहा है। संस्कारों के माध्यम से नैतिक आधार पर व्यक्ति के दायित्वों का निर्धारित किया जाता रहा है। संस्कारों के अन्तर्गत जीवन के प्रत्येक सोपान के लिए कुछ नियम (धर्म) या दायित्व निश्चित रहे हैं।

(7) संस्कारों का एक प्रमुख लक्ष्य व्यक्तित्व का निर्माण और विकास रहा है। संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के अनुशासित जीवन व्यतीत करने के लिए उसका मार्ग-दर्शन करना रहा है। समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के चरित्र-निर्माण का यहाँ प्रयत्न किया गया है।

(8) संस्कारों का एक उद्देश्य आध्यात्मिकता के महत्त्व को स्पष्ट करना भी रहा है। आध्यात्मिकता भारतीय सामाजिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता रही है। इसी विशेषता के कारण यहाँ संस्कार भी आध्यात्म-साधन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। डॉ. पाण्डेय के अनुसार संस्कार हिन्दुओं के लिए सजीव धार्मिक अनुभव थे, केवल बाहरी उपचार मात्र नहीं। संस्कार जीवन की आत्मवादी और भौतिक धारणाओं के बीच मध्यमार्ग का काम देते थे। संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं।

हिन्दू जीवन के मुख्य संस्कार
(Major Sanskars in Hindu Life Scheme)

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित संस्कारों की संख्या के संबंध में धर्मशास्त्रों में काफी भिन्नता पायी जाती है। ऋषि दयानन्द ने विभिन्न संस्कारों का समन्वित कर सोलह संस्कारों का विधान किया है। यहाँ हम हिन्दू जीवन से संबंधित प्रमुख चौदह संस्कारों पर विचार करेंगे। संस्कारों के संबंध में हमें एक प्रमुख बात यह ध्यान में रखनी है कि यद्यपि प्रत्येक संस्कार का एक विशेष उद्देश्य रहा है, परन्तु सभी संस्कारों में कुछ तत्त्व सामान्य रूप से पाये जाते हैं। प्रत्येक संस्कार को सम्पन्न करते समय देवताओं का आह्वान किया जाता है और अलौकिक शक्तियों से इच्छित फल की प्रार्थना की जाती है। सभी संस्कारों में अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती, यज्ञ किया जाता, स्नान एवं आचमन किया जाता, पूजा एवं आराधना की जाती तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुरूप कुछ मूर्त वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है।

1. गर्भाधान

"जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते हैं।" शौनक के अनुसार जिस कर्म के सम्पादन से स्त्री प्रदत्त शुक्र धारण करती है, वही गर्भाधान संस्कार है। प्रजनन कार्य को उद्देश्यपूर्ण एवं सुसंस्कृत बनाने हेतु गर्भाधान संस्कार किया जाता था।

धर्मशास्त्रों में इस संस्कार के सम्पादन का समय भी निर्धारित किया गया है। शांखायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि विवाह के चौथी रात्रि को पति पत्नी से सहवास करता है और कहता है कि जिस प्रकार पृथ्वी में अग्नि है, उसी प्रकार एक नर भ्रूण गर्भाशय में प्रवेश करे — यह दस मास के बाद एक पुत्र उत्पन्न हो। प्राचीन काल में साधारणतः प्रत्येक कार्य को धार्मिक कृत्य समझा जाता था और इसी कारण गर्भाधान की दृष्टि से किये जाने वाले सहवास के समय भी वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। धार्मिक दृष्टि से पुत्र सन्तान को विशेष महत्त्व दिये जाने के कारण गर्भाधान संस्कार के समय पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। मनु, याज्ञवल्क्य एवं वैखानस की मान्यता है कि पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भाधान की दृष्टि से उपयुक्त है। इन रात्रियों में पुत्र जन्म के लिए सम-रात्रि (अर्थात् जिसे 2 से विभाजित किया जा सकता हो) तथा कन्या जन्म के लिए विषम रात्रि को चुना जाना चाहिए। इन रात्रियों में भी आधायन ने सहवास के लिये अर्द्धरात्रि के बाद के समय को अधिक उपयुक्त माना है। पाराशर ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस संस्कार को आवश्यक माना है। हिन्दू समाज में पितृ ऋण से मुक्त होने के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति को अनिवार्य माना गया है और यही कारण है कि यहाँ गर्भाधान संस्कार का विशेष महत्त्व रहा है।

2 पुँसवन

'पुँसवन' शब्द से तात्पर्य पुत्र सन्तान के जन्म देने से है। पुँसवन संस्कार का उद्देश्य पुत्र सन्तान की प्राप्ति रहा है। युद्ध एवं धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए पुरुषों का महत्त्व माने जाने के कारण ही पुत्र सन्तानों के जन्म की विशेष रूप से कामना की जाती थी। पुँसवन का अर्थ स्पष्ट करते हुए संस्कार प्रकाश में बताया गया है कि इसका तात्पर्य उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से पुं = पुमान् (पुरुष) का जन्म हो। पुत्र सन्तान को जन्म देने वाली माता को भी समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था। अतः पुत्र सन्तान की प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जाता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में बताया गया है कि इस संस्कार को गर्भ धारण के तीसरे महिने में सम्पन्न करना चाहिए। इस संस्कार के अवसर पर पुनर्वसु नक्षत्र में उपवास के पश्चात् स्त्री अपने ही समान रंग की बछड़े वाली गाय के दही के साथ दो बीज सेम के तथा एक दाना जौ का खाती है। इस क्रिया को वह तीन बार दोहराती है। इस अवसर पर पति उसे तीन बार पूछता है कि तुम क्या पी रही हो और उत्तर के रूप में स्त्री बताती है कि पुँसवन (पुत्र की उत्पत्ति)। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार उस समय सम्पन्न किया जाता है जब चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र में, विशेष रूप से तिष्य में संक्रमण करता है। स्त्री इस दिन उपवास रखती और रात्रि में उसकी नाक के दाहिने नथुने में वट वृक्ष की छाल को कूटकर निकाला गया रस मन्त्रोच्चारण के साथ डाला जाता था। इस समय यह कामना की जाती थी कि स्त्री पुत्र को जन्म दे। याज्ञवल्क्य तथा विज्ञानेश्वर की मान्यता है कि यह संस्कार प्रत्येक गर्भ धारण के समय किया जाना चाहिए। इस अवसर पर स्त्री के अंक में जल से भरा हुआ कलश रखा जाना और पति गर्भ का स्पर्श करके पुत्र सन्तान की कामना करता।

3. सीमान्तोन्नयन

इस संस्कार में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि गर्भिणी पर अमंगलकारी या दुष्ट शक्तियों का कुप्रभाव पड़ सकता है। इस कुप्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य से यह संस्कार सम्पन्न किया जाता रहा है। इस संस्कार का एक प्रयोजन माता के ऐश्वर्य एवं अनुत्पन्न शिशु के लिए दीर्घायुष्य की कामना था। गर्भिणी के केशों को सँवारने का एक अन्य उद्देश्य उसे यथासम्भव हर्षित एवं उल्लसित रखना था। गृह्यसूत्र में गर्भ के चौथे या पाँचवें मास में इस संस्कार के सम्पन्न करने का विधान किया गया है। इस अवसर पर भावी माता का उपवास करना होता था। यह संस्कार मातृपूजा, नान्दि श्राद्ध एवं प्राजापत्य आहुति प्रस्ताविक कृत्यों के साथ प्रारम्भ होता था। तब पत्नी अग्नि के पश्चिम में एक कोमल आसन पर आसीन हो जाती थी और पति उदुम्बर के समसंख्यक कच्चे फलों के गुच्छों, दर्भ अथवा कुश के तीन गुच्छों व तीन श्वेत चिह्न वाले साही के काँटे, वीरतर काष्ठ की यष्टि तथा पूर्ण तकुवे के साथ 'भूर्भुवः स्वः' आदि मन्त्र अथवा महाव्याहृतियों में से प्रत्येक का उच्चारण करता हुआ पत्नी के सीमन्तों को ऊपर की ओर (यथा सिर के अग्रभाग से आरम्भ कर) सँवारता था। यह संस्कार ब्राह्मण भोजन के साथ समाप्त होता था। तब गर्भिणी स्त्री एक गौ के बछड़े का स्पर्श करती थी क्योंकि ऐसा करना पुंसन्तति (पुत्र सन्तान) का प्रतीक माना जाता था।

इस संस्कार के द्वारा गर्भिणी स्त्री और उसके पति के कर्त्तव्यों का निर्धारण भी किया गया है ताकि गर्भस्थ शिशु पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़े। डॉ. पाण्डेय ने पति के कर्त्तव्यों के संबंध में लिखा है कि उसका प्रथम व सबसे प्रधान कर्त्तव्य था अपनी गर्भिणी पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति करना। याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भिणी स्त्री की इच्छाओं की पूर्ति न करने से गर्भ दोषयुक्त हो जाता है, अतः पति को अपनी गर्भिणी पत्नी का अभीष्ट पूर्ण करना चाहिए। गर्भिणी स्त्री के कर्त्तव्यों के संबंध में बताया गया है कि उसे हाथी-घोड़े तथा पहाड़ या कई मंजिला वाले मकान पर नहीं चढ़ना चाहिए, उसे व्यायाम, भ्रमण, बैलगाड़ी में यात्रा, दुःख-शोक, रक्त-स्राव, मुर्गे की तरह बैठना, श्रम, दिवा-शयन, रात्रि जागरण, बासी, खट्टा, उष्ण, रूक्ष तथा भारी भोजन, इन सभी का वर्जन करना चाहिए। इन सभी निषेधों का प्रमुख उद्देश्य गर्भिणी स्त्री के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना रहा है।

4. जातकर्म

यह संस्कार बालक के जन्म के ठीक पश्चात् सम्पन्न किया जाता है। इस संस्कार का उद्देश्य बालक को हानिकारक शक्तियों के प्रभाव से बचाना एवं उसके दीर्घजीवी और स्वस्थ होने की कामना करना है। इस संस्कार का एक लक्ष्य स्वच्छता एवं शुद्धता बनाये रखना है। बालक के जन्म के तुरन्त पश्चात् पिता अपनी चौथी अंगुली एवं एक सोने की शलाका से शिशु को शहद और घी अथवा केवल घी चटाता है। यह कृत्य बालक के बौद्धिक विकास के प्रति पिता की रुचि को व्यक्त करता है। इस संस्कार के अवसर पर बालक की नाभि या दाहिने कान के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता था-अग्नि दीर्घजीवी है, वह वृक्षों से दीर्घजीवी है। मैं इस दीर्घ आयु से तुझे दीर्घायु करता हूँ-सोम दीर्घजीवी है, वह वनस्पतियों द्वारा दीर्घजीवी है, आदि। डॉ. पाण्डेय ने बताया है कि इस प्रकार शिशु के समक्ष दीर्घायुष्य के सभी सम्भव उदाहरण प्रस्तुत किये जाते

थे तथा विचारों के संयोग से यह विश्वास किया जाता था कि उक्त उदाहरणों के कथन से शिशु भी दीर्घायुष्य प्राप्त कर लेगा। इसके बाद पिता बालक के दृढ़, वीरतापूर्ण एवं शुद्ध जीवन के निमित्त कामना करता है। तत्पश्चात् नाभि की गुण्डी अलग की जाती, बालक को स्नान कराया जाता और स्तन-पान के लिए उसे माता को दे दिया जाता है।

5. नामकरण

गृह्यसूत्रों के अनुसार नामकरण संस्कार बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार के समय माता बालक को शुद्ध वस्त्र से ढक कर एवं उसके सिर को जल से गीला कर पिता की गोद में देती है। इसके बाद प्रजापति, तिथि, नक्षत्र एवं उनके देवताओं, अग्नि तथा सोम को आहुतियाँ दी जाती हैं। तत्पश्चात् पिता शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ उसके नाम का उच्चारण करता। बालक का नाम रखते समय उसके वर्ण, जाति एवं फलित ज्योतिष के अनुसार उसकी राशि का ध्यान रखा जाता है। संस्कार प्रकाश में चार प्रकार के नामों का उल्लेख मिलता है जैसे- कुल-देवता नाम, मास नाम, नक्षत्र नाम तथा व्यावहारिक नाम। मनु ने नामकरण के संबंध में दो नियम बताये हैं- प्रथम सभी वर्ण के लोगों का नाम शुभ सूचक, शक्ति-साधक एवं शान्तिदायक होना चाहिए, तथा द्वितीय ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों के नाम के साथ एक उपपद होना चाहिए, जिससे क्रमशः प्रसन्नता, रक्षा, पुष्टि और प्रष्य का संकेत मिले। इस संस्कार के संबंध में डॉ. पी. वी. काणे ने लिखा है कि आधुनिक काल में नामकरण जन्म के बारहवें दिन बिना किसी वैदिक मन्त्रोच्चारण के मना लिया जाता है। स्त्रियाँ एकत्र होती हैं और पुरुषों से परामर्श कर नाम घोषित कर देता है। कहीं कहीं अब भी यह संस्कार विधिवत् किया जाता है, परन्तु अब इसका प्रचलन एक प्रकार से उठ गया है।

6. निष्क्रमण

शिशु के विधि-विधान पूर्वक प्रथम बार घर से बाहर ले जाने को निष्क्रमण संस्कार के नाम से पुकारते हैं। इस अवसर पर पिता बालक को बाहर ले जाता था और मन्त्रोच्चारण के साथ सूर्य का दर्शन कराता था। इस संस्कार के सम्पादन के समय के संबंध में मनुस्मृति में बताया गया कि यह समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न-भिन्न था। संस्कार की विधि के सम्बन्ध में डॉ. पाण्डेय ने लिखा है कि संस्कार के लिए नियत दिन माता बरामदे या आँगन के एक वर्गाकार भाग को, जहाँ से सूर्य दिखाई देता, गोबर और मिट्टी से लीपती, उस पर स्वास्तिक का चिन्ह बनाती तथा धान्य कणों को विकीर्ण करती थी। सूत्रकाल में पिता के द्वारा शिशु को सूर्यदर्शन कराने के साथ संस्कार समाप्त हो जाता था। इस अवसर पर शंख-ध्वनि एवं वैदिक मंत्रों का उच्चारण भी किया जाता था। इस संस्कार का महत्त्व इसी दृष्टि से था कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर से बाहर खुली वायु में लाया जाना चाहिए तथा यह अभ्यास चलते रहना चाहिए।

7. अन्नप्राशन

जब बालक की पाचन-शक्ति बढ़ जाती और उसके शरीर के विकास के लिए अधिक पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता पड़ती, तब बालक को प्रथम बार अन्न दिया जाता। यह संस्कार शिशु के जन्म के बाद छठे मास में सम्पन्न किया जाता था। इस अवसर पर शिशु को दही, घी एवं शहद के साथ अन्न दिया जाता। बाद में बालक को दूध और [illegible] खिलाने का रिवाज अधिक

प्रचलित हो गया। भोजन का प्रकार चाहे कैसा भी क्यों न हो, विशेष ध्यान इस बात का रखा जाता कि भोजन लघु एवं बालक के लिए स्वास्थ्य-वर्धक हो। इस संस्कार के अवसर पर भोजन तैयार करते समय वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। भोजन तैयार हो जाने पर देवताओं की अर्चना एवं शिशु की सभी इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती थी। तत्पश्चात पिता शिशु को भोजन कराता। प्रथम भोजन के साथ यह संस्कार पूर्ण होता था। इस संस्कार का महत्त्व इस कारण था कि शिशु को उचित समय पर अपनी माता का दूध पीने से अलग कर दिया जाय ताकि उसका शारीरिक विकास ठीक ढंग से हो सके और माता की शक्ति का भी निरर्थक क्षय न हो।

8. चूडाकरण

इस संस्कार के पीछे स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य की भावना ही प्रमुख थी। गृह्यसूत्रों के मतानुसार चूडाकरण संस्कार जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व सम्पन्न होता था। मनु ने लिखा है कि वेदों के नियमानुसार धर्मपूर्वक समस्त द्विजातियों का चूडा कर्म प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में सम्पन्न करना चाहिए। तीसरा वर्ष में सम्पन्न चूडाकरण को सर्वोत्तम माना गया है। साधारणतः सूर्य के उत्तरायण में होने पर यह संस्कार घर पर, किसी मन्दिर या धार्मिक स्थान पर या पवित्र नदी के किनारे सम्पन्न किया जाता है। लम्बी निराशा अथवा पूर्व-सन्तान की मृत्यु के पश्चात् होने वाले बालक का चूडाकरण या मुण्डन संस्कार मनौती के अनुसार किसी देवालय या धार्मिक महत्त्व के अन्य स्थान पर होता है। शिखा (चोटी) रखना इस संस्कार का महत्त्वपूर्ण अंग था। कालान्तर में शिखा हिन्दुओं का एक अनिवार्य चिन्ह बन गई।

इस संस्कार के लिए कोई शुभ दिन चुना जाता है। सर्वप्रथम संकल्प, गणेश-पूजन, मंगल-श्राद्ध आदि प्रारम्भिक कृत्य किये जाते, तत्पश्चात् ब्राह्मण-भोजन होता। इसके बाद माता बालक को स्नान कराकर बिना धुले हुए नवीन वस्त्र से ढक कर अपनी गोद में लेकर यज्ञिक अग्नि के पश्चिम की ओर बैठ जाती। इसके बाद पिता अनेक आहुतियाँ देता, मन्त्रोच्चारण के बीच बालक के कल्याण की कामना की जाती और नाई द्वारा उसके केश काट दिये जाते। इन केशों को गोबर या आटे की लोई में लपेट कर किसी गुप्त स्थान पर गाड़ या फेंक दिया जाता अथवा किसी पवित्र नदी में बहा दिया जाता। अमंगलकारी शक्तियों के कुप्रभाव से या केशों पर किसी प्रकार के जादू किये जाने से बालक को बचाने के उद्देश्य से ऐसा किया जाता था। हिन्दुओं में आज भी इस संस्कार का महत्त्व पाया जाता है।

9. कर्णवेध

जहाँ तक कानों के छेदन का प्रश्न है, निस्सन्देह आरम्भ में अलंकरण के लिए इसका प्रचलन हुआ, किन्तु आगे चलकर यह उपयोगी सिद्ध हुआ और इसकी आवश्यकता पर बल देने के लिए इसे धार्मिक स्वरूप दिया गया। रोग आदि से रक्षा एवं भूषण या अलंकरण के लिए बालक के कानों का छेदन करना चाहिए। बृहस्पति, गर्ग एवं श्रीपति के अनुसार बालक के जन्म के एक वर्ष के भीतर-भीतर ही यह संस्कार सम्पन्न कर देना चाहिए। कर्ण-छेदन के लिए संस्कार-कर्त्ता के रूप में वंश परम्परागत अनुभव के कारण अधिकतर सुनार को बुलाया जाता है। कान छेदने के लिए सोने, चाँदी अथवा तांबे की सूई का विधान किया गया है। एक शुभ दिन में मध्यान्ह के पूर्व दिन के पूर्वार्द्ध में यह संस्कार किया जाता था। शिशु को पूर्वाभिमुख बैठा कर कुछ मिठाइयाँ दी जाती थीं। इसके पश्चात् इस मंत्र के साथ शिशु का दायाँ कान छेदा जाता, "हम अपने कानों से भद्र वाणी सुनें"। तब बायाँ कान 'वक्ष्यन्ति' आदि मंत्र के साथ छेदा जाता था। तत्पश्चात् ब्राह्मण भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता था।

10. विद्यारम्भ

बालक का मस्तिष्क जब शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता, तब उसका विद्यारम्भ अक्षर ज्ञान के साथ शुरू होता था। यह एक सांस्कृतिक संस्कार है जिसका उद्‌भव सभ्यता की उस उन्नत अवस्था में हुआ जब वर्णमाला का विकास हो चुका था। इस संस्कार के द्वारा बालक के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का कार्य प्रारम्भ होता था। बालक की आयु के पाँचवे वर्ष मे यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। पण्डित भीमसेन शर्मा के अनुसार यह संस्कार पाँचवे अथवा सातवे वर्ष में किया जा सकता था। इस संस्कार के लिए कोई ऐसा शुभ दिन चुना जाता था जब सूर्य उत्तरायण में हो। इस दिन बालक को स्नान और सुन्दर वेश-भूषा से अलंकृत कर गणेशजी सरस्वती, बृहस्पति एवं गृहदेवता की पूजा की जाती थी। इसके पश्चात् होम किया जाता। गुरु पूर्व दिशा की ओर बैठकर पश्चिम की ओर मुँह करके बैठे हुए बालक को अक्षर लिखना सिखाता था। फिर बालक गुरु को वस्त्र एवं आभूषण भेंट के रूप में देता और देवताओं की तीन परिक्रमा करता था। इस अवसर पर ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती और वे बालक को आशीर्वाद देते थे। वर्तमान में इस संस्कार की विधि के संबंध में डॉ. काणे ने लिखा है कि आधुनिक काल में लिखना-सीखना किसी शुभ मुहूर्त में आरम्भ किया जाता है। सरस्वती एवं गणपति के पूजन के उपरान्त गुरु का सम्मान किया जाता है और बच्चा 'ओम् नमः सिद्धम्' दुहराता है और पट्टी पर लिखता है।

11. उपनयन

अथर्ववेद में उपनयन शब्द का प्रयोग 'ब्रह्मचारी को ग्रहण करने' के अर्थ मे हुआ है। यहाँ इसका तात्पर्य आचार्य के द्वारा ब्रह्मचारी को वेद विद्या में दीक्षित करने से है। धीरे-धीरे उपनयन शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा विद्यार्थी को आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ में होने लगा। उपनयन का अभिप्राय केवल शिक्षा के ही अर्थ में सीमित नहीं है। यह वह कृत्य है जिसके द्वारा व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता के सामीप्य के लिये दीक्षित किया जाता है। आजकल उपनयन संस्कार का शिक्षा संबंधी धर्म लुप्त प्रायः हो चुका है। अब इसे बालक के 'जनेऊ' धारण संस्कार के रूप में लिया जाता है।

इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा ही था तथा विद्यार्थी को आचार्य के निकट ले जाने का कर्मकाण्ड गौण था। याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन का सर्वोच्च लक्ष्य वेदों का अध्ययन करना है। जहाँ तक उपनयन संस्कार की आयु का प्रश्न है, गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठवे वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवे वर्ष में किया जाना चाहिए।

उपनयन संस्कार सम्पन्न करने हेतु कोई शुभ दिन चुन लिया जाता विशेषतः शुक्ल पक्ष का कोई ऐसा दिन जब सूर्य उत्तरायण मे हो, संस्कार के एक दिन पहले गणेशजी की आराधना तथा लक्ष्मी, धात्री, मेधा, पुष्टि श्रद्धा व सरस्वती आदि का पूजन किया जाता। विद्यार्थी सम्पूर्ण रात्रि मौन रहकर व्यतीत करता। प्रातःकाल माता और पुत्र अन्तिम बार साथ-साथ भोजन करते। डॉ. अल्तेकर के अनुसार यह बालक के अनियमित जीवन के अन्त का सूचक था तथा बालक को यह स्मरण कराता था कि अब वह दायित्व-हीन शिशु नहीं रहा और अब उसे व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना है। इसे माता और पुत्र की बिदाई का भोज भी माना गया है। तत्पश्चात बालक को मण्डप में ले जाया जाता जहाँ उसका मुण्डन होता है। फिर बालक को स्नान कराया जाता है और गुह्य

वनन की इच्छा व्यक्त करता तो आचार्य उस शरीर के ऊपरी भाग को ढकने हेतु वस्त्र (उत्तरीय) देता। इसके बाद आचार्य मन्त्रोच्चारण के साथ बालक की कमर में मेखला बाँधता जो उस पापों से बचाती उसके जीवन को शुद्ध रखती और कुप्रभावों से रक्षा करती। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र (जनऊ) दिया जाता। उपवीत के तीन धागे सत्व रजस् एवं तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके तीन धागे ब्रह्मचारी को यह स्मरण भी कराते हैं कि उसे ऋषि-ऋण पितृ-ऋण एवं देव ऋण से उऋण होना है। यज्ञोपवीत धारण कराते समय आचार्य मन्त्रोच्चारण द्वारा बालक के आयुष्य बल तथा तेज के लिए कामना करता।

इस संस्कार के अन्तर्गत बालक का अश्मारोहण होता अर्थात् उसे पत्थर के किसी टुकड़े या शिला पर खड़ा किया जाता। इस कृत्य का उद्देश्य विद्यार्थी को अपने स्वाध्याय में दृढ़ एवं स्थिर होने तथा शरीर व चरित्र को सबल बनाने की प्रेरणा प्रदान करना था। इसके बाद आचार्य अध्यापन तथा रक्षा के लिए विद्यार्थी को अपने संरक्षण में लेता। तत्पश्चात् अपने दायित्वों के निर्वाह का आदेश देता हुआ आचार्य उसे सावित्री मन्त्र का उपदेश देता। फिर वह पहली बार अग्नि प्रथम बार प्रज्ज्वलित करता और उसमें आहुति डालता। इस समय यह कामना करता कि मैं जीवन, अन्तर्दृष्टि, तेज प्रजा पशु तथा ब्रह्मवर्चस से समृद्ध बनूँ। फिर ब्रह्मचारी उपस्थित लोगों से भिक्षा माँगता जो इस बात का प्रतीक थी कि वह अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए समाज पर निर्भर है। इससे उसमें यह भाव भी जाग्रत होता कि जब वह समाज से ग्रहण कर रहा है तो समाज के प्रति उसका दायित्व भी है।

उपनयन संस्कार का महत्त्व इस दृष्टि से विशेष रूप से है कि यह विद्यार्थी को अनुशासित और त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस संस्कार के माध्यम से बालक के सम्मुख ज्ञानार्जन का महत्त्व स्पष्ट किया जाता दायित्व निर्वाह के लिए उसे प्रेरित किया जाता तथा चरित्र-निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत किया जाता।

12. समावर्तन

समावर्तन शब्द का तात्पर्य है 'वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् गुरुकुल से घर की ओर लौटना'। इस संस्कार का एक महत्त्वपूर्ण अंग स्नान था। ब्रह्मचारी अपना अध्ययन समाप्त करने पर एक ऐसा व्यक्ति माना जाता था, जिसने विद्या के सागर को पार कर लिया है। वह विद्या-स्नातक (जिसने विद्या स्नान कर लिया है) तथा व्रत-स्नातक (जिसने अपने व्रतों में स्नान कर लिया है) कहा जाता था। इस संस्कार के लिए सर्व सामान्य आयु 24 वर्ष मानी गई है क्योंकि इस समय तक विद्यार्थी वेदों का अध्ययन कर अपनी शिक्षा पूर्ण कर लेता था। सबसे पहले विद्यार्थी इस संस्कार हेतु गुरु से आज्ञा की प्रार्थना एवं दक्षिणा द्वारा उसे सन्तुष्ट करता था। मनु ने लिखा है कि गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिए तथा उसके पश्चात् सवर्ण तथा गुणवती कन्या से विवाह करना चाहिए। संस्कार के लिए कोई शुभ दिन चुना जाता था। इस दिन वह गुरु के चरणों में प्रणाम कर कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति देता। यहाँ जल से भरे हुए आठ कलश रखे जाते जो आठ दिशाओं के सूचक थे और यह माना जाता था कि सभी दिशाओं से ब्रह्मचारी पर सम्मान एवं कीर्ति की वर्षा हो रही है। इस अवसर पर इन कलशों के जल से स्नान करता था जो गृहस्थ के सुखी जीवन के लिए उसे शीतलता प्रदान करता। इसके बाद ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म एवं दण्ड को फेंक देता और नवीन कौपीन (वस्त्र) धारण करता। वह इस अवसर

पर अपनी दाढी, केश एव नखो को कटवाता। विद्यार्थी अब सुन्दर वस्त्र, पुष्प, माला, आभूषण, अंजन आदि धारण करता। ये वस्तुएँ इस बात का प्रतीक थी कि अब उस पर ब्रह्मचर्य जीवन के निषेध लागू नही रह हैं। तत्पश्चात् गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर वह एक पूर्ण विकसित और उत्तरदायी व्यक्ति के रूप मे घर को लौटता था।

13. विवाह

विवाह का हिन्दू संस्कारों मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह के माध्यम से ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है और अपने समाज और संस्कृति की समृद्धि मे योग देता है। पत्नी के अभाव मे यहाँ व्यक्ति को अपूर्ण माना गया है। पत्नी प्राप्त करके ही व्यक्ति चार पुरुषार्थो- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। विवाह के पश्चात् ही वह विभिन्न ऋणो से उऋण होने तथा अपने दायित्वो के निर्वाह के लिये पंच महायज्ञ कर पाता है। हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना गया है न कि एक सामाजिक समझौता। पारस्कर गृह्यसूत्र मे तीस और बोधायन गृह्यसूत्र मे पच्चीस अनुष्ठानो का उल्लेख किया गया है जो हिन्दू विवाह के लिए आवश्यक हैं। इन अनुष्ठानों मे होम पाणिग्रहण एव सप्तपदी विशेषत महत्त्वपूर्ण हैं। विवाह व्यक्ति को समाज में एक विशेष स्थिति प्रदान करता है और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति उसे जागरुक बनाता है। विवाह न केवल जैवकीय आवश्यकताओं की पूर्ति का ही माध्यम है बल्कि धार्मिक कार्यों के सम्पादन एव समाज की निरन्तरता को बनाये रखने की दृष्टि से भी आवश्यक है।

14. अन्त्येष्टि

व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके जीवन सम्बन्धी परलोक मे उसके सुख एव कल्याण के लिये उसका मृत्यु-संस्कार करते हैं। हिन्दू के लिए न केवल इस लोक का महत्त्व है, बल्कि परलोक का भी। यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मांतर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कार द्वारा उस लोक (परलोक) को। इस कारण इस संस्कार को सावधानीपूर्वक सम्पन्न करने पर विशेष जोर दिया जाता है।

मृत्यु के बाद शव यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व मृतक को स्नान कराकर नवीन वस्त्र पहनाकर बाँस से बनी अर्थी पर लिटाया जाता है। तब उसके नाते रिश्तेदारो द्वारा इस अर्थी को श्मशान-घाट ले जाया जाता है। रास्ते भर मन्त्रोच्चारण या 'राम नाम सत्य है, सत्य से ही मुक्ति है' का उच्चारण किया जाता है। श्मशान भूमि मे शव को लकडियों की चिता पर लिटाकर मन्त्रोच्चारण के साथ मृतक के पुत्र एव अन्य रक्त-सबंधी चिता को अग्नि देते हैं। चिता मे घी नारियल, चन्दन, कपूर, कुश एव यज्ञ मे काम आने वाले अन्य पदार्थों को डाला जाता है। ऋग्वेद मे बताया गया है कि जब अग्नि प्रज्ज्वलित होने लगती है तब इस आशय का एक मन्त्र बोला जाता है कि हे अग्नि। इस देह को तू भस्म न कर, न ही इसे कष्ट पहुँचा तथा न ही इसकी त्वचा एव अन्य अगों को इधर-उधर बिखेर। जातवेद जब यह शरीर पूर्णत ध्वस्त हो जाय तो इसकी आत्मा को पितृ-लोक मे ले जा।[1] शव के जलकर भस्म हो जाने पर शवयात्रा में सम्मिलित सभी व्यक्ति अपने-अपने घरो को लौट जाते और स्नान करते हैं। मृत्यु के तीसरे अथवा अन्य किसी दिन मृतक की अस्थियों का संचय किया जाता है और उन्हे गंगा या किसी अन्य पवित्र नदी मे प्रवाहित कर दिया जाता है। मृतक के

1 डॉ राजबली पाण्डेय हिन्दू संस्कार 19/16/1

घर में 10 या 12 अथवा 13 दिन तक अशौच रहता है और इस अवधि में मृतक की आत्मा की शान्ति एवं परलोक में उसके कल्याण से सम्बंधित कई अनुष्ठान किये जाते हैं। आत्मा की शान्ति के लिए प्रतिवर्ष श्राद्ध और पिण्डदान भी किया जाता है।

हिन्दू संस्कारों का समाजशास्त्रीय महत्त्व
(Sociological Importance of Hindu Sanskars)

स्पष्ट है कि विभिन्न संस्कार व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत करने की दृष्टि से उपयोगी रहे हैं। इन संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति तथा समाज के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित किया जाता रहा है। ये सभी संस्कार पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहे हैं। यहाँ हम इन संस्कारों के समाजशास्त्रीय महत्त्व पर विचार करेंगे।

(1) डॉ. राजबली पाण्डेय ने बताया है कि संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना था जिससे वह अपने को मानवीय तथा अतिमानवीय शक्तियों से पूर्ण संसार के अनुरूप बना सके। संस्कार जीवन के प्रत्येक स्तर पर व्यक्ति को उसके कर्तव्यों का बोध कराते रहे हैं। डॉ. पाण्डेय ने अन्यत्र लिखा है कि संस्कार मानव जीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायता पहुँचाते, व्यक्तित्व के विकास को सुविधाजनक करते, मनुष्य-देह को पवित्रता तथा महत्त्व प्रदान करते, मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाओं को गति देते तथा अन्त में उसे जटिलताओं और समस्याओं के संसार से सरल तथा सानन्द मुक्ति के लिये प्रस्तुत करते थे। संस्कारों ने व्यक्ति को चरित्रगत दृढ़ता प्रदान करने में विशेष योग दिया है।

(2) संस्कारों ने सामाजिक महत्त्व की समस्याओं के समाधान में सहायता पहुँचाई है। जब व्यक्ति को स्वास्थ्य-विज्ञान तथा प्रजनन-शास्त्र का ज्ञान नहीं था, तब गर्भाधान एवं अन्य प्राग्-जन्म-संस्कार ही इन विषयों में शिक्षा के माध्यम थे। गर्भाधान एवं पुंसवन संस्कार के द्वारा गर्भिणी की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती और उसकी जैविकीय सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था। उपनयन संस्कार के द्वारा बालक को स्वास्थ्य के नियमों का ध्यान रखते हुए संयमी और अनुशासित जीवन व्यतीत करने की ओर अग्रसर किया जाता था।

(3) संस्कार शिक्षा के महत्त्वपूर्ण साधन रहे हैं। जीवन के प्रत्येक स्तर पर संस्कार व्यक्ति को लौकिक ज्ञान प्रदान करते रहे हैं, उसे प्रशिक्षित कर समाज का योग्य एवं उपयोगी सदस्य बनाते रहे हैं। डॉ. पाण्डेय ने लिखा है कि विद्यारम्भ तथा उपनयन से समावर्तन पर्यन्त सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं। संस्कारों ने प्राचीन हिन्दुओं के उच्च बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्तर की रक्षा में योग दिया है।

(4) संस्कारों ने व्यक्ति और समाज की अपेक्षाओं के बीच सन्तुलन बनाये रखने में भी योग दिया है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करता हुआ सामाजिक जीवन को संगठित बनाये रखने में सहायता पहुँचाता है। इन संस्कारों के द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण इस प्रकार होता है कि वह पग-पग पर अपने सामाजिक दायित्वों से परिचित होता जाता है। वह यह जान लेता है कि उससे समाज क्या अपेक्षाएँ रखता है और उन अपेक्षाओं के अनुरूप बनने की दृष्टि से संस्कार उसके सम्मुख उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं।

(5) संस्कारों ने नैतिक गुणों के विकास एवं संस्कृति के रक्षण में योग दिया है। संस्कारों के द्वारा व्यक्ति में अनेक नैतिक गुणों जैसे— दया, क्षमा, अनसूया, पवित्रता, संयम, उचित व्यवहार, निर्लोभता एवं समर्पण का विकास किया जाता है। ये गुण व्यक्ति का निर्माण कर समाज की नैतिक प्रगति में सहायता पहुँचाते हैं। इन संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं या व्यवहार के आदर्श प्रतिमानों से परिचित होता है। वह इन्हीं के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार सांस्कृतिक परम्पराएँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती और सुरक्षित बनी रहती हैं।

(6) इन संस्कारों का आध्यात्मिक महत्त्व भी रहा है। ये संस्कार व्यक्ति को यह सोचने के लिये प्रेरित करते रहे हैं कि जीवन को प्रभावित करने वाली कोई अदृश्य शक्ति अवश्य है और उसी को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से विभिन्न संस्कारों से सम्बंधित अनेक अनुष्ठान किये जाते रहे हैं। संस्कारों के आध्यात्मिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. पाण्डेय ने बताया है कि संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं।

वर्तमान में परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ अनेक संस्कार लुप्त प्रायः हो चुके हैं। हिन्दुओं के जीवन में अब कुछ ही संस्कार जैसे विवाह एवं अन्त्येष्टि आदि ही महत्त्वपूर्ण रह गये हैं।

प्रश्न

1. 'संस्कार' पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. संस्कारों का उद्देश्य क्या है? हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख संस्कारों का उल्लेख कीजिए।
3. कुछ महत्त्वपूर्ण हिन्दू संस्कारों का वर्णन कीजिए।
4. 'समावर्तन संस्कार' पर एक टिप्पणी लिखिए।
5. उपनयन संस्कार क्या है? हिन्दू जीवन में इसका महत्त्व बताइए।
6. प्रमुख हिन्दू संस्कारों के समाजशास्त्रीय महत्त्व की विवेचना कीजिए।
7. वर्तमान समय में हिन्दू संस्कारों का ह्रास किन कारणों से हो रहा है? विवेचना कीजिए।

□□□

10

सामाजिक स्तरीकरण : आधार, स्वरूप तथा उभरते प्रतिमान
(Social Stratification : Bases, Forms and Emerging Patterns)

आज शायद ही कोई ऐसा समाज हो जो विभिन्न सामाजिक वर्गों या स्तरों में बँटा हुआ न हो। प्रत्येक समाज की जनसंख्या कुछ सामाजिक वर्गों में बँटी होती है। यह कहा जा सकता है कि स्तरीकरण के सिद्धान्त सार्वभौम हैं परन्तु इनकी अभिव्यक्ति अलग अलग समाजों में विभिन्न रूपों में हुई है। सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य समाज की जनसंख्या को विभिन्न स्तरों में बाँट कर प्रत्येक समूह एवं व्यक्ति के अधिकारों तथा दायित्वों को अन्य समूहों और व्यक्तियों की तुलना में स्पष्ट कर देना है। समाज अपने सदस्यों को विभिन्न स्तरों में बाँट कर यह निश्चित कर देता है कि उन्हें क्या कार्य करने हैं तथा उनसे किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है।

सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा
(Concept of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण को एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत समाज को विभिन्न स्तरों या वर्गों में बाँटा जाता है। जिस्बर्ट (Gisbert) ने लिखा है कि सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ ऐसी स्थायी श्रेणियों एवं समूहों में बाँटने वाली व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत सभी समूह और श्रेणियाँ उच्चता एवं अधीनता के सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे से बँधे रहते हैं। मूर (Moore) ने बतलाया है कि स्तरीकरण समाज का वह क्रमबद्ध विभाजन है जिसमें सम्पूर्ण समाज को कुछ 'उच्च' एवं 'निम्न' सामाजिक इकाइयों में बाँट दिया गया हो। ऑगबर्न तथा निमकॉफ का कथन है कि स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति और समूह एक स्थिर स्थिति की क्रमबद्धता में विभाजित किये जाते हैं। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने बतलाया है कि सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य उन समूहों से लिया जाता है जो सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न स्थितियों को धारण किये हुए हैं।[1] उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण वह व्यवस्था है जिसमें समाज को विभिन्न वर्गों या समूहों में बाँट दिया जाता है जो उच्चता और निम्नता के आधार पर प्रतिष्ठित होते हैं और जो उच्चता एवं अधीनता के सम्बन्धों द्वारा एक-दूसरे से बँधे रहते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता
(Necessity of Social Stratification)

यहाँ प्रश्न यह है कि स्तरीकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती है, समाज को विभिन्न वर्गों या स्तरों में क्यों बाँटा जाता है और उन्हें उच्चता एवं अधीनता के सम्बन्धों में क्यों बाँधा जाता है?

---

1 किंग्सले डेविस, मानव समाज, पृष्ठ 318-19

इसका कारण यह है कि मनुष्य सदैव एक ऐसे समाज का स्वप्न देखता रहा है जिसमें श्रेणीगत विभिन्नताएँ न हों। किन्तु इस स्वप्न का कठोर यथार्थता से सामना करना पड़ा है। किसी भी समाज को अपनी सामाजिक संरचना में विभिन्न पदों पर विभिन्न सदस्यों को बैठाना तथा पदों के अनुकूल उनसे कार्य लेना पड़ता है। इसलिए समाज को अपने सदस्यों में प्रेरणा-संबंधी समस्या को दो स्तरों पर सुलझाना पड़ता है। प्रथम उचित व्यक्तियों में समाज के विभिन्न पदों को प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न करना और दूसरे जब वे अपने पदों को प्राप्त कर लें तो उनमें पदों से संबंधित कर्तव्यों के पालन करने के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना। स्पष्ट है कि सभी समाज अपने सदस्यों को विभिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान कर उन्हें अलग-अलग स्तरों में बाँट देते हैं। मार्क्सवादी लेखकों के अनुसार सम्पत्ति के मालिक और सम्पत्ति से रहित लोगों के दो वर्ग समाज में सदैव पाये जाते हैं। विभिन्न समाजों में धन, शक्ति, प्रतिष्ठा एवं सत्ता के आधार पर व्यक्तियों को अलग-अलग प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं और एक सी प्रस्थिति वाले लोगों का एक स्तर बन जाता है। इस प्रकार प्रस्थितियों की भिन्नता के आधार पर समाजों में सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण इसलिए आवश्यक है कि समाज के विभिन्न कार्यों के सफलतापूर्वक सम्पादन के लिए विभिन्न योग्यता, बुद्धि एवं प्रशिक्षण वाले व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। समाज विभिन्न कार्यों की सापेक्ष महत्ता को ध्यान में रखकर लोगों को उनकी योग्यतानुसार अलग-अलग प्रस्थितियाँ प्रदान करता है। प्रत्येक पद पर ऐसे व्यक्ति आसीन होने चाहिए जो पद की आवश्यकताओं के अनुरूप योग्यता रखते हों और जो उत्तरदायित्व-पूर्ण ढंग से अपने कर्तव्य का पालन कर सकें। समाज में जो पद अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है और जिसके लिये विशेष योग्यता एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है उसके लिए अधिक पुरस्कार रखना पड़ता है। साथ ही समाज व्यक्तियों की क्षमताओं को ध्यान में रख कर उन्हें विभिन्न पदों पर आसीन कर देता है। ऐसा करने से समाज को योग्य एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवाओं का पूरा लाभ मिल जाता है और समाज प्रगति की ओर आगे बढ़ पाता है। समाज विभिन्न पदों पर योग्यतानुसार व्यक्तियों के आसीन होने की व्यवस्था पुरस्कारों के माध्यम से करता है। समाज व्यक्तियों को आर्थिक प्रोत्साहन, मनोरंजनात्मक एवं सौन्दर्य बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएँ और आत्म-सम्मान तथा अहम् की सन्तुष्टि करने वाले साधन प्रदान करता है। इस प्रकार इन पुरस्कारों का विभिन्न पदों के अनुसार असमान वितरण आवश्यक है। इसी से लोगों को विभिन्न दायित्वों को परिश्रम एवं अध्यवसाय के साथ निभाने की प्रेरणा मिलती है। स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में अनिवार्यतः पाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण का प्रस्थिति, मूल्यों और संस्कृति के साथ घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। *प्रस्थिति ही सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में कार्य करती है।* प्रस्थितियों में उतार-चढ़ाव या उच्चता-निम्नता के क्रम से ही सामाजिक स्तरीकरण पनपता है। समाज में कौनसी प्रस्थिति या पद कितना महत्त्वपूर्ण है इसका निर्धारण समाज विशेष के मूल्य करते हैं। किसी समय भारतीय समाज के सामाजिक मूल्य ज्ञान परम्परा को आगे बढ़ाने और धार्मिक कार्यों के सम्पादन को सबसे अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण है कि यहाँ पुरोहितों एवं विद्वानों की प्रस्थिति को सबसे उच्च और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। आज समय परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक मूल्य बदल गये हैं, धन एवं सत्ता का महत्त्व बढ़ गया है। परिणाम यह हुआ है कि आज समाज में

उन पदों या प्रस्थितियों को उच्च माना जाता है जिनके साथ धन अथवा सत्ता जुड़ी हुई है। किसी समाज में एक पद को विशेष महत्ता दी जाती है तो किसी अन्य समाज में दूसरे पद को। इसका कारण यह है कि विभिन्न समाजों में सामाजिक मूल्यों संबंधी भिन्नता पायी जाती है। इस भिन्नता का आधार एक समाज और दूसरे समाज की संस्कृति में पाये जाने वाला अन्तर है। मूल्यों का अन्तर ही इस बात का निर्धारण करता है कि किस समाज में किस प्रस्थिति या पद का कितना महत्त्व और पद-विन्यास के क्रम में उसका क्या स्थान होगा? प्रस्थितियों संबंधी उच्चता और निम्नता पर ही सामाजिक स्तरीकरण निर्भर करता है। स्पष्ट है कि विभिन्न समाजों में स्तरीकरण निर्धारण में अनेक कारकों का योग रहता है।

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप
(Forms of Social Stratification)

विश्व के विभिन्न समाजों में स्तरीकरण के प्रमुखतः दो स्वरूप ही पाये जाते हैं, प्रथम, जातिगत स्तरीकरण और द्वितीय वर्गगत स्तरीकरण। भारत में स्तरीकरण का प्रारम्भिक स्वरूप वर्ण व्यवस्था के रूप में था जो बाद में जाति व्यवस्था के रूप में बदल गया। यूरोपीय देशों में स्तरीकरण का स्वरूप वर्ग-व्यवस्था के रूप में पाया जाता है। भारत में जाति-व्यवस्था के आधार के रूप में जन्म का महत्त्व पाया जाता है तो यूरोपीय देशों में वर्ग-व्यवस्था के आधार के रूप में अधिकतर अर्जित गुणों या उपलब्धियों को। अनेक समाजों में प्रजातीय भिन्नता को स्तरीकरण के आधार के रूप में महत्त्व दिया जाता है।

भारत में स्तरीकरण के स्वरूप को ठीक से समझने के लिये यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाय। इस देश में धर्म को विशेष महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि यहाँ स्तरीकरण की व्यवस्था पर धार्मिक मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। धार्मिक क्रियाओं को सम्पादित करने वाले व्यक्तियों को समाज में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। अपवित्रता लाने वाली वस्तुओं से सम्बन्धित कार्य करने वाले व्यक्तियों को समाज में निम्नतम स्थिति प्रदान की गई है। इस देश में विभिन्न कार्यों के सफलतापूर्वक सम्पादन, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण का लाभ प्राप्त करने और सामाजिक संघर्षों को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से सामाजिक स्तरीकरण को एक स्थायी स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। यही कारण है कि यहाँ अपने स्तर के लोगों के साथ ही वैवाहिक संबंध स्थापित करने और परम्परागत पेशे को अपनाने पर ही जोर दिया गया है।

भारत में सामाजिक स्तरीकरण के परम्परागत आधार
(Traditional Bases of Social Stratification in India)

भारत में स्तरीकरण के परम्परागत आधार निम्नलिखित हैं —

(1) व्यवसाय (Occupation)—भारतीय समाज में व्यवसाय सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार रहा है। यहाँ प्रारम्भ में व्यवसाय के आधार पर ही विभिन्न स्तरों का निर्माण हुआ। समाज में धार्मिक कार्यों का सर्वाधिक महत्त्व होने के कारण ही धर्म के क्षेत्र में कुशल व्यक्तियों को सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में सर्वोच्च स्थान दिया गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण व्यवसाय प्रशासन और रक्षा कार्य माना गया और इन कार्यों को करने वाले व्यक्तियों से जो स्तर बना, उसे दूसरा

स्थान दिया गया। व्यवसायों के संस्तरण में आर्थिक क्रियाओं-व्यापार, कृषि और पशु-पालन को करने वाले व्यक्तियों को तृतीय स्थान दिया गया। इन तीनों स्तर के लोगों की सेवा करने वालों को सामाजिक स्तरीकरण में चौथा स्थान प्रदान किया गया। स्पष्ट है कि यहाँ व्यवसाय के आधार पर समाज को चार प्रमुख स्तरों में विभाजित हुआ। प्रत्येक स्तर के लोगों को दूसरों की तुलना में कम या अधिक अधिकार दिये गये।

(2) जन्म (Birth) — जन्म के आधार पर व्यक्तियों को विभिन्न स्तरों में बाँट कर व्यक्ति और समूह की सामाजिक स्थिति को वंशानुगत बनाने का प्रयास भारतीय समाज में विशेष रूप से किया गया है। जन्म के आधार पर प्राप्त सामाजिक प्रस्थिति और इस आधार पर निर्मित विभिन्न समूहों में साधारणतः परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती। सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में जन्म को महत्त्व देने का मुख्य कारण समाज को सामाजिक संघर्षों से मुक्त रखना है। साथ ही यहाँ यह भी माना जाता रहा है कि व्यक्ति का एक उच्च या निम्न समझे जाने वाले समूह में जन्म उसके पूर्व-जन्म के कर्मों का ही फल है। इसी मान्यता के कारण जन्म पर आधारित सामाजिक स्थिति में स्थिरता पायी जाती है।

(3) आयु (Age)— आयु को सामाजिक स्तरीकरण के एक आधार के रूप में सभी समाजों में मान्यता रही है। भारतीय समाज में वृद्धावस्था एक सम्मानपूर्ण स्थिति रही है। यहाँ वृद्ध व्यक्तियों को विशेष आदर की दृष्टि से देखा गया है। चाहे वृद्ध व्यक्ति उच्च जाति का हो या निम्न जाति का, चाहे वह धनी हो या निर्धन, लोगों का आदर प्राप्त करता रहा है। परिवार, जाति और ग्रामीण समुदायों में वृद्ध व्यक्तियों को कम आयु के व्यक्तियों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त होती रही है। परिवार में कर्त्ता, जाति-पंचायतों में पंच और गाँव में मुखिया का पद साधारणतः आयु के आधार पर ही तय होता रहा है।

(4) गुण एवं स्वभाव (Gunas and Nature)— गीता में बतलाया गया है कि समाज का विभिन्न स्तरों (वर्णों) में विभाजन गुणों के आधार पर हुआ है। भारतीय दर्शन के अनुसार ये गुण सत्व, रज तथा तम हैं। इन गुणों से ही मन की तीन प्रवृत्तियाँ— सात्विक, राजसिक तथा तामसिक बनती हैं। सात्विक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सत्यता, पवित्रता तथा संयम को विशेष महत्त्व देता है और जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखता है। राजसिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति को विशेष महत्त्व देता है और उसमें क्रियाशीलता की प्रधानता पाई जाती है। तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों में अज्ञानता, अपवित्रता और छल-कपट की विशेषताएँ पायी जाती हैं। सात्विक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ब्राह्मण, सात्विक और राजसिक प्रवृत्ति वाले क्षत्रिय, राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति वाले वैश्य तथा तामसिक प्रवृत्ति वाले शूद्र कहलाये। इस प्रकार समाज का चार स्तरों या वर्णों में विभाजन व्यक्तियों के गुणों के आधार पर हुआ है। इन गुणों से व्यक्ति का स्वभाव बनता है और स्वभाव साधारणतः सरलता से नहीं बदलता। यही कारण है कि भारत में सामाजिक स्तरीकरण प्रमुखतः बन्द प्रकृति का ही रहा है।

(5) प्रजातीय भिन्नता (Racial Differences) — भारतीय सामाजिक स्तरीकरण का सबसे पहला आधार प्रजातीय भिन्नता ही रहा है। प्रारम्भ में यहाँ आर्य लोग (काकेशायड स्कन्ध के) विजेता के रूप में आये और यहाँ के मूल निवासियों द्रविड़ों (नीग्रायड स्कन्ध के) का संघर्ष

में प्रदर्शित किया। भिन्नता होने के कारण आर्यों ने अपने को द्रविड़ों से उच्च माना और अपनी उच्च परिस्थिति को बनाये रखने के लिए द्रविड़ों को दास या दस्यु के नाम से पुकारा। सामाजिक स्तरीकरण की प्रणाली में द्रविड़ों को निम्न स्थिति प्रदान की गई। इस प्रकार समाज [illegible] आर्य और द्रविड़ों के रूप में दो समान दो भागों में बँट गया। [illegible] आर्यों में [illegible] की आवश्यकता अनुभव की गई तब अन्य आधारों का महत्व स्पष्ट होने लगा। [illegible] आर्यों और दस्युओं के रूप में विभाजन प्रजातीय आधार पर ही हुआ।

भारत में सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख स्वरूप
(Main Forms of Social Stratification in India)

व्यवसाय, जन्म, गुण तथा [illegible] के आधार पर भारत में स्तरीकरण का प्रारम्भिक स्वरूप वर्ण-व्यवस्था के रूप में था। समय के साथ-साथ वर्ण [illegible] जाति व्यवस्था ने ले लिया और प्रत्येक वर्ण सैकड़ों जातियों में विभक्त हो गया। वर्तमान में सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में व्यवसाय, धन एवं सत्ता का [illegible] और आर्थिक आधार पर वर्गों का निर्माण होने लगा है। भारतीय समाज में समय-समय पर स्तरीकरण के स्वरूप बदलते रहे हैं। यहाँ इन्हीं स्वरूपों का उल्लेख किया जा रहा है।

1. वर्ण-स्तरीकरण (Varna Stratification)

प्रारम्भ में प्रजातीय भिन्नता के आधार पर समाज दो स्तर, जिन्हें आर्य एवं दस्यु अथवा द्विज और अन्त्यज कहा जाता है, में विभाजित हो गया। बाद में गुण तथा स्वभाव के [illegible] पर द्विज वर्ण के लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों में बँट गये। इस प्रकार समाज का स्तरीकरण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों के रूप में हुआ। स्तरीकरण की प्रणाली में ब्राह्मण वर्ण की स्थिति सबसे उच्च थी और फिर दूसरा स्थान क्षत्रिय और तीसरा स्थान वैश्य को दिया गया। इस प्रणाली में शूद्रों को तामसिक गुण की प्रधानता के कारण निम्नतम स्थान प्राप्त हुआ। प्रत्येक वर्ण के अधिकार और दायित्व एक दूसरे से भिन्न थे। प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित नहीं होकर गुण तथा स्वभाव पर आधारित होने के कारण व्यक्ति का वर्ण परिवर्तन सम्भव था। यद्यपि स्तरीकरण की इस व्यवस्था में मुक्त प्रणाली (Open System) की कुछ विशेषताएँ अवश्य पायी जाती हैं परन्तु व्यवहार रूप में वर्ण परिवर्तन सम्भवतः उतना सरल नहीं था जितना साधारणतः समझा जाता है।

2. जाति-स्तरीकरण (Caste Stratification)

भारतीय सामाजिक संगठन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता जाति व्यवस्था ही है। भारतीय समाज हजारों एसे जातीय और उप-जातीय समूहों में बँटा हुआ है जिनकी सदस्यता का आधार व्यक्ति के गुण एवं स्वभाव नहीं होकर जन्म है। भारतीय समाज में धीरे-धीरे स्तरीकरण के आधार के रूप में गुण तथा स्वभाव का स्थान जन्म ने ले लिया। परिणाम यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था जाति व्यवस्था के रूप में बदल गई। जो लोग वर्ण धर्म का ठीक से पालन नहीं करते, उन्हें वर्ण के अन्तर्गत ही अलग जाति के रूप में माना जाने लगा। धीरे-धीरे प्रत्येक वर्ण में जातियों की संख्या बढ़ती गई और जाति की सदस्यता पूर्णतः वंशानुगत हो गई। वर्ण परिवर्तन तो

फिर भी सम्भव था परन्तु एक जाति की सदस्यता छोडकर किसी अन्य जाति में पहुँचना प्राय. असम्भव था। विभिन्न जातियो के बीच संस्तरण भी पनपने लगा अर्थात् प्रत्येक जाति की स्थिति दूसरी जाति की तुलना म ऊँची अथवा नीची मानी जाने लगी। यहाँ तक कि एक ही वर्ण की विभिन्न जातियो म ऊँच-नीच की भावना पनपने लगी। उच्च जातियो को कई विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं तो निम्न जातियो को कुछ निर्योग्यताओ से पीडित रहना पडा है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति ने अन्तर्विवाह (Endogamy) की नीति को अपनाया। प्रत्येक जाति की अपनी जातीय पचायत भी रही है जो जातिगत नियमो का पालन नही करने वालो को कठोर दण्ड देती रही है। जाति व्यवस्था हिन्दुओ के जीवन को अनेक रूपो म प्रभावित करती रही है। जाति-व्यवस्था म व्यक्ति के गुण स्वभाव ज्ञान तथा रुचियो की ओर ध्यान नही दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह व्यवस्था सकीर्ण होती चली गई। यह व्यवस्था बन्द-वर्ग प्रणाली का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

3. वर्ग स्तरीकरण (Class Stratification)

स्तरीकरण का यह स्वरूप प्रमुखत पश्चिमी समाजो म प्रचलित है। इस मुक्त वर्ग प्रणाली (Open Class System) के नाम से भी पुकारते हैं। इसम व्यक्ति की स्थिति जन्म अथवा गुण या स्वभाव पर आधारित नही होकर योग्यता प्रशिक्षण तथा उपलब्धि पर आधारित होती है। एक वर्ग के विभिन्न व्यक्तियो की सामाजिक प्रस्थिति एक सी होती है। वर्ग स्तरीकरण का प्रमुख आधार व्यवसाय या आर्थिक स्थिति है यद्यपि जीवन-शैली व्यवहार-प्रतिमान, रहन-सहन तथा विचारधारा आदि भी वर्ग निर्धारण म योग देते हैं। आर्थिक स्थिति के आधार पर समाज अनेक वर्गों में विभाजित होता है। जिस वर्ग का उत्पादन के साधनो और सम्पत्ति पर जितना अधिक अधिकार होता है वह स्तरीकरण की प्रणाली म उतना ही ऊँचा माना जाता है। एक वर्ग और दूसरे वर्ग में ऊँच नीच का भेद पाया जाता है। भारतीय समाज म स्तरीकरण का परम्परागत स्वरूप वर्ग व्यवस्था के रूप म नही था। वर्तमान समय म औद्योगीकरण नगरीकरण, विभिन्न पेशो को अपनाने की सुविधा तथा व्यक्तिगत योग्यता को बढाने के अवसर आदि ने भारतीय समाज म स्तरीकरण के इस स्वरूप के महत्त्व को बढाने म योग दिया है। इसमे व्यक्ति अपनी स्थिति को परिश्रम एव प्रयत्न द्वारा ऊँचा उठा सकता है एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे पहुँच सकता है। धन कमाने पर एक निर्धन व्यक्ति पूँजीपति या उच्च वर्ग का सदस्य हो सकता है।

उच्च वर्ग के लोग अपने से निम्न वर्ग के लोगो के साथ साधारणत वैवाहिक सबंध स्थापित नहीं करते और सामाजिक सम्पर्क भी नहीं रखते। स्तरीकरण का यह स्वरूप जहाँ प्रतिस्पर्धा के माध्यम से व्यक्ति की कार्य-कुशलता को बढाने मे योग देता है, वहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सघर्ष को बढावा भी देता है। आज कई समाजो म वर्ग-सघर्ष दिखलाई पडते हैं। स्तरीकरण के इस स्वरूप का प्रमुख आधार आर्थिक होने से पूँजीपति और मजदूर वर्ग मे तनाव पैदा हो जाता है जो कई बार सघर्ष का रूप ग्रहण कर लेता है।

जॉनसन ने वर्ग-स्तरीकरण वाले समाजो मे परिवार को स्तरीकरण की इकाई माना है। ऐसे समाजो मे परिवार के आधार पर ही समाज मे व्यक्ति का मूल्यॉकन होता है। परिवार की स्थिति मुखिया द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय की प्रस्थिति पर आधारित होती है। परिवारो

की (धन, सम्पत्ति) साधारणतया एक अथवा दूसरे वर्ग में आता है। यद्यपि जोसेफ ने वर्ग-व्यवस्था वाले समाजों में ही परिवार को स्तरीकरण का आधार माना है परन्तु यह बात बन्द वर्ग व्यवस्था वाले समाजों पर भी समान रूप से लागू होती है। जाति व्यवस्था बन्द वर्ग प्रणाली का उदाहरण है जहाँ व्यक्ति अपने वर्ग (जाति) की सदस्यता को छोड़कर किसी अन्य की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकता। जाति-व्यवस्था वाले समाजों में तो व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण प्रमुखतः परिवार के आधार पर ही होता है। स्पष्ट है कि परिवार न केवल वर्ग व्यवस्था वाले समाजों में बल्कि जाति व्यवस्था वाले समाजों में भी स्तरीकरण का प्रमुख आधार रहा है। यहाँ हमें एक बात और ध्यान में रखनी है कि किसी भी समाज में स्तरीकरण न तो पूर्णतः जन्म (जाति) के आधार पर और न ही पूर्णतः उपलब्धि (वर्ग) के आधार पर होता है। इन दोनों का ही मिश्रित रूप प्रत्येक समाज के स्तरीकरण में देखने को मिलता है।

भारत में स्तरीकरण के उभरते प्रतिमान
(Emerging Patterns Of Stratification in India)

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि भारत में स्तरीकरण के वर्तमान लक्षण क्या हैं अथवा यहाँ स्तरीकरण के परम्परागत स्वरूपों में क्या अन्तर दिखलाई पड़ रहे हैं? औद्योगीकरण, नगरीकरण, धर्म-निरपेक्षवाद, संस्कृतिकरण तथा अनेक अन्य कारकों के संयुक्त प्रभाव से स्तरीकरण का जो स्वरूप वर्तमान भारत में विकसित हुआ है उसके प्रमुख लक्षणों पर यहाँ विचार किया जा रहा है-

(1) आज स्तरीकरण के पुराने आधार बदल रहे हैं। औद्योगीकरण के कारण विभिन्न जातियों के व्यक्ति एक साथ उद्योगों में काम करते हैं। नगरीकरण के अन्तर्गत ग्रामों से लोग काम की तलाश में नगरों में आकर बस गये हैं जहाँ जाति व्यवस्था का कुछ भिन्न रूप देखने को मिलता है। जाति का प्रमुख आधार धर्म रहा है और धर्म निरपेक्षवाद के कारण यह आधार कुछ कमजोर पड़ रहा है। परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान में जाति की कोई स्पष्ट स्थिति दिखलाई नहीं पड़ती। डॉ. श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत संस्कृतीकरण (Sanskritization) की अवधारणा से ज्ञात होता है कि नीची जातियों ने उच्च जातियों के रीति-रिवाजों, आचार व्यवहारों तथा मूल्यों को अपनाकर अर्थात् अपने जीवन के ढंग को बदल कर जातीय समूह के रूप में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। कई लोगों ने नवीन वंश नामों या गोत्रों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति की वास्तविक जाति का पता लगाना मुश्किल हो गया है विशेषतः नगरीय क्षेत्रों में। अब जाति की सदस्यता पूर्णतः बन्द प्रकार की नहीं रही है।

(2) वर्तमान भारत में विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक दूरी भी पहले की तुलना में कुछ कम हुई है। आज विभिन्न जातियों में प्रभुता अधीनता के संबंध नहीं पाये जाते। अब कोई किसी जाति को अपने से उच्च मानने को तैयार नहीं है। निम्न जातियाँ भी उच्च जातियों से समानता का दावा करती हैं और कानून की दृष्टि में सभी समान हैं भी। वयस्क मताधिकार ने निम्न जातियों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न की है। उच्च जातियों के लोग भी चुनाव के अवसरों पर वोट माँगने या समर्थन प्राप्त करने निम्न जातियों के लोगों के पास आते हैं परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी परम्परागत मूल्यों के कारण स्तरीकरण का प्रमुख आधार जाति-व्यवस्था ही है।

(3) नगरों और महानगरों में यद्यपि व्यक्ति की जाति का निर्धारण आज भी जन्म के आधार पर होता है परन्तु वहाँ जातिगत संस्तरण का महत्त्व कम हुआ है। वहाँ लोग किसी की जाति की चिन्ता नहीं करते और एक साथ उठते-बैठते और खाते-पीते हैं। अब जाति के भीतर आर्थिक शक्ति एवं राजनीतिक सत्ता के आधार पर विभिन्न स्तर दिखलायी पड़ते हैं। आज समान आर्थिक स्थिति वाले विभिन्न जातियों के लोगों का अपना पृथक् स्तर बनता जा रहा है।

(4) नगरों में अब वर्ग-व्यवस्था उदित होने लगी है। यहाँ व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण प्रमुखतः उसके व्यवसाय या पद के आधार पर होने लगा है। यहाँ व्यावसायिक या प्रकार्यात्मक समूह भी बनने लगे हैं जिनकी सदस्यता का आधार जाति नहीं होकर कार्य है। इन समूहों में विभिन्न जातियों के लोग कार्यों के आधार पर एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। नगरों में गतिशीलता अधिक पाई जाती है। यहाँ निम्न जाति का कोई व्यक्ति किसी उच्च पद पर आसीन होकर, राजनीतिक सत्ता प्राप्त करके या अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत करके किसी उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। यह कहा जा सकता है कि वर्तमान भारत में जाति व्यवस्था के साथ-साथ वर्ग-व्यवस्था के लक्षण भी स्पष्टतः दिखलाई पड़ने लगे हैं। आज कई स्थानों पर ऐसे उदाहरण भी देखने को मिलते हैं जहाँ व्यक्ति की जातिगत प्रस्थिति तो निम्न है परन्तु व्यावसायिक प्रस्थिति काफी उच्च है। आज समाज में उन व्यक्तियों का सामाजिक स्तर उच्च होता जा रहा है जिनके पास कोई अच्छा पद या आर्थिक शक्ति है अथवा जिनका राजनीति पर व्यापक प्रभाव है चाहे उनकी जाति कोई भी क्यों न हो।

इन परिवर्तनों के बावजूद भी कुछ लोगों की यह मान्यता है कि भारतीय समाज वर्ग-रहित समाज (Class less Society) की ओर बढ़ रहा है सही प्रतीत नहीं होती। इसके मूल में कुछ समाजशास्त्रीय कारण हैं। विभिन्न व्यक्तियों की बुद्धि, योग्यता, प्रशिक्षण तथा उपलब्धियों में निश्चित रूप से अन्तर पाया जाता है। साथ ही महत्त्वपूर्ण पदों पर योग्यतम व्यक्तियों को आसीन करने और उन्हें निष्ठापूर्वक अपने दायित्वों को निभाने की प्रेरणा देने हेतु पुरस्कारों को असमान रूप से वितरित करना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में विभिन्न सामाजिक स्तरों का पाया जाना स्वाभाविक है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज लोग यह महसूस करने लगे हैं कि आर्थिक साधनों के क्षेत्र में सभी को समान अवसर प्राप्त और जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ सभी की पूर्ण होनी चाहिए, आज समय की माँग है कि सभी को अपने श्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त हो, आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का न्यायोचित ढंग से वितरण हो तथा गरीब एवं अमीर का भेद कम हो। वर्तमान भारत इस दिशा में कुछ आगे बढ़ने लगा है, परन्तु हम यहाँ यह नहीं भूल जाना चाहिए कि भारतीय समाज में जन्म या जाति का महत्त्व पूर्णतः समाप्त नहीं हो रहा है। औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं आधुनिकीकरण के प्रभाव से जाति-व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य आ रहा है, परन्तु यह संस्था नष्ट हो रही हो ऐसा विभिन्न अध्ययनों में प्रतीत नहीं होता। डॉ. के.एल. शर्मा ने राजस्थान के छः गाँवों के अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि उच्च जातियाँ अधिक शिक्षित हैं, वे आर्थिक दृष्टि से भी निम्न जातियों की तुलना में अच्छी स्थिति में हैं। वे उत्तम एवं प्रतिष्ठित प्रकार के पेशों में लगी हुई हैं। शक्ति और प्रतिष्ठा के अधिकारी पद और स्थितियाँ उन्हें प्राप्त हैं। इससे प्रमाणित होता है कि एक व्यक्ति या परिवार की प्रदत्त प्रस्थिति जितनी ऊँची होती है, उन व्यक्तियों या परिवारों की उपलब्धि के द्वारा अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने की उतनी ही

सम्भावना अधिक रहेगी। डॉ शर्मा का यह निष्कर्ष ग्रामीण भारत में स्तरीकरण के स्वरूप पर अवश्य प्रकाश डालता है, परन्तु आजकल नीची जातियों में भी शिक्षा का प्रसार हो रहा है तथा उन्हें राज्य के द्वारा अनेक सुविधाएँ प्रदान की गई है। उनके लिए विभिन्न क्षेत्रों में स्थान सुरक्षित रख गये हैं तथा उन्हें भी उच्च स्थिति प्राप्त करने के अवसर मिलने लगे हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रस्थिति सबंधी असमानताओं को यथासम्भव कम करने की प्रक्रियाएँ वर्तमान भारत में चल रही हैं।

प्रश्न

1 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके प्रमुख आधारों का वर्णन कीजिए।
2 मानव समाज में सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता एवं महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
3 भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।
4 सामाजिक स्तरीकरण क्या है ? भारत में स्तरीकरण के परम्परागत आधारों का वर्णन कीजिए।
5. भारत में सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख कीजिए।
6 भारत में स्तरीकरण के उभरते प्रतिमान बताइये।
7 भारत में उदीयमान स्तरीकरण के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।
8 भारत में स्तरीकरण के वर्तमान स्वरूप में कौन-कौन सी नवीनताएँ देखने को मिलती हैं?

❑❑❑

11

भारतीय जाति व्यवस्था : अर्थ एवं प्रकृति
(Indian Caste System : Meaning and Nature)

संसार के सभी भागों में आदिकालीन समाजों से लेकर आज के आधुनिक जटिल समाजों तक में सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) का कोई न कोई रूप अवश्य पाया जाता है। सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज को कई स्तरों में इस प्रकार विभाजित कर दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह के अधिकार एवं कर्तव्य अन्य व्यक्तियों तथा समूहों की तुलना में स्पष्ट मालूम पड़े। सामाजिक स्तरीकरण के माध्यम से विभिन्न स्तर के व्यक्तियों के कार्य निर्धारित कर दिए जाते हैं और प्रत्येक स्तर का व्यक्ति यह समझ लेता है कि उसमें किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। जिस्बर्ट ने बतलाया है कि सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ ऐसे स्थायी समूहों एवं श्रेणियों में विभाजित करने वाली व्यवस्था से है जिसमें सभी समूह और श्रेणियाँ उच्चता और अधीनता के सम्बन्धों द्वारा एक-दूसरे से बंधे रहे। सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य समाज को कुछ उच्च एवं निम्न सामाजिक इकाइयों में विभाजित कर देने वाली व्यवस्था से है। यहाँ मूल प्रश्न यह उठता है कि समाज को विभिन्न इकाइयों, समूहों एवं श्रेणियों में बाँटने का प्रयत्न क्यों किया जाता है? इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक समाज यह चाहता है कि अधिक कुशल व्यक्तियों को सामाजिक व्यवस्था में वे कार्य सौंपे जाएँ जो सापेक्ष रूप से अधिक महत्वपूर्ण हों। समाज अपने अस्तित्व और प्रगति के लिए जिन कार्यों को विशेषतः महत्त्वपूर्ण मानता है, उन्हें योग्य से योग्य व्यक्तियों को सौंपना चाहता है। सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति की जाती है। एक समाज विशेष के सामाजिक मूल्यों और संस्कृति की दृष्टि से जिन कार्यों को उच्च माना जाता है, उन्हें पूरा करने वालों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है। भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण को प्रभावित करने में धार्मिक मान्यताओं का विशेष योग रहा है।

भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के रूप में किसी समय वर्ण व्यवस्था पायी जाती थी। तत्पश्चात् इसका स्थान जाति व्यवस्था ने ले लिया। जाति व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संरचना का एक प्रमुख आधार रही है, जिसने हिन्दुओं के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। हिन्दू जीवन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए जाति व्यवस्था का वैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय समाज को एक जातिगत समाज के नाम से पुकारा जा सकता है। जाति भारतीय समाज की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था है। पिछले सैकड़ों, हजारों वर्षों से जाति व्यवस्था अपने विभिन्न विधि-निषेधों के द्वारा भारतीय जीवन को प्रभावित करती रही है। लोगों ने जाति प्रणाली को ईश्वर की एक महान् कृति समझकर इसे हृदय से स्वीकार किया। आज जब परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव से लोग इसे एक अलौकिक व्यवस्था के रूप में मानने को तैयार नहीं हैं, तो इसने भी

अपने स्वरूप में परिवर्तन कर लिया है। आज यह व्यक्तिगत एवं राजनैतिक हितों की पूर्ति का साधन बनकर अपने अस्तित्व को बनाये हुए है।

भारतीय जाति प्रणाली ने विभिन्न सामाजिक समूहों को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित किया। यहाँ शायद ही कोई ऐसा सामाजिक समूह बचा हो जो इसके प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो। मुसलमान तथा ईसाई तक भी इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। 1911 की जनगणना के अनुसार हमारे देश के मुसलमानों में 94 जातीय समूह पाये गये। ईसाई भी आज अनेक उच्च एवं निम्न स्थिति वाले समूहों में विभक्त हैं।

प्रारम्भ में जाति प्रणाली अधिक जटिल नहीं थी लेकिन समय के साथ-साथ अनेक स्वरूप में परिवर्तन हुआ और आज यह प्रणाली काफी जटिल हो गई है। इसका अध्ययन समय-समय पर इतिहासकारों, मानवशास्त्रियों, जनगणना आयुक्तों तथा अंग्रेज मिशनरियों ने किया और अपने-अपने दृष्टिकोण से इसकी महत्ता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इन विद्वानों के ऐसे अध्ययनों में अनेक त्रुटियाँ रह गईं और इनके द्वारा प्रस्तुत जाति-प्रणाली के विवेचन से भ्रामक स्थिति उत्पन्न हो गई है। इसके निराकरण एवं वैज्ञानिक आधार पर भारतीय जाति प्रणाली का अध्ययन एवं विश्लेषण करने की दृष्टि से मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों के द्वारा किए गए प्रयास सराहनीय हैं।

जाति का अर्थ
(Meaning of Caste)

जाति शब्द अँग्रेजी भाषा के 'Caste' (कास्ट) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। Caste शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली शब्द Casta (कास्टा) से हुई है जिसका अर्थ प्रजाति, नस्ल या जन्म है। इस अर्थ के अनुसार जाति प्रणाली प्रजाति अथवा जन्म पर आधारित एक व्यवस्था है परन्तु जाति प्रणाली जैसी जटिल व्यवस्था को इस अर्थ के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

जाति एक ऐसा बन्द वर्ग है जो प्रमुख रूप से भारतवर्ष में ही पाया जाता है। इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होने के कारण यह मानव-मात्र के बीच ऊँच-नीच की दीवार खड़ी कर देती है। डॉ. डी. एन. मजूमदार और टी. एन. मदान ने जाति को परिभाषित करते हुए लिखा है, "जाति एक बन्द वर्ग है।"[1]

कूले ने जाति की परिभाषा इस प्रकार की है, "जब एक वर्ग पूर्णतः वंशानुक्रमण पर आधारित होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।"[2] जाति एक ऐसा वर्ग है जिसकी सदस्यता केवल जन्म से ही निश्चित होती है अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता आदि बढ़ाकर अपनी जाति परिवर्तित नहीं कर सकता। जाति जन्म पर आधारित एक ऐसा सामाजिक समूह है जो अपने सदस्यों पर विवाह, शिक्षा, व्यवसाय, धर्म, संस्कार तथा राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगाता है।

---

1 "A Caste is a closed class" Majumdar D N & Madan, T N "An Introduction to Social Anthropology", p 221

2 "When a class is somewhat strictly hereditary, we may call it a caste"

— Cooley C H Social Organisation, p 11

रिजले के अनुसार, "जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज, मानव या देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है, समान आनुवंशिक व्यवसाय को करने पर जोर देता है और सम्मति देने में समर्थ लोगों द्वारा एक सजातीय समुदाय माना जाता है।"[1] हट्टन ने जाति की इस परिभाषा की आलोचना करते हुए कहा है कि काल्पनिक पूर्वज से वंश-परम्परा गोत्र के लोग मानते हैं न कि जाति के लोग। जाति का कोई काल्पनिक सामान्य पूर्वज नहीं होता है। रिजले द्वारा प्रस्तुत की गई जाति की परिभाषा में जाति तथा गोत्र के अन्तर का ध्यान में नहीं रखा गया है जो इसका सबसे बड़ा दोष है। हट्टन ने लिखा है कि जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज अनेक आत्म-केन्द्रित एवं एक-दूसरे से पूर्णत: पृथक् इकाइयों (जातियों) में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ऊँच-नीच के आधार पर संस्कारिक रूप से निर्धारित होते हैं।[2]

मार्टिण्डल और मोनाचेसी ने लिखा है, "जाति व्यक्तियों का एसा समूह है जिसके कर्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का भाग जन्म से निश्चित होता है जिनको जादू या धर्म या दोनों की स्वीकृति और समर्थन प्राप्त होता है।"[3] इस परिभाषा में जाति की अनेक विशेषताओं को छोड़ दिया गया है, इसलिए यह अपूर्ण है।

केतकर के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं— (1) सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो सदस्यों से जन्म लेते हैं और इस प्रकार से पैदा हुए व्यक्ति ही इसमें सम्मिलित होते हैं। (2) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।[4] जाति की यह परिभाषा सामान्य रूप से सत्य है।

इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति जन्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण की वह गतिशील व्यवस्था है जो अपने सदस्यों पर विवाह, खान-पान, व्यवसाय तथा सामाजिक-सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगाती है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति-प्रणाली एक गतिशील व्यवस्था है जिसे निश्चित और स्थायी परिभाषा की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। यही कारण है कि हट्टन, घुरिए तथा एन. के. दत्त नामक विद्वानों ने जाति की परिभाषा नहीं देकर उसके प्रमुख लक्षणों का वर्णन करना ही अधिक ठीक समझा है। एन.के.दत्त ने जाति के प्रमुख लक्षणों का विवरण निम्नलिखित प्रकार से दिया है—

1. एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते। 2. दूसरी जाति के सदस्यों के साथ खान-पान के सम्बन्ध में भी कुछ प्रतिबन्ध होते हैं। 3. अधिकतर जातियों के पेशे निश्चित होते हैं। 4. जातियों में ऊँच-नीच की प्रणाली है जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर है। 5. मनुष्य की जाति का निश्चय जन्म के आधार पर जीवन-भर के लिए होता है। यदि कोई व्यक्ति उसके नियमों का ताड़न के कारण निकाल दिया जाय तो दूसरी बात है अन्यथा एक जाति से दूसरी जाति की सदस्यता ग्रहण करना असम्भव है। 6. सम्पूर्ण जाति-प्रणाली ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर आधारित है।

1. Herbert Risley "The People of India" p 5
2. J H Hutton Caste in India p 50
3. Martindale & Monachesi Elements of Sociology p 529
4. Ketkar "History of Caste in India" p 15

दत्त का उपर्युक्त उल्लेख भारतीय जाति प्रणाली की विस्तृत व्याख्या करता है तथा ये लक्षण काफी सत्य भी हैं।

जाति व्यवस्था की प्रकृति (विशेषताएँ)
[Nature (Characteristics) of Caste System]

जाति व्यवस्था के संरचनात्मक और संस्थात्मक दोनों पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ जी एस घुरिए ने इसकी छः विशेषताएँ बताई हैं। आपने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि ये विशेषताएँ जाति प्रणाली के मूल रूप से सम्बन्धित हैं जबकि वह अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के आधुनिक विचारों से अप्रभावित थी।[1]

1. **समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)**-भारतीय जाति प्रणाली के आधार पर हिन्दू समाज विभिन्न खण्डों में विभाजित है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित हैं। खण्ड विभाजन का अर्थ यह है कि जाति प्रणाली युक्त समाज के सदस्यों की सामुदायिक भावना सीमित होती है। उनकी सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर, अपनी जाति के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों के रूप में होती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति समुदाय की बजाय अपनी जाति के प्रति अधिक श्रद्धा रखता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति के नैतिक नियमों का पालन नहीं करता तो उस पर जुर्माना किया जाता है और कभी-कभी उसे जाति से निकाल भी दिया जाता है।

2. **संस्तरण (Hierarchy)**—जाति प्रणाली की एक अन्य विशेषता यह है कि विभिन्न खण्डों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण अथवा उतार-चढ़ाव की एक प्रणाली होती है। इस प्रणाली में जन्म के आधार पर प्रत्येक जाति की निश्चित स्थिति होती है। इस संस्तरण में ब्राह्मणों का खण्ड अथवा उनकी स्थिति सबसे ऊपर होती है। इसके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आते हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में दृढ़ता एवं स्थिरता अधिक होती है। यही कारण है कि एक नीची जाति के व्यक्ति के लिए ऊँचे स्तर पर उठना मुश्किल है। इस जातीय संस्तरण में ब्राह्मणों तथा शूद्रों की स्थिति काफी स्थिर है, क्योंकि ब्राह्मणों का, जो इस संस्तरण में सबसे ऊपर हैं और ऊपर जाना तथा शूद्रों का जो सबसे नीचे हैं और नीचे जाना असम्भव है। परन्तु इन दो जातियों के बीच असंख्य ऐसी जातियाँ हैं जो अपने आपको अपने पास वाली जाति से उच्च प्रमाणित करने की कोशिश करती रही हैं।

3. **भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restriction on Fooding and Social Intercourse)**—*जाति-प्रणाली के कारण भोजन तथा सामाजिक सहवास के* सम्बन्ध में अनेक निषेधात्मक नियम पाये जाते हैं। प्रत्येक जाति के ऐसे नियम हैं कि कोई व्यक्ति पक्का, कच्चा तथा फलाहारी भोजन किन व्यक्तियों के हाथ का बना, किनके साथ कर सकता है तथा किनके हाथ का पानी पी सकता है। प्रायः ब्राह्मणों के हाथ का कच्चा तथा पक्का खाना सब जातियों के व्यक्ति खा लेते हैं जबकि शूद्र के हाथ का बना हुआ भोजन किसी भी अन्य जाति के लोग नहीं खाते हैं।

---

1 G S Ghurye Caste Class and Occupation p 2-19

4. विभिन्न जातियो की सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ तथा विशेषाधिकार (Civil and Religious Disabilities and Privileges)— जाति-प्रणाली के अन्तर्गत सस्तरणात्मक व्यवस्था क अनुसार उच्च जातिया का अनक सामाजिक और धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि निम्न जातियो को कई निर्योग्यताएँ रही हैं। ब्राह्मणो को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि अछूत जातियाँ अनक प्रकार की निर्योग्यताओ स पीडित हैं। दक्षिणी भारत में अछूत जातियो की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है। वहाँ अछूत लाग उच्च जातिया का स्पर्श नही कर सकते थ, उन्हे अपनी शकल नही दिखा सकत थ। आजकल अनक सरकारी एव गैर सरकारी प्रयत्नों के कारण अछूतो पर लगाए गए प्रतिबन्ध ढाल पड गय हैं।

5.पेशो के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव (Lack of Unrestricted choice of Occupation)—विभिन्न जातीय समूहा क अपन अपन परम्परागत पश रह हैं और उन्हे छाडना वे साधारणत उचित नही समझत। यही कारण है कि ब्राह्मण पौराहित्य और हरिजन सफाई करने के काम का ही सामान्यत करत रह हैं। यद्यपि कुछ पेश एस भी हैं जैस खती व्यापार तथा सना की नौकरी आदि जिन्ह सभी जातिया क लाग चुन सकत हैं। सभी जातियाँ न कवल अपन सदस्यों को अन्य जातियों क पश अपनान स राकती हैं बल्कि अन्य जातियों क व्यक्ति भी उन्ह एसा करन स राकत हैं। मुगल साम्राज्य की स्थापना क बाद पेशे सम्बन्धी प्रतिबन्ध काफी ढील पडत गए हैं।

6 विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restriction on Marriage)—जाति प्रणाली क अन्तर्गत विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध भी पाय जात हैं जिनम अन्तर्विवाह का नियम विशेष रूप म उल्लखनीय है। यहाँ प्रत्यक जाति अनेक उपजातियो म विभाजित है और प्रत्यक उपजाति क लाग अपनी ही उपजाति म विवाह कर सकत हैं। इस प्रकार उपजाति अन्तर्विवाह (Sub-Caste Endogamy) का कठोर नियम प्रचलित है। कोई भी व्यक्ति सामान्यत अपनी उपजाति से बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता। वस्टरमार्क नामक विद्वान न जाति प्रणाली की इस विशपता को "जाति प्रणाली का सार तत्त्व' (The essence of the caste system) माना है।

जाति व्यवस्था की कुछ सामान्य विशेषताएँ
(Some General Characteristics of the Caste System)

1 जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित हाती है।
2 एक जाति क व्यक्ति साधारणत अपनी जाति क लागो क साथ ही खान-पान का सम्बन्ध रख सकते हैं।
3 अधिकाश जातियों क निश्चित व्यवसाय हात हैं।
4 जाति प्रणाली ब्राह्मणो की श्रेष्ठता पर आधारित है।
5 सभी जातियो मे ऊँच-नीच तथा छुआ-छूत सम्बन्धी नियम पाए जात हैं।
6 जाति प्रणाली में निम्न जातियो क सदस्यो क लिए अनेक सामाजिक तथा धार्मिक निर्योग्यताएँ हाती हैं।
7 जाति क नियमो का उल्लघन करन वाल व्यक्ति को जाति स निष्कासित कर दिया जाता है।
8 एक जाति के सदस्य जाति अन्तर्विवाह की प्रथा क अनुसार अपनी जाति में ही विवाह कर सकत हैं।

जाति प्रणाली की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह जन्म पर आधारित सामान्य रूप से स्वीकृत नियमों की एक ऐसी कार्यात्मक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का निर्धारित किया गया है। इसने एक बन्द समाज (Closed Society) का निर्माण में योग दिया है।

वर्तमान समय में जाति व्यवस्था की विशेषताओं में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं, आज यातायात एवं संचार के साधनों के विकास, पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार, नवीन शिक्षा प्रणाली तथा अनेक आन्दोलनों के प्रभाव, सामाजिक विधि विधानों एवं नवीन आविष्कारों तथा औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के परिणामस्वरूप जाति प्रणाली के प्रतिबन्ध ढीले पड़ते जा रहे हैं। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत पायी जाने वाली रूढ़िवादिता एवं संकीर्णता कम होती जा रही है। अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है एवं विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक दूरी कम होती जा रही है। विभिन्न जातियों के लोग अनेक अवसरों पर एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने एवं एक-दूसरे के साथ खान पान का सम्बन्ध रखने लगे हैं। नगरीय क्षेत्रों में बाहर से आकर बसने वाले अनेक लोग अपने को किसी उच्च नवीन जाति का घोषित करते हैं। धन, प्रतिष्ठा एवं पद के आधार पर जाति को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जाता है। इन सब परिवर्तनों से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जाति प्रणाली पूर्णतः शिथिल हो चुकी है। वास्तविकता यह है कि जाति ने अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लिया है। अपने नवीन रूप में इसने राजनीति में प्रवेश किया है। आर्थिक क्षेत्र में जातिवाद का सर्वत्र बोलबाला है। कहने का तात्पर्य यह है कि जाति व्यवस्था का हिन्दू समाज में आज भी अनेक रूपों में महत्त्व पाया जाता है।

जाति और गोत्र (Caste and Clan)

जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण एवं खण्ड विभाजन पाया जाता है। दूसरी ओर गोत्र एक पक्षीय परिवारों का एक ऐसा संकलन है जिसके सदस्य अपने को एक ही सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं। माता अथवा पिता के वंश के सभी रक्त-सम्बन्धियों को यदि जोड़ा जाय और उस वंश-समूह में एक ही पूर्वज की सभी सन्तानों को सम्मिलित कर लिया जाय तो उसे गोत्र कहते हैं। गोत्र के विषय में ऑगबर्न और निमकॉफ ने बताया है कि यह एक अर्द्ध-पारिवारिक संगठन है। यह रक्त सम्बन्धी परिवार से अधिक बड़ा होता है और साधारणतः गोत्र कहलाता है। यह सम्बन्धियों का संगठन है जो ग्रामों में हो सकता है। इसके व्यक्ति या तो सम्बन्धित होते हैं या सम्बन्धित माने जाते हैं तथा ये अपनी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से मानते हैं। विज्ञानेश्वर ने कहा है कि वंश-परम्परा में जो नाम प्रसिद्ध होता है, वही गोत्र कहलाता है। एक गोत्र के लोगों में एक ही सामान्य पूर्वज की सन्तान माने जाने के कारण आपस में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकते।

जाति तथा गोत्र में अन्तर (Distinction between Caste and Gotra)

(1) गोत्र प्रायः एक काल्पनिक समूह होता है जबकि जाति एक वास्तविक एवं संगठित समूह है।

(2) गोत्र के सदस्य अपनी उत्पत्ति एक ही सामान्य पूर्वज से मानते हैं जो काल्पनिक भी हो सकता है, जाति के सदस्य अपनी उत्पत्ति कभी भी किसी काल्पनिक पूर्वज से नहीं मानते।

(3) साधारणत: गात्र बहिर्विवाही समूह हाता है अर्थात् एक गात्र क सदस्य सागोत्रिय लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध न करके, अन्य गोत्र के लागा क साथ करते हें, परन्तु जाति एक अन्तर्विवाही समूह होता है अर्थात् प्रत्यक जाति क सदस्य अपनी जाति के लागों क साथ ही विवाह करत हैं।

(4) जाति-व्यवस्था क अन्तर्गत विभिन्न जातियो में ऊँच-नीच का एक सस्तरण पाया जाता है जबकि विभिन्न गोत्रों मे सामान्यत काई सस्तरण नही पाया जाता, सब गात्रों की स्थिति समान होती है।

(5) जाति अपने सदस्यो पर खाने-पीन तथा व्यवसाय चुनन क सम्बन्ध मे अनक प्रतिबन्ध लगाती है जबकि गोत्र इस सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

जाति और जनजाति (Caste and Tribe)

आदिम समुदायों मे जनजाति और हिन्दू समाज में जाति महत्वपूर्ण सामाजिक समूह हैं। इन दोनों के अर्थ क सम्बन्ध मे काफी भ्रम रहा है। कभी कभी जाति और जनजाति का प्रयोग पर्यायवाची रूप मे किया गया है। बहुत-सी जनजातियों को जाति और जातियो का जनजातियाँ कहा गया है। जाति और जनजाति का अन्तर स्पष्ट करने के पूर्व जनजाति का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

नातदारी सम्बन्ध, सामान्य भौगोलिक क्षेत्र, एक राजनीतिक सगठन, एक भाषा और परस्पर सहारक सघर्षों की अनुपस्थिति एक जनजाति की मुख्य विशषताएँ मानी गयी हैं। डॉ मजुमदार ने जनजाति को एक ऐसा सामाजिक समूह माना है जिसका एक भौगालिक क्षेत्र हाता है, जो अन्तर्विवाही है जिसम कार्यों का विशेषीकरण नही हाता, जो जनजातीय अधिकारियों द्वारा शासित होता है, जिसकी एक भाषा या बोली होती है जा अन्य जनजातियों या जातियो स सामाजिक दूरी स्वीकार करता है जो अपनी जनजातीय परम्पराओं, विश्वासों और प्रथाओ को मानता है ओर जो जातीय ओर क्षेत्रीय एकीकरण की एकरूपता क प्रति जागरूक होता है।[1] डॉ. मजुमदार न जनजाति का इस प्रकार परिभाषित किया है, "एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक सकलन होती है, जिसका एक सामान्य नाम होता है जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं, एक-सी भाषा बोलते हैं और विवाह व्यवसाय या उद्याग के विषय मे कुछ निषधों का पालन करते हैं तथा परस्पर एक निश्चित एव मूल्याकित आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।"[2]

इम्पीरियल गजटियर ऑफ इण्डिया में जनजाति की परिभाषा इस प्रकार की गई है, "एक जनजाति परिवारो का एक सकलन है जिसका एक नाम होता है, जो एक बोली बोलती है, एक सामान्य भू-भाग पर अधिकार रखती है या अधिकार बताती है ओर जो अन्तर्विवाही रही है, चाहे अब अन्तर्विवाही न हो।"

---

1 D N Majumdar Eastern Anthropologist" Sept. Nov , 1958

2 D N Majumdar Races and Cultures of India " p 355

जाति तथा जनजाति में अन्तर (Distinction between Caste and Tribe)

(1) जाति के लोगों का अधिकांशतः एक ही व्यवसाय होता है जबकि एक ही जनजाति के लोग अलग-अलग व्यवसाय करते हैं। जनजाति में जाति की तुलना में आर्थिक स्वतन्त्रता अधिक पायी जाती है परन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि देश में अनेक ऐसी जनजातियाँ भी हैं जो एक ही व्यवसाय में लगी हुई हैं और विभिन्न आवश्यक वस्तुओं के लिए अन्य जनजातियों पर निर्भर हैं। वर्तमान समय में जाति और व्यवसाय का सम्बन्ध ढीला पड़ता जा रहा है और एक ही जाति के लोग विभिन्न व्यवसायों में लग रहे हैं।

(2) प्रत्येक जनजाति का अपना एक विशिष्ट राजनीतिक संगठन होता है लेकिन जाति का इस प्रकार का कोई स्पष्ट राजनीतिक संगठन नहीं पाया जाता। हाँ इतना अवश्य कि नीची समझी जाने वाली जातियों की पंचायतें अपनी-अपनी जातियों के लिए राजनीतिक संगठन के रूप में कार्य करती हैं।

(3) एक जाति बहुत-सी उपजातियों से मिलकर बनती है परन्तु एक जनजाति में उप-जनजातियाँ नहीं पायी जाती विभिन्न सामाजिक स्थिति के लोग अवश्य पाए जाते हैं। मैक्स वेबर के अनुसार- जहाँ एक जनजाति में पद और प्रस्थिति के भेद पाये जाते हैं वहाँ एक जाति के सभी सदस्यों का पद एक समान होता है।

(4) जाति किसी काल्पनिक पूर्वज से अपनी उत्पत्ति नहीं मानती जबकि जनजातियाँ विभिन्न कल्पनाओं को ही अपनी उत्पत्ति का आधार मानती है।

(5) जाति में अन्तर्विवाह के नियम का पालन किया जाता है, प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति में ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसके विपरीत जनजाति में अन्तर्विवाह के नियम का कठोरता से पालन नहीं किया जाता। वह पूर्णतः अन्तर्विवाही समूह नहीं होता। परन्तु आज विवाह की दृष्टि से जाति और जनजाति दोनों में समानता दिखाई पड़ती है। जहाँ लोग अपनी जनजाति के बाहर विवाह करने लगे हैं वहाँ जाति के बाहर भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे हैं।

(6) जनजातियों के अपने विशिष्ट धार्मिक विश्वास देवी देवता और विधि संस्कार रहे हैं परन्तु साथ ही ये हिन्दू कर्मकाण्डों का अनुसरण और उनके देवी देवताओं की भी पूजती रही हैं। ये हिन्दू पुरोहितों की सेवाएं भी प्राप्त करती रही हैं। दूसरी ओर, विभिन्न जातियों के लोग अपने ही धार्मिक विश्वासों और देवी देवताओं को मानते रहे हैं। प्रत्येक जनजाति का अपना धर्म और देवी देवता रहे हैं जबकि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का अपना कोई पृथक धर्म और देवी देवता नहीं पाये जाते।

जनजातियों का जाति में रूपान्तरण
(Transformation of Tribes into Castes)

डॉ मजूमदार का कथन है कि प्रारम्भिक समय से ही जनजाति से जाति के रूप में शान्त परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन अनेक तरीकों से हुआ है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि आज की अधिकतर नीची या बाह्य जातियाँ पहले जनजातियाँ ही थीं। वास्तव में हिन्दू जाति व्यवस्था के प्रारम्भिक सन्दर्भों में तीन आर्य जातियों का ही उल्लेख है और एक चौथी या एक चौथी और एक पाँचवी जाति शूद्र और चाण्डाल काली चमड़ी और पिचकी हुई नाक वाले जनजातीय लोगों से ही बनी है।

रिजले ने जनजातियों के जातियों में रूपान्तरित होने की चार प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है—(1) किसी जनजाति के प्रमुख लोग स्वतन्त्र भू-स्वामी बनकर किसी ब्राह्मण पुरोहित से किसी विशिष्ट जाति की सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं। ये लोग अक्सर अपने को राजपूत कहने लग जाते हैं। (2) बहुत-से जनजातीय लोग हिन्दू धर्म के किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेते हैं और अपना जनजातीय नाम छोड़ देते हैं। (3) एक सम्पूर्ण जनजाति अथवा इसका एक बहुत बड़ा भाग अपनी वंशावली बदलवा कर एक नई जाति के रूप में हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो जाती है, और (4) पूरी जनजाति ही अपना जनजातीय नाम परिवर्तित किये बिना ही धीरे-धीरे हिन्दुओं में सम्मिलित हो जाती है। डॉ. मजुमदार ने इन चार प्रक्रियाओं के अतिरिक्त एक पाँचवी प्रक्रिया बतायी है जिसमें किसी जनजाति का कोई सदस्य किसी विशिष्ट जाति का उपनाम और गोत्र अपना लेता है और कुछ समय बाद उस जाति में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लग जाता है। जिस जाति का वह सदस्य बनने की कामना करता है, उसका धन और प्रभाव उस जाति के सदस्यों को उसको ओर आकर्षित करते हैं और इस तरह लम्बी अवधि में वह उस जाति का एक स्थायी सदस्य बन जाता है।[1]

मैक्स वैबर अपने प्रसिद्ध लेख 'सोशियल स्ट्रक्चर्स' में एक भारतीय जनजाति को उस समय भारतीय जाति में परिवर्तित मानते हैं जब वह क्षेत्रीय अर्थ और महत्त्व खो देती है। आधुनिक समय में आवागमन और संचार-साधनों के विकास, शिक्षा प्रसार, औद्योगीकरण और विभिन्न विकास योजनाओं के कारण जनजातीय लोगों का अन्य लोगों के साथ सम्पर्क बढ़ा है। इसके फलस्वरूप अनेक जनजातीय समूह अन्य लोगों की जीवन विधि अपनाते जा रहे हैं, हिन्दुओं की प्रथा और परम्पराओं को अपना रहे हैं। कुछ पुरोहित हिन्दू जाति व्यवस्था में सम्मिलित होने के इच्छुक जनजातीय लोगों के आध्यात्मिक मार्गदर्शक बन जाते हैं। वे उन्हें अपने पड़ौसी हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताएं, विधि संस्कार और रीति-रिवाज स्वीकार करने के लिए प्रेरित करते हैं और हिन्दुओं के साथ सामाजिक और धार्मिक अन्तर को कम से कम करने का प्रयास करते हैं। कालान्तर में ऐसे जनजातीय लोग किसी जाति की सदस्यता ग्रहण कर ही लेते हैं और ऐसा करने के लिए उन्हें औपचारिक रूप से अपने धार्मिक कर्मकाण्डों को छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। दीनाजपुर, रंगपुर, जलपाईगुड़ी और कूच-बिहार की पालिया जनजाति क्षत्रियों से अपनी उत्पत्ति का दावा करती हैं और अपने को 'राजवंशी' कहती है। यह जनजाति से जाति में परिवर्तन का एक उदाहरण है। जनजातीय लोग हिन्दुओं की उच्च भौतिक संस्कृति से काफी प्रभावित हैं, वे प्रजातीय और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दुओं को अपने से श्रेष्ठ मानते हैं। जनजातीय लोगों की दृष्टि में हिन्दू होना एक गौरव की बात है, प्रतिष्ठा-सूचक है और इसलिए कई जनजातीय लोग जाति-व्यवस्था के माध्यम से हिन्दू समाज का अंग बनते जा रहे हैं। जब जनजातीय लोग जातीय संस्तरण में प्रवेश करते हैं तो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी काफी परिवर्तन आ जाता है। वे व्यक्तिवादिता, आर्थिक लाभ और स्वयं के हित को प्रधानता देने लगते हैं। पुराने मूल्यों का महत्त्व कम होने लगता है और नवीन प्रथाओं को वे अपनाने लगते हैं।

---

1 Majumdar & Madan, op cit, p 243

प्रश्न

1. जाति का परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
2. डॉ. घुरिये द्वारा बतलाई हुई जाति व्यवस्था की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. भारत मे जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए तथा हिन्दू सामाजिक सरचना में इसकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।
4. "जाति एक बन्द वर्ग है।" विवेचना कीजिए।
5. जाति तथा जनजाति एव जाति तथा गोत्र पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
6. जाति व्यवस्था में प्रचलित वैवाहिक और सहयोगी प्रतिबन्धों की समाजशास्त्रीय व्याख्या कीजिए।
7. जाति व्यवस्था में प्रचलित खानपान और सामाजिक सहवास के प्रतिबन्धों की समाजशास्त्रीय व्याख्या कीजिए।



12

जाति व्यवस्था की उत्पत्ति एवं प्रकार्य

(Origin And Functions of Caste System)

भारतीय जाति प्रणाली एसी आश्चर्यजनक सस्था रही है कि उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध म निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसका स्वरूप विभिन्नतामय है। यह एक सदैव परिवर्तनशील सस्था क रूप म रही है। वास्तव में यह कहना अत्यन्त कठिन है कि इस जटिल एव परिवर्तनशील सस्था की उत्पत्ति और विकास म किन किन कारकों का कितना योग रहा है। इस सस्था क विश्लेषण की दृष्टि स अनक अध्ययन एव अनुसधान पिछले करीब सौ वर्षों स चल रह हैं। फिर भी इसक उद्भव का प्रश्न इतना विवादास्पद है कि उसक सम्बन्ध म आज तक किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका है। न कवल वद महाकाव्य धर्मशास्त्र स्मृतियों आदि क लखकों न ही बल्कि पाश्चात्य दशों और भारतवर्ष क अनक समाजशास्त्रियों एव मानवशास्त्रियों न भी इस सस्था का गहन अध्ययन किया है और इसकी उत्पत्ति पर प्रकाश डालन क दृष्टिकोण स प्रत्येक न अपना एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है परन्तु इन विद्वानों म स प्रत्यक न अपन-अपने सिद्धान्त के आधार पर इस जटिल सस्था क कवल एक पहलू पर विशष रूप स जोर दिया है। ब्लन्ट नामक विद्वान ने कहा है "इनमें स कुछ सिद्धान्त तो बिल्कुल हास्यास्पद हैं लकिन जिन सिद्धान्तों को काफी चतुरता और वैज्ञानिक रूप स प्रस्तुत किया गया है व भी जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति क वास्तविक आधार को स्पष्ट नहीं करते।"[1] इस सस्था की उत्पत्ति क सम्बन्ध म प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं (1) परम्परात्मक सिद्धान्त (2) धार्मिक सिद्धान्त (3) राजनैतिक सिद्धान्त (4) व्यावसायिक सिद्धान्त (5) उद्विकासीय सिद्धान्त (6) प्रजातीय सिद्धान्त, (7) आदिम सस्कृति या माना का सिद्धान्त (8) सांस्कृतिक एकीभाव का सिद्धान्त।

परम्परात्मक सिद्धान्त (*Traditional Theory*)

बहुत स विद्वानों का मत है कि जाति प्रणाली की उत्पत्ति हिन्दू-परम्परा क अनुसार हुई है। हट्टन नामक समाजशास्त्री इसी मत को मानत हैं। इस सिद्धान्त की सबस प्राचीन व्याख्या ऋग्वद क 'पुरुष सूक्त' क एक मन्त्र म मिलती है। इसक अतिरिक्त उपनिषदों, महाकाव्यों, धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में भी इसकी व्याख्या की गई है। इस सिद्धान्त क अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मा क मुख स क्षत्रिय बाहु स, वैश्य जघा अथवा उदर स और शूद्र पैर स उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख स हुई है और मुख ही पालन का कार्य करता है इसलिए ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन करना, शिक्षा दना आदि है जिसस वदों की रक्षा हो सक। बाहु शक्ति की सूचक है, इसलिए क्षत्रियों का कार्य अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग सना म कार्य और जीवन तथा धन की रक्षा करना है जिसस राज्य-व्यवस्था समुचित रूप स कायम रह सक। जघा अथवा उदर स उत्पत्ति होन क कारण वैश्यों

1 E A H Blunt "The Caste System in Northern India" p 11

का कार्य कृषि व्यापार, पशुपालन दान देना आदि है जिससे समाज में धन उत्पादित हो सके। पैरों से उत्पत्ति होने के कारण शूद्र का कार्य ऊपर बताये तीनों वर्णों की सेवा करना है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि जन-कल्याण का ध्यान में रखते हुए विभिन्न कार्यों को पूर्ण करने के लिए अलग-अलग समय पर ब्रह्मा ने भिन्न-भिन्न वर्णों का जन्म दिया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त और उपनिषदों में वर्णित तथ्यों से स्पष्ट है कि पूर्वोक्त सामाजिक व्यवस्था जाति प्रणाली नहीं बल्कि वर्ण व्यवस्था थी।

मनुस्मृति में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार ही वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है परन्तु जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि प्रतिलोम विवाह और वर्णसंकरता इसके लिए उत्तरदायी हैं। विभिन्न वर्णों के बीच विवाह के माध्यम से मिश्रण के बढ़ने के साथ-साथ उपजातियों की संख्या भी बढ़ती गयी। महाभारत में बताया गया है कि चार वर्णों से विभिन्न जातियों की उत्पत्ति कैसे हुई। उस समय समाज में अनुलोम विवाह (उच्च वर्ण के लड़के का निम्न वर्ण की लड़की से विवाह) मान्य था और ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान को कोई समस्या नहीं थी। लेकिन प्रतिलोम विवाह (उच्च वर्ण की लड़की का निम्न वर्ण के लड़के से विवाह) समाज में अमान्य था तथा ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान को माता-पिता में से किसी का भी वर्ण नहीं मिल सका। अतः ऐसी सन्तानों को नई जातियों में रखा गया। स्पष्ट है कि महाभारत में वर्णसंकरता के आधार पर ही विभिन्न जातियों की उत्पत्ति को समझाया गया है।

समालोचना (Criticism): (1) इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के भिन्न-भिन्न अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है जो आज के वैज्ञानिक युग में केवल एक अलौकिक कल्पना ही कही जा सकती है वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। (2) यह कहना कि प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों से नई जातियों की उत्पत्ति हुई, पूर्णतः सत्य नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर एक ही वर्ण में पाई जाने वाली विभिन्न जातियों की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। वास्तव में जातियों तथा उपजातियों की उत्पत्ति में अनेक कारकों का भाग रहा है। (3) इस सिद्धान्त का एक अन्य दोष यह है कि इसमें वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था को एक मानकर इसकी उत्पत्ति को एक साथ जोड़ दिया गया है। वास्तविकता यह है कि इन दो व्यवस्थाओं की उत्पत्ति के आधार अलग-अलग रहे हैं।

धार्मिक सिद्धान्त (Religious Theory)

जाति प्रणाली की उत्पत्ति के धार्मिक सिद्धान्त के प्रवर्तकों में होकार्ट तथा सेनार्ट नामक विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

(क) होकार्ट का सिद्धांत (Theory of Hocart)— होकार्ट का विचार है कि धार्मिक प्रथाओं एवं सिद्धान्तों के कारण समाज का विभाजन हुआ है। आपकी मान्यता है कि धार्मिक क्रियाओं अथवा कर्मकाण्डों के कारण जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है।[1] प्राचीन भारत में धर्म का बहुत महत्त्व था तथा राजाओं को ईश्वर का अवतार समझा जाता था। वे न केवल शासक ही बल्कि धार्मिक कार्यों

1 Hutton Caste in India p 176-77

के अधिनायक भी हाते थे। राजाओं क धार्मिक कार्यों से सम्बन्धित होने क कारण समाज में उनको सबसे उच्च स्थान प्राप्त था। ऐस अधिनायक राजाओ ने धर्म की आज्ञानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले समूहो को अलग-अलग पद, प्रतिष्ठा या सम्मान प्रदान किए। धीरे-धीरे कालान्तर में धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर बने य ही समूह जातियो के रूप मे विकसित हुए। इन जातियों द्वारा अपनाए गए पशों स सम्बन्धित पवित्रता या अपवित्रता की धारणा के आधार पर विभिन्न जातियो का स्तर ऊँचा या नीचा निश्चित हुआ। स्पष्ट है कि धार्मिक क्रियाओ क आधार पर समाज अनेक जातीय-समूहो मे विभक्त हो गया।

समालोचना (Criticism)— (1) इस सिद्धान्त का एक प्रमुख दाप यह है कि हाकार्ट जाति प्रणाली का केवल एक धार्मिक सस्था मानत हैं जबकि यह सामाजिक सस्था है। इस संस्था की उत्पत्ति मे धर्म एक कारक हो सकता है, पर यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि कवल धर्म क कारण ही इस सस्था का जन्म हुआ है। (2) इस सिद्धान्त स यह भी स्पष्ट नहीं होता कि विभिन्न जातियों में विवाह और खान-पान सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध क्यों पाए जात हैं। इस सिद्धान्त से अधिकतर समाजशास्त्री सहमत नहीं हैं।

(ख) सेनार्ट का सिद्धात (Theory of Senart)—सनार्ट न भाजन, विवाह और सामाजिक सहवास स सम्बन्धित निषधा क आधार पर जाति-प्रणाली की उत्पत्ति का समझाने का प्रयत्न किया है। आपन बतलाया है कि पारिवारिक पूजा तथा कुल-दवता म भिन्नता क कारण भाजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध प्रारम्भ हुए। एक ही दवता में विश्वास करन वाल व्यक्ति अपन आपको एक ही पूर्वज की सन्तान मानत थ तथा अपन दवता का एक विशेष प्रकार का भाजन भाग क रूप म चढ़ात थ। इन विभिन्नताओं क कारण एक दवता का मानन वाले स्वय का दूसर दवता का मानन वालों स भिन्न समझन लग। इसक अतिरिक्त भारत मे आर्यों क आगमन स मिश्रित प्रजातीय समूह बन। उधर आर्य लाग प्रजातीय शुद्धता पूजा विधियो की पवित्रता आदि को बनाए रखना चाहते थे। इन विचारों के कारण नए समूहों का जन्म हुआ। धार्मिक कार्यों मे लग लागों न अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखन क लिए अपन नैतिक बल का प्रयाग किया और जाति व्यवस्था म सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया।

समालोचना (Criticism)— (1) सनार्ट क विचारो स एसा ज्ञान हाता है कि व एक जाति क व्यक्तियों का एक ही सामान्य पूर्वज की सन्तान मानत हैं, जबकि वास्तव में प्रत्यक जाति म अनेक पूर्वजों की सन्तानें पायी जाती हैं। इस प्रकार सेनार्ट न जाति तथा गोत्र में भ्रम पैदा कर दिया है। (2) डालमैन नामक विद्वान का कथन है कि सेनार्ट ने जाति प्रणाली की उत्पत्ति को इतना सरल बना दिया है कि उनका सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता। (3) सेनार्ट का जाति प्रणाली जेसी जटिल सस्था की उत्पत्ति कवल धार्मिक तत्त्वों क आधार पर मानने का प्रयत्न तार्किक प्रतीत नहीं हाता।

राजनैतिक सिद्धान्त (Political Theory)

फ्राँसीसी पादरी अब डुबाय (Abbe Dubois) न उन्नीसवी शताब्दी मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त क अनुसार जाति प्रणाली ब्राह्मणो द्वारा आयाजित एक चतुर राजनैतिक योजना मानी गयी है। अब डुबाय का मत है कि ब्राह्मणा न अपनी सत्ता को चिरस्थायी बनाए रखने तथा अपने का दूसरो स उच्च सिद्ध करन क उद्देश्य म जाति प्रणाली की रचना की। इसके अन्तर्गत ऊँच-नीच की जा याजना बनायी गई, उसमें ब्राह्मणों न अपना स्थान सबस ऊपर रखा।

इबट्सन और डॉ. घुरिये ने भी आंशिक रूप से इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। उनका कहना है कि जाति प्रणाली की उत्पत्ति में ब्राह्मणों का सक्रिय योग रहा और इसकी रचना करते समय उन्होंने अपने लिए विशेष अधिकारों की व्यवस्था की है। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण चार विवाह कर सकता है, वह प्रत्येक वर्ण की लडकी के साथ विवाह कर सकता है जबकि अन्य वर्ण के लोग ब्राह्मण लडकी के साथ विवाह नहीं कर सकते। ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख, वह देवताओं की श्रेणी में माना जायगा। साधारण लोगों को जिन अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड दिया जाता है, उन्हीं अपराधों के लिए ब्राह्मणों के लिए केवल साधारण दण्ड की व्यवस्था की गई है। यह सब ब्राह्मणों की चतुर राजनैतिक योजना थी। डॉ घुरिये ने लिखा है, "मैं यह निष्कर्ष निकाल सकता हूँ कि भारत में जाति इण्डोआर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो गंगा और यमुना के मैदान में पला और वहाँ से देश के अन्य भागों में ले जाया गया।"[1]

घुरिये ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में प्रजातीय कारक को अवश्य स्वीकार किया है, लेकिन साथ ही यह भी माना है कि इसके विकास में ब्राह्मणों का विशेष योग रहा है। आंशिक रूप से वैदिक कर्मकाण्डों को पवित्र बनाये रखने की इच्छा, अपने को मूल निवासियों से श्रेष्ठ समझने की चेतना एवं निम्न रक्त के मिश्रण को रोकने की भावना ने उन्हें कुछ ऐसे नियम बनाने को प्रेरित किया जिससे शूद्रों के साथ उनका सम्मिश्रण नहीं हो सके। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप सामाजिक सम्पर्क, खान-पान तथा विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध विकसित हुए।

समालोचना (Criticism)—जाति प्रणाली के अन्तर्गत ब्राह्मणों को अनेक सुविधाएँ और विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह भ्रम उत्पन्न होता है कि इस प्रणाली की रचना ब्राह्मणों द्वारा की गई और इसे समाज पर लाद दिया गया। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कोई भी सामाजिक व्यवस्था समाज पर जबरदस्ती नहीं लादी जा सकती। यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ब्राह्मणों द्वारा बनायी गयी इस चतुर राजनैतिक कृत्रिम योजना को लोग हजारों वर्षों तक नहीं समझ सके और ब्राह्मण उनका शोषण करते रहे, यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जाति प्रणाली की उत्पत्ति, इसके विकास और इसकी निरन्तरता को बनाए रखने में ब्राह्मणों का विशेष योग रहा है। वास्तव में भारतीय जाति प्रणाली अत्यन्त प्राचीन मौलिक सामाजिक संस्था है जिसका विकास अनेक सामाजिक शक्तियों के पारस्परिक प्रभावों के कारण स्वाभाविक रूप से हुआ है। अतः डुबाय का यह सिद्धान्त समाजशास्त्रीय दृष्टि से अवैज्ञानिक है।

व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational Theory)

जाति प्रणाली की उत्पत्ति सम्बन्धी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नेसफील्ड (Nesfield) नामक विद्वान ने किया है। डालमैन तथा ब्लण्ट ने भी व्यावसायिक आधार पर जाति प्रणाली की उत्पत्ति को समझाने का प्रयास किया है। नेसफील्ड की मान्यता है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसायों तथा उद्योग-धन्धों के आधार पर जाति प्रणाली की उत्पत्ति हुई। आपने लिखा है, "व्यवसाय और केवल व्यवसाय ही जाति-प्रणाली की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।"[2] विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच का भेद-भाव उच्च और निम्न व्यवसायों पर आधारित है। ऊँचा या अधिक उपयोगी व्यवसाय करने

1 G S Ghurye Caste Class and Occupation, p 172

2 Function and function alone is responsible for the origin of caste system"

— Nesfield "Brief View of the Caste System" p 7

वाली जातियो का मामाजिक सरचना म ऊँचा स्थान प्रदान किया गया और नीचा या कम उपयोगी व्यवसाय करन वाली जातियो का नीचा स्थान। विभिन्न जातियो मे प्रजातीय या शारीरिक लक्षणों की दृष्टि स कोई भद नहीं किया जा सकता। जातियो म ऊँच-नीच का जो कुछ भी भद-भाव दिखाई पडता है, उसका कारण कवल ऊँच या नीच व्यवसाय हैं। जिस समूह न विशिष्ट ज्ञान के आधार पर धर्म के सम्बन्धित कार्यों पर एकाधिकार कर लिया वह ब्राह्मण कहलाया। कालान्तर में पुरोहिती कार्य आनुवशिक हो गया। इसी प्रकार प्रशासन तथा आर्थिक क्रियाओं म लग लोगों क अपन-अपन समूह बन गय जिन्होन धीर-धीर आनुवशिक रूप ग्रहण कर लिया। इन्होन अपन व्यवसाय पर एकाधिकार बनाय रखन का प्रयत्न किया। नर्मदश्वर प्रसाद की मान्यता है कि जाति-प्रणाली की उत्पत्ति का कारण आंशिक रूप म सुरक्षात्मक था और आशिक रूप स अनुकरणात्मक है।[1] आपन व्यावसायिक सिद्धान्त का समर्थन करत हुए अन्यत्र लिखा है "सम्पूर्ण वाद विवाद इस तथ्य की ओर ल जाता है कि जातियाँ अधिक या न्यून मात्रा में व्यावसायिक समूह थ और जिस समूह का जितना निम्न-व्यवसाय था उतनी ही निम्न उसकी सामाजिक स्थिति थी।" नसफील्ड न जाति-प्रणाली की उत्पत्ति म धर्म का कोई स्थान नहीं दिया है।

डालमैन क अनुसार भारतीय समाज अन्य सभ्य समाजो क समान तीन समूहों- पुरोहित, सामन्त (शासक) तथा व्यापारी मे विभाजित था। य समूह वर्ण-व्यवस्था क पहल तीन वर्णों क समान ही थ लकिन जातियों का उत्पत्ति वर्णो स नहीं हुई। उपर्युक्त तीन समूह नातदारी एव व्यवसाय क आधार पर अनक छोट छोट समूहो म बँट गय। एक ही व्यवसाय में लग परिवार समान हितो क कारण सगठित हो गए और उन्होन व्यावसायिक कारपोरशन का रूप ग्रहण कर लिया। व्यापार और व्यवसायो की उन्नति क कारण य समूह धीर धीर व्यावसायिक सघों (Guilds) मे बदल गए और व्यावसायिक ज्ञान पिता स पुत्र को हस्तान्तरित होन लगा। परिणामस्वरूप य व्यावसायिक सघ जाति-व्यवस्था का आधार बन और इनस जातियों की उत्पत्ति हुई।

ब्लण्ट की मान्यता है कि भारतीय समाज मे व्यावसायिक विभाजन क उत्पन होन से जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुइ। व्यवसाय क आधार पर यहाँ अनक व्यावसायिक सघ बन जिनकी सदस्यता प्रारम्भ म कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता था। धीर-धीर य सघ सगठित होन लग और व्यावसायिक ज्ञान को अपन तक ही सुरक्षित बनाए रखन का प्रयत्न करन लग। इसी उद्देश्य स उन्होंन अन्तर्विवाह (Endogamy) की नीति का पालन किया और य अपने ही समूह क लोगों क साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करन लग। य समूह ही बाद म जातियो मे बदल गए। आज भी अन्तर्विवाह जाति की एक महत्त्वपूर्ण विशषता है।

समालोचना (Criticism)—(1) डॉ मजुमदार क अनुसार इस सिद्धान्त का एक प्रमुख महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि इसम प्रजातीय तत्त्वो की उपक्षा की गई है। इसमे यह बतलाया गया है कि भारत की विभिन्न जातियो म प्रजातीय भद नहीं पाया जाता, जबकि यह मत कई वर्तमान खोजों स असत्य प्रमाणित हो चुका है। (2) इस सिद्धान्त क आधार पर स्पष्ट नहीं होता है कि विभिन्न जातियाँ एक-दूसर स ऊँची नीची क्यो समझी जाती हैं। लुहार जाति नीची क्यो समझी जाती है जबकि उसका काम समाज क लिए अत्यन्त उपयोगी है। (3) हट्टन न इस सिद्धान्त को

1 N Prasad The Myth of the Caste System p 26
2 Ibid, p 55

आलोचना करते हुए कहा है कि यदि पेशों के आधार पर ही ऊँच नीच का भेद-भाव पाया जाता तो देश के अलग-अलग भागों में निवास करने वाले तथा एक ही तरह के व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक स्तर में इतना अन्तर क्यों पाया जाता? (4) इस सिद्धान्त का एक दोष यह भी है कि सब जातियों की उत्पत्ति व्यवसायों के आधार पर हुई है तो फिर सभी कृषकों का एक व्यवसाय होते हुए भी उनकी जाति एक ही क्यों नहीं है? भारत में इतने अधिक व्यवसायों के नहीं होते हुए भी वर्तमान में करीब चार हजार जातियाँ एवं उपजातियाँ क्या पायी जाती हैं?

उद्विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

इबट्सन नामक विद्वान ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। *आपका कहना है कि जातियों का उदर्भव चार वर्णों से नहीं बल्कि आर्थिक संघों से हुई है। श्रम विभाजन और पेशों की विभिन्नता के कारण अनेक वर्ग बने वर्ग संघों के रूप में विकसित हुए और संघों से जातियों का विकास हुआ।*

इबट्सन ने बताया है कि जनजातियों के जीवन में उस समय परिवर्तन प्रारम्भ हुआ जब *उन्होंने खानाबदोशी जीवन छोड़कर धन उत्पादन हेतु निश्चित पेशे अपनाने प्रारम्भ किए। वे लोग* खेती के अतिरिक्त उद्योग तथा व्यापार भी करने लगे और उनके आर्थिक जीवन में जटिलता आती गई। कृषि तथा व्यापार के बढ़ने से श्रम-विभाजन की आवश्यकता हुई और लोगों ने भिन्न-भिन्न व्यवसाय करना प्रारम्भ किया। इससे विभिन्न सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति हुई। एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाले लोगों में सामुदायिक भावना का विकास हुआ तथा वे एक दूसरे की सहायता एवं हितों की रक्षा करने लगे। अपने हितों की रक्षा हेतु पेशों के आधार पर बने वर्ग व्यावसायिक संघों में बदल गये। इन व्यावसायिक संघों ने अपनी महत्ता बढ़ाने तथा व्यवसाय सम्बन्धी भेद गुप्त रखने के लिए अन्तर्विवाह के सिद्धान्त को अपनाया। एक व्यावसायिक संघ के व्यक्ति केवल अपने ही संघों के व्यक्तियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। इन संघों ने न केवल दूसरे संघों से विवाह सम्बन्धों में पृथकता की नीति अपनाई बल्कि अपनी प्रतिष्ठा के लिए आपस में संघर्ष भी किया जिसमें ब्राह्मण विजयी हुए। इन ब्राह्मणों ने अपने तथा अपने संरक्षक राजाओं के पेशों के अतिरिक्त अन्य सब पेशों को नीचा माना। उन्होंने अपने पेशे की महत्ता बनाये रखने के लिए उसका दृढ़ता से पालन तो किया ही साथ ही वे विवाह भी अपने समूह में ही करने लगे। अन्य संघों ने भी अन्तर्विवाह करने वाले ब्राह्मण-संघ का अनुकरण किया और इस प्रकार अन्तर्विवाही संघों की संख्या बढ़ने लगी। कालान्तर में इन संघों ने जातियों का रूप धारण कर लिया और इस तरह *भारतीय जाति प्रणाली का उद्विकास हुआ।*

समालोचना (Criticism) – (1) हट्टन के अनुसार इबट्सन का यह सिद्धान्त सही नहीं *माना जा सकता क्योंकि व्यावसायिक संघ तो विश्व के लगभग सभी समाजों में पाये जाते हैं किन्तु* जाति व्यवस्था का विकास केवल भारतवर्ष में ही पाया जाता है। यदि व्यावसायिक संघों या पेशों के आधार पर ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुई होती तो फिर क्या कारण है कि भारत के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश में जाति व्यवस्था का विकास नहीं हो पाया। (2) डॉ. मजूमदार के अनुसार इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सामाजिक समूहों के प्रजातीय भेदों पर रत्तीक भी ध्यान नहीं दिया गया है। (3) यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि ब्राह्मणों ने अपनी प्रतिष्ठा एवं प्रभुत्व बनाये रखने के लिए भारतीय जाति प्रणाली जैसी जटिल संस्था का जन्म दिया।

प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)

सर हर्बर्ट रिजल न सर्वप्रथम जाति प्रणाली की उत्पत्ति विषयक इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधार पर व्याख्या की। अनक विदशी एव भारतीय लखको न इस प्रणाली को उत्पत्ति म प्रजातीय तत्त्वों का स्वीकार किया है। इन लखका म विदशी लखक क्राक्स मैकाइवर, मैक्स वबर और भारतीय लखक एन क दत्त, एस सी. राय, डॉ घुरिय, डॉ मजुमदार आदि क नाम विशेष रूप स उल्लखनीय हैं। यहाँ रिजल डॉ. घुरिय और डॉ मजुमदार क मत प्रस्तुत किय जा रह हैं।

हर्बर्ट रिजल का मत है कि भारत म विभिन्न प्रजातियों क मिश्रण एव अनुलाम विवाहों क परिणामस्वरूप जाति प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इण्डा-आर्यन प्रजाति क प्रागैतिहासिक काल म फारस स भारत आन क पश्चात् जाति प्रणाली की उत्पत्ति हुई। फारस में समाज चार भागों में बँटा हुआ था। आर्यो न विभाजन की इस सामाजिक सरचना का भारतीय समाज क लिए भी स्वीकार किया। इसक अलावा आर्य लाग जब यहाँ विजता क रूप में आय ता उन्ह यहाँ क मूल निवासियों का सामना करना पडा। मूल निवासी सास्कृतिक और प्रजातीय अथवा शारीरिक दृष्टि स आर्यों स भिन्न थ। सास्कृतिक एव प्रजातीय भिन्नताओं क कारण आर्यो तथा यहाँ क मूल निवासियों म आपस म सघर्ष रहा।

इसक अतिरिक्त आक्रमणकारियो क रूप में भारत में आन क कारण आर्य लाग अपन साथ अधिक स्त्रियाँ नहीं लाय थ। स्त्रियो की कमी का पूरा करन क लिय आर्यों न अनक सास्कृतिक एव प्रजातीय भिन्नताओं क हात हुए भी यहाँ क मूल निवासियो की लडकियो स विवाह करना प्रारम्भ कर दिया और इस तरह 'अनुलाम' विवाह प्रथा की उत्पत्ति हुई, परन्तु चूँकि आर्य लाग विजता थ और व अपन को यहाँ क मूल निवासियों स श्रष्ठ समझत थ, इस कारण उन्होंन अपनी लडकियो का विवाह यहाँ क मूल निवासियो क साथ करना स्वीकार नहीं किया अर्थात् उन्होंन 'प्रतिलाम' विवाह की आज्ञा नहीं दी। जब आर्य लागो का अपनी आवश्यकतानुसार स्त्रियाँ प्राप्त हा गयी ता उन्हान अनुलाम विवाह प्रथा का समाप्त कर दिया और य आक्रमणकारी समूह विभिन्न जातियो क रूप म बदल गय। रिजल न प्रजातीय सम्पर्क एव इस प्रकार क सम्पर्क स उत्पन्न वर्ण-सकरता तथा वर्ग भद की भावना का जाति व्यवस्था क आधारभूत कारक क रूप म स्वीकार किया है।

डॉ घुरिय क अनुसार इण्डा आर्यन प्रजाति क लाग जहाँ भी गए, वहाँ उन्हान मूल निवासियो का 'दास' दस्यु' आदि शब्दो स सम्बाधित किया। भारत म आर्य लाग ईसा क करीब 2500 वर्ष पूर्व आए और यहाँ क मूल निवासियों पर विजय प्राप्त की तथा उन्ह 'दास' कहा। इण्डो-आर्यन प्रजाति न धार्मिक पवित्रता की भावना तथा अपन विजय गर्व क कारण स्वय का यहाँ के मूल निवासियों स दूर रखन का प्रयत्न किया। जब इण्डो आर्यन प्रजाति भारत में आई, तब उनम कम स कम तीन वर्ग थ जा आपस में साधारणत विवाह नहीं करत थ, यद्यपि इस प्रकार का काई निषेध नहीं था। भारत म आन के पश्चात् आर्य लागो न सबस पहल यहाँ क आदिवासियो स बन शूद्रों स विवाह करन पर कठार प्रतिबन्ध लगा दिया और उन्ह आर्यो को धार्मिक पूजा आदि करन की आज्ञा नहीं दी। वास्तव में जाति व्यवस्था क सब तत्त्व आर्यों क उन प्रयत्नो का परिणाम है जिनके द्वारा व भारत के मूल निवासियो का ब्राह्मण सभ्यता क धर्म तथा सामाजिक ससर्ग स अलग रखना चाहत थ।

डॉ. घुरिये ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में प्रजातीय तत्त्वों एवं प्रजातीय भेदभाव को काफी महत्त्व दिया है। आपने आर्यों तथा द्रविड़ों की प्रजातीय भिन्नता को जाति व्यवस्था का प्रारम्भिक स्रोत माना। आपने इस व्यवस्था के विकास में अन्य कारकों के महत्त्व को भी स्वीकार किया है।[1] डॉ. घुरिये का कथन है कि अन्तर्विवाह की उत्पत्ति सर्वप्रथम गंगा के मैदान में रहने वाले ब्राह्मणों में हुई और अन्तर्विवाह तथा जाति प्रणाली के अन्य तत्त्व वहाँ से ब्राह्मण अनुयायियों द्वारा देश के अन्य भागों में फैलाये गए। गंगा के मैदान में रहने वाले ब्राह्मणों ने शारीरिक शुद्धता एवं सांस्कृतिक दृढ़ता को बनाए रखने के लिए प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप विभिन्न वर्ग एक-दूसरे से पृथक् रहे तथा जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई।

डॉ. मजुमदार ने भी प्रजातीय सिद्धान्त को जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार माना है। प्रारम्भ में तीन ऊँचे वर्ण रंग के आधार पर एक दूसरे से भिन्न थे, ये इण्डो-आर्यन प्रजाति और भारत के मूल निवासी प्राग-द्रविड़ या भूमध्य-सागरीय प्रजातियों के मिश्रण से बने थे। इस प्रजातीय मिश्रण के अनेक कारण थे- आक्रमणकारी समूह में स्त्रियों की कमी, भारत में मूल निवासियों के स्थायी जीवन का आकर्षण, अति विकसित द्रविड़ संस्कृति की मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था, देवियों की पूजा, संस्कार, पुरोहित-व्यवस्था, शिक्षा आदि। आर्यों के भारत में आगमन के पश्चात् भी समय-समय पर अनेक अन्य प्रजातीय समूह यहाँ आते रहे तथा आक्रमणों की प्रक्रिया जारी रही। इस सम्पर्क और संघर्ष के परिणामस्वरूप अनेक नवीन सामाजिक समूहों का निर्माण हुआ। भारत में संस्कृति के संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से विभिन्न समूह बने हैं। डॉ. मजुमदार ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में लिखा है, 'विभिन्न प्रजातीय समूहों के पारस्परिक सम्पर्क और सांस्कृतिक संघर्षों ने ही भारत में विभिन्न सामाजिक समूहों को निर्मित किया है। जिन समूहों ने दूसरे प्रजातीय समूहों के मिश्रण और प्रभाव से बचकर अपनी प्रजातीय विशुद्धता और सांस्कृतिक एकता की रक्षा की, वे सभी अन्तर्विवाही बन गये।[2] इन सामाजिक समूहों-ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों ने प्रारम्भिक मिश्रण के पश्चात् प्रजातीय विशुद्धता एवं सांस्कृतिक एकता और अपनी उच्च स्थिति के स्थायित्व के लिए महत्त्वपूर्ण पेशे अपनाए, अन्य व्यक्तियों को उन पेशों को अपनाने की आज्ञा नहीं दी तथा अन्तर्विवाह के नियम प्रचलित किए। इस वर्ण व्यवस्था को समाज पर लादने के लिए ब्राह्मणों की पूर्ण सहायता ली गयी।

डॉ. मजुमदार के अनुसार, जाति व्यवस्था में किसी जाति की स्थिति या पद इस बात पर आधारित है कि उसमें किस अंश तक रक्त की शुद्धता है और उसने कहाँ तक दूसरे सामाजिक समूहों से अपने को पृथक् रखा है। सबसे अधिक ब्राह्मणों ने अपनी प्रजातीय विशुद्धता को बनाए रखा।

समालोचना (Criticism) — (1) हट्टन ने प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रजातीय सिद्धान्त द्वारा खाने-पीने के निषेधों पर प्रकाश नहीं पड़ता। इस सिद्धान्त में यह भी नहीं बताया गया है कि अछूतों या निम्न जातियों के स्पर्श से भोजन अपवित्र क्यों हो जाता है। (2) प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताओं तथा सम्पर्क के कारण ही यदि जाति व्यवस्था उत्पन्न हुई तो भारत में आने वाले मुसलमानों तथा ईसाइयों में इन दोनों के

1 G.S. Ghurye, op. cit., p. 159-77

2 D.N. Majumdar, Races and Cultures of India (1958) p. 301

बावजूद भी जाति प्रणाली का विकास क्यों नहीं हो पाया ? (3) हट्टन के अनुसार प्रजातीय भेद तथा पक्षपात के आधार पर अनुलोम विवाह के सम्बन्ध में तो प्रकाश डाला जा सकता है, पर यह बात समझ में नहीं आती कि इससे जाति व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे सम्भव हुई ? (4) इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों की यह मान्यता गलत है कि वर्ण-व्यवस्था को समाज पर लादने के लिए ब्राह्मणों के प्रभाव को काम में लाया गया, क्योंकि हट्टन के अनुसार जाति व्यवस्था की अनेक विशेषताएँ ऐसे क्षेत्रों में फैली हुई हैं जहाँ ब्राह्मणों का तनिक भी प्रभाव नहीं है। (5) भारत में न केवल जाति व्यवस्था के बल्कि भाषा सम्बन्धी भेदों तथा भौगोलिक आधार पर भी अन्तर्विवाह के नियम पाए जाते हैं। ऐसी दशा में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्विवाह के नियम ब्राह्मणों द्वारा बनाए गए। (6) इस सिद्धान्त का एक प्रमुख दोष यह है कि यह जाति व्यवस्था की उत्पत्ति केवल प्रजातीय आधार पर मानता है।

आदिम संस्कृति या माना का सिद्धान्त
(Theory of Primitive Culture or Mana)

हट्टन (Hutton) ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के कारणों का पता लगाने के लिए ऐसे आदिवासी लोगों की संस्कृति का अध्ययन करने पर जोर दिया है जो सभ्यता और बाह्य-सम्पर्कों के प्रभाव से मुक्त रहे हों। ऐसे लोगों के उदाहरण के रूप में आपने 'नागा' जनजाति के कुछ विशेष समूहों को लिया है। इन पर हिन्दू, बौद्ध तथा इस्लाम धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा है और न ही इनमें जातियाँ पाई जाती हैं। इनमें कुछ ऐसी संस्थाएँ अवश्य हैं जो जाति व्यवस्था की उत्पत्ति पर प्रकाश डालती हैं।[1] इन लोगों का प्रत्येक ग्राम एक स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई रहा है। साधारणतः एक गाँव के लोग एक ही पेशा करते हैं। किसी गाँव में केवल कपड़ा बुनने का काम, तो किसी में केवल मिट्टी के बर्तन बनाने का काम ही होता रहता है। जातक ग्रन्थ में बतलाया गया है कि कुछ व्यवसाय पृथक्-पृथक् ग्रामों में सीमित थे, कुछ में बर्तन बनाने का काम, अन्य में लोहे का काम तथा कुछ में कोई दूसरा व्यवसाय होता था।[2] यह जाति व्यवस्था के परम्परागत पेशों के समान विशेषता है जो आर्यों के आने के पहले भी भारतीय समाज में पायी जाती थी।

जाति व्यवस्था के अन्तर्गत पाए जाने वाले भोजन तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हट्टन ने 'माना' के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। 'माना' एक रहस्यमयी, अलौकिक एवं अवैयक्तिक-शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु में अनिवार्य रूप से पाई जाती है। यह वह जीवन शक्ति है जो स्पर्श-मात्र से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आ जा सकती है तथा जो हित अहित दोनों कर सकती है। इस जीवन शक्ति पर अधिक शक्तिशाली जीवन शक्तियों का प्रभाव पड़ सकता है और इस प्रभाव के फलस्वरूप नुकसान हो सकता है। यही कारण है कि 'माना' में विश्वास करने वाले लोग अपरिचित व्यक्तियों के स्पर्श से बचना चाहते हैं। हट्टन के अनुसार नागा जन-जाति में भोजन सम्बन्धी निषेधों के पाये जाने का कारण 'माना' में विश्वास ही है। अन्य शक्तियों एवं समूहों के माना से बचने के लिये यहाँ अन्तर्विवाह की प्रथा, सामाजिक सहवास पर रोक, खान-पान में छुआछूत का विचार आदि प्रारम्भ हुए।

1 Hutton op cit, p 182

2 Ibid p 113

हट्टन की मान्यता है कि जीवन-तत्वों (*Life Matter*) या आत्म-तत्व (*Soul Stuff*) तथा माना में विश्वास ही विभिन्न समूहों के लोगों के बीच भोजन, सामाजिक सहवास तथा विवाह सम्बन्धी निषेधों के लिए उत्तरदायी है। आपका कहना है कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व ही यहाँ के मूल निवासी पेशों के आधार पर अनेक समूहों में विभक्त थे। ये समूह माना की धारणा के कारण अन्य समूहों के सम्पर्क से बचना चाहते थे। आपने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में जनजातीय समूहों में पायी जाने वाली माना की धारणा और आर्यों के सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव को विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना है। लेकिन हमें यहाँ इस बात का भी ध्यान में रखना है कि आपने स्वयं इस बात को भी स्वीकार किया है कि अनेक कारकों के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हो सकी। इन कारकों में आपने भौगोलिक पृथकता, खान-पान सम्बंधी निषेध, टोटम, निषेध एवं माना सम्बन्धी विश्वास, कर्म काण्ड सम्बन्धी पवित्रता, पूर्वज-पूजा, पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त में विश्वास, विभिन्न संस्कृतियों और प्रजातियों के संघर्ष और विजय, धार्मिक एवं सामाजिक विशेषाधिकारों सहित वर्णों का विकास, आर्थिक और प्रशासकीय नीतियों एवं धार्मिक दर्शन को सम्मिलित किया है।[1]

समालोचना (Criticism)— (1) डॉ. मजुमदार तथा एस.सी. राय ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि इस सिद्धान्त में यह नहीं बताया गया है कि माना की धारणा के विश्व की सभी जनजातियों में पायी जाने के बावजूद भी उसके आधार पर केवल भारतवर्ष में ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति क्यों हुई ? (2) एक क्षेत्र विशेष में पायी जाने वाली नागा जनजाति की संस्कृति की विशेषताएँ सम्पूर्ण देश की संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं। ऐसी स्थिति में इस जनजातीय संस्कृति की कुछ विशेषताओं के आधार पर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को नहीं समझा जा सकता है। (3) हट्टन स्वयं जाति व्यवस्था की जटिलता को स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि इसकी उत्पत्ति में अनेक कारकों का योग रहा है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अन्य सिद्धान्तों की तुलना में यह सिद्धान्त अधिक प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित प्रतीत होता है।

सांस्कृतिक एकीभाव का सिद्धान्त (Theory of Cultural Integration)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक शरतचन्द्र राय के अनुसार भारत की विभिन्न प्रजातियों की सांस्कृतिक विशेषताओं के आपसी मिलन तथा अन्त क्रिया के फलस्वरूप जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है। शरतचन्द्र राय ने भारत में पायी जाने वाली विभिन्न प्रजातियों की सांस्कृतिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा है कि प्राग द्रविडों में आत्म तत्व की धारणा (Soul substance) का बहुत महत्त्व था तथा उनमें जनजातीय सामाजिक व्यवस्था थी। द्रविडों में यह विश्वास था कि पुजारी-जादूगर में कोई विशेष अलौकिक शक्ति होती है। उनमें पेशों के आधार पर व्यावसायिक विभाजन पाया जाता था और साथ ही कर्मकाण्डों की जटिलता एवं जादुई क्रियाओं में विश्वास। इण्डो-आर्यन लोगों में 'कर्म की धारणा' का विशेष महत्त्व था और उनका विश्वास था कि विभिन्न सद्गुणों और सत्-कर्मों के कारण सब वर्णों में अलग-अलग शक्तियाँ या गुण हैं। इन लोगों में वर्ण व्यवस्था थी।

---

1. Ibid. p. 169-90

प्राग-द्रविड और द्रविड तथा इण्डो-आर्यन लोगों की संस्कृति की विशेषताओं में काफी समानता पाए जाने से प्राग द्रविड लोगों ने इण्डो-आर्यन (आर्यों) की वर्ण-व्यवस्था को बिना किसी कठिनाई के स्वीकार कर लिया। इन तीनों संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव तथा एकीभाव के कारण जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। शरतचन्द्र राय के अनुसार इण्डो- आर्यन लोगों की वर्ण व्यवस्था, प्राग-द्रविडों की जनजातीय व्यवस्था और द्रविडों की व्यावसायिक विभाजन की व्यवस्था के परस्पर प्रभाव एवं संघर्ष के परिणामस्वरूप जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। आर्यों को अपने राजनैतिक प्रभाव के कारण इस व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया।

समालोचना (Criticism) — (1) इस सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि इण्डो-आर्यन, द्रविड तथा प्राग-द्रविड संस्कृतियों के परस्पर मिलन के कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। (2) इस सिद्धान्त में यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच तथा जन्म के आधार पर जाति की सदस्यता का निर्णय किस प्रकार मान्य हुआ।

जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सिद्धान्त एकांगी हैं। प्रत्येक विद्वान ने अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के प्रयत्न में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के किसी विशेष कारक पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया है। हट्टन ने लिखा है— "यह जोर देते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय जाति व्यवस्था अनेक भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारकों की अन्तःक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है जो कहीं अन्यत्र नहीं मिलता।"[1]

यहाँ हम यह स्मरण रखना चाहिए कि इस संस्था की उत्पत्ति किसी निश्चित काल में नहीं हुई बल्कि एक लम्बी अवधि में इसका विकास हुआ है जिसमें अनेक कारकों का योग रहा है। जाति व्यवस्था एक उद्विकासीय प्रक्रिया का परिणाम है। हजारों वर्षों के विभिन्न कारकों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप जाति व्यवस्था का विकास हुआ है। भारतीय प्रायद्वीप की भौगोलिक पृथकता, कर्म और पुनर्जन्म की धारणा आत्मा, टोटम माना धर्म, व्यवस्था या आर्थिक कारण, ब्राह्मणों के प्रयत्न विभिन्न जनजातीय समूहों का पृथक्करण आदि कारकों ने जाति व्यवस्था के उद्भव एवं विकास में योग दिया है।

जाति व्यवस्था के प्रकार्य
(Functions of Caste System)

जाति व्यवस्था का वर्तमान स्वरूप चाहे कैसा भी क्यों न हो, इतना निश्चित है कि इसने व्यक्ति, जातीय समुदाय, समाज एवं राष्ट्र के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। इसी का यह परिणाम है कि यह संस्था अनेक संघर्षों एवं क्रान्तियों के मध्य से गुजर कर भी सहस्त्रों वर्षों से आज तक जीवित है। जाति व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण कार्यों के फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व उत्पन्न हो सका है। यहाँ इसी व्यवस्था के प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया जा रहा है। हट्टन ने जाति व्यवस्था द्वारा किए जाने वाले कार्यों को तीन भागों में बाँटा है - (1) सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य, (2) जातीय समुदाय के लिए कार्य और (3) समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जाति के कार्य।[2]

1 "It is urged emphatically that the Indian caste system is the natural result o' the integration of a number of geographical social political, religious and economic facto s not elsewhere found in conjunction "Ibid p 188

2 J H Hutton Caste in India p 111

1. सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य

व्यक्ति के जीवन के सारे सम्बन्धों एवं घटनाओं पर जाति का अमिट प्रभाव पड़ता है। यह प्रत्येक हिन्दू के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करती है। व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जाति के कार्य निम्नांकित हैं—

(1) जाति-व्यवस्था के आधार पर जन्म से व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण हो जाता है। यदि वह जाति के स्वीकृत व्यवहार सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन न करे तो सम्पत्ति, निर्धनता, सफलता, असफलता, व्यक्तिगत गुण-दोष आदि उसे इस स्थिति से वंचित नहीं कर सकते। यदि एक व्यक्ति ब्राह्मण जाति में जन्म लेता है तो आजीवन ब्राह्मण के रूप में उसकी स्थिति सुरक्षित रहेगी। जाति के व्यवहार सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने पर उसे जाति से अवश्य निष्कासित किया जा सकता है। वर्तमान समय में, विशेष रूप से नगरीय समुदायों में धन, शिक्षा, व्यक्तिगत गुण एवं राजनैतिक सत्ता आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति निश्चित होने लगी है, लेकिन ग्रामीण समुदाय में स्थिति प्रदान करने की दृष्टि से जाति आज भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

(2) प्रत्येक जाति अपने सदस्यों के लिए वैवाहिक समूह का निर्धारण करती है। यह अपने सदस्यों को यह बताती है कि वे किस समूह में किन लोगों के साथ विवाह कर सकते या नहीं कर सकते हैं। जाति विवाह के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध भी लगाती है जिनका पालन व्यक्ति को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। वर्तमान समय में कुछ अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं तथापि इनकी संख्या बहुत कम है।

(3) प्रत्येक जाति का साधारणतः अपना निश्चित परम्परागत पेशा रहा है। उस जाति के सदस्य प्रारम्भ से उसे अपनाते रहे हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवसाय-चयन में व्यक्ति को किसी भी समस्या का सामना नहीं करना पड़ा है। पेशे का पूर्व-निर्धारण जाति के सदस्यों को अवांछित प्रतियोगिता से बचाता है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत स्वजाति व्यवसाय के पर्यावरण में बाल्यावस्था से ही पलने के कारण सदस्यों को नि:शुल्क यांत्रिक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है। एक सुनार अथवा दर्जी का लड़का अपनी जाति के परम्परागत व्यवसाय से सम्बन्धित प्रशिक्षण अपने परिवार में ही प्राप्त कर लेता है। जाति अपने सदस्यों के लिए न केवल नि:शुल्क औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करती रही है, बल्कि साथ ही अपने व्यावहारिक रहस्यों को गुप्त भी रखती रही है।

(4) जाति सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करती रही है। प्रत्येक जाति के अपने कुछ नियम एवं प्रतिबन्ध रहे हैं। अपनी जाति के नियमों एवं विधि-निषेधों का पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक रहा है। इनके विपरीत कार्य करने वाले को जाति से निष्कासित कर दिया जाता है। जाति-निष्कासन व्यक्ति के लिए सामाजिक मृत्यु के समान है। इस स्थिति से व्यक्ति सदैव बचने का प्रयास करता रहा है। परिणामस्वरूप साधारणतः व्यक्ति अपनी जाति के नियमों एवं आदेशों का पालन करते रहे हैं।

(5) प्रत्येक जाति अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का कार्य भी करती रही है। प्रत्येक जाति का अपना एक जातीय संगठन और पंचायत रही है। व्यक्ति पर किसी भी प्रकार के संकट के समय जाति के अन्य सदस्य उसकी सहायता करने को तत्पर रहे हैं। बेकारी,

दुर्घटना अथवा अन्य किसी विपत्ति के अवसर पर जाति संगठन ही व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करता है। वर्तमान समय में सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से राज्य की ओर से अनेक योजनाओं के कारण जाति के इस कार्य का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया है।

(6) जाति के माध्यम से व्यक्ति के आजीवन सभी आवश्यक कार्यों की पूर्ति होती रही है। भारतीय समाज में जातीय आधार पर श्रम-विभाजन हुआ है। विभिन्न कार्यों को अलग-अलग जातियों में बाँटा गया है। प्रत्येक जाति अपने-अपने कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से करती रही है चाहे शिक्षा से लेकर सफाई एवं मल-मूत्र उठाने तक का कार्य क्यों न हो। इस प्रकार, सभी कार्यों की व्यवस्था जातीय आधार पर होती रही है।

(7) जाति एक स्थिर सामाजिक पर्यावरण प्रस्तुत कर अपने सदस्यों को मानसिक सुरक्षा प्रदान करती रही है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति व्यवसाय के चयन अपनी प्रस्थिति तथा भूमिका और जीवन-साथी के चुनाव के सम्बन्ध में मानसिक चिन्ता से मुक्त रहा है उसे परीक्षण में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करना पड़ा है। इस प्रकार निश्चित मार्ग पर चलने का सन्देश देकर जाति व्यवस्था ने व्यक्ति को अनेक संघर्षों से बचाया है उसे मानसिक सुरक्षा प्रदान की है।

2 जातीय समुदाय के लिए कार्य

व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों के अतिरिक्त जाति-व्यवस्था स्वयं विभिन्न जातियों के लिए भी कुछ कार्य करती है जो निम्नलिखित हैं-

(1) जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की जातीय संस्तरण (Caste Hierarchy) में एक निश्चित सामाजिक स्थिति होती है। सामान्यत एक जाति की स्थिति दूसरी जातियों की तुलना में ऊँची अथवा नीची होती है। इस सामाजिक स्थिति के निर्धारण के परिणामस्वरूप विभिन्न जातियाँ एक दूसरे की विरोधी न होकर अपने अपने कार्यों की दृष्टि से एक दूसरे की सहायक होती हैं। डॉ मजुमदार और मदान के अनुसार "सामूहिक प्रयत्न और आन्दोलन के लिए सामान्य संगठन के निर्माण द्वारा स्वयं की जाति व्यक्ति के लिए गतिशीलता के अवसर बढ़ाती है।'

(2) जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति एकता के सूत्र में बँधी रही है। इस जाति समूह में व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित महसूस करता रहा है। वह आवश्यकता के समय अपनी जाति के सदस्यों की सहायता करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता रहता है। जातीय समूह में एकता तथा सदस्यों में सहयोग के फलस्वरूप अनेक जातीय विद्यालय धर्मशालाएँ तथा अनेकानेक बाल-कल्याण कार्यक्रम प्रारम्भ हुए जो जन-हित की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद हैं।

(3) धार्मिक क्षेत्र में लोगों के जीवन पर जाति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। हट्टन ने कहा है कि धार्मिक क्षेत्र में जाति व्यवस्था इस प्रकार कार्य करती है कि बदलते हुए नैतिक आदर्शों अथवा जनमत के झुकाव के अनुसार जाति, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवहार-विधान परिवर्तित कर सकती है या उसमें सुधार ला सकता है।' स्पष्ट है कि सामाजिक अनुकूलन की दृष्टि से भी जाति ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हट्टन के अनुसार प्रत्येक जाति की अपनी एक सामान्य

1 J H Hutton op cit p 114

संस्कृति रही है जिसके अन्तर्गत उस जाति विशेष का ज्ञान, कार्य कुशलता, व्यवहार आदि आते हैं। ये सब जाति के सदस्यों में पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं। नए सदस्य वयस्क सदस्यों से इन बातों को सीखते रहते हैं। इस प्रकार जाति, संस्कृति की रक्षा एवं उसे स्थिर बनाए रखने में योग देती रही है।

(4) सेजविक की यह मान्यता है कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्विवाह (Endogamy) पद्धति के परिणामस्वरूप सुप्रजनन की शुद्धता बनी रहती है। इसका कारण यह है कि बाहर के समूह के साथ वैवाहिक सम्बन्ध न होने से वंशानुसक्रमणीय दोष नहीं आ पाते। परन्तु आज वैज्ञानिक आधार पर यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि विभिन्न जातियों में आपस में वैवाहिक सम्बन्ध होने से वंशानुसक्रमणीय दोष उत्पन्न होते हैं। जाति-अन्तर्विवाह के कारण एक जाति के लोग अपने ही जातीय समूह में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, अन्य जाति के लोगों के साथ नहीं इससे रक्त की शुद्धता बनी रहती है, निम्न जातियों के साथ रक्त का सम्मिश्रण नहीं हो पाता। परन्तु आज वैज्ञानिक आधार पर रक्त-शुद्धता की धारणा साधारणतः स्वीकार नहीं की जाती।

डॉ. मजुमदार और मदान ने जाति के एक मौन कार्य पर प्रकाश डाला है। हिन्दू समाज में नि सन्तान दम्पत्ति को मानसिक शान्ति नहीं मिलती क्योंकि उसके अभाव में न तो स्वर्ग ही मिलता है और न ही शान्ति। यह पाया गया है कि अन्तर्विवाह के फलस्वरूप लड़के अधिक जन्मते हैं। इस प्रकार, जाति व्यवस्था ने अन्तर्विवाह के द्वारा हिन्दुओं की हजारों पीढ़ियों को मानसिक शान्ति प्रदान की है।[1] हिन्दू समाज में परिवार की निरन्तरता बनाए रखने तथा पिण्ड-दान, तर्पण आदि धार्मिक-क्रिया सम्पादन की दृष्टि से पुत्र सन्तान को आवश्यक माना गया है

3. समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जाति के कार्य

समस्त समाज और राष्ट्र की दृष्टि से भी जाति ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं इस सम्बन्ध में हट्टन ने लिखा है कि व्यक्ति और जातीय समूह के लिए जाति-व्यवस्था द्वारा किये जाने वाले कार्य अन्य समूहों के द्वारा भी किये जा सकते हैं। लेकिन जाति एक ऐसी विशिष्ट संस्था है जो केवल भारत में ही पायी जाती है और इसने सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए ऐसे कार्य सम्पन्न किये हैं जो अन्यत्र कहीं भी नहीं किये जाते।[2]

(1) जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। विभिन्न समूहों को एक सूत्र में बाँधने की दृष्टि से जाति व्यवस्था का कार्य अत्यन्त सराहनीय है। फरनीवाल के अनुसार "जाति व्यवस्था के कारण भारत में बहु-समाज (A Plural Society) स्थिर रह पाया है। जाति व्यवस्था ने समाज में ऐसी अवस्था प्राप्त की है कि जिससे कोई समुदाय चाहे वह प्रजातीय, सामाजिक, व्यावसायिक अथवा धार्मिक हो, सामाजिक समग्र के एक सहयोगी अंग के रूप में अपने को उपयुक्त बना सकता है तथा साथ ही अपनी विशिष्ट प्रकृति और पृथक् व्यक्तित्व को बनाये रख सकता है।"[3]

1 Majumdar and Madan op cit , p 238
2 Ibid p 115
3 J S Furnival "Netherlands India, A Study of Plural Economy" p 464

भिन्नताओं के मध्य भी हिन्दू समाज, जाति व्यवस्था के कारण 'एक समाज' के रूप में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए हुए है। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि समय-समय पर भारत में अनेक आक्रमणकारी समूह आये, लेकिन जाति-व्यवस्था के कारण वे कालान्तर में हिन्दू समाज के अंग बन गए। यह बात अनेक आदिवासी समूहों के सम्बन्ध में भी सत्य है। डॉ. आर.एन. सक्सेना का कथन है, "पश्चिमी भारत में काली, पंजाब में चूड़ा, उत्तर प्रदेश में डोम, बंगाल में राजवंशी और मद्रास में वडागा एेसे समूह हैं जो आदिवासियों से हिन्दू समाज में आए, फिर भी उनकी सामाजिक विशिष्टता बनी रही। वे समूह जो भारतीय जाति प्रथा के विरोध या उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उठे, उन्हें भी जाति-प्रथा के कारण समाज में एक विशिष्ट स्थान मिला। दक्षिण के लिंगायत इसका उदाहरण हैं।'"[1] विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय भी जाति व्यवस्था के कारण ही हिन्दू समाज का अंग बन हुए हैं, जैसे-जैन, सिक्ख, कबीर पन्थी आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था हिन्दू समाज को एकता के सूत्र में बाँधती है।

(2) जाति-व्यवस्था ने भारतवर्ष में राजनैतिक स्थिरता बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यहाँ समय-समय पर विदेशी आक्रमणकारी आये जैसे-शक, हूण, मंगोल और यहाँ तक कि मुसलमान और अंग्रेज भी। जहाँ-जहाँ भी मुसलमानों एवं अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया, वहाँ-वहाँ महत्त्वपूर्ण राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन हुए, परन्तु भारत इसका अपवाद है। यहाँ जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज, राजनैतिक संगठन एवं संस्कृति की रक्षा की, इन्हें नष्ट होने से बचाया। इस सम्बन्ध में अबे डुबाय ने लिखा है कि मैं हिन्दुओं की जाति व्यवस्था को उनके अधिनियम की सबसे अधिक सुखमय प्रयास मानता हूँ। उस समय भी भारत की जनता बर्बरता के पंक में नहीं डूबी जब सम्पूर्ण यूरोप उसमें डूबा हुआ था और यदि भारत ने सदैव अपना मस्तिष्क ऊँचा रखा, अनेकानेक विज्ञानों, कलाओं एवं सभ्यता का संरक्षण एवं विकास किया तो इसका पूर्ण श्रेय इसकी उस जाति व्यवस्था को ही है जिसके लिए वह बहुत प्रसिद्ध है।[2] इस प्रकार, भारतीय जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज के लिए कवच के रूप में कार्य किया है, उसने हिन्दू समाज और संस्कृति में योग दिया है।

(3) जाति व्यवस्था धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता एवं उदारता के लिए उत्तरदायी रही है। धार्मिक आधार पर विश्व के विभिन्न भागों में समय-समय पर अनेक क्रान्तियाँ होती रही हैं। भारत में भी जाति व्यवस्था के विरोध में, प्रतिक्रिया के रूप में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का विकास विभिन्न अवसरों पर हुआ है। लेकिन जाति व्यवस्था ने इन सब को धीरे-धीरे अपने में आत्मसात् कर लिया, वे सब कालान्तर में हिन्दू समाज के ही अंग बन गये। जाति-व्यवस्था का यह कार्य धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता एवं उदारता को व्यक्त करता है।

(4) जाति व्यवस्था हिन्दू समाज के सदस्यों को दायित्व-निर्वाह और कर्तव्यपालन के लिए प्रेरणा प्रदान करती रही है। भारतीय समाज में जाति व्यवस्था और कर्म के सिद्धान्त में एक गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। कर्म-सिद्धान्त के आधार पर लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि ऊँची अथवा नीची जाति में जन्म और उच्च या निम्न आर्थिक स्थिति का कारण व्यक्ति के पूर्वजन्म के अच्छे या बुरे कर्म हैं। जिस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किए हैं उसे उच्च कुल, उच्च जाति एवं

1. डॉ. आर.एन. सक्सेना : 'भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ,' पृष्ठ 62.
2. Abbe Dubois : Hindu Manners and Customs, p. 14

उच्च आर्थिक स्थिति प्राप्त होती है। इस विश्वास के परिणामस्वरूप अपने विभिन्न दायित्वों का निर्वाह करना प्रत्येक ने आवश्यक समझा। इससे अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियंत्रण रहा, समाज सामाजिक एवं आर्थिक संघर्षों से मुक्त रहा, लोगों ने वर्तमान परिस्थिति को शान्तिपूर्वक स्वीकार किया, अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित हुए जिससे उनका भविष्य सुखमय बन सके। इस प्रकार, जाति व्यवस्था ने लोगों को सामाजिक ईर्ष्या एवं अपूर्ण आकांक्षाओं की व्याधि से बचाया तथा सामाजिक दृढ़ता को बनाए रखने में अभूतपूर्व योग दिया।

(5) जाति व्यवस्था के अन्तर्गत समाज में विभिन्न कार्यों के सम्पादन की उचित व्यवस्था की गई। विभिन्न जातियों के कार्यों का विभाजन इस प्रकार से किया गया कि समाज को श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण का पूर्ण लाभ मिल सके। हट्टन ने लिखा है, "सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न कार्यों, जिसमें शिक्षा से लेकर सफाई, सरकारी से लेकर पारिवारिक सेवा तक के कार्यों की गणना है जाति व्यवस्था के कारण सुचारु रूप से चलते हैं तथा कार्यों की यह सारी व्यवस्था धार्मिक विश्वास या कर्म की धारणा पर आधारित है।"[1] स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था के कारण समाज के समस्त कार्यों की समुचित व्यवस्था हो जाती है और लोगों को समाज द्वारा मान्य कार्य करने की प्रेरणा तथा समाज को विशेषीकरण का पूर्ण लाभ मिलता है।

उपर्युक्त कार्यों के अलावा जाति व्यवस्था ने नैतिक शिक्षा प्रदान करने, समाज के भावात्मक मूल्यों को सुरक्षित रखने, लोगों में उच्च कोटि के नागरिक गुणों का विकास, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा एवं सुनियोजित वैज्ञानिक समाजवाद को स्थापित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किए हैं।

जाति व्यवस्था के कार्यों अथवा लाभों की विवेचना से स्पष्ट है कि हिन्दुओं के लिए जाति एक उपकारी संस्था के रूप में रही है। सद्-उद्देश्यों के आधार पर विकसित जाति व्यवस्था में बदली हुई परिस्थितियों में आज अनेक दोष आ गए हैं। आज यह व्यवस्था उन कार्यों का सम्पादन नहीं कर पा रही है जिनके लिए इसका विकास हुआ था।

जाति व्यवस्था से हानियाँ
(Demerits of Caste System)

यह सत्य है कि जाति व्यवस्था ने विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किए हैं, परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज की परिवर्तित परिस्थितियों में यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास के मार्ग में बाधक बनी हुई है। इसीलिए बहुत-से लोग इसके उन्मूलन की बात करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो. वाडिया ने लिखा है, "उपनिषदों का उच्च कोटि का तत्त्व-दर्शन और गीता का कर्म-ज्ञान इस व्यवस्था के अत्याचारों के कारण केवल वाग्जाल बन गया। एक तरफ तो भारत सम्पूर्ण विश्व को एकता का उपदेश देता है और दूसरी ओर उसने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को अपनी छाती से चिपका रखा है, जिसने उसकी सन्तानों को निर्ममतापूर्वक अलग-अलग गुटों में विभाजित कर रखा है, उनको अनन्त शताब्दियों के लिए एक दूसरे से पृथक् कर दिया।"[2] जाति व्यवस्था के परम्परागत कार्य आज हिन्दू समाज को विघटित कर रहे हैं। पणिक्कर का कथन है "यदि जातियाँ उपजातियों में विभाजित होने की बजाय चार

1 J H Hutton op cited p 121-122
2 A R Wadia Contemporary Indian Philosophy p 368

आदर्शात्मक विभागो (वर्णों) में एकीकृत होती, तो समाज का यह विनाशकारी विभाजन कभी नही होता।[1] परन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दू समाज सैकडों जातियों, उपजातियों मे विभक्त हो गया है। जाति-व्यवस्था में वर्तमान में निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं—

1. निम्न जातियों का शोषण एवं धर्म-परिवर्तन

जाति व्यवस्था के अन्तर्गत जहाँ एक ओर उच्च जातियों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वही दूसरी ओर निम्न जातियाँ अनेक निर्योग्यताओं से पीडित हैं। उच्च जातियों न मनमाने ढग स अपने अधिकारों का प्रयोग किया है, निम्न जातियों के करोडों लोगों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि निम्न जातियो के बहुत से लोगों न बाध्य होकर अपना धर्म परिवर्तन कर लिया, मुसलमान या ईसाई बन गए। यह स्थिति समाज के स्वस्थ विकास को दृष्टि से ठीक नही है।

2. अस्पृश्यता के लिए उत्तरदायी

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को कितना निम्न अथवा हीन समझ सकता है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण जाति व्यवस्था के अन्तर्गत पायी जाने वाली अस्पृश्यता की धारणा है। जातीय सस्तरण में निम्नतम स्थान प्राप्त अस्पृश्यों को छूना और यहाँ तक कि उन्हें देखना तक उच्च जातियों के व्यक्तियो के लिए पाप समझा गया। अछूतों पर अनेक निर्योग्यताएँ लाद दी गईं, उन्हे सामान्य मानवीय अधिकारो से वचित रखा गया। अस्पृश्यता वास्तव मे हिन्दू समाज के लिए एक अभिशाप है, मनुष्य क प्रति मनुष्य के हृदय मे सचित घृणा की चरम अभिव्यक्ति है।

3. सामाजिक समस्याओ के लिए उत्तरदायी

जाति व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता के रूप में यहाँ जाति-अन्तर्विवाह का नियम प्रचलित है। इस नियम पालन से अनक सामाजिक समस्याएँ उठ खडी हुई हैं। इसने कुलीन-विवाह, बाल-विवाह, दहज प्रथा विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, बमेल विवाह आदि अनक गम्भीर समस्याओं को जन्म दिया है। यदि समाज में जाति अन्तर्विवाह का कठोर नियम नही हाता और अन्तर्जातीय विवाहों का सामान्यत प्रचलन हाता ता य सामाजिक समस्याएँ नही पनप पाती।

4. समाज का हजारों स्वार्थ-समूहों मे विभाजन

सामाजिक व्यवस्था का स्थिरता प्रदान करने क प्रयत्नों मे जातिगत नियमो की रक्षा के नाम पर अनेक कुरीतियो और रूढियो का पालन किया जाने लगा। समाज में पाखण्ड, कर्म-काण्ड और अन्धविश्वासो को धर्म का आवश्यक अग मान कर महत्ता प्रदान की गई। फलस्वरूप व्यक्ति सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से विचार ही नही कर पाया और भारतीय सामाजिक जीवन सैकडो हजारों छोटे-छोटे स्वार्थ-समूहों में बँट कर छिन्न-भिन्न हा गया। व्यक्ति का दृष्टिकोण अत्यधिक सकुचित और कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित हा गया।

5. अकर्मण्यता एवं भाग्यवाद की पोषक

जाति व्यवस्था ने व्यक्तियों का अकर्मण्य एव भाग्यवादी बना दिया है। प्रत्येक व्यक्ति की जाति, उसकी सामाजिक स्थिति एव उसका व्यवसाय जन्म के आधार पर निश्चित हाते हैं। इसक लिए सब

1 K. M. Panikkar "Hindu Society at Cross Roads " p 13

कुछ पूर्व निर्धारित है, उसे तो केवल परम्परागत मार्ग पर चलना होता है। ऐसी दशा में उसे विशेष प्रयत्न नही करना पडता। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति आलसी एवं अकर्मण्य बन जाता है। वह समझता है कि इस जीवन में जो कुछ है, पूर्व-जन्म के संस्कारों एवं कर्मों के कारण है। इसका स्वाभाविक प्रभाव यह पडता है कि वह भाग्यवाद में विश्वास करने लगता है। यह परिस्थिति समाज की प्रगति में बाधक है।

6. आर्थिक विकास मे बाधक

औद्योगीकरण के विकास के पूर्व तक जाति व्यवस्था स्थिर श्रम-विभाजन की नीति अपना कर समाज को विशेषीकरण का लाभ प्रदान करती रही, लेकिन वर्तमान में यह आर्थिक विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित कर रही है। जाति व्यवस्था में जन्म के आधार पर व्यवसाय निर्धारित होने से व्यक्ति की आर्थिक कुशलता में कमी आती है। वह अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी व्यवसाय को नही अपना सकता। ऐसी दशा में समाज व्यक्ति की कार्य-क्षमता का पूर्ण लाभ नही ले पाता तथा उत्पादन पूर्ण मात्रा में नही हो पाता।

7. औद्योगिक संस्थानों में संघर्षपूर्ण समूहों का निर्माण

जाति व्यवस्था के आधार पर पनपने वाले जातिवाद न विभिन्न औद्योगिक सस्थानो में संघर्षपूर्ण समूहों के निर्माण मे योग दिया है। जाति के आधार पर पनपने वाले ये छोटे-छोटे परस्पर विरोधी समूह अथवा गुट उत्पादन की कमी के लिए उत्तरदायी हैं। व्यक्ति अपने गुट अथवा जातीय समूह क स्वार्थ की दृष्टि से सोचता है, फलस्वरूप अयोग्य व्यक्तियों को आगे बढने का अवसर मिलता है। आर्थिक विकास की दृष्टि से यह स्वस्थ परिस्थिति नही है।

8. राष्ट्रीयता के विकास में बाधक

आज लोगों मे राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है। जाति व्यवस्था के कारण समाज अनेक खण्डों एव उपखण्डों मे बँट गया है। विविध जातियों तथा उपजातियों ने इसे छोट-छोटे भागों में बाँट दिया है। इन सब समूहों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण और उतार चढाव की एक प्रणाली पाई जाती है। ये हजारों प्रतियोगी समूह व्यक्तियों में एकता, समानता एव 'हम' भावना को पनपने ही नही देते। व्यक्ति अपनी जाति अथवा उपजाति के संकुचित दृष्टिकोण से सोचता है। ऐसी दशा में समग्र राष्ट्र का चित्र व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित नही होता, राष्ट्रीयता नही पनप पाती, फलत: राष्ट्रीय एकता का अभाव पाया जाता है।

9. प्रजातन्त्र के लिए गम्भीर चुनौती

जाति व्यवस्था और प्रजातन्त्र परस्पर विरोधी मूल्यों पर आधारित हैं। जाति व्यवस्था में जन्म क आधार पर ही किसी को ऊँचा तथा किसी को नीचा समझा जाता है। इसमें अनेकानेक सामाजिक भेद-भाव और रूढिवादिता पायी जाती है। एक जाति द्वारा दूसरी का शोषण पाया जाता है। इसके विपरीत प्रजातन्त्र समानता, स्वतन्त्रता एव न्याय पर आधारित व्यवस्था है। ऐसी दशा में परस्पर दो विरोधी व्यवस्थाओं का एक साथ चलना कठिन प्रतीत होता है। आज स्वस्थ प्रजातन्त्र के मार्ग में जाति व्यवस्था बाधा उपस्थित कर रही है। व्यक्ति जाति के संकुचित दृष्टिकोण से सोचता है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण का उसमें अभाव पाया जाता है। जाति के नाम पर वोट माँगे और दिये जाते हैं। आज ग्रामीण क्षेत्रों में पचायती राज सस्थाओं के विकास से राजनीति में जाति का प्रभाव

बढ़ा है, विशेष रूप से प्रो. श्रीनिवास के अनुसार-प्रभुत्वशाली जाति (Dominant Caste) के जाति के एक इशारे मात्र पर उसके सभी सदस्य व्यक्ति विशेष को वोट देते हैं। आज जाति का नेता अपनी जाति के वोटों की संख्या के आधार पर चुनाव लड़ने वाले विभिन्न प्रत्याशियों के साथ सौदेबाजी करता है। वर्तमान में प्रशासन, सेवाओं एवं चुनाव में जातिगत भावनाओं का सर्वत्र बोलबाला है। यह परिस्थिति स्वस्थ प्रजातन्त्र के लिए गम्भीर चुनौती है, बाधा है।

आज राजनीति में जाति के महत्त्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। डॉ. रजनी कोठारी का कथन है कि प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए ऐच्छिक संगठनों (Voluntary Organizations) की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति जाति व्यवस्था द्वारा होती है। आन्द्रे बिटाई ने जाति व्यवस्था एवं राजनैतिक व्यवस्था के बीच सम्बन्धों की विवेचना करते हुए कहा है कि प्रजातन्त्र में राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने हेतु लोगों का समर्थन अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा सत्ताधारियों एवं जनता के बीच सम्पर्क स्थापित हो पाए। जाति प्रधानतः इस माध्यम के अभाव की पूर्ति करती है।

जाति व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक दोषों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इसके दोषों पर प्रकाश डालते हुए मेन्चर (Mencher) लिखते हैं कि जब हम नीचे से ऊपर की ओर देखते हैं, तो इस व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएँ सामने आती हैं। प्रथम, व्यवस्था के निम्नतम स्तर के लोगों के दृष्टिकोण से जाति आर्थिक शोषण की प्रभावशाली व्यवस्था रही है। द्वितीय, इस व्यवस्था का अन्य कार्य हित या उद्देश्य की एकता के आधार पर बनने वाले वर्गों के निर्माण को रोकना रहा है। उनके अनुसार जाति शोषण की एक व्यवस्था है, न कि अन्तर्निर्भरता और पारस्परिकता की व्यवस्था। इस व्यवस्था के दोषों के आधार पर बहुत-से विद्वान यह मत व्यक्त करते हैं कि जाति केवल एक शृंखलित सामाजिक संस्था है जो अपनी सेवाओं के पश्चात् वर्तमान में भारत के वातावरण को दूषित कर रही है। अतः वे इसे जड़ से समाप्त कर देने की बात करते हैं, लेकिन जाति व्यवस्था से जहाँ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को अनेक हानियाँ हुई हैं, वहाँ इससे प्राप्त लाभों को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में हट्टन के विचारों को व्यक्त करना उचित है। उन्होंने जाति व्यवस्था द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि जाति एक अच्छी संस्था है जिसने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। उसको जड़ से समाप्त न कर, उसमें सुधार किया जाना चाहिए। डॉ. मजुमदार एवं मदान का कथन है, "इस व्यवस्था की हानिकारक सहवर्ती प्रथाओं-अस्पृश्यता, एक जाति का दूसरी द्वारा शोषण और ऐसे ही अन्य दोषों को समाप्त कर देना चाहिए, न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को, टूटी हुई विषैली अंगुली को काटना चाहिए न कि पूरे हाथ को।"[1] जाति व्यवस्था में अनेक दोष आ गये हैं, इसलिए इसे पूर्णतः समाप्त कर देना चाहिए, ऐसा कहना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तार्किक प्रतीत नहीं होता। जहाँ तक सम्भव हो, इसमें सुधार और इसके दोषों को दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

जातिवाद
(Casteism)

जाति व्यवस्था से सम्बन्धित एक गम्भीर समस्या के रूप में जातिवाद पाया जाता है। जातिवाद एक संकुचित मनोभाव है जो व्यक्तियों को अपनी जाति विशेष के स्वार्थों की दृष्टि से सोचने के लिए प्रेरित और अपनी जाति के हितों को सर्वोपरि समझने के लिए प्रोत्साहित करता है,

1 Majumdar & Madan, op. cit., p. 238

सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र से भी अधिक महत्त्व जाति को देता है। आज जातिवाद के कारण ही जातियाँ आन्तरिक दृष्टि से शक्तिशाली होती जा रही हैं। जाति के नाम पर स्कूल, कॉलेज, धर्मशाला, अस्पताल, मन्दिर एवं अनेक संगठन चलाये जाते हैं। इन संगठनों का उद्देश्य अपनी ही जाति के लोगों को विशेष सुविधायें प्रदान कर उनकी सामाजिक प्रस्थिति को ऊँचा उठाते हुए, जातीय-समूह को सामाजिक सस्तरण में उच्च स्थान प्रदान करवाना है। वर्तमान में जातिवाद का प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों-सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक में दिखाई पड़ता है। आज व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा एवं उच्च प्रस्थिति प्रदान करने की दृष्टि से जन्म और जाति का महत्त्व कम हो गया और इनका स्थान शिक्षा, सम्पत्ति, उच्च नौकरी एवं राजनैतिक शक्ति आदि ने ले लिया है। ऐसी दशा में अपनी जाति के लोगों की उच्च सामाजिक स्थिति बनाए रखने अथवा जातीय समूह के रूप में सामाजिक सस्तरण में स्थिति को ऊँचा उठाने की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी ही जाति के लोगों को अधिकाधिक मात्रा में शिक्षा, उच्च नौकरियाँ, धन एवं राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के अवसर प्रदान किए जाएँ। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु करीब-करीब सभी जातियाँ प्रयत्नशील हैं तथा विभिन्न जातीय संगठनों के निर्माण में लगी हुई हैं।

अपनी ही जाति के स्वार्थ को सर्वप्रमुख समझकर, उसी के प्रति अपने नैतिक कर्त्तव्य का पालन करना तथा अपनी जाति के स्वार्थों के आगे अन्य जातियों के सामान्य स्वार्थों की अवहेलना करना ही जातिवाद है। जातिवाद के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी ही जाति की उन्नति और कल्याण के सम्बन्ध में सोचता एवं व्यवहार करता है, ऐसा करने में चाहे अन्य जातियों, सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र का अहित ही क्यों न हो। व्यक्तियों का यह संकुचित दृष्टिकोण ही जातिवाद का पोषक है। जातिवाद वह संकुचित भावना है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति के सदस्यों को ही प्राथमिकता देने को प्रेरित करती है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपने से उच्च जाति के सदस्यों का आदर देता और उन्हें अपनी जाति वालों की तुलना में बड़ा समझता रहा है। लेकिन जातिवाद ने व्यक्ति की निष्ठा को उसकी जाति अथवा उपजाति तक ही सीमित कर दिया है। डॉ. के. एम. पणिक्कर का कथन है कि जब तक उपजाति की अवधारणा पायी जाती है तब तक जातिवाद अपरिहार्य है क्योंकि यह एक ऐसी स्थायी निष्ठा है जो हिन्दुओं ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है।[1] वर्तमान समय में जहाँ एक ओर जाति व्यवस्था के बन्धन ढीले होते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर जातिवाद अधिक प्रबल होता जा रहा है। जातिवाद का स्पष्ट प्रभाव नगरों के शिक्षित लोगों पर भी प्रतीत होता है जहाँ जातीय आधार पर गुटबन्दी पायी जाती है। डॉ. के. एन. शर्मा ने जातिवाद को परिभाषित करते हुए कहा है, "जातिवाद या जातिभक्ति एक जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ध्यान न रखते हुए केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति को दृढ़ करने के लिए प्रेरित करती हो।"[2] डॉ. शर्मा ने अपनी इस परिभाषा में दो पक्षों पर जोर दिया है- एक है मनोवैज्ञानिक पक्ष और दूसरा है व्यवहार पक्ष। मनोवैज्ञानिक पक्ष के अन्तर्गत व्यक्ति की भावनायें आती हैं और व्यवहार पक्ष के अन्तर्गत उसकी क्रियायें। जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति न केवल भावनाओं की दृष्टि से बल्कि व्यवहार की दृष्टि से भी अपनी जाति के स्वार्थ, हित और कल्याण की चिन्ता करता है। वह अपनी भावनाओं

---

1 K.M. Panikkar op. cit., p.22
2 के.एन. शर्मा "भारतीय समाज और संस्कृति" पृष्ठ 318

एवं क्रियाओं को स्वजाति मे ही केन्द्रित कर देता है। इसके परिणामस्वरूप वह अपनी ही जाति के लोगों का शिक्षा, नौकरी, व्यापार और उद्योग के क्षेत्र एव राजनीति में प्राथमिकता और संरक्षण देता है। एसा करने से जाति-विशेष मे आन्तरिक दृढता बढती है, एकता पनपती है, परन्तु अन्य जातियों के प्रति घृणा के भाव भी उत्पन्न होते हैं, उनके न्यायपूर्ण हितों की अवहेलना होती है तथा उनके साथ सघर्षात्मक सम्बन्ध भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जातिवाद के परिणाम

जातिवाद के परिणामस्वरूप अनेक गम्भीर समस्याये उत्पन्न हो गई हैं। जातिवाद प्रजातत्र के स्वस्थ विकास मे बाधक है। लोकसभा, विधान सभाओं, म्युनिसिपल कमेटियो और पचायतों के चुनाव मे कई लोग जातिवाद का लाभ उठाते और जाति के नाम पर वोट माँगते हैं। जब जाति विशेष के आधार पर ऐसे व्यक्ति चुनाव मे सफलता प्राप्त कर लेते हैं तो वे अपनी जाति के हितों को प्रधानता देते हैं और समाज अथवा राष्ट्र के हितों की अवहेलना करते हैं।

जातिवाद न केवल प्रजातत्र के लिए खतरा है बल्कि औद्योगिक कुशलता के लिए भी बाधक है। अपनी जाति के आधार पर अयोग्य व्यक्ति उच्च नौकरियाँ प्राप्त कर लेते हैं। वे विभिन्न उद्योगों व्यवसायो एव सरकारी नौकरियों मे प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा में योग्य एव कुशल व्यक्तियों को अवसर नही मिल पाता। यह स्थिति औद्योगिक कुशलता के लिये खतरा उपस्थित कर रही है।

जातिवाद लोगों के नैतिक पतन के लिये भी उत्तरदायी है। जातिवाद की संकुचित भावना के वशीभूत हो उच्च पदों पर आसीन कई लोग अपनी जाति के व्यक्तियों के साथ पक्षपात करते एव उन्हें विशेष सुविधाये प्रदान करते हैं। वे सम्पूर्ण समाज के हितों की चिन्ता न कर, अपनी जाति के लोगो को ही सब प्रकार की सुख-सुविधाये उपलब्ध कराने का प्रयत्न करते हैं। जातिवाद की यह सकुचित धारणा व्यक्ति का नैतिक पतन कराती है और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करती है।

जातिवाद राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे भी बाधक है। वर्तमान समय में व्यक्ति की सामुदायिक भावना अत्यन्त सकुचित हो गई है। वह जाति अथवा उप जाति के सीमित दायरे में सोचता है। जहाँ समाज ऐसे सैकडों-हजारों छोटे खण्डों मे विभक्त हो, जिसके सदस्य सम्पूर्ण समाज एव राष्ट्र के दृष्टिकोण से न सोचकर जातिगत कल्याण की दृष्टि से सोचते हैं वहाँ स्वस्थ राष्ट्रीयता का विकास एव एकता सम्भव नही है। लोग इस तथ्य को भूल जाते हैं कि जाति राष्ट्र से बढकर नही है। जातिवाद के कारण सवैधानिक प्रावधानों का ठीक प्रकार से पालन नही हो पाता। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह सारी परिस्थिति श्रेयस्कर नही है। जातिवाद के निराकरण के लिए सगठित कार्यक्रम आवश्यक हैं।

जातिवाद के निराकरण के उपाय

जातिवाद के निराकरण के लिए कुछ लोगो का सुझाव है कि जाति-व्यवस्था को ही समाप्त कर देना चाहिए। पिछले कुछ वर्षों से सरकारी एव गैर-सरकारी प्रयत्नों के आधार पर नेतागण यह विश्वास दिलाते रहे हैं कि शीघ्र ही जातिविहीन समाज की रचना होगी, लेकिन आज तक ऐसा सम्भव नही हुआ है और निकट भविष्य मे इसकी आशा कम ही प्रतीत होती है। जातियो

को समाप्त करना व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रत्येक जाति के ऐतिहासिक एवं सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, जिन्हें समाप्त करना इतना सरल नहीं है। जाति व्यवस्था की जड़ें भारतीय समाज में इतनी गहरी बैठी हुई हैं कि कुछ कानूनों के आधार पर इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

जातिवाद को समाप्त करने के लिए डॉ. घुरिये ने सुझाव दिया है कि अन्तर्जातीय विवाहों को अधिक लोकप्रिय बनाया जाना चाहिए। आज आवश्यकता इस बात की है कि देश में अन्तर्जातीय विवाहों के लिये अनुकूल वातावरण तैयार किया जाय। उचित शिक्षा के माध्यम से लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाना भी आवश्यक है। शिक्षा ऐसी हो जिससे बच्चों में जाति-पाँति का भेदभाव उत्पन्न न हो, धर्म-निरपेक्षता को प्रोत्साहन मिले और जातिवाद के विरुद्ध स्वस्थ जनमत तैयार हो। इसी प्रकार, पी. एच. प्रभु के अनुसार उचित शिक्षा के द्वारा व्यवहारों के आन्तरिक स्रोतों पर प्रभाव डालकर जातिवाद को दूर किया जा सकता है। डॉ. राव ने सुझाव दिया है कि लोगों के लिए अन्य वैकल्पिक समूह होने चाहिये जिनके माध्यम से वे अपनी सामूहिक मनोवृत्तियों को व्यक्त एवं अपनी विभिन्न क्रियाओं को संगठित कर सकें। अधिकाधिक सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों का निर्माण जातिवाद को दूर करने में अवश्य सहायक होगा, बशर्ते कि इन समूहों में भी जातिवादिता प्रवेश नहीं कर जाय। श्रीमती इरावती कर्वे का सुझाव है कि विभिन्न जातियों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता लाने से जातिवाद दूर किया जा सकता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि जातिवाद से छुटकारा प्राप्त करने के लिये अनेक उपायों को काम में लाना आवश्यक है।

प्रश्न

1. वर्तमान भारत में जाति व्यवस्था के प्रकार्यों का मूल्यांकन कीजिये।
2. क्या जाति और प्रजातन्त्र में कोई विरोध है और यदि है तो उसे किस प्रकार सुलझाया जा सकता है?
3. जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज के विकास एवं स्थायित्व को बनाये रखने में किस प्रकार सहायता पहुँचाई है?
4. जाति व्यवस्था के लाभ एवं हानियों का उल्लेख कीजिये। क्या जाति प्रथा निर्बल हो रही है? विवेचना कीजिए।
5. जातिवाद के परिणामों पर प्रकाश डालिये तथा इसके निराकरण के उपाय बतलाइये।
6. हिन्दू सामाजिक संगठन में जाति व्यवस्था की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
7. "अतीत में जाति चाहे कितनी ही उपयोगी रही हो, वर्तमान भारत में वह अभिशाप सिद्ध हो रही है।" जाति प्रथा के गुण-दोषों के संदर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिये।
8. जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।
9. "भारत में जाति इण्डो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो गंगा और यमुना के मैदान में पला और वहाँ से देश के अन्य भागों में ले जाया गया।" विवेचना कीजिए।
10. "पेशा और केवल पेशा ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।" इस कथन पर आलोचनात्मक ढंग से अपने विचार प्रकट कीजिए।

□□□

13
जाति-व्यवस्था में परिवर्तन
(जाति-व्यवस्था की गतिशीलता)
(Dynamics of Caste System)

प्रारम्भ स लकर आज तक जाति-व्यवस्था हिन्दू समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक सस्था है जा हिन्दुओं क जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करती रही है। यहाँ अनेक अक्रमणकारी आए, उन्होंन अपने-अपन साम्राज्य स्थापित किए, सस्कृतियो का सघर्ष हुआ, अनक आदालन हुए, परन्तु जाति व्यवस्था समाप्त नही हुई। अन्धविश्वासी लोग युगा स आ रही जाति-व्यवस्था का शाश्वत एव स्थिर मानते हैं यद्यपि वास्तव में एसा नही है। प्रत्यक सामाजिक सस्था में समय क साथ-साथ परिवर्तन हाता रहता है, क्योंकि परिवर्तन एक स्वाभाविक नियम है। यह अवश्य सभव है कि किसी सस्था में परिवर्तन की गति इतनी धीमी हा कि साधारणत पता ही नही चल पाए, परन्तु उसमे समयानुसार परिवर्तन होता अवश्य रहता है। जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध म भी यही बात सत्य है, समय के साथ साथ इसके स्वरूप मे भी परिवर्तन आया है। जाति-व्यवस्था न नवीन परिवर्तित परिस्थितियों से सदैव सामजस्य स्थापित किया है। सामजस्य स्थापित करन की यही प्रक्रिया जाति-व्यवस्था की गतिशीलता कहलाती है। जाति व्यवस्था की गतिशीलता के अध्ययन क दो पहलू हा सकते हैं-(1) जाति-व्यवस्था की एतिहासिक विवेचना, और (2) आधुनिक समय मे जाति-व्यवस्था मे होने वाले परिवर्तन। जाति-व्यवस्था की गतिशीलता का समझने के लिए यह आवश्यक है कि वैदिक-काल से वर्तमान समय तक की सामाजिक परिस्थितियों का और विभिन्न कालों की जाति-व्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप का अध्ययन किया जाए। एसा इसलिए आवश्यक है क्योंकि वर्तमान को अतीत के आधार पर ही समझा जा सकता है, वास्तव मे वर्तमान की उत्पत्ति अतीत से होती है। इस अध्याय मे जाति-व्यवस्था के ऐतिहासिक विवेचन के अतिरिक्त वर्तमान समय में अनेक कारकों के परिणामस्वरूप इसके स्वरूप में होने वाले परिवर्तनो पर भी प्रकाश डाला गया है।

जाति-व्यवस्था की गतिशीलता के सम्बन्ध मे स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम प्राचीन काल से लेकर अब तक के समय को पाँच कालो में विभाजित कर सकते हैं-

1. वैदिक काल (ईसा से 600 वर्ष पूर्व तक)
2. उत्तर वैदिक काल (तीसरी शताब्दी के अन्त तक)
3. धर्मशास्त्र काल (11 वी शताब्दी तक)
4. मध्यकाल (11 वी शताब्दी से 17 वी शताब्दी तक)
5. आधुनिक काल (18 वी शताब्दी से वर्तमान समय तक)

1. वैदिक काल (Vedic Period) (ईसा से 600 वर्ष पूर्व तक)

अधिकतर विद्वानों ने इस काल का प्रारम्भ ईसा के 2000 वर्ष पूर्व माना है। इस काल का सबसे पुराना ग्रन्थ ऋग्वेद है जिसमें ब्राह्म, क्षात्र तथा विश नामक तीन वर्णों का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के बाद के मन्त्रों में कहीं-कहीं शूद्रों का वर्णन भी मिलता है। ये शूद्र दास,दस्यु या अनार्य थे जो न तो यज्ञ करते थे और न ही ईश्वर को मानते थे। इस समय समाज कर्म के आधार पर चार वर्णों ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त था। इन वर्णों में ऊँच-नीच की कटु भावना नहीं पायी जाती थी। ऋग्वेद में कथन है कि उस समय पेशों के चुनाव में कोई प्रतिबन्ध नहीं था। व्यक्ति अपना पेशा बदल कर अन्य कोई भी पेशा अपना सकता था। ब्राह्मण पूजा-पाठ, अध्ययन अध्यापन छोड कर क्षत्रिय का कार्य कर सकता था। इस काल में व्यक्ति अपने पेशे के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तित कर सकता था। क्षत्रिय राजा विश्वव्रत अपना वर्ण परिवर्तित कर ब्राह्मण ऋषि विश्वामित्र हो गए। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य से शिक्षा ग्रहण कर राजा जनक क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गए। इस तरह यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था नहीं थी, बल्कि कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था थी जो पाश्चात्य देशों की मुक्त वर्ग प्रणाली के समान थी।

परन्तु इस काल के अन्तिम भाग में पुजारी या पंडित का पद वंशानुगत हो गया तथा ब्राह्मण रक्त-शुद्धता पर ध्यान देने लगे। इस काल में जाति-व्यवस्था नहीं थी। खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी नहीं पाए जाते थे। ऊपर के तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लोगों में विवाह सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं था तथा वे आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। भोजन तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों का न होने का कारण यह था कि इन वर्णों में आपस में ऊँच-नीच की भावना नहीं थी. ये तीनों वर्ण एक ही प्रजाति के थे तथा इनमें भाषा, धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से कोई भेद नहीं था ऋग्वेदीय साहित्य के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल के अन्तिम वर्षों में ब्राह्मणों का उच्चतम स्थिति प्राप्त हो गयी थी। इस समय यज्ञ शुद्धि एवं पवित्रता का महत्त्व दिया जाता था। इस बात के निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि इस समय ब्राह्मण अन्तर्विवाही थे अथवा नहीं। कहीं-कहीं ब्राह्मणों के क्षत्रिय कन्याओं से विवाह के प्रमाण मिलते हैं। स्पष्ट है कि वैदिक काल के अन्तिम वर्षों में ब्राह्मण-वर्ण को जाति की विशेषताएँ प्राप्त हो चुकी थी।

इस काल के अन्त में क्षत्रियों को 'राजन्य' कहा गया। राजन्य शब्द का प्रयोग शासकों के लिए किया गया था। इस वर्ग के लोग मुख्यत. शासन तथा सेना सम्बन्धी कार्यों में लगे हुए थे, परन्तु वे अन्य पेशे अपना सकते थे। इस वर्ग का ब्राह्मणों से निम्न स्थिति प्राप्त हुई। क्षत्रियों ने अपने वर्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किये। कहीं-कहीं उन्होंने अपनी कन्याओं का विवाह ब्राह्मणों के साथ किया, परन्तु ब्राह्मणों ने अपनी कन्याएँ उन्हें नहीं दी। वैदिक साहित्य में वैश्य वर्ण का वर्णन बहुत कम मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्यों को दूसरों के जीवन का आधार माना गया है। अन्य दो वर्णों की स्थिति ब्राह्मण और क्षत्रिय की तुलना में निम्न थी, वैश्यों की स्थिति महत्त्वपूर्ण नहीं थी। ऋग्वेद में शूद्र का वर्णन केवल एक स्थान पर मिलता है। घरेलू नौकरों के रूप में अथवा दासों के रूप में इनका उल्लेख है।

डॉ. घुरिये ने बताया है कि ऋग्वेद काल के प्रारम्भिक समय के तीन वर्ग बाद में चार समूहों में सुदृढ हो गए, संवृत समूह बन गए, और इनके साथ पृथक् रूप से तीन या चार अन्य समूहों का

उल्लेख होता था। स्पष्ट है कि वैदिक काल के अन्त में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च हो चुकी थी। प्रत्येक वर्ग साधारणत. अन्तर्विवाही समूह बन चुका था। उस समय खान-मान और छुआछूत का उल्लेख नहीं मिलता है, अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक युग मे जाति-व्यवस्था की कुछ विशेषताएँ प्रकट होने लगी थी।

2. उत्तर वैदिक काल (Post Vedic Period) (तीसरी शताब्दी के अन्त तक)

वैदिक काल के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों का काल आता है जिसे उत्तर वैदिक काल कहा जाता है। इस काल का प्रारम्भ ईसा के 600 वर्ष पूर्व से होता है। इस काल मे ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में वर्ग-सघर्ष रहा। इस काल की दो मुख्य विशेषताएँ हैं-(1) ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति का सगठन एव (2) शूद्रो का अध पतन। इस समय चारो वर्ण एक-दूसरे स पृथक् हो गए तथा प्रत्येक में आन्तरिक दृढता आने लगी। ब्राह्मणो ने अपनी शक्ति को बढ़ान का प्रयत्न किया और धर्मशास्त्रों ने इसमें योग दिया। इस काल मे सर्वप्रथम 'जाति' शब्द का प्रयाग हुआ। वास्तव में जाति शब्द का प्रयोग वर्णों और उनके अन्तर्गत बनन वाल उप-समूहों के लिए किया गया।

सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के कारण सामाजिक विभेद बढ़ता जा रहा था। ब्राह्मण दण्ड और उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे पक्षपातपूर्ण नियम बना रहे थ। वर्ग-सघर्ष अधिक जटिल रूप धारण करता जा रहा था। इस समय जैन तथा बौद्ध धर्म का विकास हुआ। समानता की नीति पर आधारित क्षत्रियों द्वारा पापित जैन तथा बौद्ध धर्म ब्राह्मणवाद के विरुद्ध थे। जैन तथा बौद्ध धर्म-ग्रन्थों म क्षत्रियों को ब्राह्मणो से ऊँचा माना गया है जिससे ब्राह्मणवाद को क्षति पहुँची। इनमें जन्म को महत्व न देकर कर्म का महत्त्व दिया गया। बुद्ध ने कहा-"व्यक्ति कर्म स ब्राह्मण हाता है, न कि जन्म से।"

जैन तथा बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् ब्राह्मणो की शक्ति फिर स बढने लगी। उन्होंने धर्म क क्षेत्र म यज्ञ, विधि विधान तथा अनुष्ठान आदि की व्यवस्था कर धार्मिक विधानो को अत्यन्त जटिल बना दिया। वर्ण-व्यवस्था में जाति व्यवस्था की अनेक विशेषताएँ आने लगी। फिक (Fick) का कथन है कि इस काल मे ब्राह्मण एव वैश्य जाति का रूप प्राप्त कर चुक थे। अपने वर्ण से बाहर विवाह करन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यद्यपि अनुलोम विवाह मान्य थ तथापि ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान का माता-पिता की जाति में न रखकर अलग जातियों में रखा गया। जाति-वर्ण सकरता को हय दृष्टि स देखा गया। गौतम तथा बौधायन न मिश्रित जातियों की एक सूची प्रस्तुत की है। इस काल मे प्रत्यक जाति के परो तथा कर्तव्य जन्म के आधार पर निश्चित कर दिए गए। छुआछूत के विचारों का प्रारम्भ इसी काल मे हुआ। इस काल मे एक ओर जहाँ ब्राह्मणों की स्थिति और भी उच्च हुई, वहाँ दूसरी ओर शूद्रो की स्थिति में गिरावट आयी। इन लोगो को विद्याध्ययन एव उपनयन-संस्कार स वचित रखा गया। इन्हें नागरिक एव धार्मिक अधिकारो से पूर्णत वचित कर दिया गया। इसी काल में वास्तविक जाति-व्यवस्था का निर्माण प्रारम्भ हुआ। जन्म तथा वशानुक्रमण के तत्त्वो का महत्त्व दिया जाने लगा। जन्म के आधार पर व्यक्ति का वर्ण निश्चित होने लगा। ब्राह्मण परिवार मे जन्म लेन वाला ब्राह्मण ही कहलाने लगा चाहे वह कोई भी कार्य क्यों न करे।

3. धर्मशास्त्र काल (Dharmashastra Period) (11 वी शताब्दी तक)

तीसरी शताब्दी के अन्तिम वर्षों से इस काल का प्रारम्भ हाता है। इस काल में जाति-व्यवस्था को अधिक स्थायित्व प्राप्त हुआ। इस युग में ब्राह्मणो का स्थान बहुत ऊँचा हो

गया। इस समय मनुस्मृति के नियमों को व्यवहार क आदर्श के रूप में स्वीकार कर लिया गया। याज्ञवल्क्य-सहिता, विष्णु-सहिता, पाराशर-सहिता और नारद स्मृति के आधार पर इस काल मे अलग-अलग वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य निर्धारित किए गए। इस काल में ब्राह्मणों का अनक विशाधिकार प्राप्त हुए, उनकी सामाजिक स्थिति उच्चतर हुई। मनु का कथन है कि ब्राह्मण इस सृष्टि के सम्राट है क्योंकि उनकी उत्पत्ति विराट पुरुष अर्थात् जगत-सृष्टा के मुख स हुई है, जा पवित्र है। इस काल मे कवल शूद्र का ही नही बल्कि सभी वर्णों का ब्राह्मणों की सवा करना प्रमुख कर्तव्य हा गया।

इस काल मे अन्तर्जातीय विवाहों पर कठार प्रतिबन्ध लगाये गय और जाति-अन्तर्विवाह (Caste Endogamy) के नियम का पालन करना अति आवश्यक बताया गया, परन्तु अनुलाम विवाह मान्य थ और एसे विवाहों स उत्पन्न द्विज वर्णों की सन्तानों का द्विज ही माना गया। चार वर्णों क लागों मे हाने वाल अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण इस काल मे जातियाँ उत्पन्न हुई और इन जातियो क बीच हान वाल विवाहो स जातियो की सख्या मे वृद्धि हुई। यद्यपि लागों का झुकाव जाति-अन्तर्विवाह की आर था तथापि कुछ मात्रा में अन्तर्जातीय विवाह हाते रह। इस काल में आठवीं शताब्दी स राजनैतिक अस्थिरता बढन स सामाजिक व्यवस्था एव वैयक्तिक व्यवहारो पर ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म का गहरा प्रभाव पडा। भाजन सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध स्पष्ट हान लग व्यवसाय अधिकाधिक आनुवंशिक हात गए, विशुद्धता एवं पवित्रता की दृष्टि मे रखकर कम आयु मे विवाह करना अच्छा समझा गया तथा अन्तर्विवाह एव अनुलाम विवाह सम्बन्धी नियमों का काफी प्रचार किया गया। स्पष्ट है कि इस काल मे जाति-व्यवस्था हिन्दू सामाजिक सगठन क एक आवश्यक अग क रूप मे स्वीकार कर ली गई तथा इस बनाए रखन क लिए अनक सामाजिक, राजनैतिक एव धार्मिक आदर्शों की रचना की गई।

4. मध्यकाल (Medieval Period) (11 वी शताब्दी से 17 वी शताब्दी तक)

11 वी शताब्दी क अन्तिम वर्षों में इस काल का प्रारम्भ हुआ। इस समय निम्न वर्णों का शासन समाप्त हा चुका था, राजपूत राजाओं का आधिपत्य स्थापित हो चुका था और उन्होंन ब्राह्मण-व्यवस्था का पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। दूसरी आर मुसलमानों क आक्रमणकारियों क रूप मे भारत मे आन स धीर-धीरे राजपूत राजाओं की शक्ति क्षीण होती जा रही थी, उनका पतन हाता जा रहा था। इस काल में मुसलमानों न भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया। व यहाँ इस्लाम का प्रचार करना चाहत थे। मुसलमानों की आक्रमणकारी भावना क कारण इस काल में जाति क बन्धन स्वत ही कठोर होत गए। इस समय क्षत्रिय राजाओं एव वैश्यो की शक्ति समाप्त हा जान स ब्राह्मण समाज के कर्त्ता-धर्त्ता बन गए। व अपने आपको भूपति या भूदव कहने लग। दश में अनक मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें अपार धन एकत्र होन लगा। इन मन्दिरो में ब्राह्मण महन्त क रूप मे कार्य करन लगे। ये मन्दिर धार्मिक जीवन क अतिरिक्त सम्पूर्ण सामाजिक जीवन क केन्द्र भी थ।

शक्तिशाली ब्राह्मणों ने जाति-व्यवस्था का और भी सकुचित करने का प्रयत्न किया। जाति के नियमों में कठारता आन लगी। अन्तर्विवाह पर जार दिया गया और अनुलोम विवाहों को समाप्त कर दिया गया। चारो वर्ण अन्तर्वैवाहिक समूह बन गए। जन्म और शुद्धता को विशेष महत्त्व

गया। भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी बढन लग और कारीगरो का काम करन वाली जातियों का, जिसमें सुनार, लुहार, धोबी, बढई, जुलाहा इत्यादि आते हैं, नीचा समझा गया। इस काल में वर्णसंकर जातियों की सख्या मे वृद्धि हुई।

इस काल मे कबीर नानक, चैतन्य महाप्रभु आदि सन्तों ने ब्राह्मणों द्वारा फैलाये गय आडम्बर, रूढिवादिता, छुआछूत इत्यादि का विरोध किया। लकिन इस समय तक समाज में इतनी जडता आ चुकी थी, व्यक्ति इतन गतिहीन एव धर्मभीरु बन चुक थ कि साधु-सन्तों के सुधार प्रयासों का लोगों पर कोई विशष प्रभाव नही पडा। इस काल मे जाति की कट्टरता में और भी अधिक तजी आई और लाग अधिकाधिक मात्रा मे रूढिवादी एव अन्धविश्वासी बनते गय। वास्तव मे, इस समय तक जाति-व्यवस्था हिन्दुओ क सामाजिक जीवन का एकमात्र आधार बन चुकी थी। हिन्दू स्त्रियों क सतीत्व रक्षा, मुसलमानो क साथ उनक विवाह रोकन एव रक्त-शुद्धता का बनाये रखने के लिए एक ओर तो बाल-विवाहो का प्रचलन हुआ सती-प्रथा का प्रोत्साहित किया गया एव दूसरी ओर स्त्रियों को गतिशीलता पर रोक लगाई गई पर्दा-प्रथा का बढावा दिया गया, विधवा-विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिय गय। इस प्रकार हिन्दू समाज जातिगत सकीर्णता और रूढियो मे जकड गया।

5. आधुनिक काल (Modern Period) (18 वी शताब्दी से प्रारम्भ)

ब्रिटिश काल मे उन उपजातियो म स्थायित्व आ गया जिनकी रचना मध्यकाल में हुई थी। इस काल मे उपजातियो की सख्या मे वृद्धि हुई। भारत मे आन पर अग्रेजो न देखा कि भारतीय समाज पर ब्राह्मणो का अत्यधिक प्रभाव है। अत उन्होंन ब्राह्मणों की सहायता स अपना शासन सुदृढ बनाने की कोशिश की। उन्होंन ब्राह्मणों का उच्च आय वाल पदो पर नियुक्त किया और ब्राह्मणों न सार्वजनिक प्रशासन क प्रत्यक क्षत्र में अपने को अनिवार्य बना दिया। इस समय ब्राह्मण पूर्ण शक्ति-सम्पन्न हो गय। पिछले चार कालों मे जाति-व्यवस्था मे जो परिवर्तन हुए, व इतने महत्त्वपूर्ण एव क्रांतिकारी नही थ जितन आधुनिक काल मे हुए परिवर्तन। इस काल में एक ओर हिन्दू समाज पर एकश्वरवादी ईसाई धर्म का प्रभाव पडा और दूसरी ओर दश की नवीन पूँजीवादी आर्थिक और धर्म-निरपक्ष राजनीतिक व्यवस्था क कारण जाति-व्यवस्था के विरोध में अनेक सुधारवादी आन्दोलन उठ खड हुए। ब्रह्म समाज, आर्य समाज एव प्रार्थना समाज इत्यादि ने जातीय आधार पर पाय जान वाल भेद-भाव के विरुद्ध आवाज उठाई और गुण तथा कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर उसी का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ किया। सुधारवादी आन्दोलनो क कारण शूद्रों की स्थिति में काफी सुधार हुआ एव समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित हुए जिन्होन सती-प्रथा एव बाल-विवाह का बन्द करने और अन्तर्जातीय विवाहो का प्रोत्साहित करने मे योग दिया।

20वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जाति-व्यवस्था क आधारभूत सिद्धान्तो का विरोध प्रारम्भ हुआ। इस दिशा में गोपालकृष्ण गोखल, लोकमान्य तिलक, रानाडे तथा महात्मा गाँधी के प्रयास उल्लखनीय हैं। अछूतों का हिन्दू समाज का अभिन्न अग माना गया। इस काल मे अनेक कारकों के फलस्वरूप दश में ऐसा वातावरण तैयार हुआ जिसन जाति-व्यवस्था मे तजी से परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। यहाँ हम उन कारको पर विचार करग।

जाति-व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक
(Factors Responsible for Change in Caste System)

1. पाश्चात्य शिक्षा एवं बढ़ता हुआ ज्ञान (Western Education and Growing Knowledge)—अंग्रेजों ने भारत में धर्म-निरपेक्ष (Secular) शिक्षा प्रदान की जिसकी सहायता से ज्ञान में वृद्धि हुई, विद्यार्थियों के दिमाग से रूढ़िवादिता और धर्मान्धता दूर होने लगी और समानता, बन्धुत्व एवं स्वतन्त्रता की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक शिक्षा तथा विज्ञान के प्रभाव से व्यक्ति में तार्किक दृष्टिकोण का विकास हुआ, अनेक अन्धविश्वास दूर हुए और जाति-व्यवस्था की जड़ें खोखली होने लगी।

2. पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव (Impact of Western Civilization)— पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से यहाँ व्यक्तिवाद, भौतिकवाद एवं उदारवाद से सम्बन्धित विचारों का प्रसार होने लगा। व्यक्तिवाद के प्रसार के कारण जातीय भावना को ठेस पहुँची और व्यक्ति पर से जाति का नियन्त्रण कम होने लगा। भौतिकवाद के प्रसार से जाति के स्थान पर धन का महत्त्व बढ़ा। व्यक्ति अपने जातिगत पेशे को छोड़कर उन कार्यों को करने लगा जिनसे उसे अधिक धन प्राप्त हो। अब जाति के बजाय धन के आधार पर व्यक्ति को सम्मान प्राप्त होने लगा। प्रेम, रोमांस और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का महत्त्व बढ़ने लगा जिसके फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला। शिक्षित भारतीयों के रहन-सहन, खान-पान और वेश-भूषा में समानता आने लगी। इन परिवर्तनों का फल यह हुआ कि जाति व्यवस्था के बन्धन ढीले पड़ने लगे।

3. आधुनिक आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों का प्रभाव (Impact of Modern means of Transport and Communication)— आधुनिक आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों में उन्नति होने से अनेक नवीन उद्योगों, व्यवसायों एवं कारखानों की उत्पत्ति हुई। इससे विभिन्न धर्मों, जातियों एवं प्रदेशों के लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने तथा विचार-विनिमय करने का अवसर प्राप्त हुआ। उनमें समानता की भावना का बीजारोपण हुआ और संकुचित जातीय भावना कम हुई। इसके अलावा रेलों, बसों, ट्रामों इत्यादि में विभिन्न जातियों के लोग एक साथ यात्रा करते तथा जाति-पाँति या छुआछूत पर ध्यान दिये बिना वहीं एक-दूसरे के निकट बैठे हुए खाते-पीते हैं। इससे खाने-पीने के बन्धन एवं छुआछूत के विचार कमजोर पड़ते जा रहे हैं।

4. नवीन आर्थिक व्यवस्था (New Economic System)— भारतीय जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति के वंशानुगत पेशे रहे हैं। अपने अपने पेशों के अनुसार विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे की सेवा करती रही हैं। भारतीय मुद्रा रहित अर्थ-व्यवस्था ने सेवाओं को यथावत् बनाये रखा और सेवाओं तथा वस्तुओं का आदान-प्रदान होता रहा, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिये जिससे ऐसी आर्थिक परिस्थितियों का जन्म हुआ जिन्होंने जाति-व्यवस्था को अधिक प्रभावित किया। जाति-व्यवस्था को प्रश्रय देने वाले कारकों में कृषि पर आधारित भारतीय अर्थव्यवस्था और ग्रामीण सहवासी समुदाय प्रणाली मुख्य है, लेकिन अंग्रेजों के राज्यकाल में पूँजीवादी व्यवस्था के विकास तथा औद्योगीकरण ने इन कारकों को ही समाप्त कर दिया। ऐसी दशा में जाति-व्यवस्था में शिथिलता आने लगी।

इस समय भारतवर्ष में पूँजीवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप औद्योगीकरण प्रारम्भ हुआ। इसके कारण कई प्रकार के व्यवसाय तथा कल-कारखाने स्थापित हुए। इन मिलों-कारखानों में विभिन्न जातियों के लोग एक साथ काम करने लगे। इसमें जाति-व्यवस्था के आधार पर श्रम या पेशों का विभाजन सम्भव नहीं था। मिलों में काम करने वाले ये लोग एक साथ उठते-बैठते, खाते-पीते तथा मनोरंजनात्मक कार्यक्रमों में भाग लेते। इन सब कारणों से उनमें समानता एवं एकता की भावना का विकास हुआ और जाति-व्यवस्था निर्बल होने लगी।

5. नवीन पेशों का प्रभाव (Impact of New Occupations)— जाति और पेशों के बीच सदैव सम्बन्ध रहा है, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था और इसके साथ ही विकसित होने वाले औद्योगीकरण तथा नगरीकरण ने अनेक नवीन पेशों का जन्म दिया। इसके अलावा प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के लिए अनेक भारतीयों को नियुक्त किया गया। प्रत्येक जाति के व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत क्षमता तथा शिक्षा के आधार पर पेशे अपनाने का अवसर प्राप्त हुआ। अब वे डाक्टर, इंजीनियर वकील, अध्यापक आदि के रूप में कार्य करने लगे। विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को अपने वंशानुगत पेशे को छोड़कर नवीन पेशे अपनाने का मौका मिला। इन सबका फल यह हुआ कि जाति और पेशे के बीच पाये जाने वाला सम्बन्ध कमजोर पड़ गया।

6. नगरीकरण का प्रभाव (Impact of Urbanization)— औद्योगीकरण तथा अन्य कई कारणों से नगरों की जनसंख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। नगरों में देश के भिन्न-भिन्न भागों तथा जातियों के व्यक्ति पाये जाते हैं। ये नगर काफी विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं। नगरों में विभिन्न संस्कृतियों एवं जातियों के व्यक्तियों का एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। मिलों, दफ्तरों, स्कूलों तथा अनेक अन्य क्षेत्रों में विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को साथ-साथ कार्य करना पड़ता है। उन्हें रेलों, बसों, ट्रामों आदि में एक साथ बैठना पड़ता है। एक ही मौहल्ले तथा कभी-कभी एक ही भवन में कई जातियों के लोग साथ-साथ रहते पाए जाते हैं। सिनेमा, होटल, क्लब, सामाजिक उत्सव आदि में लोग जातिगत भेद न रखकर साथ-साथ उठते-बैठते तथा खाते-पीते हैं। इन सब परिवर्तनों के कारण जातिगत भेद या ऊँच-नीच की भावना कम हुई है।

7. नवीन सामाजिक समूहों का जन्म (Origin of New Social Groups)— नये व्यवसायों, राजनैतिक कार्यों, शिक्षा, धन इत्यादि के आधार पर वर्तमान में अनेक नवीन सामाजिक समूहों का निर्माण हुआ है। आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों ने इस कार्य में काफी सहयोग दिया है। कई प्रकार की आर्थिक समस्याओं तथा सामान्य हितों के कारण एक ओर मजदूरों ने मजदूर-संघ बनाए तो दूसरी ओर उद्योगपतियों ने भी अपने एसोसिएशन बनाए। साथ ही डॉक्टरों, वकीलों और अन्य नौकरी पेशों में लगे हुए व्यक्तियों के अनेक क्लब तथा व्यावसायिक संघ बने। इन समूहों में जातीय हितों की बजाय वर्गीय हितों का ध्यान रखा जाता है। इनमें जाति-चेतना नहीं बल्कि वर्ग-चेतना पाई जाती है। सामान्य हितों के आधार पर बने ये वर्गीय संगठन सारे देश में फैले हुए हैं, जिनमें विभिन्न जातियों के व्यक्ति पाए जाते हैं। इन नवीन समूहों ने जातियों के महत्त्व को कम कर दिया है।

8. धार्मिक आन्दोलन (Religious Movement)— जाति-व्यवस्था के विरोध में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रानाडे तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि के प्रयत्नों से

अनेक सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुए। ऐसे आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्य समाज मुख्य हैं। इन संगठनों ने जाति-व्यवस्था के विरोध में आवाज़ उठाई तथा जाति-पाँति के भेद-भाव, छुआछूत और ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया। जहाँ ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज ने समानता को महत्त्व देते हुए तार्किक आधारों पर जाति-व्यवस्था का विरोध किया, वहाँ आर्य समाज ने धार्मिक आधार पर। इनके परिणामस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला, खान-पान सम्बन्धी निषेधों में भी कुछ शिथिलता आई तथा देश में जाति-व्यवस्था विरोधी वातावरण तैयार हुआ।

9. राजनैतिक आन्दोलन (Political Movement)— भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिक आन्दोलन संगठित किया गया। इस आन्दोलन ने विभिन्न जातियों के लोगों को एक दूसरे के निकट आने का अवसर दिया। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में विभिन्न भाषा-भाषी, धर्म और जाति के लोगों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर देश के स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लिया, सत्याग्रह किया तथा जेलों में गए। इस राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों में जाति-पाँति, छुआछूत या ऊँच-नीच की भावना के पाए जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

10. सामाजिक आन्दोलन (Social Movement)— जाति-व्यवस्था को परिवर्तित करने में सामाजिक आन्दोलनों ने भी योग दिया है। सामाजिक आन्दोलनों के अन्तर्गत महिला आन्दोलन का विशेष महत्त्व रहा है। महिला आन्दोलन के कारण स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार हुआ, उन्हें अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए। पर्दा-प्रथा के समाप्त होने से वे न केवल स्कूलों एवं कॉलेजों में ही जाने लगीं बल्कि राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों में भी पुरुषों के साथ भाग लेने लगीं। यही नहीं, दफ्तरों, मिलों, शिक्षण-संस्थाओं तथा अन्य क्षेत्रों में भी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ काम करने लगीं, इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न जातियों के स्त्री-पुरुषों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इससे उन्हें देर से विवाह करने का प्रोत्साहन मिला। इन विवाहों तथा परिवर्तनों के कारण जातीय बन्धनों में भी शिथिलता आई है।

11. प्रजातंत्रीय प्रणाली का प्रभाव (Impact of Democratic System)— पाश्चात्य प्रभाव के कारण प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का देश में प्रचार हुआ। प्रजातंत्रीय प्रणाली स्वतन्त्रता, समानता और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त पर आधारित है जबकि जाति-व्यवस्था भेद-भाव, असमानता और धार्मिक कट्टरता पर। आज अनेक कारकों के अतिरिक्त प्रजातन्त्रीय मूल्यों के प्रसार के कारण लोग जातिगत भेदभाव या ऊँच-नीच के विचारों को अनुचित समझने लगे हैं तथा जाति-व्यवस्था को स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास में बाधा मानने लगे हैं।

12. कानूनों का प्रभाव (Effect of Laws)— अंग्रेजों द्वारा बनाए गए कानूनों में ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं किया गया तथा कानून के समक्ष सभी जातियों को समान समझा गया। अंग्रेजों द्वारा बनाए गए नवीन कानूनों ने जाति पंचायतों के क्षेत्र को और भी संकुचित कर दिया। इसका फल यह हुआ कि जातीय पंचायतों के सब अधिकार समाप्त हो गए और उनका महत्त्व भी धीरे-धीरे कम होता गया। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत यहाँ जाति अन्तर्विवाह का नियम प्रचलित रहा है, लेकिन ब्रिटिश शासन काल में कानून द्वारा इसे समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। सन् 1955 में 'हिन्दू विवाह अधिनियम' पारित किया गया जो जातीय प्रतिबन्धों के प्रतिकूल था तथा जिसके अनुसार विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। सन् 1955 में '

अपराध अधिनियम' भी पारित किया गया। इसके द्वारा हरिजनों की सभी निर्योग्यताओं को दूर कर, अस्पृश्यता को कानूनी आधार पर समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। इन कानूनों के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था में काफी शिथिलता आई है।

13. स्त्री शिक्षा का प्रसार— स्त्रियों में शिक्षा के अभाव ने जातीय नियमों के पालन में योग दिया लेकिन स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने पर उन्होंने जातीय बन्धनों को तोड़ा। साथ ही जाति से सम्बन्धित विवाह एवं खान-पान के नियमों को भी चुनौती दी।

14. संयुक्त परिवारों का विघटन— संयुक्त परिवार में सामूहिकता के कारण जातीय नियमों का पालन होता था। एकाकी (नाभिक) परिवारों की स्थापना के कारण जातीय आधार पर शोषण करने वाले विचारों में कमी आई।

15. जाति पंचायतों का ह्रास— जाति प्रथा को दृढ़ता प्रदान करने में जाति-पंचायतों व ग्राम पंचायतों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जाति पंचायतों के दण्ड के भय से लोग जाति-नियमों का पालन करते थे। लेकिन जाति-पंचायतें समाप्त होने तथा इनका स्थान नवीन अदालतों के लेने से जाति प्रथा भी कमजोर हुई।

16. जजमानी प्रथा की समाप्ति— औद्योगीकरण व नवीन व्यवसायों की स्थापना के साथ ही जजमानी प्रथा समाप्त हुई। लोग अपने जातीय व्यवसाय के स्थान पर अन्य व्यवसाय करने लगे। इससे जातीय व्यवसाय सम्बन्धी बाध्यता समाप्त हुई तथा साथ ही जाति-व्यवस्था का आर्थिक आधार भी समाप्त हुआ।

17. कल्याणकारी राज्य की नीति— दलित व पतित वर्ग का उत्थान कल्याणकारी राज्य का प्रमुख लक्ष्य होता है। अनुसूचित जातीय व जनजातीय लोगों का उत्थान कर उन्हें सभ्य समाजों के सामान्य जीवन स्तर तक लाने का कार्य प्रारम्भ से ही राज्य का लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य ने भी जाति के परम्परागत लक्षणों को प्रभावित किया है।

18. रूढ़िवादी धर्म का ह्रास— धर्म ने जाति को स्थायित्व प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज धर्म का रूढ़िवादी रूप तेजी से परिवर्तित हो रहा है। जातिगत रूढ़ियों का पालन ही आज धर्म नहीं रह गया है अब वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर धर्म की विवेचना की जाने लगी है। आज धर्म का सम्बन्ध कर्त्तव्य पालन तथा मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने से है। रूढ़िवादी धर्म के ह्रास ने जाति-व्यवस्था के प्रभाव को कम किया है।

भारतीय जाति-व्यवस्था में वर्तमान परिवर्तन
(Recent Changes in Caste System)

उपर्युक्त कारकों के परिणामस्वरूप वर्तमान में जाति-व्यवस्था के संरचनात्मक एवं संस्थात्मक (सांस्कृतिक) दोनों ही पक्षों में परिवर्तन स्पष्ट हो रहे हैं। यहाँ इन्हीं परिवर्तनों पर प्रकाश डाला जाएगा ताकि इसकी वर्तमान परिवर्तित अवस्था को समझा जा सके। ये परिवर्तन निम्नलिखित हैं-

1. ब्राह्मणों की स्थिति में गिरावट (Decline in the Status of Brahmins)- भारतीय जाति-संरचना में ब्राह्मणों की स्थिति सदैव से सर्वश्रेष्ठ रही है और आज भी ब्राह्मण जाति की स्थिति अन्य जातियों से उच्च ही है परन्तु अब सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में

उनका वह महत्त्व नहीं रह गया जो पहले था। वर्तमान समय में राजनीतिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक शक्ति का महत्त्व होने के कारण इन शक्तियों से युक्त व्यक्तियों की स्थिति ही उच्च है, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों। आज सामाजिक स्थिति के निर्धारण में जन्म अथवा जाति का महत्त्व कम और सम्पत्ति, सत्ता एवं शैक्षणिक योग्यता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। आज निम्न जाति का व्यक्ति भी अपनी योग्यता बढ़ा कर उच्च पद प्राप्त कर लेता है और उच्च जातियों के अनेक व्यक्तियों को उसकी अधीनता में कार्य करना पड़ता है। यह सारी परिस्थिति ब्राह्मणों के प्रभुत्व में ह्रास के लिए उत्तरदायी है।

2. जातीय संस्तरण में परिवर्तन (Changes in Caste Hierarchy) — जाति-व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता विभिन्न जातियों में उतार-चढ़ाव की एक प्रणाली रही है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की अन्य जातियों की तुलना में पूर्णतः निश्चित स्थिति रही है जिसमें साधारणतः किसी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नहीं था। स्वयं निम्न जातियाँ भी उच्च जातियों को अपने से श्रेष्ठ मानती रही हैं, लेकिन वर्तमान में इस संस्तरण में काफी परिवर्तन आए हैं। प्रत्येक जातीय समूह ने, विशेष रूप से निम्न जातियों ने, अपने से उच्च जातियों की जीवन-विधि अपना कर जातीय-संस्तरण में अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। इस प्रक्रिया को डॉ. श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' (Sanskritization) कहा है। आज कोई भी जाति अपने को किसी जाति से नीचा नहीं मानती है। वर्तमान समय में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण भी जन्म अथवा जाति के आधार पर न होकर उसके गुण, योग्यता, कार्य-क्षमता, धन तथा राजनैतिक शक्ति के आधार पर होता है। ऐसी स्थिति में जातीय संस्तरण में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। आज व्यक्तिगत स्तर पर जाति-परिवर्तन के उदाहरण भी सामने आने लगे हैं। बाहर से आकर बसने वाले लोग नगरीय क्षेत्रों में अपने आपको अपरिचितों के संसार में पाते हैं। इस स्थिति का लाभ उठाकर वे अपने आपको किसी भी अन्य जाति का घोषित कर देते हैं।

3. अस्पृश्य एवं दलित वर्गों की सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताओं में परिवर्तन (Changes in Social & Religious Disabilities of Untouchables and Depressed Classes) — जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत जिन लोगों को अस्पृश्य, दलित अथवा हरिजन होने के कारण अनेक अधिकारों से वंचित रखा गया, जिन पर अनेक सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ लागू की गई, उनकी स्थिति में आज महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। इन लोगों की दशा सुधारने के लिए अनेक समाज-सुधारकों, महात्मा गाँधी तथा डॉ. अम्बेडकर ने उल्लेखनीय प्रयास किये हैं। भारतीय संविधान द्वारा हरिजनों को अन्य लोगों के समान ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अधिकार दिये गये हैं। उनके लिए सरकारी नौकरियों, विधान सभाओं, मन्त्री-मण्डलों एवं लोकसभा में अनेक स्थान सुरक्षित रख गये हैं तथा उन्हें शिक्षा की विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। साथ ही अस्पृश्यता के निवारण हेतु सन् 1955 में 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' (The Untouchability Offences Act, 1955) भी पारित किया गया। इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इन जातियों की निर्योग्यताएँ दूर हुई हैं एवं सवर्णों तथा अस्पृश्यों के बीच जो विभेद पाया जाता था, वह कम हुआ है।

4. **विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन (Changes in Marriage Prohibitions)**— जाति-व्यवस्था की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता अन्तर्विवाह (Endogamy) की नीति रही है। यहाँ सप्रवर एव सगौत्र विवाह सम्बन्धी निषेध पाये जाते रहे हैं। यहाँ विधवा-पुनर्विवाह पर नियन्त्रण तथा बाल-विवाह एवं कुलीन विवाहों का प्रचलन रहा है। वर्तमान में, विवाह से सम्बन्धित इन मान्यताओं में काफी परिवर्तन आया है। आधुनिक काल में सह-शिक्षा एव स्त्री-पुरुष के साथ-साथ काम करने से उन्हें एक-दूसरे के निकट आने का मौका मिला है, उनका आपस में सम्पर्क बढ़ा है। उसमें प्रगतिशील विचारों का प्रसार हुआ है तथा उनके सामाजिक मूल्यों में भी परिवर्तन आया है। इसक अतिरिक्त विवाह क सम्बन्ध में उन्हें अनेक कानूनी सुविधाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। इन सब क परिणामस्वरूप प्रेम-विवाह, विलम्ब विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। आज विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में उदारवादी दृष्टिकोण विकसित होता जा रहा है। वर्तमान समय में अन्तर्जातीय विवाहों को कानूनी मान्यता प्राप्त है, लेकिन जाति की अन्तर्विवाह सम्बन्धी विशेषता पर जिस पर जाति का अस्तित्व निर्भर करता है, आज भी विद्यमान है।

5. **पेशे के चुनाव मे स्वतन्त्रता (Freedom in Selection of Profession)**- अधिकाश जातियों के निश्चित परम्परागत पेशे रहे हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते रहे हैं। ब्रिटिश-काल में अनेक नवीन पेशों का जन्म हुआ जिनका विभिन्न जातियो मे विभाजन करना असम्भव था। आज व्यक्ति अपनी इच्छा एव योग्यतानुसार किसी भी पेशे को अपना सकता है, शिक्षा द्वारा योग्यता बढ़ाकर किसी ऊँचे से ऊँचे पद को प्राप्त कर सकता है। नगरों मे इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण दिखाई पडते हैं। वहाँ 'शर्मा शू कम्पनी', 'चतुर्वेदी टेलरिंग हाउस' 'त्रिपाठी लाउण्ड्री' आदि व्यावसायिक फर्में मिलती हैं और अनेक निम्न जातियों के व्यक्ति उच्च पदों पर कार्य करते हुए पाय जाते हैं। व्यावसायिक क्षेत्र मे गतिशीलता बढने से विभिन्न जातियों के लोगों को समान आर्थिक अवसर मिलने लगे हैं एव जाति का व्यावसायिक आधार कमजोर होता जा रहा है।

भूमि के स्थान पर मुद्रा के आर्थिक जीवन का आधार बन जाने से शूद्रों की स्थिति में परिवर्तन आया है। वे उन पेशों को छोडने लगे हैं जिनके करने से उन्हें निम्न स्तर प्राप्त था और अब वे नवीन पेशो को अपनाने लगे हैं। इतना अवश्य है कि आज भी उच्च जातियाँ कुशल पेशों में हैं जबकि निम्न जातियाँ अकुशल पेशों में। आज औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण जाति और पेशे का रहा-सहा सम्बन्ध काफी शिथिल पड गया है विशेष रूप से नगरीय क्षेत्रों में, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में जाति और पेशे की घनिष्ठता आज भी पाई जाती है।

6. **पेशो के सम्बन्ध मे ऊँच-नीच की धारणा में परिवर्तन (Changes in the concept of Superiority and Inferiority of Occupations)**— पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा के आधार पर जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ पेशों को ऊँचा एव कुछ को नीचा माना गया था, लेकिन आज आर्थिक परिवर्तन, विशेष रूप से औद्योगीकरण के कारण, पेशों की ऊँचाई-निचाई नापने के धर्म-निरपेक्ष पैमानों का विकास हुआ है। आज किसी पेशे से प्राप्त होने वाले धन एव सत्ता के आधार पर उस पेशे को ऊँचा एव नीचा माना जाने लगा है। यह बात नवीन पेशो के सम्बन्ध में अधिक सही है। आज परम्परागत पेशों की बजाय नवीन पेशों का महत्त्व अधिक बढ़ता जा रहा है ताकि अधिक धन कमाया जा सके और सत्ता प्राप्त की जा सके।

7. खाने-पीने सम्बन्धी प्रतिबन्धों में शिथिलता (Relaxation in the Restrictions Relating to Food and Drink)— वर्तमान समय में शाकाहारी और मांसाहारी भोजन के सम्बन्ध में पवित्रता या अपवित्रता की धारणा समाप्त हो रही है। आज विभिन्न प्रकार के भोजनों की उपयोगिता उनमें पाए जाने वाले तत्वों के आधार पर निश्चित होने लगी है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के कारण वर्तमान समय में खाने-पीने सम्बन्धी प्रतिबन्धों में काफी शिथिलता आई है। नगरों में विभिन्न जातियों, धर्मों तथा प्रदेशों के लोगों के एक साथ रहने और काम करने से उनमें परिचय तथा मित्रता का विकास हुआ है। वे जाति-पाँति का ध्यान नहीं करते हुए एक-दूसरे के घर आने-जाने और साथ बैठकर घरों, होटलों एवं जलपान-गृहों में खाने-पीने लगे हैं। शिक्षा के प्रसार के कारण लोगों में जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है। इन सब परिवर्तनों के फलस्वरूप खाने-पीने सम्बन्धी प्रतिबन्धों में काफी शिथिलता आई है और अनेक जातियों के लोग एक-दूसरे के हाथ का बना हुआ भोजन एक साथ-बैठकर करने लगे हैं।

8. जन्म के महत्त्व में कमी (Decline in the Importance of Birth)— जाति व्यवस्था का मूल आधार जन्म रहा है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जन्म के आधार पर व्यक्ति की स्थिति सदैव के लिये निर्धारित होती थी जिसमें किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नहीं था। ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति केवल इसलिए श्रेष्ठ और सम्मानित माना जाता रहा है कि उसका जन्म सर्वोच्च जाति में हुआ है। आज शिक्षा के प्रसार से व्यक्ति की मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ है। जन्म के आधार पर ही किसी को उच्च एवं सम्माननीय तथा किसी को निम्न एवं असम्माननीय नहीं माना जाता। आज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने वाले योग्य, कुशल एवं साहसी व्यक्ति को श्रेष्ठ माना जाता है चाहे उसकी जाति कोई भी हो, चाहे उसका जन्म किसी भी परिवार में क्यों न हुआ हो। वर्तमान में जन्म के स्थान पर कर्म का महत्त्व बढ़ने से जाति के मौलिक आधार 'जन्म की महत्ता' में कमी आई है।

9. जातीय समितियों का निर्माण (Creation of Caste Associations)— जाति-पंचायतों के अतिरिक्त वर्तमान में जाति-समितियों का गठन एक नवीन लक्षण है। आज परम्परागत जाति-पंचायतें अपने क्षेत्र में कार्य कर रही हैं तो नवीन जाति-समितियाँ, परम्परागत जाति-व्यवस्था की बुराइयों को दूर करने में और समान स्तर की जातियों में एकता स्थापित करने के प्रयत्नों में लगी हैं। रुडोल्फ एवं रुडोल्फ तथा अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों में यह पाया है कि जाति-समितियाँ अब भारत की राजनैतिक प्रक्रियाओं में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं, विशेषत विधान-सभाओं और जिला समितियों के चुनावों में तथा सरकार द्वारा सचालित संस्थाओं के पदों के वितरण के मामलों में। रुडोल्फ एवं रुडाल्फ ने बतलाया है कि भारतीय राजनीति में जाति समितियाँ उसी प्रकार की भूमिका निभा रही हैं, जैसी यूरोप और अमेरिका की राजनीति में ऐच्छिक समितियाँ (Voluntary Associations)। इन विद्वानों के अनुसार जाति समितियाँ पैराकम्यूनिटीज (Para Communities) हैं जो जातियों के सदस्यों को सामाजिक गतिशीलता, राजनैतिक शक्ति तथा आर्थिक लाभ-प्राप्ति हेतु आगे बढ़ने में समर्थ बनाती हैं।[1]

---

1 Lloyd I. Rudolph and Susanne Hoeber Rudolph: The Modernity of Tradition, p. 29

10. बदलते हुए संदर्भ-समूह (Changing Reference Groups)— डॉ. योगेन्द्र सिंह ने बतलाया है कि अब निम्न जातियों में उच्च जातियों का अनुकरण करने और उनके जीवन की विधि को अपनाने की प्रवृत्ति कम होती जा रही है। इसका कारण सम्मान और शक्ति के बदलते हुए स्रोत हैं। पहले सन्दर्भ तथा आदर्श के रूप में ब्राह्मण और क्षत्रिय थे जिनके पास सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक शक्ति थी। कार्ल मैनहीम के अनुसार स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् 'मौलिक प्रजातंत्रीकरण' की प्रक्रिया ने उच्च जातियों के सन्दर्भ समूहों के रूप में स्थिति को चुनौती दी है। डॉ. सिंह ने बतलाया है कि उदग्र गतिशीलता (Vertical Mobility) संस्कृतिकरण की प्रारम्भिक आकांक्षा का स्थान अब स्वयं की जाति के साथ एकता स्थापित करने की नवीन भावना ने ले लिया है। जातीय समितियाँ इसी नवीन प्रवृत्ति का एक अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब हैं।[1]

11. बदलते हुए शक्ति सम्बन्ध (Changing Power Relations)—प्रजातंत्रीकरण, सामाजिक संरचना के राजनीतिकरण, भूमि-सुधारों, ग्रामों में चल रहे विकास-कार्यों तथा नगरों के औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण और नगरीय समुदायों की औपचारिक रूप से बन्द व्यवस्थाओं में कुछ खुलापन आता जा रहा है, तो ऐसी स्थिति में जातियों का पूर्ववर्ती शक्ति का स्वरूप भी बदल रहा है। डॉ. योगेन्द्रसिंह ने बतलाया है कि भारत में जाति-व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन की दृष्टि से यह एक सम्भावित क्षेत्र है।[2] उपर्युक्त कारणों से विभिन्न जातियों के बीच शक्ति-सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे हैं। अनेक अध्ययनों से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि ग्रामीण क्षेत्रों में प्रभुत्व-सम्पन्न जातियों का अन्य जातियों की नवीन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इसका कारण यह है कि भूमि-सुधारों एवं ग्राम-पंचायतों में स्थान प्राप्त करने से इन जातियों की शक्ति बंट गई है। अभी तक शक्ति के संस्कारात्मक एवं आर्थिक स्वरूपों पर उच्च जातियों का एकाधिकार रहा है, परन्तु वर्तमान समय में संख्यात्मक शक्ति निम्न जातियों के पास है। इन परिस्थितियों में जहाँ निम्न जातियाँ अपनी संख्यात्मक शक्ति का सफलतापूर्वक उपयोग कर पायी हैं, वहाँ उन्होंने शक्ति का परम्परागत स्वरूप बदल दिया है।

जाति-व्यवस्था में होने वाले उपर्युक्त परिवर्तनों को देखकर बहुत-से लोग यह प्रश्न करते हैं कि क्या जाति विघटित हो रही है ? क्या वर्तमान परिस्थितियों में जाति के लिए अपने अस्तित्व को बनाये रखना सम्भव नहीं है ? जाति-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर कई लोग कहने लगे हैं कि जाति को निश्चित रूप से समाप्त होना चाहिए तथा कुछ अन्य लोगों की धारणा है कि यह स्वयं समाप्ति की ओर अग्रसर है। ये दोनों विचार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित नहीं हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. आर. एन. सक्सेना ने लिखा है, "जाति-प्रथा को समाप्त होना चाहिए, यह कहना और बात है और क्या जाति-प्रथा समाप्त हो सकती है, यह कहना और बात। संस्थाओं को, विशेषतया ऐसी संस्था को जिसकी शाखाएँ हिन्दू समाज के बाहर तक फैली हुई हैं निर्मूल समाप्त करने की बात समाजशास्त्र के अधिकार क्षेत्र के बाहर है। जाति-प्रथा स्वयमेव समाप्त हो रही है, ऐसा मानना निराधार है।[3] इस सम्बन्ध में डॉ. घुरिये और डॉ. श्रीनिवास का विचार है कि जहाँ अंग्रेजी शासन-काल में होने वाले

1. Yogendra Singh Modernization of Indian Tradition, p 172
2. Ibid p 165
3. डॉ आर एन सक्सेना : भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, पृ 93

परिवर्तनों ने जाति-प्रथा के बन्धनों को शिथिल किया, वहीं उन्होंने साथ ही जाति-प्रथा को प्रोत्साहन भी दिया।[1] सरकार द्वारा पिछड़े वर्गों, अस्पृश्य जातियों को दी जाने वाली सुविधाओं एवं अछूत आन्दोलनों ने जाति की जडों का मजबूत करने में योग दिया है, जातीय-बन्धनों का दृढ किया है। डॉ. श्री निवास ने अपने एक लेख मे लिखा है कि पिछडी और उन्नत जातियों के रूप में सोचन की प्रवृत्ति नवीन तनाव और कठिनाइयाँ उत्पन्न कर रही है जिनके निकट भविष्य मे और स्पष्ट हो जाने की संभावना है। वास्तव में, बहुत-सी शक्तिशाली जातियों का पिछडपन मे स्वार्थ निहित है तथा पिछडी श्रेणी से उनको हटाने के किसी भी प्रयास का व विरोध करेंगी। वर्तमान मे अनेक जातियों में राजनैतिक चेतना बढी है जिसन उन्हें सगठित हाने के लिए प्रेरित किया है। एफ.जी.बेली ने उडीसा के एक क्षेत्र के अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत जाति का राजनैतिक महत्त्व बढ गया है और इस कारण प्रत्येक जाति सगठित होने के लिए प्रोत्साहित हुई है।[2] डॉ. योगेश अटल ने दो भिन्न सास्कृतिक क्षेत्रों के दो भागों के अध्ययन के आधार पर कहा है कि "जाति अभी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है और उसमें बहुत थाड परिवर्तन हुए हैं और व भी अधिकांशतः सतही। जाति-व्यवस्था, कम स कम इन दा गाँवों में मृत नहीं है और न इसक पतन क कोई चिह्न है।"[3] नर्मदेश्वर प्रसाद न लिखा है कि अनक परिवर्तनों के बावजूद, जाति-व्यवस्था बहुत कुछ पहल क समान ही है। इस व्यवस्था क भीतर परिवर्तन हाते रहते हैं, परन्तु इसक बाहर नहीं। जाति न कंवल एक प्रक्रिया है बल्कि यह हमार सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक चिन्तन एव व्यवहार को एक उपज भी है।[4] इस सारी विवेचना स स्पष्ट है कि जाति-संस्था न तो विघटित हुई है और न किसी एसी प्रक्रिया मे है, केवल परिवर्तित हा रही है

प्रश्न

1 जाति-व्यवस्था की गतिशीलता पर एक निबन्ध लिखिए।
2 जाति-व्यवस्था में हान वाल आधुनिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
3 जाति-व्यवस्था पर नगरीकरण क प्रभाव की विवेचना कीजिए।
4 आधुनिक भारत में जाति-गतिशीलता क पक्ष एवं विपक्ष की व्याख्या कीजिए।
5. भारत में जाति-व्यवस्था क बदलत हुए पहलुओं की विवेचना कीजिए।



1 Dr M N Srinivas Presidential Address Section of Anthropology & Sociology 40th Indian Science Congress
2 R N Saxena op cit p 93 94
3 Yogesh Atal op cit, p 252
4 Narmadeshwar Prasad Change Strategy in a Developing Society India p 127

14

वर्ग: अर्थ, प्रकार्य, परिवर्तन एवं उभरते प्रतिमान
(Class : Meaning, Functions, Changes And Emerging Patterns)

भारत मे जाति-व्यवस्था एक सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है, विशेषत: हिन्दुओं में। इसने समाज को कई रूपों में प्रभावित किया है। समकालीन भारत में वर्ग और जाति को भली-भाँति समझने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि इन दोनों के अर्थ को समझ लिया जाय। जाति के अर्थ एवं विशेषताओं की जानकारी हेतु अध्याय 11 'भारतीय जाति-व्यवस्था: अर्थ एवं प्रकृति' देखिए।

सामाजिक वर्ग
(Social Class)

विश्व के सभी समाजों में वर्ग पाए जाते हैं। कोई भी ऐसा समाज दिखाई नहीं पड़ता जो पूर्णत: वर्गहीन हो। ये वर्ग आयु, लिंग, शिक्षा, व्यवसाय तथा आय के आधार पर आदिकाल से बनते रहे हैं। वर्ग ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो एक दूसरे को समान समझते हैं। अन्य शब्दों में, सामाजिक वर्ग समान सामाजिक स्थिति वाले व्यक्तियों का समूह है जो जन्म के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर बनता है। सभी सामाजिक वर्गों की समाज में अपनी निश्चित स्थिति होती है जिसके अनुसार उन्हें समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

मैकाइवर और पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक् किया जा सके।"[1]

ऑगबर्न और निमकॉफ के शब्दों में, "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है जिसकी एक दिए हुए समाज में अनिवार्य रूप से समान सामाजिक स्थिति है।"[2]

लेपियर नामक समाजशास्त्री के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग सांस्कृतिक रूप से परिभाषित एक समूह है जिसको सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशिष्ट पद या स्थिति प्रदान की जाती है।"[3]

मोरिस गिन्सबर्ग ने लिखा है, "वर्ग व्यक्तियों के ऐसे समूह हैं जो सामान्य वंशक्रम, समान व्यवसाय, धन एवं शिक्षा के कारण एकसा जीवन बिताते हों और जो समान विचारों, भावनाओं एवं व्यवहार का भण्डार रखते हों तथा जो इनमें से कुछ या सभी आधारों पर एक-दूसरे से समान रूप से मिलते हों और अपने को एक समूह का सदस्य समझते हों चाहे इस सम्बन्ध में चेतना की मात्रा या 'वर्ग-चेतना' विभिन्न अंशों में पायी जाये।"[4]

1 "A social class is any portion of a community marked off from the rest by social status." - MacIver & Page Society p 348
2 "A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society" - Ogburn & Nimkoff A Hand Book of Sociology p 120
3 "A social class is a culturely defined group that is accorded a particular position or status within the population as a whole." - Lapiere Sociology p 452
4 M Ginsberg 'Class Consciousness', Encyclopaedia of Social Sciences, p 536

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि एक सामाजिक वर्ग एक विशेष सामाजिक स्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिन्हें कुछ विशेष अधिकार व शक्तियाँ प्राप्त हैं तथा जिनके कुछ उत्तरदायित्व हैं। यहाँ हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि सामाजिक स्थिति और विशष संस्कृति सामाजिक वर्ग के आधार हैं तथा वर्ग-चेतना प्रत्येक वर्ग का आवश्यक लक्षण है। सेण्टर्स ने वर्ग विभाजन के आधार के रूप में व्यवसाय को महत्त्व दिया। मार्क्स और एंजिल्स वर्ग-विभाजन का आधार आर्थिक मानते हैं। इनके अनुसार धन ही मनुष्य की सामाजिक स्थिति को निर्धारित करता है। मैकाइवर और पेज का कहना है कि आर्थिक आधार पर बने वर्गों को सामाजिक वर्ग नही कहकर आर्थिक वर्ग कहना चाहिए। ऑगबर्न और निमकॉफ की मान्यता है कि सामाजिक वर्गों का सम्बन्ध जीवन के अवसरों के समान पाये जाने से है न कि धन या सम्पत्ति से। एक सामाजिक वर्ग के सदस्यों का रहन-सहन का स्तर करीब-करीब एक-सा होता है। सामाजिक वर्ग के सदस्यों में वर्ग चेतनता का पाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। एक वर्ग के सदस्य अपने को अन्य वर्ग के सदस्यों से भिन्न मानते हैं।

वर्ग-प्रणाली के जन्म पर आधारित न होने के कारण व्यक्ति का अपने श्रम, योग्यता तथा साधनों के आधार पर एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आना-जाना सम्भव रहता है। वर्ग प्रणाली में काफी खुलापन पाया जाता है और इसी कारण इसे मुक्त वर्ग प्रणाली (Open Class System) कहा जाता है। दूसरी ओर, जाति-प्रणाली के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति सामान्यत अपने जीवनकाल मे एक जाति की जन्म पर आधारित सदस्यता को त्याग कर दूसरी जाति की सदस्यता ग्रहण नही कर सकता। इसी कारण जाति-प्रणाली को बन्द वर्ग प्रणाली (Closed Class System) कहते हैं।

सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Class)

वर्ग की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए हम यहाँ वर्ग की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे-

1. स्थिति समूहो का उतार-चढाव (Hierarchy of Status Groups)— वर्गों की एक श्रेणी होती है जिसमें कुछ वर्ग ऊपर, कुछ वर्ग मध्यम एवं कुछ निम्नतम स्थान पर होत हैं। उच्च वर्ग क लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा एव शक्ति अन्य वर्गों की तुलना में सर्वाधिक होती है और उसके सदस्यों की सख्या भी कम होती है। निम्न वर्ग क सदस्यों की सख्या अधिक होती है। इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति भी कम होती है तथा आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण ये कई सुविधाओं को प्राप्त नही कर पाते।

2. समान प्रस्थिति (Equal Status)— एक वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एक समान होती है। प्रस्थिति निर्धारण के कई आधार हैं। यदि सम्पत्ति को आधार मानें तो उन लोगों की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होगी जिनक पास अधिक सम्पत्ति है। इसी प्रकार से यदि शिक्षा को आधार मानें तो शिक्षितों एवं अशिक्षितों की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं प्रस्थिति भिन्न-भिन्न होगी। फिर भी एक ही आधार पर सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण नहीं होता है, उसके अन्य आधार जैसे व्यवसाय, जाति की सदस्यता, व्यवसाय की प्रतिष्ठा आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं।

3. ऊँच-नीच की भावना (Feeling of Superiority-Inferiority)— एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के प्रति उच्चता या हीनता की भावना रखते हैं तथा अपने वर्ग के प्रति उनमें हम की भावना पायी जाती है। शासक एवं सम्पन्न वर्गों के लोग शासित एवं गरीब वर्गों को अपने से हीन समझते हैं तथा निर्धन लोग धनी वर्ग को अपने से ऊँचा।

4. वर्ग-चेतना (Class Consciousness)— प्रत्येक वर्ग के लोगों मे वर्ग चेतना पायी जाती है। प्रत्येक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा दूसरे से भिन्न होती है। उनमें उच्चता, निम्नता या समानता की भावना पायी जाती है। एक वर्ग के लोगों की जीवन-शैली, खान-पान, सुख-सुविधाएँ समान होने एवं बचपन से ही उसके सदस्यों का समाजीकरण उस वर्ग के अनुरूप होने से उस वर्ग के लोगों मे अपने वर्ग के प्रति चेतना का निर्माण होता है। यह वर्ग चेतना उनके व्यवहारों एवं वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी तय करती है। वर्ग चेतना के आधार पर ही एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा करता है। वे अपने अधिकारों के प्रति भी सजग होते हैं। मजदूर वर्ग के लोग अपना वेतन, महगाई भत्ता, बोनस, मकान किराया, काम के घण्टे, भर्ती पद्धति आदि माँगों को लेकर एकजुट होकर हड़ताल एवं प्रदर्शन करते हैं। वे अपने हितों की रक्षा के लिए परस्पर सहयोग करते हैं।

5. सीमित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted Social Relations)— एक वर्ग के लोगों के सामाजिक सम्बन्ध प्राय अपने वर्ग के लोगो तक ही सीमित होते हैं और वे अन्य वर्गों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाये रखते हैं। वे अपने ही वर्ग में से संगी-साथी, जीवन-साथी आदि का चुनाव करते हैं। आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समानता के कारण एक वर्ग के लोगों के सम्बन्ध अपने ही वर्ग में अधिक पाये जाते हैं।

6. मुक्त द्वार (Openness)—वर्ग-व्यवस्था जाति की भांति कठोर एवं बन्द न होकर एक मुक्त व्यवस्था है जिसका अर्थ है कि एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे आ जा सकता है। एक व्यक्ति परिश्रम करके धनी बन सकता है तथा उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है और दूसरी ओर सम्पन्न व्यक्ति दिवाला निकलने पर गरीब वर्ग मे सम्मिलित हो जाता है। अत यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति जीवनपर्यन्त उसी वर्ग का सदस्य रहेगा जिस वर्ग में उसने जन्म लिया है।

7. वर्ग की वस्तुपरक विशेषता (Objective Aspect of Class)— एक वर्ग को पहचानने एवं एक को दूसरे से भिन्न करने के लिए वर्ग की कुछ विशेषताओं को देखा जाता है, जैसे मकान का प्रकार, मौहल्ले की प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय, रहन-सहन, बोलने का तरीका आदि। सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित लोग पक्के एवं अच्छे मकानों व प्रतिष्ठित कोलोनी में रहते हैं, उनकी आय व शिक्षा उच्च होती है तथा व्यवहार का एक प्रतिमान पाया जाता है। निम्न वर्ग के लोग झोंपडियों कच्चे मकानों व गन्दी बस्तियों में रहते हैं, उनकी आय एवं शिक्षा निम्न होती है। इस प्रकार इन बाह्य विशेषताओं को देखकर एक वर्ग की पहचान की जा सकती है।

8. जन्म का महत्त्व नहीं (No Emphasis on Birth)— यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति उसी वर्ग का सदस्य होगा जिसमें उसका जन्म हुआ है। वर्ग की सदस्यता को तय करने

में व्यक्ति की शिक्षा, योग्यता, सम्पत्ति तथा कुशलता भी महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। वर्ग, जाति की भाँति सदैव के लिए जन्म के आधार पर निर्धारित नही होते हैं।

9. कम स्थिरता (Less Stable) - वर्ग व्यवस्था में अपेक्षाकृत कम स्थिरता पायी जाती है क्योंकि शिक्षा, व्यवसाय, धन एवं शक्ति आदि, जिनके आधार पर वर्गों का निर्माण होता है, परिवर्तनशील हैं। एक वर्ग को त्याग कर दूसरे वर्ग की सदस्यता ग्रहण की जा सकती है, अत: यह परिवर्तनशील व्यवस्था है, किन्तु वर्ग परिवर्तन में भी कुछ समय लगता है, कुछ घण्टों में यह कार्य नही होता है।

10. उप-वर्ग (Sub-Classes)—प्रत्येक सामाजिक वर्ग में भी कई उप-वर्ग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए मध्यम वर्ग में भी सभी एक समान नही है, उनमे भी उच्च मध्यम वर्ग, मध्य-मध्यम वर्ग एव निम्न मध्यम वर्ग आदि उपखण्ड हैं। इसी प्रकार से सभी धनी वर्ग के लोग भी एक समान नही हैं।

11. जीवन अवसर (Life-chances)— मैक्स वेबर का मत यह है कि एक वर्ग के लोगों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर एव सुविधाए समान रूप से प्राप्त होते हैं। मजदूरी करने के अवसर गरीब वर्ग को तथा नये उद्योग-धन्धे खोलने एवं उच्च-जीवन स्तर बनाये रखने के अवसर सम्पन्न लोगों को समान रूप से प्राप्त होते हैं।

12. पूर्णतया अर्जित (Completely Achieved)— चूंकि वर्ग की सदस्यता जाति की भाँति जन्म से निर्धारित नही होती है, अत. यह अर्जित है। एक व्यक्ति अपने गुण, शिक्षा एवं धन मे वृद्धि करके उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

13. सामान्य जीवन (Common mode of life)— एक वर्ग के लोगों का जीवन जीने का तरीका लगभग समान होता है। उच्च वर्ग के लोग विशिष्ट वस्तुओं का उपभोग करने, अपव्यय करने एव दिखावा करने में अधिक विश्वास करते हैं जबकि मध्यम वर्ग के लोग रूढियों एव प्रथाओं के पालन में। निम्न वर्ग का जीवन अभावग्रस्त होता है।

14. वर्गों की अनिवार्यता (Essentiality of Classes)— चूंकि समाज में सभी व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय, धन, योग्यता आदि की दृष्टि से समान नही होते हैं, अत: व्यक्तियों में पायी जाने वाली इन भिन्नताओं के आधार पर समाज में स्वत ही वर्ग व्यवस्था आवश्यक रूप से पैदा हो जाती है और एक विशेषता से सम्बन्धित समूह के लोग एक वर्ग का निर्माण करते हैं।

वर्गों का आर्थिक आधार
(Economic Basis of Classes)

एक प्रश्न यह उठता है कि क्या वर्ग निर्धारण केवल आर्थिक आधार पर ही होता है? कुछ समाजशास्त्री जिनमें मार्क्स प्रमुख हैं, वर्ग निर्धारण में आर्थिक आधार को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। आपकी मान्यता है कि उत्पादन प्रणाली एव उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के आधार पर ही वर्ग निर्मित होते हैं। जिन लोगों का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, वे पूँजीपति और जो लोग श्रम बेचकर जीवनयापन करते हैं, वे श्रमिक कहलाते हैं। मार्क्स ने एक तीसरे वर्ग किसानों का

उल्लेख किया है, किन्तु आपने आर्थिक दृष्टि से केवल दो वर्गों- बुर्जुवा (पूँजीपति) एवं प्रोलिटेरियट (श्रमिक) को ही अधिक महत्त्व दिया है। आपका कहना है कि ये दो वर्ग प्रत्येक युग में रहे हैं।

किन्तु हम वर्ग की अवधारणा स्पष्ट करते समय बता चुके हैं कि वर्ग आर्थिक आधार पर ही नहीं वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक आधार पर भी निर्मित होते हैं। बीसेन्ज एवं बीसेन्ज ने व्यक्ति के मकान का प्रकार, पड़ौस एवं आय के स्रोत को भी वर्ग निर्धारण में महत्त्वपूर्ण माना है।[1] आधुनिक समाजों में विलासिता की वस्तुओं का उपभोग, रेडियो, फ्रीज, कार, टी.वी., वीडियो, टेलीफोन, बंगला आदि का स्वामित्व भी व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारित करते हैं। प्रत्येक वर्ग की एक सामाजिक प्रस्थिति, एक विशिष्ट संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन एवं जीवन-शैली भी होती है जो दूसरे वर्गों से भिन्न होती है। मैक्स वेबर ने वर्ग निर्धारण में प्रस्थिति समूह (Status Group) को महत्त्वपूर्ण माना है। वे कहते हैं कि एक प्रकार की जीवन-शैली एवं जीवन-अवसर प्राप्त लोगों का एक समूह होता है और वही वर्ग कहलाता है। हार्टन एवं हन्ट वर्ग निर्धारण में धन, आय, व्यवसाय, शिक्षा तथा वर्ग-प्रस्थिति के प्रति स्वयं के अभिज्ञान का भी सम्मिलित करते हैं। वारनर ने आठ प्रकार के वर्गों का उल्लेख किया है। यदि हम वर्ग का आधार केवल आर्थिक या धन ही मानें तो समाज में दो या तीन ही वर्ग (अमीर, मध्यम एवं गरीब) बनते हैं जबकि हम देखते हैं कि समाज में अनेक प्रकार के वर्ग हैं जिनका आधार धन के साथ-साथ संस्कृति, जीवन शैली, शिक्षा, व्यवसाय आदि भी हैं। स्पष्ट है कि वर्ग निर्धारण में आर्थिक आधार महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सब कुछ नहीं है। हम यहाँ वर्ग विभाजन के विभिन्न आधारों का उल्लेख करेंगे।

वर्ग विभाजन के आधार
(Bases of Class Division)

रॉबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग-विभाजन के सात आधारों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं:

1. सम्पत्ति, धन और आय (Property, Wealth and Income)— वर्ग निर्धारण के आधारों में सम्पत्ति, धन और आय प्रमुख हैं। अधिक आय के द्वारा सम्पत्ति एवं धन का संकलन किया जाता है और धन के सहारे ही सुख-सुविधाओं की वस्तुएं खरीदी जाती हैं, उच्च शिक्षा प्राप्त की जाती है और जीवन का स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है। मार्क्स, मार्टिण्डेल एवं मोनाचेसी की मान्यता है कि उत्पादन के साधनों एवं उत्पादित वस्तुओं पर व्यक्ति का कितना नियन्त्रण है, इसी आधार पर उसकी वर्ग स्थिति ज्ञात की जा सकती है। बुर्जुवा वर्ग का उत्पादन के साधनों पर सर्वाधिक नियन्त्रण होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि और आर्थिक शक्तियों के वितरण में समानता न ही विभिन्न वर्गों के निर्माण में योग दिया है।

इस सन्दर्भ में एक बात यह भी महत्त्वपूर्ण है कि केवल सम्पत्ति एवं धन का स्वामित्व ही सब कुछ नहीं है वरन् वर्ग निर्धारण में यह भी देखा जाता है कि सम्पत्ति एवं आय के स्रोत क्या हैं। जिस व्यक्ति ने व्यापार एवं उद्योग में ईमानदारी से पैसा कमाया है, उसकी वर्ग स्थिति चोरी, मिलावट, तस्करी, कालाबाजारी आदि अनैतिक तरीकों से धन कमाने वाले की तुलना में ऊँची होती है। वेश्या के पास अधिक धन होने पर भी उसकी सामाजिक प्रस्थिति ऊँची नहीं होती क्योंकि उसके धन कमाने का तरीका घृणित माना जाता है।

---

1 Biesanz and Biesanz Modern Society, p 175

2. परिवार एवं नातेदारी (Family and Kinship)— भारत ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारित करने में व्यक्ति की पारिवारिक स्थिति एवं उसके नातेदारों की सामाजिक प्रस्थिति भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। टाटा, बिड़ला, डालमिया एवं नेहरू खानदान में पैदा हुए लोगों को स्वतः ही उच्च वर्ग में सम्मिलित कर लिया जाता है तथा इन परिवारों के विवाह सम्बन्धियों की स्थिति भी उच्च समझी जाती है। भारत जैसे देश में जहाँ प्रदत्त प्रस्थिति का अधिक महत्त्व है, परिवार एवं नातेदारी के सम्बन्ध व्यक्ति की वर्ग सदस्यता तय करने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। सामन्तवादी व्यवस्था में एक राजा के पुत्र की वर्ग स्थिति इसलिए ही ऊँची होती है कि उसका सम्बन्ध राजघराने से है।

3. निवास की स्थिति (Location of Residence)— व्यक्ति का निवास स्थान कहाँ है और उसके पड़ोसी कौन हैं, यह भी वर्ग स्थिति को तय करता है। नगरों में विकसित कोलोनियों में रहने वाले लोगों की प्रतिष्ठा गन्दी बस्तियों में रहने वालों से ऊँची होती है। प्राचीन भारत में राजा एवं उससे सम्बन्धित व्यक्ति नगर के केन्द्र में रहते थे तथा निम्न एवं पिछड़े वर्ग के लोगों का निवास गाँव के बाहर कच्ची झोंपड़ियों में हुआ करता था और आज भी अनेक गाँवों में यही स्थिति है।

4. निवास-स्थान की अवधि (Duration of Residence)— एक व्यक्ति की वर्ग स्थिति तय करने में यह बात भी देखी जाती है कि उसका सम्बन्ध किसी ऐसे पुराने परिवार से है या नहीं जो भूतकाल में प्रतिष्ठित रहा है और कहीं वह घुमक्कड़ परिवार का सदस्य तो नहीं है। भारत में एक व्यक्ति के कम गतिशील होने का एक कारण यह भी है कि वह अपने पूर्वजों के निवास स्थान को छोड़ना नहीं चाहता, उसके साथ उसके भावात्मक सम्बन्ध होते हैं तथा नवीन स्थान पर जाने में उसकी वर्ग-स्थिति खतरे में पड़ जाती है। जो लोग सदा इधर-उधर घूमते रहते हैं, उनकी वर्ग स्थिति भी ऊँची नहीं होती।

5. व्यवसाय की प्रकृति (Nature of Occupation)— व्यवसाय की प्रकृति भी व्यक्ति की वर्ग-स्थिति का निर्धारण करती है। प्राध्यापक, चिकित्सक, प्रकाशक, इन्जीनियर, राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ आदि की पारिवारिक एवं आर्थिक स्थिति चाहे कैसी भी हो फिर भी इन्हें समाज में उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त होती है। दूसरी ओर तस्करों, शराब के ठेकेदारों एवं वेश्याओं के पास धन अधिक होने पर भी उनकी सामाजिक वर्ग स्थिति ऊँची नहीं मानी जाती।

6 शिक्षा (Education)— शिक्षा लगभग सभी समाजों में व्यक्ति की वर्ग स्थिति के निर्धारण में एक महत्त्वपूर्ण कारक रही है। शिक्षा, प्रशिक्षण, तकनीकी डिप्लोमा, प्रौद्योगिक ज्ञान तथा कला एवं विज्ञान में दक्ष होने पर व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। भारत जैसे देश में धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति की वर्ग स्थिति ऊँची होती है। औद्योगीकरण एवं विज्ञान के प्रसार के साथ साथ वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी है और उन्हें उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त होने लगी है।

7. धर्म (Religion)— सभी समाजों में और विशेषतः परम्परात्मक समाजों में व्यक्ति की वर्ग स्थिति के निर्धारण में उसकी धार्मिक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण रही है। धार्मिक कर्मकाण्डों को कराने वाले पुरोहितों का समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। भारत में प्राचीन समय से ही ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों एवं पुजारी-पण्डितों का सम्मान एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है।

भारत में वर्ग संरचना
(Class Structure in India)

भारत मे वर्ग सरचना तथा जाति व्यवस्था क बीच निकट का सम्बन्ध रहा है। यहाँ आम तथा कृषि और गैर कृषि व्यवसाय का वर्ग विभाजन क आधार के रूप में मान्यता दी गयी है। भारत में अग्रजी राज्य की स्थापना तथा उनकी आर्थिक-राजनीतिक नीतियों के कारण भारत की परम्परागत वर्ग सरचना में परिवर्तन हुआ। उनके द्वारा अपनायी गयी भूमि सम्बन्धी नयी नीति न जमींदारी एव जागीरदारी व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था क परिणामस्वरूप तीन प्रकार के वर्ग पनप—जमीदार, भू-स्वामी एव जातकार तथा कृषि मजदूर।

ग्रामीण वर्ग सरचना (Rural Class Structure)

डनियल थॉर्नर न गाँवो में मालिक, साहूकार तथा मजदूर इन तीन वर्गों का वर्णन किया है। कोटावस्को न बुर्जुवा पूँजीपति, भू-स्वामी, सम्पन्न किसान, भूमिहीन किसान तथा कृषि मजदूर नामक वर्गों का उल्लख किया है। रामकृष्ण मुखर्जी न गाँव में प्रमुखत तीन वर्ग बताय हैं- प्रथम, भू-स्वामी तथा दखरख करने वाल किसान, द्वितीय, आत्मनिर्भर कृषक (कृषि करने वाले तथा दस्तकार) तृतीय, साझदारी नें खती करने वाल, कृषि मजदूर तथा सेवा करने वाले। गाँवों मे वर्ग निश्चित एव स्पष्ट हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ वर्ग भेद मे प्रदत्त स्थिति का अधिक महत्त्व पाया जाता है। गाँव म वर्ग की सदस्यता भी स्पष्ट एव निश्चित होती है, लेकिन नगरों में यह कहना बहुत कठिन रहता है कि किस व्यक्ति को किस वर्ग में रखा जाय।

गाँवा मे लाग प्रमुखत प्रकृति पर निर्भर रहत हैं और कृषि क माध्यम स अपनी आजीविका चलाते हैं। यही कारण है कि वहाँ प्रकृति तथा भूमि वर्गों की प्रकृति को निश्चित करती है। इस दृष्टि से विचार करने पर भारतीय ग्रामो मे प्रमुखत तीन वर्ग पाये जात हैं- (1) जमींदार एव साहूकार (2) किसान, एव (3) श्रमिक। यहाँ वर्ग व्यवस्था की एक प्रमुख विशषता यह देखने का मिलेगी कि एक वर्ग मे अनक जातियो एव उपजातिया क सदस्य पाय जाते हैं। इसके अलावा एक ही जाति तथा उपजाति के लाग सभी वर्गों मे पाय जात हैं। इसक फलस्वरूप एक वर्ग में पायी जाने वाली जातियाँ अपनी जाति भिन्नता का और एक जाति क लोग वर्ग भिन्नता को बनाये रखत हैं। यहाँ हम भारतीय गाँवा में पाये जाने वाल तीन प्रमुख वर्गों का उल्लख करेगे।

1. मालिक, जमीदार एवं साहूकार वर्ग— गाँव में सबसे छोटा किन्तु सबस अधिक प्रभावशाली वर्ग मालिक, जमीदार एव साहूकारो का ही होता है। गाँव की अधिकाश भूमि के मालिक यही लोग होते हैं। चूँकि इस वर्ग मे उच्च जाति क लोगो की सदस्यता अधिक होती है, इसलिए इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उच्च मानी जाती है। भू-स्वामित्व एव व्यावसायिक पवित्रता के कारण इस वर्ग का जीवन स्तर उच्च तथा लाग शिक्षित, सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण तथा शक्तिशाली होत हैं। इस वर्ग क लोग अपनी भूमि किराय पर दते हैं या फिर मजदूरों की सहायता से उस पर खती करते हैं। सामान्यत इस वर्ग के लाग स्वय कृषि कार्य नही करते। आवश्यकता पडने पर किसानो का ऋण दकर इस वर्ग के लाग साहूकारी का काम भी करत हैं। इस समूह मे उच्च जातियाँ जैसे- ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया आदि क लाग होते हैं।

2. किसान वर्ग— इस वर्ग की स्थिति गाँवों में सर्वोच्चता के क्रम में दूसरे नम्बर पर आती है। इस वर्ग के लोगों के पास भूमि के छोटे-छोटे टुकडे होते हैं। ये लोग अपनी भूमि पर स्वय ही कृषि कार्य करते हैं। पर्याप्त भूमि की कमी होने पर ये लोग भूमि किराये पर लेकर भी कृषि कार्य करते हैं। इनका जीवन स्तर भू-स्वामियों एवं कृषि मजदूरों के बीच का होता है। अत: इनकी स्थिति मध्यम वर्गीय स्थिति मानी जा सकती है।

3. मजदूर तथा भूमिहीन श्रमिक वर्ग— संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक एव सम्पन्नता की दृष्टि से निम्नतम स्तर क लोगों का इस वर्ग में शामिल किया जाता है। दूसरे क खेतों पर कृषि कार्य करके ये अपनी आजीविका कमाते हैं। इस वर्ग की आय सबसे कम होती है। इस वर्ग के पास अपन श्रम को बेचने के अतिरिक्त कुछ भी नही होता है।

उपर्युक्त तीनों वर्गों के अतिरिक्त गाँव में एक अन्य वर्ग भी पाया जाता है जिसे दस्तकारी का कार्य करन वलों का वर्ग कहा जाता है। यह वर्ग अपना जीवन-यापन अपने वंशानुगत व्यवसाय द्वारा करता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप स यह वर्ग भी कृषि पर ही निर्भर रहता है क्योंकि य लाग दस्तकारी व्यवसाय करने के साथ-साथ कृषि कार्य भी करत रहते हैं।

नगरीय वर्ग संरचना (Urban Class Structure)

नगरों में विद्यमान नवीन प्रशासन व्यवस्था एवं औद्योगीकरण की तीव्र गति के कारण तीन वर्ग प्रमुखत. देखन का मिलते हैं- उच्च, मध्यम एव निम्न वर्ग। हम यहाँ इन तीनों वर्गों का विवेचन करेंगे।

1. उच्च वर्ग (Upper Class)— इस वर्ग का स्थान वर्ग व्यवस्था में सर्वोच्च है। सख्या की दृष्टि स बहुत कम लकिन सम्पन्नता की दृष्टि स अत्यधिक सम्पन्न होने के कारण यह वर्ग विलासितापूर्ण वस्तुओं का उपभोग करता है। वैज्ञानिक आविष्कारों का सर्वाधिक लाभ उठाने वाले इस वर्ग मे बडी-बडी फर्मों, उद्योगों व कारखानों के मालिक होत हैं। इस वर्ग के लोगों के व्यवहार में शिष्टाचार, विनम्रता व औपचारिकता पायी जाती है। ये लोग दिखावा करने के लिए फिजूलखर्ची अधिक करत हैं। आर्थिक एव राजनैतिक दृष्टि से सम्पन्न होन क कारण देश की आय का एक बहुत बडा भाग इसी वर्ग के लोगों क पास है।

2. मध्यम वर्ग (Middle Class)— इस वर्ग में डॉक्टर, इजीनियर, प्राध्यापक, व्यापारी, किसान, विभिन्न विभागों में काम करने वाले लोग शामिल किये जाते हैं। इस वर्ग के उच्च आय वाल लाग उच्च वर्ग क नजदीक होत हैं और निम्न आय वाले लोग निम्न वर्ग क नजदीक होते हैं। इसी कारण इस वर्ग में सदस्यों के बीच मतभेद भी पाय जाते हैं। इस वर्ग के सदस्यों में निम्नांकित समानतायें पायी जाती हैं- उत्पादन के साधनों पर कम अधिकार, शारीरिक श्रम के प्रति उदासीनता प्रतियोगिता की प्रबल भावना, धार्मिक, सामाजिक एव नैतिक नियमों में विश्वास तथा परम्परा एव रूढ़ियों स लगाव।

3. श्रमिक वर्ग (Labour Class)— इस वर्ग में उन लागों का शामिल किया जाता है जो निम्नतम स्तर क कार्य करक अपनी आजीविका कमाते हैं। इस वर्ग क सदस्य फैक्ट्रियों, उद्योगों, खानों मशीनों आदि पर काम करने वाल मजदूर आदि होत हैं। इस वर्ग

मे शिक्षा का अभाव होने के कारण रूढिवाद, वैयक्तिक विघटन, शराबवृत्ति, वेश्यावृत्ति जैसी बुराइयाँ अधिक पायी जाती हैं। इन लोगों का धर्म में अत्यधिक विश्वास पाया जाता है। इस वर्ग के सदस्यों के जीवन का अधिकाश भाग जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने में ही व्यतीत हो जाता है।

वर्तमान भारत में वर्ग संरचना
(Class Structure in Modern India)

यदि हम ग्रामीण एव नगरीय समाजों को पृथक्-पृथक् न मानकर सम्पूर्ण भारतीय समाज को एक इकाई के रूप में देखें तो निम्नाकित सात वर्ग पाये जाते हैं-

1. बुद्धिजीवी वर्ग (Intellectual Class)— इस वर्ग का उदय अग्रेजी शासनकाल में हुआ। इस वर्ग के जन्मदाताओं में राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द तथा विवेकानन्द का नाम अग्रिम पक्ति में लिया जाता है। इस कार्य में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एव आर्य समाज आदि का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा। जाति-प्रथा, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, विधवा विवाह पर रोक, सती-प्रथा, मूर्ति पूजा, अधविश्वासों व कर्मकाण्डो आदि से भारतीय समाज को छुटकारा दिलाने में इस वर्ग ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस वर्ग मे हम शिक्षकों, वैज्ञानिको, वकीलों, न्यायाधीशो, पत्रकारो, साहित्यकारो, विचारकों, दार्शनिकों एव समाज-सुधारकों को शामिल करते हैं। इस वर्ग के लोगों ने स्वतत्रता सग्राम एव राष्ट्रीय राजनैतिक चेतना जाग्रत करने मे महती भूमिका निभायी है। यह वर्ग राष्ट्रीय विकास योजनाएँ बनाता है तथा विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान ढूँढता है। सख्या की दृष्टि से छोटा होने पर भी इस वर्ग का अत्यधिक सामाजिक महत्त्व है। पाश्चात्य सस्कृति और सभ्यता से ओत-प्रोत यह वर्ग प्रजातत्रीय मूल्यों (स्वतत्रता, समानता एव भाईचारा) एव विज्ञानवाद में विश्वास रखता है।

2. शासक वर्ग (Ruling Class)— शासन से सम्बद्ध वे लोग जो सत्ता में रहते और सरकार का गठन करते हैं, शासक वर्ग में शामिल किये जाते हैं। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारत में लोकतात्रिक सरकार का गठन किया गया। यद्यपि भारत में राजनीतिक दलों द्वारा शासन किया जाता है लेकिन फिर भी कुछ परिवार एस हैं जिनके सदस्यो का ही शासन में प्रभुत्व एव वर्चस्व बना रहता है। इसका कारण यह है कि इन परिवारों के सदस्य चुनाव जीतकर, ससद एव विधानसभाओं में पहुँच जाते हैं और घूम-फिरकर सत्ता इन्ही लोगों के हाथ में रहती है। इस वर्ग के लोग ही देश के विकास की नीतियाँ तय करते हैं।

3. नौकरशाही वर्ग (Bureaucrats Class)— सरकार एव शासन से सम्बद्ध सभी कर्मचारियों एव अधिकारियो क समूह को नौकरशाही वर्ग कहा जाता है। कर्मचारियों ने विभिन्न सगठन व यूनियनें भी बना रखी हैं जिनके माध्यम से वे अपनी मागें मनवाते हैं। मैक्स वेबर द्वारा बतायी गई नौकरशाही की विशेषताएँ इस वर्ग पर लागू होती हैं। इस वर्ग मे सस्तरण की सुस्पष्ट विशेषता पायी जाती है। केन्द्र स लकर ग्रामीण स्तर तक नौकरशाही की एक निश्चित शृंखला पायी जाती है जो शासन चलाने में सहयोग करती है। सरकारें बदलने पर भी यह वर्ग स्थायी ही रहता है। केवल राजस्थान मे ही करीब सात लाख कर्मचारी हैं जो नौकरशाही वर्ग क निर्माण में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं।

4. पूँजीपति वर्ग (Capitalist Class) — श्रमिकों का शोषक एवं विलासिता से परिपूर्ण जीवन बिताने वाला यह वर्ग सामान्यतः नगरों में ही देखने को मिलता है। इस वर्ग के सदस्यों के पास देश के बड़े-बड़े कारखाने, उद्योग एवं मिलें हैं। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन में इस वर्ग का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इस वर्ग के लोगों के पास काले धन की अधिकता होने के कारण ये लोग इस धन का उपयोग चुनाव में सत्ता पक्ष को अपने पक्ष में लेने के लिए भी करते हैं। पैसों के बलबूते पर ये लोग सरकार से ऐसे कानून बनवाने एवं ऐसी नीति-निर्धारण का प्रयास करते हैं, जिनसे इस वर्ग को अत्यधिक लाभ मिल सके। इस वर्ग में आने वाले प्रमुख परिवार टाटा, बिड़ला, बागड़, मुरारका, डालमिया, साहू, दुगड, मोदी आदि हैं।

5. श्रमिक वर्ग (Labour Class) — देश की कुल जनसंख्या का लगभग एक-तिहाई भाग इसी वर्ग के दायरे में आता है। संख्या की दृष्टि से यह सबसे बड़ा वर्ग है। जैसा कि इस वर्ग के नाम से ही प्रतीत होता है, इस वर्ग के लोग श्रम के बल पर ही अपनी आजीविका कमाते हैं। कठोर शारीरिक श्रम के बावजूद इन लोगों को रोटी, कपड़ा व मकान जैसी तीन मौलिक आवश्यकताओं की प्राप्ति भी बड़ी मुश्किल से हो पाती है। इन तीन समस्याओं के समाधान में ही इनका जीवन पूरा हो जाता है। अशिक्षा एवं अदक्षता की अधिकता के कारण इनका शोषण खूब होता है। सामान्यतः इनको अपने श्रम का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। इस वर्ग में तीन प्रकार के श्रमिक पाये जाते हैं -(i) कृषि श्रमिक, (ii) उद्योगों में कार्यरत श्रमिक (iii) इनके अतिरिक्त अन्य कार्यों में लगे श्रमिक (जैसे-भवन निर्माण व सड़क बनाने में लगे श्रमिक, बोझा उठाने वाले श्रमिक आदि)।

6. कृषक वर्ग (Farmer Class) — भारत की 74.7 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। ग्रामीण जनसंख्या का 70 प्रतिशत भाग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर ही निर्भर होता है। यह वर्ग जो कृषि के माध्यम से अपनी आजीविका चलाता है कृषक वर्ग के नाम से जाना जाता है। इस वर्ग में छोटे-बड़े सभी किसानों को शामिल किया जाता है। कृषि में हरित क्रान्ति, नवीन खाद, बीज एवं यन्त्रों के बढ़ते प्रयोग ने इस वर्ग को समृद्धि प्रदान की है एवं इनके परम्परागत मूल्यों में भी परिवर्तन किया है।

7. व्यापारी वर्ग (Business Class) —किसी भी क्षेत्र में व्यापार करने वाले लोग इस वर्ग के सदस्य माने जाते हैं। इसमें खुदरा एवं थोक व्यापारियों, दूकानदारों तथा दलालों को सम्मिलित किया जाता है। यह वर्ग उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के मध्य एक कड़ी का कार्य करता है एवं इसी रूप में अपनी आजीविका कमाता है। धनोपार्जन हेतु इस वर्ग के लोग नैतिक-अनैतिक सभी प्रकार के काम करते हैं। इसीलिए ये लोग काला बाजारी, मिलावट, मुनाफाखोरी एवं बनावटी कमी पैदा करने में भी नहीं हिचकिचाते। सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से सम्पन्न इस वर्ग के लोग विवाह-पार्टियों, उत्सवों एवं त्यौहारों के अवसर पर दिल खोलकर पैसा खर्च करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में एक नयी वर्ग व्यवस्था का उदय हो रहा है। गाँवों में भी वर्ग पनप रहे हैं, लेकिन फिर भी वहाँ वर्ग की अपेक्षा जाति का बोलबाला अधिक है। नगरों में जातीय बन्धनों की सीमाओं को पार कर वर्ग बनते जा रहे हैं, किन्तु वहाँ भी पूर्णतः जाति व्यवस्था की विद्यमानता को नकारा नहीं जा सकता, यद्यपि नगरों में समान स्तर की जातियों में निकटता अवश्य बढ़ती जा रही है।

जाति और वर्ग में अन्तर
(Distinction between Caste and Class)

1. जाति व्यवस्था में सदस्यता जन्म पर आधारित होती है, वर्ग प्रणाली में सदस्यता शिक्षा, व्यवसाय, आय तथा योग्यता पर। एक व्यक्ति केवल जन्म के आधार पर ही किसी विशिष्ट जाति का सदस्य बन सकता है, परन्तु दूसरी ओर व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर किसी भी वर्ग का सदस्य बन सकता है।

2. जाति व्यवस्था में भोजन, सामाजिक सहवास तथा विवाह सम्बन्धी अनेक कठोर प्रतिबन्ध हैं, किन्तु वर्ग प्रणाली में ऐसा नहीं है। प्रत्येक जाति अपने सदस्यों पर भोजन, सामाजिक-सहवास तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाती है, परन्तु वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार के कोई भी कठोर बन्धन नहीं पाये जाते।

3. व्यक्तिगत क्षमताओं के आधार पर वर्ग-विभाजन सम्भव है, परन्तु जाति व्यवस्था में ऐसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं को बढ़ाकर अपने से उच्च वर्ग में पहुँच सकता है, पर कोई भी व्यक्ति धन, योग्यता या अन्य किसी भी विशेषता के आधार पर अपनी जाति से दूसरी जाति में प्रवेश नहीं पा सकता। शूद्र ब्राह्मण नहीं बन सकता, वह सदैव शूद्र ही रहेगा, चाहे वह कितना ही धनी क्यों न हो, कितनी ही शारीरिक विशेषताओं से युक्त क्यों न हो।

4. जाति में बन्द स्तरण है, जबकि वर्ग में मुक्त स्तरण। जाति की सदस्यता व्यक्ति न तो स्वेच्छा से ग्रहण कर सकता है और न ही त्याग सकता है। उसकी जाति सदैव के लिए निश्चित रहती है। वह एक जाति से दूसरी जाति में प्रवेश नहीं पा सकता है, इसलिए जाति में बन्द स्तरण (Closed Stratification) है। दूसरी ओर व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश पा सकता है, अपना वर्ग परिवर्तित कर सकता है, अर्थात् वर्ग में मुक्त स्तरण (Open Stratification) है।

5. जाति व्यवस्था में परम्परागत पेशों की व्यवस्था है, वर्ग में ऐसा नहीं है। प्रत्येक जाति का अपना एक परम्परागत पेशा रहा है और जाति के सदस्य सामान्यतः उसी को अपनाते रहे हैं। एक ब्राह्मण धार्मिक कृत्य सम्पन्न करवाने का कार्य और एक मेहतर सफाई आदि करने का कार्य ही करता रहा है। वर्ग प्रणाली में परम्परागत पेशों की व्यवस्था नहीं पायी जाती।

6. जातियों में वर्गों की अपेक्षा सामाजिक दूरी अधिक होती है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण या उतार-चढ़ाव की एक प्रणाली होती है। इस संस्तरण में विभिन्न जातियों की सामाजिक स्थिति में काफी अन्तर मिलता है। इस अन्तर के आधार पर जातियों में सामाजिक दूरी अधिक पायी जाती है। एक ब्राह्मण और एक शूद्र में जो सामाजिक दूरी पायी जाती है, उससे हम सभी पूर्णत: परिचित हैं। परन्तु विभिन्न वर्गों के सदस्यों में इतनी अधिक सामाजिक दूरी नहीं पायी जाती क्योंकि वर्गों का आधार धन, पेशा, शिक्षा आदि हैं जबकि जातियों का आधार जन्म है।

7. जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों में स्थिरता है, वर्ग प्रणाली के अन्तर्गत अस्थिरता है। जाति के सदस्यों में सम्बन्ध स्थिर होते हैं। उन्हें कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर ही अपनी जाति के सदस्यों तथा भिन्न जातियों के सदस्यों के साथ सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है, परन्तु वर्ग-प्रणाली में सामाजिक सम्बन्धों में अस्थिरता अधिक पायी जाती है क्योंकि ये सम्बन्ध समय तथा व्यक्ति के साथ बदलते रहते हैं। एक वर्ग का सदस्य दूसरे वर्ग के किसी भी सदस्य के साथ अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

8. जाति व्यवस्था वर्ग प्रणाली की अपेक्षा अधिक स्थिर संगठन है। जाति-व्यवस्था के जन्म पर आधारित होने के कारण, व्यक्ति एक जाति की सदस्यता को त्याग कर, दूसरी जाति की सदस्यता ग्रहण नहो कर सकता। इसके अतिरिक्त उसे जाति के नियमों एवं प्रतिबन्धों का भी पालन करना पडता है। इनस जातीय संगठन में दृढ़ता एवं स्थिरता रहती है। परन्तु वर्ग प्रणाली में मुक्त स्तरण होने के कारण व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय, आय, धन आदि के आधार पर अपना वर्ग परिवर्तित करता रहता है। वर्ग-प्रणाली में इन आधारों में अनिश्चितता होने के कारण स्वयं वर्ग व्यवस्था में स्थिरता का पाया जाना सम्भव नही है।

जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारकों एवं भारतीय जाति-व्यवस्था में वर्तमान परिवर्तन या इसकी वर्तमान अवस्था के लिए पूर्व वाला अध्याय 13 देखिए।

क्या जाति-व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है (IS Caste System changing into Class System)

प्रश्न उठता है कि जाति-व्यवस्था में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को देखते हुए क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जाति-व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है ? वास्तविकता का पता लगाने के लिए यह देखना अनिवार्य है कि क्या जाति में वर्ग की विशेषताएँ आती जा रही हैं। कुछ लोगों का मत है कि वर्तमान में औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य ने अनेक सामाजिक-आर्थिक शक्तियों को जन्म दिया है, जिन्होंने जाति-व्यवस्था के संरचनात्मक आधार में परिवर्तन लाने में योग दिया है। आज जन्म के स्थान पर सम्पत्ति सामाजिक स्थिति के निर्धारण का आधार बन गई है, अतः कुछ विद्वानों के अनुसार जाति-व्यवस्था वर्ग व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है।

आज जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित कई प्रतिबन्ध शिथिल होते जा रहे हैं, जाति के कुछ परम्परागत बन्धन ढीले हुये हैं। इसी बात को व्यक्त करते हुए डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने कहा है कि नगरीय वातावरण ने छुआछूत के नियमों और निम्न स्तर की जातियों की नागरिक और धार्मिक निर्योग्यताओं को शिथिल करने में सहायता पहुँचाई है। आज छुआछूत और खानपान के प्रतिबन्ध ही ढीले नही हुए बल्कि जातियों की परम्परागत स्थिति भी परिवर्तित हो रही है।[1] आज जाति के साथ-साथ कुछ समानान्तर संगठन भी प्रकट होने लगे हैं। आज एक ओर जाति के भीतर वर्ग उत्पन्न होने लगे हैं और दूसरी ओर जाति की सीमाओं को पार कर विभिन्न जातियों के लोगों के वर्ग बनने लगे हैं। व्यक्तिगत उपलब्धियों के आधार पर मुख्यतः वर्गों का निर्माण होता है। आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से जब व्यक्ति उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर लेता है तो उसके परिवार की प्रस्थिति भी उच्च हो जाती है। एक जाति विशेष में उच्च प्रस्थिति वाले परिवार चेतन अथवा अचेतन रूप में एक परत (Layer) बना लेते हैं जो कालान्तर मे श्रेणी अथवा वर्ग के रूप में बदल जाती है। उच्च स्थिति सम्बन्धी यह चेतना नगरों में निवास करने वाले परिवारों मे विशेष रूप से पाई जाती है। आज ऐसे संघों का निर्माण भी हुआ है जिनकी सदस्यता का आधार जाति न होकर व्यवसाय है। ये संघ वर्गों की विशेषताओं को ही व्यक्त करते हैं। इनमे जाति की सीमाओं को लाँघकर, समान व्यवसाय अथवा आर्थिक स्थिति वाले लोग पाये जाते हैं। लेकिन जहाँ ऐसे वर्गों

1 R K Mukerjee Inter Caste Tensions Caste Tension Study, p 14

का निर्माण हुआ है वहाँ भी जाति-अन्तर्विवाह (Caste Endogamy) की अवहेलना नहीं की जाती, लोग वैवाहिक सम्बन्धों के लिए अभी भी अपनी जाति की ओर ही देखते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. योगेन्द्रसिंह ने लिखा है कि किसी समान राजनैतिक या आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई बार कुछ जातियाँ संगठित हो जाती हैं और इस दृष्टि से उनमे वर्ग की विशेषताएँ दिखाई पड़ने लगती हैं, लेकिन ये परिवर्तन क्षणिक हैं। ऐसे लौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति के बाद, जातियाँ पुन: अपने मौलिक प्रकार्यों जैसे वैवाहिक, सहभाजी तथा धार्मिक अनुष्ठान पर लौट आती हैं। यह सामाजिक प्रकार्य ही वह धरातल है जो जाति की स्थिरता का आधार है और इस क्षेत्र में जाति पर्याप्त मात्रा मे नही बदल रही है। अन्तर्जातीय विवाह, जो बहुत थोड़े हैं, से सम्बन्धित अध्ययन भी यह प्रकट नही करते कि जाति के इन मौलिक प्रकार्यों में परिवर्तन आ रहे हैं।[1]

ब्राइस रेन (Bryce Ryan) के अनुसार जाति-व्यवस्था का आधार विभिन्न जातियों के मध्य सांस्कृतिक विभिन्नता का पाया जाना है, किसी प्रकार के संघर्ष का पाया जाना नही। आज एक ओर विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक अन्तर कम हुआ है और दूसरी ओर भेद-भाव सम्बन्धी आचरण।[2] आज विभिन्न जातियों के मध्य सांस्कृतिक अन्तर कम हुए हैं परन्तु पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं। इससे ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि जाति-व्यवस्था क्रमश. वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है, लेकिन यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जाति-व्यवस्था पूर्णत: वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो जाएगी। यद्यपि जाति-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था दोनों ही स्तरीकरण के दो मुख्य रूप हैं तथापि दोनों के आधार मे कुछ भिन्नता है। जाति प्रथा का आधार सामाजिक है, वर्ग व्यवस्था का आर्थिक। नर्मदेश्वर प्रसाद का कहना है कि भारतीय जाति व्यवस्था धार्मिक पौराणिक किस्म की है, जबकि यूरोपीय जाति-व्यवस्था आर्थिक-राजनैतिक किस्म की। आधुनिक समय मे भारतीय जाति व्यवस्था ने राजनैतिक विशेषताओं का भी ग्रहण कर लिया है, अर्थात् अब इसमे दोनो किस्मो का सम्मिश्रण है। यूरोप मे जाति के वर्ग के रूप में बदलने की और वर्ग के जाति के रूप मे दृढ होने की सदैव सम्भावना रही लेकिन भारत में जाति ने कभी भी अपने को पूर्णत वर्ग के रूप मे मुक्त नही किया। इसका कारण यह है कि भारत मे जाति को कभी भी पौराणिक कथा और अन्ध विश्वासो से स्वतन्त्र नही किया गया। भारत मे भूमि तथा मन्दिर भी एक अथवा दूसरी जाति से सम्बन्धित होते हैं। हिन्दू देवी-देवता भी प्राय: उन्हीं जातीय प्रतिमानो का अनुकरण करते हैं।[3] डॉ. सक्सेना ने लिखा है कि वर्तमान भारत उन्ही परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव में है जिन्होंने पश्चिमी समाज की वर्ग व्यवस्था को जन्म दिया है, किन्तु निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि जाति-प्रथा वर्ग-व्यवस्था मे परिवर्तित हो रही है या परिवर्तित हो जाएगी क्योंकि समान परिवर्तनकारी शक्तियाँ दो विभिन्न समाजों में परिवर्तन की समान गति और दिशा को जन्म नही दे सकती।[4] डॉ. के एल. शर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि जाति अपने सदस्यों के लिए शक्ति का एक स्रोत है। आज जाति में सामूहिकता की विशेषता नही पाई जाती, क्योंकि अनेक कारकों ने एक ही जाति या उपजाति मे भूमिका

1 Yogendra Singh op cit, p 172
2 Bryce Ryan Quoted by R N Saxena op cit, p 95
3 Narmadeshwar Prasad op, cit p 140
4 Dr R N Saxena op cit p 86

सम्बन्धी भेद उत्पन्न कर दिये हैं। जाति की यह 'समूह' प्रकृति संस्कारात्मक कृत्यों तथा धर्म-सभा से हटकर चुनावों, अपनी जाति के सदस्यों के लिए व्यवसाय और नौकरी सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के रूप में बदल गई हैं, लेकिन जातियाँ न तो मार्क्सवादी और न ही वेबरीयन दृष्टि से 'वर्गों' के रूप में बदली हैं।[1] डॉ. शर्मा की मान्यता है कि भारतीय परिस्थिति इस दृष्टि से अन्य समाजों से काफी भिन्न है कि यहाँ समस्याएँ 'वर्ग' प्रकृति की हैं, परन्तु समाज के विभाजन के रूप में 'वर्ग' निश्चित प्रकार्यात्मक इकाइयों के रूप में नहीं पाये जाते।[2] इस सम्पूर्ण विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक वास्तविकता के हमारे मौजूदा ज्ञान के आधार पर यह कहना भ्रामक है कि भारत में जाति व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है।

जाति व्यवस्था का भविष्य
(Future of Caste System)

जाति-व्यवस्था के भविष्य के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक आशंकाएँ व्यक्त की जाती रही हैं, लेकिन वे निर्मूल सिद्ध होती जा रही हैं। इसका कारण यह है कि इसमें अनुकूलन की अपूर्व क्षमता पायी जाती है। डॉ. के. एल. शर्मा ने लिखा है कि जाति अनुकूलनशीलता तथा समुत्थान शक्ति से सम्बन्धित अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं जो जाति व्यवस्था के समाप्त होने के झूँठे भय को अप्रमाणित सिद्ध करते हैं।[3] डॉ. श्रीनिवास गुजरात, उड़ीसा, मद्रास, आन्ध्र, मैसूर, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में उभरती हुई जाति जागरुकता एवं इसके नये सगठनों और उनके प्रकार्यों की समीक्षा से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जाति की शक्तियाँ आधुनिकीकरण (Modernization) के कारण कमजोर पड़ने के बजाय अधिक मजबूत होती जा रही हैं।[4]

डॉ. शर्मा का कहना है कि जाति के सम्बन्ध में हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर इसके भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, अर्थात् यह कहना कठिन है कि यह समाप्त हो जायेगी अथवा इसका समुत्थान होगा। कुछ परिणाम, जो इसकी समाप्ति या समुत्थान के समर्थन में दिये जा सकते हैं, इसके भविष्य के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में हमारी मदद नहीं करते।[5]

भारत एक ऐसा देश है जहाँ करीब 75 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है। ग्रामों में परिवर्तन की गति बहुत धीमी है। ऐसी दशा में औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप नगरों में निवास करने वाले थोड़े से लोगों की मनोवृत्ति में चाहे कितना ही परिवर्तन क्यों न आ जाए, इसके आधार पर सामाजिक व्यवस्था का रूप बदलना बहुत कठिन है। यही कारण है कि जाति-व्यवस्था का व्यापक प्रभाव आज भी विभिन्न क्षेत्रों में पाया जाता है। सन् 1961 में सामुदायिक विकास के राष्ट्रीय संस्थान द्वारा संगठित सेमिनार 'ग्रामीण भारत में परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ' में इसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचा गया–"*जाति अभी भी एक शक्ति के रूप में विद्यमान है।* जाति सम्भवत एक राजनैतिक कारक के रूप में उभर रही है क्योंकि सामाजिक सरचना की

1 K.L. Sharma 'New Introduction- in Review of Caste in India by J Murdoc (1977), p XXV
2 Ibid p XX
3 Ibid p XVI
4 M N Srinivas Quoted by Yogendra Singh op cit p 166
5 K.L Sharma op cit p XVI

कोई भी अन्य सम्बद्ध ऐसी इकाई नहीं है जो नवीन राजनैतिक प्रकार्यों को समाहित कर सके।"[1] जाति व्यवस्था की निरन्तरता आज तक इसी कारण बनी हुई है कि इसमें नवीन प्रकार्यों को अपने में आत्मसात् करने की अपूर्व शक्ति पायी जाती है। डॉ. शर्मा ने लिखा है कि सरचनात्मक परिवर्तनों, जैसे भूमि सुधारों, वयस्क मताधिकार तथा औद्योगीकरण ने जाति को पहले से अधिक अनुकूलनशील व्यवस्था बना दिया है।[2]

पिछली कुछ शताब्दियों में निम्न जातियों को व्यावसायिक-प्रशासकीय पदों को प्राप्त करने का प्रथम बार अवसर मिला है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है। यह बात आज भी सही है कि धार्मिक-कृत्यों को सम्पन्न करने के लिए अब भी ब्राह्मणों की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु राजनैतिक-आर्थिक मामलों में जाति-व्यवस्था के संस्तरण के सिद्धान्त को अब कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। वर्तमान में समानता एवं प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित विचारधाराएँ प्रबल होती जा रही हैं। जाति-व्यवस्था में होने वाले सरचनात्मक परिवर्तन को इस संस्था में निरन्तर पायी जाने वाली समुत्थान-शक्ति एवं लचीलेपन की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यही कारण है कि यह संस्था बदलती हुई परिस्थितियों के साथ आज तक सामजस्य स्थापित करती रही। अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आने वाले समय तक जाति राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा संस्कृति के क्षेत्र में आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक सरचनाओं के संचालन के लिए संस्थात्मक आधार प्रदान करती रहेगी। यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से अतार्किक है कि जाति-व्यवस्था समाप्त हो रही है।[3]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था एक अत्यन्त गतिशील संस्था है जिसके स्वरूप में समय के साथ-साथ, युग की आवश्यकता के अनुसार सदैव परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था पायी जाती थी जो धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित होती गयी और जातीय बन्धन दिन प्रतिदिन कठोर होते गये। ब्रिटिश काल में भारत में अनेक ऐसी प्रक्रियाएँ आरम्भ हुईं जिनसे जाति-व्यवस्था के प्रतिबन्धों में शिथिलता आने लगी और इसका स्वरूप बहुत कुछ बदल गया। वर्तमान में भी इसमें अनेक परिवर्तन होते जा रहे हैं।

प्रश्न

1. वर्ग का अर्थ स्पष्ट करते हुए वर्ग विभाजन के विभिन्न आधारों पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में वर्ग-सरचना पर एक लेख लिखिए।
3. ग्रामीण अथवा नगरीय वर्ग सरचना पर प्रकाश डालिए।
4. जाति और वर्ग में भेद बताते हुए स्पष्ट कीजिये कि क्या जाति वर्ग में परिवर्तित हो रही है?
5. जाति व्यवस्था के भविष्य पर टिप्पणी लिखिये।



1 Quoted by Dr Yogesh Atal op cit p 250
2 K.L Sharma op cit , p XXIV
3 Yogendra Singh op cit , pp 173-74

15

विवाह : हिन्दू विवाह
(Marriage : Hindu Marriage)

विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो विश्व के प्रत्येक भाग में पायी जाती है। प्रत्येक समाज में-चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण हो अथवा नगरीय, विवाह अनिवार्य रूप से पाया जाता है। वास्तव में विवाह परिवार की आधारशिला है। विवाह के माध्यम से ही हिन्दू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, घर बसाते हैं, अपनी यौन-इच्छाओं की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति एवं बालकों का पालन-पोषण करते हैं और उन्हें समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में योग देते हैं। हिन्दू विवाह का भारतीय सामाजिक संस्थाओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह गृहस्थाश्रम का प्रवेश-द्वार है और गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने कहा है कि जैसे सब प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम से ही जीवन प्राप्त करते हैं। विवाह के द्वारा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर चार पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। हिन्दू विवाह यौन-सम्बन्धों को प्राथमिकता नहीं देकर धार्मिक कार्यों को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। यह व्यक्ति को एक कर्म-प्रधान प्राणी बनाने में योग देता है। हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में हिन्दू जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पत्नी निश्चित रूप से पति का अर्द्धांश है, अतः जब तक पुरुष पत्नी प्राप्त नहीं करता एवं सन्तान उत्पन्न नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता। विवाह के द्वारा सन्तान के माध्यम से व्यक्ति अपने को अमर बनाता है। ब्रह्म पुराण में बतलाया गया है- देवता अमृत द्वारा अमर हुए और ब्राह्मणादि मनुष्य पुत्र द्वारा [1] पुत्र के रूप में पिता का पुनर्जन्म होता है, क्योंकि पिता के अंग-अंग और हृदय से प्राप्त अंशों से पुत्र की उत्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव समाज की सत्ता एवं संरक्षण विवाह और परिवार पर आधारित है। यही कारण है कि विवाह का हिन्दू समाज में केन्द्रीय संस्था के रूप में महत्त्व पाया जाता है। हिन्दू विवाह ने जहाँ एक ओर व्यक्ति को मानसिक स्थिरता, त्यागमय जीवन की प्रेरणा और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समाजीकरण में योग दिया है वहीं दूसरी ओर सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

हिन्दू विवाह का अर्थ
(Meaning of Hindu Marriage)

हिन्दू विवाह का अर्थ स्पष्ट करने से पूर्व यहाँ विवाह का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। वेस्टरमार्क ने लिखा है, "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है तथा जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार और कर्त्तव्यों का समावेश होता है।[3] हिन्दू विवाह को

1 ब्रह्मपुराण 10/9
2 निरुक्त 8/4
3 Westermarck The History of Human Marriage Vol I p 26

दो विशेषताओं का संकेत इस परिभाषा में मिलता है, प्रथम, प्रथाओं का महत्त्व एवं द्वितीय, पति-पत्नी के अधिकार एवं कर्त्तव्य। लॉवी ने विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है, "विवाह उन स्पष्ट रूप से स्वीकृत संयोगों को व्यक्त करता है जो इन्द्रिय सम्बन्धी संतोष के पश्चात भी स्थिर रहते हैं तथा पारिवारिक जीवन की आधारशिला बनते हैं।"[1] इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विवाह विषम-लिंगियों का वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होती है तथा इस बन्धन में बंधने वाले स्त्री-पुरुषों के एक-दूसरे के प्रति कुछ पारस्परिक अधिकार एवं कर्त्तव्य भी होते हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर हिन्दू विवाह को ठीक से नहीं समझा जा सकता। हिन्दू विवाह को डॉ. के. एम. कापड़िया ने एक संस्कार कहा है। विविध संस्कारों को समय-समय पर सम्पन्न करता हुआ व्यक्ति आगे बढ़ता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, अपने आपको पूर्णता प्रदान करता है। एक हिन्दू के जीवन में संस्कार गर्भाधान से प्रारम्भ होते हैं और मृत्युपरान्त दाह-संस्कार के रूप में समाप्त होते हैं। हिन्दू जीवन के विभिन्न संस्कारों में विवाह एक अत्यन्त आवश्यक संस्कार माना गया है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की दृष्टि से हिन्दुओं में विवाह को अनिवार्य संस्कार माना गया है। स्त्रियों के लिए विशेष रूप से विवाह-संस्कार का विधान किया गया है। हिन्दू विवाह एक अन्य दृष्टिकोण से भी पवित्र धार्मिक संस्कार है। हिन्दू विवाह कुछ धार्मिक कृत्यों, जैसे-होम, पाणिग्रहण तथा सप्तपदी आदि को सम्पन्न करने पर ही पूर्ण माना जाता है। पवित्र अग्नि की साक्षी में ब्राह्मण वेद-मंत्रों के उच्चारण के साथ इन कृत्यों को पूर्ण करवाता है। साथ ही यह एक ऐसा धार्मिक बन्धन है जो जीवन-भर रहता है और जिसे तोड़ना हिन्दू सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से अनुचित माना जाता है। यह कोई सामाजिक समझौता नहीं है जिसे दोनों पक्ष अपनी इच्छानुसार कभी भी समाप्त कर दें।

हिन्दुओं में विवाह प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक आवश्यक संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। 'मोक्ष-प्राप्ति' हिन्दू जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और इसकी प्राप्ति के लिए पुत्र सन्तान का होना आवश्यक है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है, "माताएँ बनने के लिए स्त्रियों की उत्पत्ति हुई और पिता बनने के लिए पुरुषों की, इसलिए, वेद आदेश देते हैं कि पुरुष को अपनी पत्नी के साथ ही धार्मिक कार्य सम्पन्न करने चाहिए।[2] वास्तव में विषम लिंगियों में उचित सम्बन्ध-निर्वाह के लिए हिन्दू विवाह एक सामाजिक संस्था है।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से विवाह का तात्पर्य वधू को वर के घर ले जाने से है, परन्तु वास्तव में विवाह के अन्तर्गत वे सभी समारोह एवं कर्मकाण्ड आ जाते हैं जिनके माध्यम से लड़के-लड़की समाज द्वारा मान्य पति-पत्नी के सम्बन्धों में बँधते हैं और एक-दूसरे के प्रति कुछ कर्त्तव्यों एवं अधिकारों को निभाते हैं। मेधातिथि के अनुसार, "विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण-संस्कार है, जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षि-दर्शन है।"[3] रघुनन्दन के अनुसार "जिस (विधि) से नारी पत्नी बनती है, वह विवाह है।[4] अतः समाज द्वारा स्वीकृत विधि के द्वारा पति-पत्नी के सम्बन्धों में बंधन

---

1. H Lowie Marriage in Encyclopaedia of Social Sciences, Vol X p 146,
2. मनु स्मृति, IX 96
3. मनु स्मृति, 3/20
4. उद्वाहतत्त्व-तेन भार्यात्वसम्पादक ग्रहण विवाह पूर्वोक्त।

का ही विवाह कहा जाता है। हिन्दू विवाह धर्म, प्रजा और रति की साधना का माध्यम है। हिन्दू विवाह में रति अथवा काम-सन्तुष्टि को सबसे कम महत्त्व दिया गया है और इसे धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए पुत्र-प्राप्ति का साधन मात्र माना गया है। हिन्दू विवाह स्त्री-पुरुषों का पति-पत्नी के रूप में एक अलौकिक, अविच्छेद और शाश्वत मिलन है जिसे तोड़ना अधार्मिक माना जाता है। इस सम्बन्ध मे हमें यह बात भी ध्यान मे रखनी होगी कि हिन्दुओं में एक-विवाह (Monogamy) ही आदर्श माना गया है। यहाँ धार्मिक नियम तथा परम्पराओ के अनुसार एक स्त्री का साधारणत: अनेक पुरुषो से विवाह न होकर, एक पुरुष के साथ ही विवाह होता है।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य
(Aims of Hindu Marriage)

कुछ सामाजिक एवं धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रत्येक हिन्दू के लिये विवाह अनिवार्य माना गया है। विवाह के द्वारा गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके ही व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति देव, ऋषि, पितृ, अतिथि और भूत ऋणों से उऋण और परिवार व समाज के प्रति अपने दायित्वों को निभा सकता है। इसी माध्यम से व्यक्ति चार पुरुषार्थों की पूर्ति का प्रयास, धर्म का संचय और अर्थ का उपार्जन करता है। वह यौन-इच्छाओं का पूर्ण करता हुआ सन्तानोत्पत्ति करता है और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति की ओर बढ़ता है। एक कर्मयोगी के रूप में जीवन में साधना करता हुआ प्रत्येक हिन्दू अपने कर्त्तव्यों का निभाता, उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता और स्वयं का आत्मकल्याण करता है। इन्ही सब कार्यों की पूर्ति के लिये धर्मशास्त्रों मे हिन्दू विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य माने गये हैं-धर्म, प्रजा (पुत्र-प्राप्ति) और रति। डॉ. कापडिया ने लिखा है, "धर्म, प्रजा (सन्तति) और रति (आनन्द) हिन्दू विवाह के उद्देश्य माने जाते हैं।"[1] यहाँ इन उद्देश्यों का वर्णन किया गया है-

1. धर्म-कार्यों की पूर्ति (Dharma-Performance of Religious Duties)

धार्मिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के लिए जीवन-साथी प्राप्त करने हेतु विवाह किया जाता था। विवाह के अभाव में एक हिन्दू अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन नही कर सकता। वैदिक युग में यज्ञ करना अनिवार्य था, परन्तु पत्नी के बिना यह पूर्ण नहीं होता था। यही कारण है कि श्री रामचन्द्र जी को अश्वमेघ यज्ञ के समय सीताजी की सोने की प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी थी। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि धर्म-कार्य चलाने के लिए एक पत्नी के मरने पर शीघ्र ही दूसरा विवाह करना चाहिए। कालीदास ने 'कुमार-सम्भव' में लिखा है कि कामदेव को जीतने वाले शिवजी ने जब सप्तर्षि और अरुधती को अपने सम्मुख देखा तो उनको अरुधती से विवाह करने की इच्छा हुई क्योंकि धर्म-सम्बन्धी क्रियाओं के सम्पादन के लिए पतिव्रता स्त्री की प्रमुख आवश्यकता है। धार्मिक कार्यों की इसी महत्ता के कारण पत्नी को पुरुष की धर्म-पत्नी कहा गया है।

हिन्दू धर्म में विभिन्न कर्त्तव्यों की पूर्ति पर विशेष जोर दिया गया है। हिन्दू जीवन के ये विविध कर्त्तव्य 'यज्ञ' कहे गए हैं। इन यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए पत्नी का होना आवश्यक है। हिन्दू समाज मे प्रत्येक गृहस्थ के लिए पाँच महायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ करना आवश्यक बताया गया है। पत्नी के अभाव में अविवाहित व्यक्ति इन यज्ञों की पूर्ति

---

1 "The aims of Hindu Marriage are said to be Dharma Praja (Progeny) and Rati (Pleasure)."
- K.M. Kapadia Marriage and Family in India, p. 167

नहीं कर सकता। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने हिन्दू विवाह के इस उद्देश्य के सम्बन्ध में कहा है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार पत्नीहीन मनुष्य यज्ञ का अधिकारी नहीं होता। यज्ञ केवल उस कृत्य को नहीं कहते जिसमें मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति डाली जाती है, जो कोई भी काम शुद्ध बुद्धि से किया जाए, वह यज्ञ हो सकता है, परन्तु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परार्थ किया जाए - —वेदों में कहा गया है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों के कल्याण हेतु देवताओं ने यज्ञ किया। यह विश्व शिव-शक्ति का महायज्ञ है, इसलिए यज्ञ में पति-पत्नी का याग आवश्यक होता है। शरीर दो हैं, परन्तु चित्त एक है, संकल्प एक है, लक्ष्य एक है-तभी यज्ञ सम्पन्न होता है।" स्पष्ट है कि धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करना आवश्यक है। समाज में व्यवस्था बनाए रखने और नैतिकता की रक्षा के लिए विवाह के इस उद्देश्य का अत्यन्त महत्त्व है।

2. प्रजा अथवा पुत्र-प्राप्ति (Progeny)

हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है और पुत्र-प्राप्ति का विशेष महत्त्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि पुत्र द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, पुत्र जब तक अपने पितरों का तर्पण और पिण्डदान प्रदान नहीं करता, तब तक उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्रों की कामना की गई है। पाणिग्रहण के अवसर पर मन्त्रों के माध्यम से वर वधू को कहता है-"मैं उत्तम सन्तान प्राप्त करने हेतु तुमसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा हूँ।" यशस्वी और दीर्घायु पुत्रों की उत्पत्ति पर हिन्दू विवाह में विशेष जोर दिया गया है क्योंकि ऐसी सन्तान ही इहलोक और परलोक में सुख प्रदान करने वाली होती है। महाभारत में कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान (पुत्र) को जन्म नहीं देता वह अधार्मिक होता है। सन्तान को तीनों वेद और सदैव बना रहने वाला देवता माना गया है। इस भवसागर अथवा संसार को पार करने के लिए पुत्ररूपी नौका आवश्यक है। मनुसंहिता और महाभारत में पुत्र शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पुत्र वह है जो अपने पिता को नरक अर्थात् पुत् में जाने से बचाए। इस प्रकार पितृ यज्ञ को सम्पन्न करने और पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र की उत्पत्ति आवश्यक मानी गई है। परिवार और समाज की निरन्तरता को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः हिन्दू शास्त्रकारों ने विवाह के इस लक्ष्य को इतनी महत्ता प्रदान की है।

3. रति (Sex Pleasure)

रति का तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से अपनी यौन-इच्छाओं की पूर्ति करना है। साधारणतः 'काम' अथवा यौन इच्छाओं की पूर्ति सभी समाजों में विवाह के एक उद्देश्य के रूप में मान्य है। यौन-सुख की प्राप्ति को उपनिषदों में सबसे बड़े आनन्द के रूप में महत्ता प्रदान की गई है। रति का तात्पर्य व्यभिचार या वासना से न होकर धर्मानुसार 'काम' से है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में जहाँ यौन इच्छाओं की तृप्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक बताया गया है, वहाँ साथ ही यह प्रतिबन्ध भी लगाया गया है कि उसे केवल अपनी पत्नी के साथ ही सहवास करना चाहिए और वह भी उत्तम सन्तान की उत्पत्ति हेतु। हिन्दू-विवाह के तीन उद्देश्यों में महत्त्व की दृष्टि से इसे निम्न अर्थात् तृतीय स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में डॉ. कापड़िया का यह कथन उल्लेखनीय है, "यद्यपि काम अथवा यौन-सम्बन्ध विवाह का एक कार्य (उद्देश्य) अवश्य है किन्तु इसे तीसरा स्थान दिया गया है जिससे स्पष्ट है कि यह विवाह का अत्यन्त ही कम वांछनीय उद्देश्य है।"[1]

1 Ibid p 167

इन तीनों उद्देश्यों के अतिरिक्त हिन्दू विवाह संस्था कुछ अन्य उद्देश्यों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने एवं चार पुरुषार्थों की प्राप्ति की दृष्टि से हिन्दू विवाह एक आवश्यक संस्कार है। तीन प्रकार के ऋणों से उऋण होने के लिए विवाह आवश्यक है। पितृ-ऋण से मुक्त होने हेतु पुत्र सन्तान को जन्म देना अनिवार्य है जिससे वह पितरों को तर्पण और पिण्डदान दे सके। वैवाहिक बन्धन में बंधकर ही व्यक्ति इस ऋण से उऋण हो सकता है। इस प्रकार विवाह के द्वारा व्यक्ति मृत व्यक्तियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने में सफल होते हैं। इसी प्रकार अन्य ऋणों से छुटकारा पाने के लिए भी विवाह आवश्यक है। स्त्री पुरुष के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए विवाह अनिवार्य है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पत्नी निश्चय से पति का अर्द्धांश है, अतः जब तक पुरुष पत्नी प्राप्त नहीं करता, सन्तान उत्पन्न नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता, किन्तु जब वह पत्नी प्राप्त करता है, सन्तति को जन्म देता है तो वह पूर्ण बन जाता है। स्त्री के अभाव में पुरुष का और पुरुष के अभाव में स्त्री का जीवन अपूर्ण रहता है- दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। विवाह स्त्री-पुरुष के मानसिक जीवन को सतुलित बनाता है और उनकी पशु-प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने में योग देता है। विवाह सम्बन्धी विविध विधि-विधानों से पति-पत्नी को उनके अधिकार एवं कर्त्तव्यों और जीवन की वास्तविकताओं से परिचित कराने का प्रयास किया जाता है। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि पारिवारिक संगठन बना रहता है और व्यक्ति परिस्थितियों के साथ अनुकूलन कर पाता है। विवाह-संस्था व्यक्ति को अपने परिवार और समाज के प्रति दायित्वों का निर्वाह करने की प्रेरणा प्रदान करती है और उसमें त्याग की भावना को जाग्रत करती है। परिवार के प्रति भी व्यक्ति का कुछ कर्त्तव्य होता है। बूढ़े माता-पिता की सेवा का उत्तरदायित्व, समाज सन्तान का ही सौंपता है और इसको निभाने के लिए विवाह आवश्यक है। इसके अलावा परिवार की परम्पराओं, प्रथाओं तथा धार्मिक मान्यताओं की निरन्तरता हेतु भी विवाह आवश्यक है। व्यक्ति का अपने समाज के प्रति भी कुछ दायित्व है और विवाह करके ही वह इस दायित्व को भली-भाँति निभा सकता है। विवाह करके सन्तान का जन्म देने से ही समाज की निरन्तरता बनी रह सकती है।

वर्तमान में विवाह के धार्मिक उद्देश्य की महत्ता काफी कम होती जा रही है। यौन-इच्छाओं की पूर्ति और सन्तानोत्पत्ति ही आज विवाह के मुख्य उद्देश्य रह गए हैं। वर्तमान में विवाह के उद्देश्य आदर्शों से बहुत कुछ भिन्न होते जा रहे हैं।

हिन्दू विवाह के स्वरूप
(Forms of Hindu Marriage)

यहाँ हिन्दू विवाह के 'स्वरूप' शब्द का प्रयोग वैवाहिक सम्बन्ध में बंधन की पद्धति को व्यक्त करने की दृष्टि से किया गया है। मनु और अनेक स्मृतिकारों ने हिन्दू विवाह के आठ और वशिष्ठ ने छः प्रकार बताये हैं। इस प्रकार के विवाहों में से प्रथम चार- ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य को श्रेष्ठ एवं धर्मानुसार और शेष चार-असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच को निकृष्ट एवं अधर्मानुसार माना गया है। हिन्दू-शास्त्रकार स्त्री के सम्मान और शील-रक्षा को विशेष महत्त्व देते रहे हैं। वे उसके जीवन को नष्ट होने से बचाने की दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने 'पैशाच' जैसे विवाह को अत्यन्त अधम मानते हुए भी विशेष परिस्थितियों में मान्यता प्रदान की है। मनु के अनुसार प्रथम श्रेणी के विवाहों से उत्पन्न सन्तान यशस्वी, शीलवान, सम्पत्तिवान

तथा अध्ययनशील हाती है और द्वितीय श्रेणी के विवाहों स उत्पन्न सन्तान दुराचारी, धर्म-विरोधी एवं मिथ्यावादी होती है। यहाँ हिन्दू-विवाह के इन्ही आठ स्वरूपो का वर्णन किया जा रहा है।

1. ब्राह्म (Brahma)

विवाह के आठ प्रकारों मे स इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है। लडको का पिता याग्य, वेद-पारगत और सुचरित्र व्यक्ति को अपन यहाँ आमन्त्रित कर वस्त्र और आभूषणों स सुसज्जित अपनी लडको दान के रूप मे उसे देता है। मनु न ब्राह्म विवाह का परिभाषित करते हुए लिखा है, "वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वय बुलाकर, वस्त्र एव आभूषण आदि स सुसज्जित कर पूजा एव धार्मिक विधि से कन्यादान करना ही ब्राह्म विवाह है।" एस विवाह में याग्य एव सुसस्कृत व्यक्ति का पता लगाना माता-पिता का अनिवार्य उत्तरदायित्व माना गया है, कन्यादान क लिए सुयाग्य पात्र का होना आवश्यक समझा गया है।

2. दैव (Daiva)

एस विवाह में पिता वस्त्रालकारो स सुसज्जित अपनी कन्या को दान क रूप में उस व्यक्ति को दता था जा यज्ञ-कार्य का पुरोहित क रूप म सफलतापूर्वक सम्पन्न करता था। सद् कर्म में लग पुरोहित का दान के रूप मे लडको दना हो दैव विवाह है। गौतम एव याज्ञवल्क्य ने दैव विवाह क लक्षण का उल्लेख इस प्रकार किया है—वेदों में दक्षिणा दने के समय पर यज्ञ कराने वाले पुराहित को अलकारो से सुसज्जित कन्या दान हो 'दैव विवाह' है। मनु लिखते हैं, सद् कर्म मे लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणो से सुसज्जित कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहत हैं। कुछ स्मृतिकारो न दैव-विवाह की इस आधार पर आलोचना की है कि ऐसे विवाहों मे वर-वधू की आयु मे काफी अन्तर पाय जाने की सम्भावना रहती है। वर्तमान समय में दैव-विवाहों का प्रचलन कहो नही पाया जाता। ए. एस अल्तेकर ने उचित ही लिखा है, "दैव-विवाह वैदिक यज्ञो क साथ-साथ लुप्त हो गये।"[1]

3. आर्ष (Arsha)

ऐसे विवाह में धार्मिक कृत्य करने हतु एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोडे वर स प्राप्त करने के पश्चात् पिता अपनी लडको उसे दान के रूप में देता है। गाय और बैल को यह भेंट उस व्यक्ति के प्रति आदर भाव एवं कृतज्ञता व्यक्त करने का प्रतीक मात्र है, जिसने गृहस्थ-धर्म से सम्बन्धित दायित्वों को पूर्ण करने के लिए अपनी कन्या दी है। वास्तव में आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। जब कोई ऋषि किसो लडको के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप में दता था तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निर्णय ले लिया है। ऋषियो स सम्बन्धित हान के कारण ही एसे विवाहों का 'आर्ष' कहा गया है। अल्तेकर का विचार है कि लडको के पिता को गाय और बैल भेंट स्वरूप देने को प्रथा कन्या मूल्य प्रथा का ही अवशष है। आजकल इस प्रकार के विवाह सम्पन्न नही होते।

---

1 "Daiva marriages disappeared with vedic sacrifies" - A S Altekar "The Positon of woman in Hindu Civilization", p 45

4. प्राजापत्य (Prajapatya)

इस प्रकार के विवाह में, ब्राह्म विवाह के समान ही लडकी का पिता कन्यादान के रूप में अपनी लडकी देता है। इतना अन्तर अवश्य है कि लडकी का पिता वर-वधू को सम्बोधित कर आदेश देता है—"तुम दोनों मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।"[1] वास्तव में प्राजापत्य और ब्राह्म विवाह में कोई अन्तर नहीं है। प्राजापत्य मे धर्मानुसार आचरण करने की बात लडकी का पिता स्पष्टतः व्यक्त अवश्य कर देता है। डॉ. अल्तेकर ने बताया है कि "विवाह के आठ प्रकारों की संख्या को पूर्ण करने हेतु ही इस पद्धति को पृथक् रूप दे दिया गया।"[2] वशिष्ठ और आपस्तम्ब ने प्राजापत्य विवाह का कही भी उल्लेख नही किया।

उपर्युक्त चार प्रकार के विवाहों की मुख्य विशेषता यह है कि इसमे पिता अपनी लडकी, योग्य वर को दान के रूप में देता है, जबकि आगे बताये हुए विवाह के चार अन्य प्रकारों में वर, कन्या का मूल्य चुका कर, उसका अपहरण कर, उसके साथ कुकृत्य अथवा प्रेम करके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

5. असुर (Asura)

मनुस्मृति मे लिखा है कि जब कन्या अथवा उसके पिता को कुछ धन-राशि देकर कन्या के साथ विवाह किया जाय तब ऐसा विवाह असुर विवाह कहा जाता है। ऐसे विवाह में कन्या मूल्य चुकाया जाता है। वधू-मूल्य देकर सम्पन्न किये जाने वाले सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं. सम्भवत इस प्रकार के विवाहों के प्रचलन का मुख्य कारण यह था कि विवाह में बिना कुछ लिए लडकी देना परिवार के लिए अपमानजनक समझा जाता था, क्योंकि विवाह के पश्चात लडकी की उपयोगिता से माता-पिता को वंचित होना पडता था, इसलिए क्षतिपूर्ति के रूप मे कुछ राशि मिलना आवश्यक माना जाता था। विशेष रूप से निम्न जातियो मे ऐसे विवाहों का प्रचलन रहा है और आज भी है। उच्च जातियों में ऐसे विवाहो को हीनता की दृष्टि से देखा जाता है।

6. गान्धर्व (Gandhrava)

गान्धर्व विवाह का तात्पर्य वधू का स्वयं अपने लिए चुनाव करना है। स्वयंवर द्वारा विवाह की प्रथा का प्रचलन इस देश में प्राचीन-काल से ही रहा है। इसके अन्तर्गत स्वयं किसी राजकुमारी द्वारा अपने पति का चुनाव किया जाता था। ऐसे विवाह सदैव अपनी पसन्द के हो यह आवश्यक नही था, क्योंकि कई बार किसी कौशलपूर्ण कार्य मे सफलता प्राप्त करना विवाह सम्पन्न होने के लिए आवश्यक था। मनुस्मृति में कहा गया है कि जब काम के वश में होकर कन्या एवं वर, विवाह से पूर्व ही यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लें तो ऐसे विवाह को गान्धर्व विवाह कहा जाता है।[3] शरीर-संयोग होने मात्र से विवाह पूर्ण नही मान लिया जाता, उचित विधियों का पालन करने के पश्चात् ही ऐसा विवाह सम्पन्न माना जाता है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में अनियम एवं असमय किसी कारण वश वर-कन्या में इच्छानुसार परस्पर संयोग होना 'गान्धर्व विवाह' माना गया है। ऐसे

---

1 मनुस्मृति, 3/27

2 "Prajapatya was added later probably to make the number of the forms of marriage eight." —A S Altekar Ibid pp 46-47

3 मनुस्मृति, 3/32

विवाहों के लिए माता-पिता की इच्छा अथवा स्वीकृति का कोई प्रश्न नही उठता। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व विवाह की श्रेणी में ही आता है। आधुनिक समय में ऐसे विवाहों को प्रेम-विवाह कहते हैं।

7. राक्षस (Rakshasa)

शक्ति द्वारा कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना राक्षस विवाह है। मनुस्मृति के अनुसार 'युद्ध हरणेन राक्षसः' अर्थात् युद्ध में कन्या का हरण करके उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना ही राक्षस विवाह है। इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन उस समय अधिक था जब युद्धों का काफी महत्त्व था और स्त्रियों को युद्ध का पुरस्कार समझा जाता था। महाभारत काल में ऐसे विवाह सम्भवतः अधिक होते थे। श्रीकृष्ण-रुक्मणि एवं अर्जुन-सुभद्रा के विवाह इसी विवाह पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे विवाह में वर-पक्ष के लोग कन्या-पक्ष वालों को मार-पीट कर, उनका घर तोडकर, छीन-झपट कर अथवा कपट से रोती-बिलखती हुई कन्या को उसके घर से ले जाते हैं और फिर उसके साथ विवाह कर लिया जाता है। ऐस विवाह क्षत्रियों में विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं, इस कारण इन्हें क्षात्र विवाह भी कहा जाता है। वर्तमान मे ऐसे विवाहों का प्रचलन प्राय. समाप्त हो चुका है।

8. पैशाच (Paisacha)

जब सोई हुई, नशे में उन्मत्त अथवा मानसिक रूप से असन्तुलित लडकी को चुपचाप भ्रष्ट कर, उसका शील भग कर, और फिर उसके साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाए तो ऐसे विवाह को पैशाच विवाह कहते हैं। बलपूर्वक कुकृत्य कर लेने के बाद भी विवाह से सम्बन्धित विधियों को पूरा कर लेने पर ऐसे विवाहों को मान्यता दे दी जाती थी। इसका मुख्य कारण लडकियों के कौमार्य भग के बाद समाज के बहिष्कार से उनको बचाना था, उनके सम्मान को बनाये रखना था। ऐसे विवाहों को अत्यन्त निकृष्ट या अधम माना गया है। लडकी का दोष नही होने के कारण कई धर्म-शास्त्रकारों ने अत्यन्त अधम समझते हुए भी ऐसे विवाहों को मान्यता दी है।

सत्यार्थ प्रकाश' में उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों में से ब्राह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ, दैव और प्राजापत्य को मध्यम, आर्ष, असुर और गान्धर्व का निम्न कोटि का, राक्षस को अधम तथा पैशाच को महाभ्रष्ट माना है। वर्तमान में हिन्दुओं में अधिकतर ब्राह्म और असुर विवाह होते हैं, कही-कही गान्धर्व और पैशाच विवाह पाये जाते हैं, परन्तु दैव, आर्ष, प्राजापत्य और राक्षस विवाह समाप्त हो चुके हैं।

हिन्दू विवाह : एक धार्मिक संस्कार
(Hindu Marriage : A Religious Sacrament)

हिन्दू विवाह के उद्देश्य एव विविध स्वरूपों से स्पष्ट है कि यह एक धार्मिक सस्कार है, एक समझौता-मात्र नही। हिन्दू विवाह में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अनेक प्रकार के धार्मिक विधि विधानों, अनुष्ठानों एवं आदर्शों की प्रधानता पाई जाती है। हिन्दू विवाह के उद्देश्यों से जीवन में धार्मिकता का महत्त्व प्रकट होता है। हिन्दुओं में विवाह को एक पवित्र और अटूट बन्धन माना जाता है जिसे इच्छानुसार कभी भी तोडना अनुचित और पाप समझा जाता है। हिन्दू विवाह व्यक्ति के जीवन का परिष्कृत करता, उसे आध्यात्मिकता की ओर बढने के लिए अवसर प्रदान करता एव

धार्मिक मान्यताओं के अनुसार कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। हिन्दू विवाह की निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि यह एक धार्मिक सस्कार है—

1. विवाह का प्रमुख आधार धर्म (Religion as main basis of marriage)

हिन्दू विवाह के उद्देश्यों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि यहाँ विवाह का मुख्य आधार धर्म है। प्रत्येक हिन्दू के लिए अपनी पत्नी सहित पंच महायज्ञ करना आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार बिना पत्नी के कोई भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता। यहाँ विवाह मुख्य रूप से कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। डॉ. कापड़िया ने उचित ही लिखा है, "यह स्पष्ट है कि जब हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का प्रथम तथा सर्वोच्च उद्देश्य तथा सन्तानोत्पादन को इसका दूसरा श्रेष्ठ उद्देश्य माना, तो स्वाभाविक रूप से विवाह पर धर्म का आधिपत्य हो गया। विवाह की इच्छा रति या सन्तानोत्पत्ति के लिए इतनी अधिक नहीं की जाती थी जितनी अपने धार्मिक कर्त्तव्यों के पालनार्थ एक साथी प्राप्त करने के लिए।"[1] विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए परिवार में पुत्र का होना आवश्यक समझा जाता था विवाह के तृतीय उद्देश्य-रति को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि विविध धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन की दृष्टि से विवाह एक आवश्यक संस्कार है।

2. विवाह की अविच्छेद्य प्रकृति (Irrevocable nature of marriage)

हिन्दू विवाह एक ईश्वर-इच्छित पवित्र बन्धन के रूप में माना जाता है जो कभी तोड़ा नहीं जा सकता। हिन्दू विवाह में बँधने वाले पति-पत्नी मृत्यु-पर्यन्त एक-दूसरे से बंधे रहते हैं। विवाह हिन्दुओं में जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना गया है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि जन्म-जन्मान्तर के साथी फिर स मिल जाते हैं। विवाह की इस अविच्छेद्य प्रकृति के कारण ही पति-पत्नी एक-दूसरे से अनुकूलन का प्रयत्न करते हैं न कि अलग होने का। यहाँ व्यक्ति को सामजस्य द्वारा विवाह सफल बनाने के लिए प्ररित किया गया है। दम्पत्ति जीवन में त्याग को महत्व देते हुए एक-दूसरे के अनुसार अपने आपको बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण सम्भवत: प्राचीन भारतीय परिवार में दाम्पत्य जीवन में सघर्ष की सम्भावना नहीं पाई जाती। विवाह की अविच्छेद्य प्रकृति का ज्ञान 'पतिव्रता' एव 'सती' की धारणाओं से होता है। इससे ज्ञात होता है कि विवाह एक पवित्र धार्मिक गठबन्धन है जिसे समाप्त करना पति-पत्नी की इच्छा मात्र पर निर्भर नहीं करता।

3. ऋणों से उऋण होने हेतु विवाह आवश्यक
(Marriage essential for getting rid of rinas)

धर्मशास्त्रों में विवाह का स्वर्ग का द्वार माना गया है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए विवाह आवश्यक है और बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये ऋणों स उऋण होना सम्भव नहीं है। व्यक्ति पर जन्म से अनेक ऋण रहते हैं और विवाह करके ही वह पचमहायज्ञों द्वारा विविध ऋणों से छुटकारा पा सकता है। विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त किये बिना व्यक्ति, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के दायित्व भी पूर्ण नहीं कर सकता। धार्मिक साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विवाह किये बिना तपस्वियों एव ऋषियों तक का स्वर्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

1 K.M Kapadia op cit p 167

4. विवाह के लिए आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान एवं संस्कार
(Necessary rituals and ceremonies for marriage)

पी. वी. काणे ने "हिन्दू विवाह सम्पन्न होने के लिए 39 प्रमुख अनुष्ठानो एवं सस्कारो का उल्लेख किया है।"[1] इन धार्मिक कृत्यो को पूर्ण किये बिना हिन्दू विवाह सम्पन्न नही माना जाता। ये सब कृत्य धार्मिक विश्वासों से परिपूर्ण हैं और इनसे स्पष्ट पता चलता है कि वैवाहिक जीवन मे धर्म को प्रधानता दी गई है। यहाँ विवाह से सम्बन्धित कुछ प्रमुख सस्कारों का वर्णन किया जा रहा है ताकि विवाह की धार्मिक प्रकृति को ठीक से समझा जा सके–

वाग्दान— इस अनुष्ठान में वर पक्ष की ओर से रखा गया विवाह प्रस्ताव कन्या-पक्ष द्वारा स्वीकार किया जाता है। वैदिक मन्त्रों एव गृह-सूत्रों में वर पक्ष के द्वारा विवाह का प्रस्ताव रखने एवं कन्या-पक्ष द्वारा उसे स्वीकार करने की व्यवस्था पाई जाती है, परन्तु आजकल यह स्वीकृति वर-पक्ष द्वारा प्रदान की जाती है।

कन्यादान — पिता अपनी पुत्री को धार्मिक भाव से पति को समर्पित करता है और पति इसी भाव से उसे स्वीकार करता है। पति अपनी पत्नी से कहता है "तू वृद्धावस्था मेरे साथ प्राप्त कर, मरे द्वारा दिय वस्त्र धारण कर, कामी पुरुषों से अपनी रक्षा कर तथा तू सौ वर्ष की आयु वाली हो एव धन और सन्तान वाली हो।" तत्पश्चात् दोनों कहते हैं कि हम प्रसन्नतापूर्वक गृहस्थाश्रम में एकत्र रहने के लिए एक-दूसरे को ग्रहण करते हैं और हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त और मिले हुए रहेंगे। यहाँ पिता अपनी कन्या को दान के रूप मे देता हुआ वर से यह आश्वासन माँगता है कि वह धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति में कभी भी अपनी पत्नी का त्याग नही करेगा। यहाँ इस अनुष्ठान के द्वारा यह आदर्श प्रस्तुत किया गया है कि पत्नी आजीवन अपने पति की सगिनी बनी रहेगी।

विवाह होम — पवित्र अग्नि की साक्षी में विवाह सम्पन्न होता है। वर एव वधू अग्नि में अनेक आहुतियाँ देते हैं। इस समय यह प्रार्थना की जाती है कि अग्नि कन्या की रक्षा करे, उसकी सन्तान को परमात्मा काफी आयु दे, वह जीवित रहने वाली सन्तान की माता हो और पुत्र सम्बन्धी आनन्द प्राप्त करे। अग्नि का देवता मानकर उसमे आहुतियाँ देकर एक समृद्ध और आदर्श गृहस्थ जीवन की कामना की जाती है।

पाणिग्रहण— पाणिग्रहण का तात्पर्य दूसरे के हाथ को ग्रहण करना है। इसमे वर वधू के हाथ का पकडकर छ· मन्त्रो का उच्चारण करता है। य मन्त्र प्रतिज्ञा क रूप में हैं। वह वधू से कहता है कि मे तरा हाथ पकडकर सुख की इच्छा करता हूँ। वृद्धावस्था तक तू मेरे साथ रहना, तेरा पोषण करना मरा धर्म हे और मेरे द्वारा सन्तान का जन्म देत हुए तू सौ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करना।" इन मन्त्रों मे यह भी बताया गया है कि हम दोनों एक दूसर क हाथ बिक चुके हैं और हम कभी भी एक-दूसरे का अप्रिय नही करेगे। इन पवित्र वद-मन्त्रो से जहाँ गृहस्थाश्रम के दायित्वों का बोध होता है, वहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि विवाह एक धार्मिक सस्कार है।

अग्नि-परिणयन— इसमे वर और वधू अग्नि की परिक्रमा करते हैं ओर अग्नि को साक्षी करके वर कहता है कि "मे सामवद के समान प्रशसित हूँ और तू ऋग्वेद क समान प्रशसित है,

1 P.V. Kane "History of Dharmashastra" Vol II pp 531 36

तू पृथ्वी के समान है और मैं सूर्य के समान हूँ, हम दोनों प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, साथ मिलकर उत्तम प्रजा उत्पन्न करें, हमारे बहुत से पुत्र हों, हम और हमारे पुत्र सौ वर्ष तक प्रसन्न-सुखी रहें और सौ वर्ष तक जीवित रहें।"

अश्मारोहण— इसके अन्तर्गत कन्या का भाई कन्या का पैर उठाकर पत्थर की शिला पर रखवाता है। इस अवसर पर वर वधू से कहता है कि हे देवी-तू इस पत्थर पर चढ़ और इस पत्थर के समान ही धर्म-कार्यों में दृढ़ बनी रहे। यहाँ वधू से सब स्थितियों का दृढ़तापूर्वक मुकाबला करने के लिए कहा गया है।

लाजाहोम— इसमें वर और वधू पूर्व दिशा की ओर मुँह करके खड़े हो जाते हैं, फिर वधू अपने भाई से खील (भुने हुए चावल) लेकर अग्नि-कुण्ड में डालते हुए तीन मन्त्रों का उच्चारण करती है। कन्या ईश्वर की आज्ञा-पालन के लिए पिता कुल छोड़कर पति-कुल में जाने के लिए तैयार है। वह देवताओं से प्रार्थना करती है कि उसका पति दीर्घजीवी हो और उसके पितृ-कुल एवं पति-कुल के लोग धन्य-धान्य से पूर्ण हों। वह देवताओं से प्रार्थना करती हुई इच्छा व्यक्त करती है कि पति के साथ उसका प्रेम बढ़ता रहे।

सप्तपदी—ग्रन्थि— बन्धन किए हुए वर वधू का उत्तर दिशा की ओर सात पैर चलना ही सप्तपदी है। प्रत्येक पैर साथ-साथ बढ़ते हुए मन्त्रोच्चारण किया जाता है। इन सात मन्त्रों में वर, वधू की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व स्वयं ग्रहण करता है और अन्न प्राप्ति, शारीरिक एवं मानसिक बल धन, सुख सन्तान प्राकृतिक सहायता और सखा भाव की कामना करता है। यहाँ यह कामना भी की जाती है कि उन दोनों के मन एक-दूसरे के अनुकूल बने रहें।

इन सब धार्मिक विधियों को सम्पन्न करने के पश्चात् ही हिन्दू विवाह पूर्ण माना जाता है इन विधियों पर आधारित हिन्दू विवाह निश्चित रूप से एक धार्मिक संस्कार है जिसका उद्देश्य लोगों का कर्तव्य पालन के अवसर प्रदान करना है।

5. पतिव्रता का आदर्श (Ideal of Pativrata)

हिन्दू विवाह के द्वारा पत्नी आदर्श पतिव्रता के रूप में कार्य करती है। पति की सेवा और उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना यह अपने जीवन का प्रथम कर्तव्य समझती है। वह अपने पति को परमेश्वर के रूप में मानती हुई उसकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखती है और उसके लिए हर प्रकार का त्याग करना अपना परम धर्म समझती है। पतिव्रता का यह आदर्श विवाह की धार्मिक प्रकृति को व्यक्त करता है।

6. पत्नी के सम्बोधक शब्द

पत्नी के सम्बोधक शब्द से भी यही ज्ञात होता है कि विवाह रति अर्थात् काम इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि धार्मिक कृत्यों को पूर्ण करने के लिए किया गया है। पत्नी के लिए धर्म पत्नी एवं सहधर्मचारिणी शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों का तात्पर्य धार्मिक कार्यों में सहयोग देने वाली पत्नी से है। धर्मशास्त्रों में बताया गया है कि धार्मिक कृत्यों के पूर्ण सम्पादन के लिए गृह पत्नी गृह स्वामी की पूरक है।

7. स्त्री के लिए एकमात्र संस्कार (The only sanskar for woman)

एक हिन्दू पुरुष अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के संस्कार सम्पन्न करता है। इन संस्कारों से उसका शुद्धिकरण एवं व्यक्तित्व का विकास होता है। किन्तु स्त्री के जीवन काल में विवाह ही एकमात्र संस्कार है अन्य संस्कार उसके द्वारा सम्पन्न नहीं किये जा सकते हैं।

8. ब्राह्मणों की उपस्थिति (Presence of Brahmins)

हिन्दू समाज-व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विवाह कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। किसी कार्य में ब्राह्मण की उपस्थिति उस कार्य की पवित्रता एवं गरिमा को बढ़ाने वाली होती है।

9. वेद मन्त्रों का उच्चारण (Recitation of Vedic Mantras)

विवाह के समय वैदिक रीति रिवाजों का पालन और वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। वेदों को हिन्दुओं में बहुत ही पवित्र माना जाता है और उनमें जो कुछ लिखा है वह ईश्वर के मुख से निकले वाक्य माने जाते हैं। अतः वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी विवाह को धार्मिक संस्कार बनाने में योग देता है।

10. अग्नि की साक्षी (Presence of fire)

ब्राह्मणों एवं वेदों की भाँति अग्नि को भी पवित्र माना गया है। इसकी साक्षी में ही वर-वधू विवाह बन्धन में बँधते हैं। विवाह के समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती है, उसको गृहस्थी सदैव अपने घर में जलाये रखते हैं। साथ ही वर-वधू के सुख एवं सम्पन्न जीवन के लिए अग्नि से कई प्रकार की प्रार्थना की जाती है।

इन तथ्यों से हिन्दू विवाह की धार्मिक प्रकृति स्वतः ही स्पष्ट है अतः यह कहा जा सकता है कि यह एक धार्मिक संस्कार है। इसे एक सामाजिक समझौता नहीं माना जा सकता। इतना अवश्य है कि आधुनिक कानून के रचयिताओं ने कुछ अंशों में इसे एक समझौता माना है, परन्तु न्यायालयों ने इसे एक संस्कार के रूप में स्वीकृति दी है। हिन्दू कानून से सम्बन्धित ग्रन्थों में बताया गया है कि सभी हिन्दुओं के लिए चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों विवाह एक आवश्यक संस्कार या धार्मिक कृत्य है।[1] हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 द्वारा यद्यपि स्त्री-पुरुषों को विवाह विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो चुका है तथापि विवाह को मात्र समझौता नहीं मानकर एक संस्कार के रूप में माना जाता है। पी. एच. प्रभु ने हिन्दू-विवाह की प्रकृति के सम्बन्ध में लिखा है- "हिन्दू के लिए विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध में जुड़ने वाले पक्षों का सम्बन्ध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।"[2]

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित नियम
(Rules Connected with Hindu Marriage)

विश्व के सभी समाजों में विवाह से सम्बन्धित कुछ न कुछ विधि निषेध अवश्य पाये जाते हैं। हिन्दू समाज में भी जीवन साथी के चुनाव को नियन्त्रित करने की दृष्टि से विवाह सम्बन्धी अनेक नियम पाये जाते हैं। हिन्दू समाज में अन्तर्विवाह व बहिर्विवाह के नियमों द्वारा जीवन साथियों

1 Maine's Treatise on Hindu Law and Usages (XI ed) p 136
2 P.H. Prabhu op. cit. p 173

के चुनाव को निर्देशित किया जाता है। यहाँ कुछ विवाहों के लिये विशेष आज्ञा प्रदान की जाती है तथा कुछ का निषेध किया जाता है। इस सम्बन्ध में डॉ. कापडिया ने लिखा है, "जीवन-साथी के चुनाव को सीमित करने के लिए हिन्दुओं में अन्तर्विवाह और बहिर्विवाह दोनों प्रकार के नियम हैं।"[1] यही बात स्पष्ट करते हुए प्रभु नामक विद्वान ने लिखा है, "हिन्दू- धर्मशास्त्र में जीवन-साथियों के चुनाव को नियन्त्रित करने की दृष्टि से हिन्दू विवाह को व्यवस्थित करने हेतु अन्तर्विवाह और बहिर्विवाह के कुछ नियम निर्धारित किये गये हैं।"[2] भारतवर्ष में हिन्दू विवाह से सम्बन्धित इन नियमों एवं मान्यताओं को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(1) अन्तर्विवाह, (2) बहिर्विवाह (3) अनुलोम विवाह, (4) प्रतिलोम विवाह।

1. अन्तर्विवाह (Endogamy)

धर्मशास्त्रों के अनुसार अन्तर्विवाह का तात्पर्य अपने ही वर्ण में विवाह करने से है, परन्तु प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियाँ एवं उपजातियाँ पाई जाती हैं। इसलिए अन्तर्विवाह वर्ण से सम्बन्धित न होकर जातियों एवं उपजातियों से सम्बन्धित है अर्थात् सभी लोग अपनी जाति या उपजाति में ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अन्य शब्दों में अन्तर्विवाह का तात्पर्य है-अपने ही समूह में विवाह करना। यह समूह विभिन्न व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हो सकता है। हिन्दुओं में जाति अन्तर्विवाह (Caste Endogamy) की प्रथा पाई जाती है अर्थात् सभी हिन्दू अपनी जाति में ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जाति का अर्थ वर्ण से नहीं समझना चाहिए क्योंकि एक ही वर्ण में अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ पाई जाती हैं जो अन्तर्विवाह की वास्तविक इकाइयाँ हैं। प्रोफेसर श्रीनिवास ने लिखा है "जाति से मेरा तात्पर्य यहाँ के अनुसार जातियों से नहीं है, परन्तु उपजातियों से है जो अन्तर्विवाह की वास्तविक इकाई हैं।"[3] वास्तव में हिन्दुओं में जाति केवल कुछ उपजातियों में नहीं बल्कि प्रत्येक उपजाति भी अनेक छोटे-छोटे समूहों में बँटी हुई है और ये छोटे-छोटे समूह ही विवाह की इकाई हैं। इस प्रकार जीवन साथी के चुनाव की दृष्टि से हिन्दू समाज असंख्य छोटे छोटे वैवाहिक समूहों में बँटा हुआ है।

वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय सब द्विजों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) का एक ही वैवाहिक समूह था अर्थात् इन तीन वर्णों के लोग आपस में विवाह कर सकते थे। इसका कारण यह था कि ये तीनों वर्ण (द्विज, इण्डो-आर्यन प्रजाति के ही थे और इनमें प्रजातीय तथा सांस्कृतिक दृष्टि से समानता थी। उस समय केवल शूद्र वर्ण ही एक पृथक् समूह माना जाता था। स्मृतिकाल में यद्यपि प्रारम्भ में अन्तर्वर्ण विवाहों की आज्ञा थी परन्तु जैसे-जैसे प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त होता गया, जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र भी सीमित होने लगा और लोग अपनी ही जाति में विवाह करने लगे। वर्तमान समय में साधारणतः व्यक्ति को अपनी ही प्रजाति जाति उपजाति, धर्म, क्षेत्र और सामाजिक वर्ग में विवाह स्थापित करने की आज्ञा दी जाती है। आज विवाह का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो चुका है।

---

1 K.M. Kapadia op cit p 117
2 P.H. Prabhu op cit p 154
3 M.N. Srinivas "Marriage and Family in Mysore p 22

अन्तर्विवाह के कारण (Causes of Endogamy)

अन्तर्विवाह के अनेक प्रजातीय और सांस्कृतिक कारण रहे हैं। भारत में समय-समय पर कई प्रजातीय समूह आए और उन्हें किसी न किसी वर्ण की सदस्यता प्राप्त हो गई। ऐसी दशा में प्रजातीय मिश्रण को रोकने के लिए अन्तर्वर्ण विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाए गए और अन्तर्विवाह की नीति अपनायी गई। लोग अपने ही समूह में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे, विशेषतः आर्य और द्रविड प्रजाति के बीच रक्त के मिश्रण को रोकने के लिए ऐसा किया गया। विभिन्न प्रजातियों में सांस्कृतिक दृष्टि से भी काफी भिन्नता पाई जाती थी। यह सांस्कृतिक विभिन्नता, विभिन्न वर्णों अथवा जातियों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों में कठिनाई पैदा करती थी। इस कारण, प्रत्येक व्यक्ति अपने समूह में ही विवाह करने लगा और अन्तर्विवाही समूह दृढ़ होने लगे। धीरे-धीरे कर्म के स्थान पर जन्म पर अधिक बल दिया जाने लगा। पहले कर्म के आधार पर व्यक्ति की श्रेष्ठता आँकी जाती थी। परन्तु बाद में कर्म का स्थान जन्म ने ले लिया और जन्म अर्थात् रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए अन्तर्विवाह पर अधिक जोर दिया गया। जैन और बौद्ध धर्म के विकास ने भी लोगों को अन्तर्विवाह की नीति अपनाने के लिए प्रेरित किया। इन धर्मों के प्रसार ने ब्राह्मणों की शक्ति को ठेस पहुँचाई उनकी शक्ति पहले से काफी कम हो गई परन्तु ज्योंही ये धर्म क्षीण होने लगे ब्राह्मणों ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में उन्होंने जाति से सम्बन्धित नियम और अधिक कठोर बना दिए और अन्तर्विवाह की नीति का दृढ़ता से पालन किया। मुसलमानों का आक्रमण हिन्दू समाज और धर्म के लिए घातक सिद्ध हुआ। मुसलमानों ने हिन्दुओं का केवल धर्म-परिवर्तन करने और उनकी संस्कृति को चोट पहुँचाने का प्रयास ही नहीं किया बल्कि हिन्दू लड़कियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न भी किया। परिणाम यह हुआ कि इस परिस्थिति से बचने के लिए जातीय प्रतिबन्ध और विशेषतः वैवाहिक प्रतिबन्ध अधिक कठोर होते गये।

धीरे-धीरे बाल विवाहों का प्रचलन भी बढ़ता गया। बहुत से स्मृतिकारों ने बाल-विवाहों के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किए। कम आयु में लड़के-लड़कियों का विवाह कर देना माता-पिता का धार्मिक कर्त्तव्य बताया गया। बाल विवाह में जीवन साथी के चुनाव में लड़के-लड़कियों की इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे विवाह माता-पिता के द्वारा निश्चित किए जाने लगे और वे जाति नियमों के विरुद्ध किसी अन्य जाति में अपनी सन्तानों का विवाह करने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। उपजातियों में क्षेत्रीय केन्द्रीयकरण ने भी अन्तर्विवाह की नीति को बढ़ावा दिया। लोग पृथक्-पृथक् भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते थे। आवागमन और संचार के साधनों के अभाव में पारस्परिक सम्पर्क सम्भव नहीं था, ऐसी दशा में उनमें वैवाहिक सम्बन्धों का होना असम्भव था। कालान्तर में इस प्रथा ने धार्मिक रूप धारण कर लिया और लोग अपने अपने क्षेत्र और समूह में भी विवाह करने लगे। अपने व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा के उद्देश्य से भी लोगों ने अपने ही जातीय अथवा उपजातीय समूह में विवाह करना उचित समझा। अपने व्यावसायिक ज्ञान अथवा रहस्यों को गुप्त रखने की इच्छा ने जाति-अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित किया। इन कारणों के अतिरिक्त अपने जातीय समूह के प्रति प्रेम तथा जातीय एकता एवं दृढ़ता को बनाए रखने की बलवती इच्छा ने भी जाति अन्तर्विवाह की ओर बढ़ने के लिए लोगों को प्रेरित किया।

जाति-अन्तर्विवाह के सिद्धान्त का हिन्दू समाज में कठोरता से पालन हो रहा है। अपनी जाति के बाहर विवाह करने वालों को अभी तक जाति से बहिष्कृत किया जाता रहा है। जाति अन्तर्विवाह ने सामाजिक प्रगति में बाधा पहुँचाई है और सामाजिक सम्पर्क के दायरे को अति संकीर्ण बनाए रखा है। वर्तमान में शिक्षा एवं पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की तीव्र प्रक्रिया, आवागमन और संचार साधनों के विकास तथा एकाकी (प्राथमिक) परिवारों की स्थापना के परिणामस्वरूप अन्तर्विवाह के नियम कमजोर पड़ते जा रहे हैं और लोगों का अन्तर्जातीय विवाहों की ओर झुकाव बढ़ता जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्जातीय विवाह की वैधानिक अड़चनों को अनेक अधिनियम बनाकर दूर किया जा चुका है, परन्तु व्यवहार रूप में ये अधिनियम जाति अन्तर्विवाह की प्रथा को बहुत कम प्रभावित कर पाए हैं।

2. बहिर्विवाह (Exogamy)

बहिर्विवाह एक ऐसा नियम है जिसके अनुसार व्यक्ति को अपने समूह के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध करना पड़ता है, उसे अपने समूह विशेष में विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जाती। ये समूह अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हो सकते हैं। हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियम के अनुसार व्यक्ति को अपनी ही जाति के कुछ विशेष समूहों जिनमें गोत्र, प्रवर और पिण्ड आते हैं के लोगों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं दी जाती। भारतवर्ष की जनजातियों में टोटम बहिर्विवाह का नियम पाया जाता है अर्थात् जिन लोगों का टोटम एक है वे आपस में विवाह नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि अपने समूह के बाहर विवाह करने का नियम ही बहिर्विवाह के नाम से पुकारा जाता है। इस नियम के अन्तर्गत कहीं-कहीं अपने क्षेत्र विशेष में विवाह करने पर भी प्रतिबन्ध पाए जाते हैं। भारतवर्ष में बहिर्विवाह के निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं—गोत्र बहिर्विवाह, सप्रवर बहिर्विवाह, सपिण्ड बहिर्विवाह और ग्राम बहिर्विवाह। कोई भी हिन्दू अपने गोत्र, पिण्ड और प्रवर में विवाह नहीं कर सकता, परन्तु इन नियमों की उत्पत्ति तथा वास्तविक धारणाओं के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बहिर्विवाह के विभिन्न स्वरूपों सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना यहाँ आवश्यक है—

(1) गोत्र बहिर्विवाह (Gotra Exogamy)

गोत्र बहिर्विवाह का तात्पर्य है अपने गोत्र के बाहर विवाह करना। हिन्दू समाज में सगोत्र विवाह वर्जित है अर्थात् व्यक्ति को अपने ही गोत्र के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं है। डॉ. अल्तेकर के अनुसार, "ईसा के 600 वर्ष पूर्व सगोत्र विवाह पर निषेध नहीं था।"[1] पुराणों में भी इस प्रकार के विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं पाया जाता। सगोत्र विवाह निषेध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि 'गोत्र' शब्द का अर्थ भली भाँति समझ लिया जाए। साधारणतः गोत्र का अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से लगाया जाता है जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि पूर्वज से हुई हो। विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियों की सन्तानों को गोत्र के नाम से पुकारा गया। धीरे-धीरे जनसंख्या के बढ़ने से गोत्रों की संख्या बढ़ती गई। परन्तु गोत्र का यह अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं है।

---

1 A S Altekar op cit p 73

'गोत्र' शब्द के मौलिक अर्थ के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बहुत कठिन है। ऋग्वेद में प्रयुक्त गोत्र शब्द के तीन-चार सम्भावित अर्थ लगाए गए हैं, जैसे-गौशाला, गायों का समूह, किला, पर्वत आदि। इन अर्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक घर या स्थान पर रहने वाले लोगों को एक गोत्र का सदस्य माना जाता होगा। गोत्र (गो+त्र) का शाब्दिक अर्थ गायों के पालने वाले समूह से या गायों के बाँधने के स्थान (गौशाला या बाड़ा) से है। इस अर्थ को दृष्टि से जिन लोगों की गायें एक ही स्थान पर बँधती थीं उनमें नैतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता था तथा उनमें आपस में विवाह नहीं होता था। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि वे आपस में रक्त सम्बन्धी हों, अपने को एक ही सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हों और इस कारण उन सबकी गायें एक ही स्थान पर बंधती हों। इस प्रकार अनेक गोत्रों का निर्माण हुआ और एक गोत्र के लोग नैतिक अथवा रक्त-सम्बन्ध के कारण एक-दूसरे को अपना भाई-बहिन या निकट के रिश्तेदार मानने लगे। परिणाम यह हुआ कि ऐसे लोगों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित हो गए। विज्ञानेश्वर ने गोत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि वंश-परम्परा में जो नाम प्रसिद्ध होता है, उसी को गोत्र कहते हैं। ये लोग आपस में विवाह-संबंध स्थापित नहीं कर सकते। इसी को गोत्र बहिर्विवाह का नियम कहा जाता है।

तथ्यों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ईसा के 600 वर्ष पूर्व तक भारत में सगोत्र विवाह सम्बन्धी निषेध नहीं पाये जाते थे। डॉ. कापडिया ने लिखा है, "मनु ने सगोत्र विवाह को गम्भीर अथवा लघु पाप नहीं माना।"[1] सम्भवतः मनु के समकालीन स्मृतिकारों द्वारा सगोत्र विवाहों को अनुचित बताया गया। सबसे पहले गृह्यसूत्र साहित्य में बताया गया कि कोई भी मनुष्य अपने गोत्र वाली कन्या से विवाह नहीं करेगा। बौधायन धर्म-सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि कोई अज्ञानवश भी सगोत्र लड़की से विवाह कर ले, तो ऐसी दशा में उसका पालन माता के समान किया जाना चाहिए। सामान्यतः ऐसे प्रतिबन्धों के लगाये जाने का मुख्य कारण रक्त सम्बन्धियों के बीच यौन-सम्बन्धों की आशंका को दूर करना ही था। विज्ञानेश्वर ने कहा है कि वास्तविक गोत्र केवल ब्राह्मणों के ही होते हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों पर ही आधारित होते हैं और शूद्रों के कोई गोत्र नहीं होते, परन्तु आज वास्तविकता यह है कि सभी जातियों के अपने-अपने गोत्र पाए जाते हैं और समान गोत्र वाले लोग आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। आज सगोत्र विवाह के प्रतिबन्ध कानून द्वारा समाप्त किये जा चुके हैं।

(2) सप्रवर बहिर्विवाह (Sapravar Exogamy)

गोत्र से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित एक अन्य अवधारणा- 'प्रवर' पाई जाती है। "वैदिक इण्डैक्स" में प्रवर का अर्थ 'आह्वान करना' है।[2] कापडिया के अनुसार, "प्रवर संस्कार अथवा ज्ञान के उस सम्प्रदाय की ओर संकेत करता है जिससे एक व्यक्ति सम्बन्धित होता है।"[3] 'प्रवर' कुछ व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो अपने आपको एक-दूसरे से आध्यात्मिक दृष्टि से सम्बन्धित मानता है न कि रक्त-सम्बन्ध की दृष्टि से। प्राचीन-काल में यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने श्रेष्ठ ऋषि-पूर्वजों का नामोच्चारण करता था। "यजमान" (यज्ञ करवाने वाला)

---

1 Manu did not likewise regard sagotra marriage a sin serious or minor."
- K.M. Kapadia op cit 127

2 Vedic Index II 39

3 "Pravara indicates a school of learning to which a person belonged."
- K.M Kapadia op cit 128

भी अपने पुरोहित से इन्हीं ऋषि-पूर्वजों से अपने को सम्बन्धित मानता था और जिन जिन लोगों के इस प्रकार के सामान्य ऋषि-पूर्वज थे वे अपने आपको एक-दूसरे से आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित मानने लगे। ऐसे व्यक्तियों का समूह 'प्रवर' कहलाने लगा और एक ही प्रवर के लोगों को आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं दी गई। इस प्रकार सगोत्र विवाह के निषेध के साथ-साथ सप्रवर विवाह के निषेध भी पाये जाने लगे। प्रभु ने कहा है कि "इण्डो आर्यन लोगों में अग्नि-पूजा अथवा हवन का प्रचलन था। हवन के लिए अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने प्रसिद्ध ऋषि-पूर्वजों का नामोच्चारण करता था। इस प्रकार, प्रवर के अन्तर्गत व्यक्तियों के उन पूर्वजों (ऋषियों) का समावेश होता है जिन्होंने पूर्वकाल में अग्नि का आह्वान किया था। धीरे-धीरे प्रवर की धारणा का सामाजिक महत्त्व स्पष्ट हुआ तथा इसको घरेलू और सामाजिक संस्कारों से सम्बद्ध कर दिया गया। इन संस्कारों में विवाह सबसे महत्त्वपूर्ण है और कुछ विद्वानों ने यह नियम बना दिया कि कोई भी व्यक्ति उस स्त्री से विवाह नहीं करेगा जो उसी के प्रवर के किन्हीं पूर्वजों से सम्बद्ध हो।"[1] स्पष्ट है कि प्रवर के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं जो सामान्य ऋषि-पूर्वजों से अपना संस्कारात्मक अथवा आध्यात्मिक सम्बन्ध मानते हैं और इस सम्बन्ध के कारण आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करते।

गोत्र के समान ही प्रवर की धारणा सर्वप्रथम ब्राह्मणों में ही पाई जाती थी। ब्राह्मण ही पुरोहित के रूप में यज्ञ करते समय अपने प्रमुख ऋषियों के नामों का उच्चारण करते थे और यज्ञ करने वाले यजमानों ने भी अपने पुरोहितों के ऋषि-पूर्वजों अर्थात् उनके प्रवरों को अपना लिया। ऐसे सब लोग जिनके प्रवर एक ही थे आपस में विवाह नहीं करते थे। विद्वानों की मान्यता है कि सप्रवर विवाहों पर धर्म-सूत्र काल या मनु के समय कोई कठोर प्रतिबन्ध नहीं थे। काणे का कथन है कि सप्रवर विवाह पर निषेध तीसरी शताब्दी से प्रारम्भ हुए और नवीं शताब्दी के बाद तो ऐसे विवाह को अक्षम्य अपराध समझा जाने लगा। वर्तमान में यज्ञों के प्रचलन और महत्त्व के बहुत कम हो जाने से प्रवर सम्बन्धी धारणा का अस्तित्व भी समाप्त-सा हो गया है। आज हिन्दू समाज में गोत्र-बर्हिविवाह के नियम का प्रचलन तो पाया जाता है परन्तु प्रवर बर्हिविवाह सम्बन्धी निषेधों में साधारणतः कोई विश्वास नहीं करता।

(3) सपिण्ड बर्हिविवाह (Sapinda Exogamy)

जहाँ सगोत्र एवं सप्रवर बर्हिविवाह के प्रतिबन्ध पितृपक्ष के सम्बन्धियों को आपस में विवाह करने की आज्ञा नहीं देते वहाँ सपिण्ड बर्हिविवाह के निषेध, मनु के अनुसार मातृ-पक्ष की लड़कियों के साथ भी वैवाहिक सम्बन्धों की आज्ञा नहीं देते। सपिण्ड का अर्थ है समान पिण्ड या देह वाला। वे सब व्यक्ति जिनमें एक ही सामान्य स्त्री पुरुष का रक्त हो सपिण्ड कहलाते हैं। हिन्दू-धर्मशास्त्रों के अनुसार सपिण्ड विवाह वर्जित हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने कहा है कि सपिण्ड का अर्थ है एक ही पिण्ड या देह रखने वाला। एक ही शरीर के अवयव होने के कारण सपिण्डता का सम्बन्ध होता है। पिता और पुत्र सपिण्ड हैं क्योंकि पिता के शरीर के अवयव पुत्र में आते हैं। इसी प्रकार दादा के शरीर के अवयव पिता द्वारा पोते में आने से वे सपिण्ड हैं। माता के शरीर का अंश पुत्र में आने से पुत्र का माता के साथ सपिण्डता होती है। इस तरह जहाँ जहाँ सपिण्ड शब्द का प्रयोग हो वहाँ एक शरीर के अवयवों का सम्बन्ध मान कर चलना चाहिए।

1 P.H. Prabhu: op. cit. p. 155

इस अर्थ के आधार पर स्पष्ट है कि सपिण्ड का सम्बन्ध मातृपक्ष की लडकियों के साथ-साथ पितृपक्ष की लडकियों से भी है। सपिण्ड बहिर्विवाह निषेध के अनुसार, उन लोगों में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकता जो एक-दूसरे के सपिण्ड हो लेकिन किन-किन लोगों का एक-दूसरे का सपिण्ड माना जाए, कितनी पीढियों तक के लोगों को सपिण्डता के आधार पर एक-दूसरे से विवाह करने से रोका जाय, इस सम्बन्ध मे काफी अस्पष्टता है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार सपिण्डता का सम्बन्ध पिता की ओर सात पीढियों तक तथा माता की ओर पॉच पीढियों तक माना जाता है और इसके अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों में आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।[1] जीमूतवाहन के अनुसार पिण्ड का अर्थ चावल या जौ के आटे के उन गोलों से है जो श्राद्ध के समय पितृत्वों को अर्पित किये जाते हैं। इस विचारधारा के अनुसार, वे समस्त व्यक्ति, जो एक ही पूर्वज को चावल या जौ के गोले अर्पित करने के अधिकारी हैं, एक-दूसरे के सपिण्ड हैं और इसलिए उनकी सन्तानों में आपस में विवाह नहीं हो सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सपिण्ड के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जिनमे निकट रक्त-सम्बन्ध पाया जाता है। किस पीढी तक के रक्त सम्बन्धी सपिण्ड कहलायेंगे, यह स्थान एवं काल की प्रचलित प्रथाओं तथा कानूनों पर आधारित होगा। सूत्रकार वशिष्ठ के अनुसार पिता की ओर सातवीं तथा माता की ओर पॉचवी पीढी और गौतम के अनुसार पिता की ओर आठवीं एव माता की ओर से छठी पीढी तक के सदस्यों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता।

सपिण्ड बहिर्विवाह के नियम का पालन हिन्दू समाज में सार्वभौम रूप से नहीं हुआ है। महाभारत-काल में इस विषय में कोई कठोर नियम नहीं थे। कुमारिल भट्ट ने बताया है कि श्रीकृष्ण ने अपने मामा की लडकी रुक्मणी तथा अर्जुन ने अपने मामा की लडकी सुभद्रा से विवाह किया था। श्रीकृष्ण ने सत्यभामा से भी विवाह किया था जो उनके पिता की ओर से पॉचवी पीढी में थी। कर्नाटक तथा मैसूर के ब्राह्मणों में बहिन की लडकी तथा दक्षिण भारत में मामा की लडकी से विवाह करने की प्रथा आज भी प्रचलित है। ऐसे विवाहों को ममेरे फुफेरे भाई-बहिनों के विवाह कहते हैं लेकिन महाभारत काल के बाद सपिण्ड विवाह केवल अपवाद के रूप मे रह गये और अधिकतर हिन्दू सपिण्ड बहिर्विवाह के नियम का आज भी पालन करते हैं। यहाँ तक कि "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955" ने भी सपिण्ड बहिर्विवाह के नियम को मान्यता प्रदान की है। इस अधिनियम में हिन्दुओं में वैध विवाह की एक आवश्यक शर्त के रूप मे बताया गया है कि विवाह करने वाले दोनों पक्षों में से कोई भी एक-दूसरे का सपिण्ड न हो (पिता के ऊपर की ओर से पॉच पीढियों के और माता के ऊपर की ओर तीन पीढियों के सम्बन्धी)। साथ ही यह भी कथन है कि यदि उनके समूह की प्रथा सपिण्ड विवाह की आज्ञा प्रदान करती है तो ऐसा विवाह भी वैध माना जाएगा।

(4) ग्राम या खेड़ा बहिर्विवाह (Village Exogamy)

हिन्दू समाज मे बहिर्विवाह के इन तीन स्वरूपों के अतिरिक्त उत्तरी भारत में कहीं कहीं ग्राम या खेडा बहिर्विवाह का नियम भी पाया जाता है। इसके अनुसार, व्यक्ति का विवाह उसी के ग्राम मे न होकर अन्य किसी भी ग्राम मे हो सकता है। गॉव मे जनसख्या सीमित होती है वहाँ एक जाति के लोग साधारणत. एक ही कौटुम्बिक समूह से सम्बन्धित होते हैं। यदि वहाँ जातीय समूह इससे

---

1 Maine's Treatise on Hindu Law and Usages (1950) pp 146 47

कुछ विस्तृत हैं तो अधिकतर उसमें समान गोत्र के लोग ही पाए जाते हैं। परिणाम यह होता है कि निकट के रिश्तेदारों में तथा सपिण्डों में वैवाहिक सम्बन्ध की सम्भावना को समाप्त करने के लिए कुछ लोग गाँव के बाहर विवाह करना आवश्यक समझते हैं। कहीं-कहीं जनजातियों में बहिर्विवाह के ऐसे नियम को ग्राम बहिर्विवाह भी कहते हैं।

(5) टोटम बहिर्विवाह (Totem Exogamy)

भारतीय जनजातियों में टोटम बहिर्विवाह के नियम का प्रचलन भी पाया जाता है। एक सामान्य टोटम (जो अक्सर पशु-पक्षी, पेड़, पौधा आदि होता है) में विश्वास करने वाले और उससे अपने आपको सम्बन्धित मानने वाले लोग आपस में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं कर सकते। अपने टोटम के अतिरिक्त अन्य टोटम के लोगों के साथ ही वे विवाह कर सकते हैं।

बहिर्विवाह के उद्देश्य (Aims of Exogamy)— बहिर्विवाह सम्बन्धी उपर्युक्त निषेधों का प्रमुख उद्देश्य भाई और बहिन, माता और पुत्र एवं पिता और पुत्री के बीच यौन सम्बन्ध को रोकना है। ये प्रतिषिद्ध यौन सम्बन्धी निषेध या निषिद्ध निकटाभिगमन (Incest Taboo) कहलाते हैं। इस सम्बन्ध में काणे ने लिखा है, "निषेध दो कारणों से है। प्रथम, अगर निकट सम्बन्धी विवाह करते हैं तो उनके दोष उनकी सन्तान को अधिक मात्रा में प्राप्त हो जाएंगे और द्वितीय, निकट सम्बन्धियों में विवाह होने से उनमें प्रेम व्यवहार पनपने का भय रहेगा, फलतः नैतिक पतन की सम्भावना रहेगी।"[1] करीब-करीब सभी समाजों में निकट रिश्तेदारों को परस्पर विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जाती। इसका मुख्य कारण यह है कि रक्त के आधार पर सम्बन्धित स्त्री-पुरुषों को विवाह बन्धन में बँधने की आज्ञा देने से उनकी सन्तान को उनके बुरे या अवांछनीय लक्षणों की दुगुनी खुराक मिल जाएगी और उनमें कई शारीरिक अथवा मानसिक दोष आ जाएंगे। कोई भी समाज निकट रक्त सम्बन्धियों को आपस में विवाह की आज्ञा देकर इस प्रकार का खतरा नहीं लेना चाहता।

बहिर्विवाह से लाभ (Merits of Exogamy)— बहिर्विवाह का नियम अनेक दृष्टिकोणों से लाभप्रद रहा है : (1) प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से इस नियम के पालन से स्वस्थ, बुद्धिमान और उत्तम सन्तान के जन्म की सम्भावना अधिक रहती है। इसका कारण यह है कि निकट रक्त सम्बन्धियों में विवाह नहीं होने से सन्तान में दोष नहीं आ पाएंगे और प्रत्येक पीढ़ी को नवीन जीवकोषु प्राप्त होते रहेंगे जो उत्तम संतान की दृष्टि से लाभप्रद है। (2) बहिर्विवाह नियम के कारण विभिन्न समूहों के लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है, उनमें सांस्कृतिक एकता, प्रेम और एकता में वृद्धि होती है। (3) निकट सम्बन्धियों को एक दूसरे के साथ विवाह-सम्बन्ध की आज्ञा नहीं देने से समूह में शुद्ध वातावरण बना रहता है। इसके विपरीत यदि ऐसे विवाहों की आज्ञा प्रदान कर दी जाए तो पारिवारिक क्षेत्र में ईर्ष्या, द्वेष, अशोभनीय प्रेम और अनाचार की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी। (4) बहिर्विवाह के कारण एक पीढ़ी को अपने दोषों से मुक्त होने का अवसर प्राप्त हो जाता है। पी. वी. काणे ने लिखा है, "बहिर्विवाह के द्वारा एक पीढ़ी को अपने दोष दूर करने का अवसर मिल जाता है, क्योंकि इसके द्वारा रक्त के संयोग हमेशा नवीन रूप ग्रहण करते रहते हैं।"[2] समनर तथा कैलर ने भी लिखा है, "अन्तर्विवाह रूढ़िवादी है जबकि बहिर्विवाह प्रगतिवादी।"[3] स्पष्ट है कि बहिर्विवाह समाज के लिए उपयोगी है।

---

1. P. V. Kane, Gotra and Pravara in Vedic Literature, p. 283.
2. Ibid, pp. 283-84.
3. "Endogamy is conservative while exogamy is progressive."
   — Sumner and Keller, The Science of Society, Vol. II.

बहिर्विवाह से हानियाँ (Demerits of Exogamy)— बहिर्विवाह सम्बन्धी निषेधों के कारण सामाजिक दृष्टि से कुछ हानियाँ भी होती हैं जो ये हैं-(1) इन निषेधों के कारण जीवन-साथी चुनने में कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि वर-वधू के चुनाव का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। अनेक योग्य लड़के-लड़कियों को छोड़ना पड़ता है क्योंकि हिन्दुओं में पिता की सात और माता की पाँच पीढ़ियों तक विवाह वर्जित है। (2) जीवन-साथी के चुनाव क्षेत्र के संकुचित होने से योग्य लड़कों की कमी रहती है और ऐसी दशा में लड़के वाले कन्या पक्ष से अधिक दहेज की माँग करते हैं। बहिर्विवाह सम्बन्धी इतने अधिक निषेधों के पाये जाने के कारण ही हिन्दू समाज की उच्च जातियों में दहेज जैसी भयंकर समस्या पाई जाती है। (3) बहिर्विवाह सम्बन्धी नियमों के कारण जहाँ दहेज प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है वहाँ साथ ही बहुत से गरीब माता पिता को अपनी लड़कियों का विवाह वृद्धों के साथ करना पड़ता है फलस्वरूप बेमेल विवाह बढ़ते हैं जिनसे विधवा समस्या उत्पन्न होती है। इस प्रकार के निषेध अनेक सामाजिक कुरीतियों के लिए उत्तरदायी बने हुए हैं।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह
(Anuloma and Pratiloma Marriages)

यद्यपि हिन्दू समाज में अन्तर्विवाह को मान्यता दी जाती रही है तथापि अनुलोम और प्रतिलोम के नियम द्वारा अपने वर्ण जाति अथवा उपजाति के बाहर स्थापित किये जाने वाले वैवाहिक सम्बन्धों को भी स्वीकृति प्रदान की जाती रही है। विवाह के इन दो प्रकारों के विषय में लिखा जा रहा है—

3. अनुलोम विवाह (Anuloma Marriage-Hypergamy)

जब निम्न वर्ण जाति उपजाति अथवा कुल की लड़की का विवाह उसी के समान अथवा **उससे** उच्च वर्ण जाति, उपजाति या कुल में किया जाय तो ऐसे विवाहों को अनुलोम विवाह कहते **हैं**। ऐसे विवाह में एक पुरुष अपने स्वयं के वर्ण अथवा जाति या अपने से नीचे वाले **वर्ण** अथवा जाति की लड़की के साथ विवाह कर सकता है परन्तु स्वयं अपनी लड़की का विवाह अपने से नीची जाति या वर्ण वाले व्यक्ति के साथ नहीं कर सकता। इस प्रकार के विवाह में साधारणत स्त्री की तुलना में पुरुष का वर्ण अथवा जाति उच्च होती है। जब एक ब्राह्मण लड़के का विवाह क्षत्रिय वैश्य या शूद्र लड़की से होता है तो इसे अनुलोम विवाह कहते हैं। मनु ने अनुलोम विवाहों को मान्यता अवश्य प्रदान की है, परन्तु अपने वर्ण की लड़की से विवाह करना ही उत्तम बताया है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि ब्राह्मण चार विवाह कर सकता है—एक विवाह अपने वर्ण की लड़की से और एक-एक शेष तीन वर्णों की लड़कियों से। क्षत्रिय तीन विवाह कर सकता है— एक अपने वर्ण की लड़की से और एक-एक वैश्य और शूद्र वर्ण की लड़कियों से वैश्य दो विवाह कर सकता है—एक अपने वर्ण की से और एक शूद्र की लड़की से तथा शूद्र केवल एक विवाह अपने ही वर्ण की लड़की से कर सकता है।[1] कुछ विद्वानों की यह मान्यता रही है कि द्विजों को शूद्रों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए। महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मण तीन वर्ण की कन्या से, क्षत्रिय दो वर्ण की कन्या से तथा वैश्य अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करे, उनसे जो सन्तति होती है वह हितकारी होती है।[2]

1 याज्ञवल्क्य स्मृति, 37

2 महाभारत अनुशासन पर्व, 44

यद्यपि प्राचीन काल में भारत में अन्तर-वर्ण विवाह होते थे तथापि सवर्ण विवाह श्रेष्ठ माने जाते थे और शूद्र वर्ण की स्त्री के साथ विवाह निकृष्ट माना जाता था। वैदिक काल में अनुलोम विवाह का क्षेत्र काफी व्यापक था। इस काल में अनुलोम नियम के अन्तर्गत व्यक्ति का विवाह अपने ही वर्ण अथवा अपने से निम्न वर्ण की लड़की के साथ होता था। रिजले के अनुसार प्रारम्भ में अनुलोम (अन्तर-वर्ण) का प्रचलन इण्डो आर्यन प्रजाति में स्त्रियों की कमी को पूरा करने के लिए हुआ और जैसे ही उच्च वर्णों को अपनी आवश्यकतानुसार लड़कियाँ प्राप्त हो गईं, उन्होंने ऐसे विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाना प्रारम्भ कर दिया। जैन और बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् चारों वर्ण हजारों जातियों और उप-जातियों में बँट गए। धार्मिक पवित्रता और रक्त की शुद्धता को महत्त्व दिया जाने लगा और इसी आधार पर विभिन्न जातियों और उपजातियों को एक-दूसरे से ऊँचा अथवा नीचा माना जाने लगा। यहाँ जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र पहले की तुलना में सीमित हो गया। अब अनुलोम विवाह ने कुलीन विवाह का रूप धारण कर लिया। एक ही जाति की विभिन्न उपजातियों में ऊँच-नीच का संस्तरण पनपने लगा। माता-पिता अपनी लड़की का विवाह अपनी अथवा अपने से उच्च उपजाति या उच्च सामाजिक स्थिति वाले कुल में करने लगे। सजातीय कुलीन विवाहों की उत्पत्ति का मुख्य कारण एक ही जाति में विभिन्न सामाजिक स्थिति वाले समूहों का पाया जाना है। सामाजिक स्थिति के अन्तर के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे प्रजातीय श्रेष्ठता, राजनीतिक प्रभुता, राजवंश से सम्पर्क और क्षेत्रीय-श्रेष्ठता (Territorial Supremacy) आदि। डॉ. कापड़िया का यह कथन उपयुक्त है कि अनुलोम प्रतिबन्धित अन्तर्विवाह है।[1] अनुलोम विवाह का नियम कई बार किसी जाति को अनेक ऐसे उपसमूहों में विभाजित कर देता है जो अन्तर्विवाह की इकाई होते हुए भी आपस में विवाह नहीं कर पाते। उदाहरण के रूप में मान लीजिए कि एक जाति में पाँच उप-समूह या उपजातियाँ अ ब,स द य पाई जाती हैं जिनमें सामाजिक स्थिति की दृष्टि से उतार-चढ़ाव की प्रणाली है। संस्तरण की इस प्रणाली में अ समूह की स्थिति श्रेष्ठ है और ब स द य समूहों की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से क्रमशः निम्न है। अन्तर्विवाह के नियम के अनुसार ये सारे समूह एक ही जाति से सम्बन्धित होने के कारण आपस में विवाह कर सकते हैं परन्तु अनुलोम के सिद्धान्त के कारण ये सब समान रूप से आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार भारत में अनुलोम विवाहों का प्रचलन सम्भवतः दसवीं शताब्दी तक रहा।[2] इसके पश्चात् ऐसे विवाह प्रायः समाप्त हो गये। बंगाल में अवश्य कुलीन विवाह होते रहे हैं। वहाँ राढ़ी (Rarhi) ब्राह्मणों में चार समूह पाये जाते हैं—कुलीन, सिद्ध-श्रोत्रिय, साध्य-श्रोत्रिय तथा काष्ठ-श्रोत्रिय। डॉ. कापड़िया ने कहा है कि साध्य श्रोत्रिय तथा काष्ठ श्रोत्रिय अन्तर्विवाही समूह हैं जबकि अन्य दो अनुलोम विवाही समूह हैं। कुलीन पहले तीन समूहों में और सिद्ध श्रोत्रिय दूसरे और तीसरे समूह में विवाह करते हैं। जातीय संस्तरण (Caste Hierarchy) की दृष्टि से इन सामाजिक समूहों के प्रतिष्ठित हो जाने से बहुपत्नीत्व की प्रथा बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में न केवल स्थिर हो गई बल्कि उसने इतना भद्दा विस्तार ग्रहण किया कि कई लोगों को तो उसके वर्णन पर कठिनता से विश्वास होता है। वर्तमान में अनुलोम-नियम केवल एक सिद्धान्त के रूप में है। आज करीब-करीब सभी लोग अपनी-अपनी उपजाति में ही विवाह करते हैं।

1 Hypergamy is arrested endogamy K.M. Kapadia, op.cit. 112

2 S. Radha Krishnan, Religion and Society p. 173

अनुलोम विवाह के प्रभाव : हानियाँ
(Effects of Anuloma Marriage : Demerits)

अनुलोम विवाहों के अनेक सामाजिक दुष्परिणाम हुए हैं जिनमें से मुख्य हैं- (1) ऐसे विवाहों से स्त्री की स्थिति गिरी है। ऐसे विवाहों में लड़कियों का कोई महत्त्व नहीं रहता तथा उनके साथ विवाह करना उच्च कुल या समूह या उपजाति के लड़कों की कृपा पर निर्भर करता है। लड़के वाले लड़की का महत्त्व न देकर दहेज को महत्ता देते हैं और परिणाम स्वरूप लड़की के परिवार वालों को आर्थिक दृष्टि से शोषण होता है। (2) अनुलोम विवाह प्रथा के कारण प्रत्येक व्यक्ति साधारणतः अपनी लड़की का विवाह ऊँचे-से ऊँचे कुल में करना चाहता है और इसका परिणाम यह होता है कि ऊँचे कुलों में लड़कों की माँग बढ़ जाती है। ऐसे लड़कों के लिए उनके माता-पिता भारी दहेज की माँग करते हैं और इस प्रकार वर मूल्य प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है। (3) ऊँचे कुलों या समूहों में लड़कों की कमी और उनसे विवाह करने वाली लड़कियों की अधिकता के कारण बहु-पत्नी विवाह प्रथा प्रचलित होती है। बंगाल में बहु-पत्नी विवाह का एक मुख्य कारण अनुलोम नियम रहा है। (4) अनुलोम विवाहों के कारण ऊँचे कुल या समूह में लड़कों की कमी होने तथा वर मूल्य प्रथा की अधिकता के कारण प्रत्येक माता-पिता अपनी लड़की का विवाह शीघ्र से शीघ्र करने का प्रयत्न करते हैं और इस कारण बाल-विवाह अधिक प्रचलित होते हैं। (5) अपने से उच्च कुल अथवा समूह में अपनी लड़की का विवाह करने के इच्छुक माता-पिता जब दहेज की भारी रकम नहीं जुटा पाते तो उन्हें विवश होकर उच्च कुल के वृद्ध व्यक्ति के साथ अपनी लड़की का विवाह करना पड़ता है। परिणामतः बेमेल विवाह बढ़ते हैं। (6) बाल-विवाह, बहु-पत्नी विवाह और बेमेल विवाह का परिणाम यह होता है कि विधवाओं की संख्या बढ़ती जाती है। (7) अनुलोम विवाह लिंगों के अनुपात में असमानता के लिए उत्तरदायी है। उच्च कुलों या समूहों के लड़कों के लिए लड़कियों की अधिकता रहती है और निम्न कुलों अथवा समूहों के लिए लड़कियों की कमी। परिणाम यह होता है कि उच्च समूह में कुछ लड़कियाँ और निम्न समूह में कुछ लड़के अविवाहित रह जाते हैं। निम्न कुल या समूह के लोग भी अपने से उच्च स्थिति वाले कुल या समूह के लड़के के साथ अपनी लड़की का विवाह करना चाहते हैं। ऐसी दशा में निम्न कुलों या समूहों में कन्या-मूल्य का प्रचलन होता है। (8) साथ ही उच्च कुलों में लड़कों की कमी के कारण लड़कियों का विवाह काफी समय तक नहीं हो पाता और कुछ लड़कियों को अविवाहित तक रहना पड़ता है। ऐसी दशा में उनके चारित्रिक पतन की भी सम्भावना रहती है। (9) ऐसे विवाहों ने समाज में रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन तथा व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। इस प्रकार के विवाहों ने जीवन साथी के चुनाव में अनेक कठिनाइयाँ पैदा की हैं।

4. प्रतिलोम विवाह (Pratiloma Marriage : Hypogamy)

प्रतिलोम विवाह का तात्पर्य है उच्च कुल, जाति अथवा वर्ण की लड़की का निम्न कुल या वर्ण के लड़के से विवाह। डॉ. कापड़िया ने लिखा है "एक निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता था और इसकी घोर निन्दा होती थी।"[1] ऐसे विवाह

1. Ibid., p. 107.

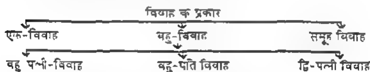
म लड़की का कुल, जाति या वर्ण लड़के से उच्च होता है। ब्राह्मण लड़की का क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र लड़के से विवाह प्रतिलोम विवाह के अन्तर्गत आता है। ऐसे विवाहों के बाद स्त्री की स्थिति निम्न हो जाती है और पुरुष की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसे विवाह अवैध माने गए हैं और स्मृतिकारों ने इनकी घोर निन्दा की है। विशेष रूप से ब्राह्मण लड़की का शूद्र पुरुष के साथ विवाह को अति निकृष्ट बताया गया है। हिन्दू समाज में कुछ मात्रा में प्रतिलोम विवाह सदैव प्रचलित रहे हैं परन्तु ऐसे विवाहों को अनुचित समझा जाता था और इनसे उत्पन्न संतान को चाण्डाल की श्रेणी में रखा जाता था। हिन्दू समाज में 1949 के 'हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम' के बनने से अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही प्रकार के विवाहों को वैध मान लिया गया है।

विवाह के भेद
(Types of Marriage)

हिन्दू विवाह के जिन स्वरूपों का इस अध्याय में पहले वर्णन किया जा चुका है, वे जीवन-साथी प्राप्त करने की रीति अथवा पद्धति पर आधारित हैं। यहाँ पति-पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के सार्वभौमिक प्रकारों का हिन्दू विवाह के सन्दर्भ में वर्णन किया जा रहा है। ये प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. एक-विवाह (Monogamy)
2. बहु-विवाह (Polygamy)
   (क) बहु पत्नी विवाह (Polygyny)
   (ख) बहु-पति विवाह (Polyandry)
   (ग) द्विपत्नी विवाह (Bigamy)
3. समूह विवाह (Group Marriage)

विवाह के इन प्रकारों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है–



एक विवाह (Monogamy)

एक विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक स्त्री का विवाह एक समय में एक ही पुरुष के साथ किया जाए। युकनापिक ने कहा है कि उस विवाह को एक विवाह कहना चाहिए जिसमें न केवल एक पुरुष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक ही पति हो बल्कि दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष अन्य विवाह न करे परन्तु यह एक आदर्श नीति है। साधारणतः स्त्री पर तो पति की मृत्यु के बाद पुनः विवाह न करने का नियन्त्रण लगा दिया जाता है परन्तु पुरुष स्वयं दूसरा विवाह कर लेता है। वास्तव में एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं करना ही एक विवाह कहलाता है।

विवाह की यही प्रथा सबसे उत्तम मानी जाती है। इसका कारण यह है कि विश्व में स्त्री पुरुष का अनुपात करीब-करीब समान है। यदि एक विवाह के स्थान पर बहु पति विवाह या बहु पत्नी विवाह को अपनाया जाए तो परिणाम यह होगा कि अनेक स्त्रियाँ अथवा पुरुषों को

अविवाहित रह जाने की सम्भावना रहेगी। दूसरा कारण है कि यदि एक विवाह के स्थान पर बहु-पति या बहु-पत्नी विवाह हो तो उनसे उत्पन्न सन्तान की सुरक्षा एवं लालन-पालन की व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं हो सकेगी। ये दोनों कारण ही विश्व के अधिकांश भागों में एक विवाह प्रथा के प्रचलन के लिए उत्तरदायी हैं। वर्तमान समय में एक-विवाह ही विवाह का आदर्श रूप समझा जाता है।

हिन्दू समाज में एक-विवाह का आदर्श ही प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद में एक-विवाह को ही श्रेष्ठ माना गया है। स्वयं वैदिक देवता एक-विवाही ही रहे हैं। दम्पत्ति शब्द का प्रयोग भी घर के दो संयुक्त स्वामियों अर्थात् एक पत्नी और एक पति को ही व्यक्त करता है, इसमें तीसरे व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। धर्मशास्त्रों में यही बताया गया है कि पुरुष को पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए और एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह अथवा अनैतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करने चाहिए। विभिन्न धार्मिक संस्कार पूर्ण करने के लिए भी एक ही पत्नी को आवश्यक माना गया है। पत्नी के लिए पातिव्रत्य धर्म का पालन और अपने सतीत्व की रक्षा करना आवश्यक बताया गया है।

हिन्दू विवाह के प्रमुख उद्देश्यों के रूप में 'धर्म' को महत्त्व दिया गया है। धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन और परिवार की निरन्तरता के लिए पुत्र प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक मानी गई है। पुत्र नहीं होने की स्थिति में जहाँ पुरुष को दूसरी पत्नी प्राप्त करने की छूट दी गई है, वहाँ स्त्री को 'नियोग' द्वारा पुत्र-सन्तान प्राप्त करने की आज्ञा दी गई है। मनु ने कहा है कि यदि पत्नी से आठ वर्ष की अवधि में कोई सन्तान पैदा नहीं हो तो पुरुष को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। नियोग प्रथा के अनुसार स्त्री को पति के नपुंसक या भयंकर रोग से पीड़ित होने की अवस्था में अपने देवर, किसी अन्य सम्बन्धी, सगोत्र, सपिण्ड अथवा उच्च वर्ण के व्यक्ति के साथ यौनिक सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा प्राप्त थी। इसी प्रकार सन्तान-हीन विधवा को भी नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने की आज्ञा थी। बौधायन धर्म-सूत्र में विधवा को तो नियोग का अधिकार दिया ही गया है, साथ ही यह भी बताया है कि पति के जीवित होते हुए भी उसके नपुंसक या व्याधि पीड़ित होने पर पत्नी अपने पति, गुरु आदि की आज्ञा से उनके द्वारा नियत व्यक्ति से नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकती है।

कौटिल्य ने किसी सम्बन्धी अथवा सगोत्र पुरुष को और विष्णु ने सपिण्ड अर्थात् सातवीं पीढ़ी तक के सम्बन्धी या उत्तम वर्ण वाले व्यक्ति को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार दिया है। केवल पुत्र-सन्तान की प्राप्ति के लिए ही इस प्रथा का प्रचलन हुआ था। किसी प्रकार की काम-वासना की पूर्ति के लिए इस प्रथा का दुरुपयोग न हो, इसलिए शास्त्रकारों ने नियोग द्वारा सन्तान उत्पत्ति के सम्बन्ध में कठोर नियम बनाए। मनु ने कहा है कि "नियोग के उद्देश्य के पूर्ण होने के पश्चात् पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे के प्रति एक पिता और एक पुत्र-वधू के समान व्यवहार करना पड़ता था। इसके विपरीत आचरण करने वाले गुरु-पत्नीगामी या पुत्र-वधूगामी होने के अपराधी समझे जाते थे। जब नियोग सम्बन्धी कठोर नियमों के उपरान्त भी अनैतिकता का प्रसार होने लगा, तो कलियुग में इस प्रथा को निषिद्ध माना गया। हिन्दू समाज में अपवाद के रूप में ही नियोग की आज्ञा दी गई और साधारण परिस्थितियों में एक विवाह के आदर्श को ही प्रस्तुत किया गया है।

बहु-विवाह (Polygamy)

जब एक पुरुष या स्त्री का एक से अधिक स्त्रियों या पुरुषों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहा जाता है। बहु-विवाह के ये रूप हैं–बहुपत्नी विवाह, बहुपति विवाह और द्विपत्नी विवाह।

(क) बहुपत्नी विवाह (Polygyny)

बहुपत्नी विवाह बहु विवाह का एक रूप है। बहु-पत्नी विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक पुरुष का एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह होता है। ऐसे विवाह में एक पुरुष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं। भारतवर्ष में बहु-पत्नी विवाह वैदिक काल से ही चल आ रहे हैं। यद्यपि यहाँ मुख्यत एक-विवाह को ही प्रधानता दी जाती है तथापि बहु पत्नी विवाह भी प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। दत्तरी ने लिखा है, "इन विशेषताओं में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि साधारणत एक-विवाह का प्रचलन था तथापि मनुष्य एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था।" कापड़िया का कथन भी ऐसा ही है "भारतवर्ष में यह प्रतिमान वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित रहा है।"

याज्ञवल्क्य ने बताया है कि ब्राह्मण प्रत्येक वर्ण की एक-एक स्त्री से अर्थात् कुल चार स्त्रियों से, क्षत्रिय तीन से, वैश्य दो से और शूद्र एक से विवाह कर सकता है। कहा जाता है कि स्वयं मनु के दस पत्नियाँ थीं और याज्ञवल्क्य के दो। यह प्रथा साधारण लोगों में अधिक प्रचलित नहीं थी। मुख्य रूप से धनी, जमींदार एवं राजा लोग ही एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह किया करते थे। डॉ. ए.एस. अल्तेकर ने लिखा है कि "बहुपत्नी विवाह धनी, शासक एवं अभिजात वर्ग के लोगों में सामान्य थे।"[1]

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से बहु-पत्नी विवाह को शास्त्रों ने मान्यता प्रदान की है तथापि एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध थे। प्रभु नामक विद्वान ने लिखा है "यद्यपि बहु पत्नी विवाह सैद्धान्तिक रूप से मान्य था तथापि उसे प्राय एक अपवाद के रूप में ही देखा जाता था।"[2] इस सम्बन्ध में डॉ. आर.एन. सक्सेना का कथन है "उत्तर वैदिक काल में धर्मशास्त्र लेखकों ने सिद्धान्तत बहुपत्नीत्व को स्वीकृत किया लेकिन वे हमेशा ही इसे अपवाद ही मानते रहे। आपस्तम्ब, मनु और कौटिल्य ने बहुपत्नीत्व के सिद्धान्त को मानते हुए भी एक-विवाह के आदर्श को ही सर्वोपरि रखा। अतएव बहुपत्नीत्व को उत्तरवैदिक काल की साधारण प्रथा नहीं माना जा सकता यद्यपि वैदिक साहित्य में इस प्रथा का उल्लेख है और अनेक वैदिक विभूतियों ने एक से अधिक स्त्रियों से विवाह किए।"[3]

बड़े भाई की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी से विवाह करने की प्रथा ने हिन्दू समाज में बहुपत्नीत्व को प्रोत्साहन दिया। निम्न जातियों में इस प्रथा का प्रचलन आज भी पाया जाता है जो बहुपत्नीत्व के लिए उत्तरदायी है। एक स्त्री के सन्तानहीन होने की स्थिति में दूसरी स्त्री से विवाह की आज्ञा दे गई है। अनुलोम विवाह ने भी बहु-पत्नी विवाह प्रथा के प्रचलन में योग दिया है। बंगाल में कुलीनता को अधिक महत्त्व दिया जाता था और इस कारण वहाँ बहुपत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित

1. A.S. Altekar, op. cit. p. 104
2. P.H. Prabhu, op. cit. 154
3. डॉ. आर.एन. सक्सेना, पूर्वोक्त, पृष्ठ 33

हुई। दक्षिण भारत में मालाबार तट पर रहने वाले नम्बूद्री ब्राह्मणों में भी इसी प्रकार बहुपत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन हुआ। उन लोगों में अपनी जाति में विवाह करने का अधिकार केवल बड़े भाई का ही माना जाता और अन्य छोटे भाइयों को अपने से निम्न अर्थात् नायर और क्षत्रिय कन्याओं से विवाह करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में नम्बूद्री ब्राह्मणों में विवाह योग्य लड़कों की कमी और लड़कियों की अधिकता के कारण बहुपत्नी विवाह प्रथा प्रचलित हुई। एक-विवाह के सामान्य आदर्श और बहुपत्नी विवाह पर अनेक प्रतिबन्ध होते हुए भी स्मृति युग के पश्चात् बहु-पत्नी विवाह की संख्या हिन्दू समाज में बढ़ती गई।

बहु-पत्नी विवाह के कारण (Causes of Polygyny)

1. **पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से**—हिन्दू विवाह का मुख्य आधार धार्मिक कृत्यों की पूर्ति रहा है और इन धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए पुत्र होना आवश्यक है। पुत्र ही माता पिता की मृत्यु के पश्चात् उनका पिण्डदान और तर्पण द्वारा उद्धार करता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने पहली पत्नी से पुत्र उत्पन्न नहीं होने पर दूसरे विवाह की आज्ञा दी है।

2. **आर्थिक आवश्यकता**—पहाड़ी जातियों में आर्थिक कठिनाइयों के कारण बहुपत्नी विवाह प्रचलित है। हिमालय की पर्वतमालाओं में निवास करने वाली पहाड़ी जातियों का आर्थिक आवश्यकता के कारण बहुपत्नी विवाह प्रथा को अपनाना पड़ता है। उनके खेत छोटे-छोटे तथा अलग अलग स्थानों पर होते हैं। एक किसान स्वयं सभी टुकड़ों पर खेती नहीं कर सकता और नौकरों की सहायता से खेती करवाना आर्थिक दृष्टि से न तो लाभप्रद है और न ही विश्वास योग्य। उन्हें अपने खेतों की देख भाल तथा सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए पत्नी से अच्छा अन्य कोई व्यक्ति नहीं मिल सकता। ये पत्नियाँ अलग-अलग स्थानों पर रहती हुई किसान की खेती तथा पशुओं की ठीक से देख-भाल करती हैं

3. **पत्नियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक**—मध्यकालीन युग में अधिक पत्नियाँ रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का चिन्ह था। जिस व्यक्ति के जितनी अधिक पत्नियाँ होती समाज में उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उतनी ही अधिक होती। इसी कारण उस काल में धनी, जमींदार तथा राजा महाराजा लोग एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करते थे।

4. **कुलीन विवाह**—कुलीन विवाह के कारण भी बहुपत्नी विवाह प्रचलित हुए। लड़की का विवाह अपने से ऊँचे कुल में करने की इच्छा के कारण उच्च-परिवारों में विवाह योग्य लड़कों की संख्या कम रहती और उन परिवारों में अपनी लड़कियों का विवाह करने वाले लोगों की संख्या अधिक। इस कारण ऊँचे कुल के लड़कों का विवाह कई कन्याओं के साथ कर दिया जाता। बंगाल में कुलीन ब्राह्मण कई कन्याओं से विवाह कर लेता था। इस प्रकार कुलीन विवाह प्रचलन ने बहुपत्नी विवाह को काफी प्रोत्साहन दिया।

5. **स्त्रियों का पुरुषों से अधिक होना**—जिस समूह में पति होने योग्य पुरुषों की संख्या कम और पत्नी होने योग्य स्त्रियों की संख्या अधिक होती है उस समूह में बहुपत्नी प्रथा अपने-आप चल पड़ती है।

बहुपत्नी विवाह प्रथा के कारण कामी पुरुषों को अपने परिवार के दायरे में ही अपनी यौन इच्छाओं को पूर्ण करने का अवसर मिल जाता है और परिणामतः यौन व्यभिचार नहीं पनप पाता। बहुपत्नी विवाह प्रथा स्त्री की दयनीय दशा के लिए उत्तरदायी रहा है। एक विवाह ने उसकी स्थिति

गिराई है। एक से अधिक पत्नियों के होने पर पारिवारिक वातावरण के कलुषित होने की सम्भावना रहती है, वहाँ यदाकदा ईर्ष्या-द्वेष, मन-मुटाव तथा लडाई-झगडे पाये जाते हैं। अधिक पत्नियाँ और अधिक सन्तान कई बार परिवार पर आर्थिक बोझ बन जाते हैं और ऐसी दशा में रहन-सहन का स्तर गिर जाता है और बालकों का पालन पोषण ठीक प्रकार से नहीं हो पाता।

वर्तमान में हिन्दू समाज में बहुपत्नी विवाह प्रथा कानून द्वारा अवैध घोषित की जा चुकी है। 1955 में पारित हिन्दू विवाह अधिनियम के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एक वैध हिन्दू विवाह के लिए यह आवश्यक है कि विवाह के समय किसी का भी जीवन साथी अर्थात् पति या पत्नी जीवित न हो। इस अधिनियम द्वारा एक विवाह का आदर्श (Monogamy) ही प्रस्तुत किया गया है। आज की बदलती हुई परिस्थितियों में साधारणतः लोग बहुपत्नी विवाह उचित नहीं समझते।

(ख) बहुपति विवाह (Polyandry)

बहु विवाह का एक अन्य रूप बहुपति विवाह है। बहुपति विवाह का तात्पर्य एक समय में एक स्त्री का एक से अधिक पतियों का होना है। डॉ. कापडिया ने बहुपति विवाह का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "बहुपति विवाह एक प्रकार का सम्बन्ध है जिससे एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं, या जिसमें सब भाई एक पत्नी या पत्नियों का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।"[1] मिचेल ने कहा है कि "एक स्त्री का एक पति के जीवित होते हुए अन्य पुरुषों से भी विवाह करना या एक समय पर ही दो या दो से अधिक पुरुषों से विवाह करना बहुपति विवाह है।"[2] स्पष्ट है कि बहुपति विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करती है। कई बार एक स्त्री से विवाह करने वाले ये पुरुष एक-दूसरे के भाई होते हैं और कभी-कभी विवाह करने वाले इन पुरुषों में आपस में कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। मातृसत्तात्मक व्यवस्था वाले समाजों में स्त्री स्वयं अपने पतियों का चुनाव करती है और निश्चित अवधि के लिए प्रत्येक पति के पास बारी-बारी से रहती है।

भारतवर्ष में यद्यपि बहुपति विवाह प्रथा पाई जाती है, परन्तु बहुत ही सीमित मात्रा में। डॉ. अल्तेकर के अनुसार, "हिन्दू समाज वास्तव में बहु-पति विवाह प्रथा से अपरिचित रहा है।"[3] वैदिक साहित्य में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार बहुपत्नी विवाह कानूनी दृष्टि से मान्य है और बहुपति विवाह अमान्य। स्मृतियों में विवाह सम्बन्धी नियमों पर विचार किया गया है और उनमें कहीं भी बहुपति विवाह की सम्भावना नहीं बताई गई है। हिन्दू धर्म शास्त्रों में स्त्री का परम कर्तव्य यह बताया गया है कि वह एक पुरुष अर्थात् अपने पति के प्रति ही एक निष्ठ रहकर अपने पतिव्रत धर्म का निभाए। महाभारत और कुछ पुराणों में बहुपति विवाह के थोडे से उदाहरण अवश्य मिलते हैं लेकिन ये वास्तव में अपवाद के रूप में ही हैं। ऐसे उदाहरणों में द्रौपदी का पाँच पाण्डव भाइयों के साथ विवाह आता है। डॉ. कापडिया ने लिखा है कि "द्रौपदी के प्रसिद्ध उदाहरण से जिसके

---

1 Polyandry is a form of union in which a woman has more than one husband at a time or in which brothers share a wife or wives in common." K.M. Kapadia op. cit. p. 52

2 G.D. Michell Dictionary of Sociology p. 134

3 A.S. Altekar op. cit. p. 112

पाँच पाण्डव पति थे तथा वैदिक पौराणिक कथाओं में बहु-पतित्व के कुछ अस्पष्ट संकेतों से यह मान लिया जाता है कि यह किसी समय ब्राह्मण संस्कृति का लक्षण था। यह निष्कर्ष भ्रान्ति-मूलक है। द्रौपदी का उदाहरण इसका स्पष्ट प्रमाण प्रतीत नहीं होता है जबकि साधारणतः ऐसा मान लेते हैं।"[1] महाभारत काल में भी बहुपति विवाह का प्रचलन नहीं था और न ही ऐसे विवाह को अच्छा माना जाता था। उत्तर के खस राजपूतों, मालाबार के नायरों और कुर्ग-निवासियों में बहु-पतित्व की प्रथा पाई जाती रही है और ये सांस्कृतिक समूह हिन्दू सामाजिक परिधि में आते हैं। बहुपति विवाह प्रथा उत्तरी भारत के देहरादून जिले के जौनसार-बावर परगना एवं टिहरी राज्य के खाई तथा जौनपुर परगनों में पाई जाती है। इन क्षेत्रों में जब सबसे बड़ा भाई विवाह करता है तो इस प्रथा के अनुसार उसकी पत्नी उसके सभी छोटे भाइयों की पत्नी हो जाती है। जौनसार-बावर निवासी खस राजपूतों में बहुपतित्व द्रौपदी-प्रथा के रूप में पाया जाता है। यहाँ एक ही माँ से उत्पन्न सगे भाई एक या एक से अधिक स्त्रियों से सम्मिलित रूप से विवाह करते हैं और वह स्त्री या स्त्रियाँ उन भाइयों की सामान्य पत्नी-पत्नियों के रूप में रहती हैं। परन्तु इस प्रकार के विवाह में स्त्रियों पर आधिपत्य सबसे बड़े भाई का ही रहता है। द्रौपदी विवाह की परम्परा के अनुसार यदि कोई छोटा भाई अपनी इच्छानुसार किसी लड़की से विवाह करना चाहे तो ऐसी दशा में उसका बड़ा भाई उससे विवाह कर लेता है और फिर उसे अपने छोटे भाई को सौंप देता है। खस लोगों में बहुपति विवाह प्रथा के अन्तर्गत स्त्री सम्पत्ति के रूप में जानी जाती है। बहुपति विवाह प्रथा को जन्म देने वाले कारक प्रमुखतः निम्नलिखित हैं–

1. पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या का कम होना (Less number of women than men)— वेस्टरमार्क ने इस प्रथा के पाये जाने का मुख्य कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या का कम होना बताया है। प्रत्येक पुरुष में यौन इच्छा पाई जाती है। स्त्रियों के कम होने के कारण एक स्त्री के साथ एक से अधिक पुरुष यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। नीलगिरी के टोडा जनजाति में इस विवाह प्रथा के पाये जाने का यही मुख्य कारण है। यहाँ बालिका वध की भयंकर प्रथा प्रचलित थी। धीरे-धीरे वहाँ स्त्रियों की संख्या कम होने लगी और ऐसी परिस्थिति में वहाँ एक स्त्री के एक से अधिक पति होने लगे।

2. दरिद्रता (Poverty)— समनर, कनिंघम और डॉ. आर. एन. सक्सेना ने दरिद्रता या गरीबी को बहुपति विवाह का मूल कारण माना है। समनर ने तिब्बत के उदाहरण से स्पष्ट किया है कि वहाँ पैदावार के बहुत कम होने से एक व्यक्ति के लिए परिवार का भरण-पोषण करना सम्भव नहीं होता। बहुत अधिक गरीबी के कारण एक व्यक्ति परिवार का खर्च नहीं चला पाता, इसलिए बहुत से पुरुष मिलकर एक पत्नी रखते हैं। देहरादून जिले के जौनसार-बावर प्रदेश में इस विवाह प्रथा के पाये जाने का मुख्य कारण डॉ. आर.एन. सक्सेना ने शुष्क प्रदेश तथा जीवन संघर्ष की कठोरता बताया है।

3. जनसंख्या को मर्यादित रखने की इच्छा (Desire to keep population limited)— कई बार जनसंख्या के अधिक बढ़ जाने और लोगों की आर्थिक स्थिति में गिरावट के कारण बहुपति विवाह की प्रथा चल पड़ती है। इस प्रथा के परिणामस्वरूप बच्चे कम उत्पन्न होते हैं और जनसंख्या मर्यादित रहती है।

---

1 K.M. Kapadia op cit p 58

बहुपति विवाह के प्रकार
(Types of Polyandry)

बहुपति विवाह प्रथा के दो मुख्य प्रकार हैं– 1 भ्रातृक बहुपति विवाह एवं 2 अभ्रातक बहुपति विवाह।

1. भ्रातृक बहुपति विवाह (Fraternal Polyandry)

भारत के अनेक भागों में यह प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार एक स्त्री के जितने भी पति होते हैं, वे आपस में भाई होते हैं, सबसे बड़ा भाई एक स्त्री से विवाह करता है और उसके सभी छोटे भाइयों का उस पर पत्नी के रूप में अधिकार होता है। यह प्रथा उत्तरी भारत में लद्दाख, देहरादून जिले के जौनसर-बावर प्रदेश, टिहरी राज्य के खाई और जौनपुर परगनों में पाई जाती है। पंजाब के पहाड़ी हिस्सों, कांगड़ा जिले के स्पीती और लाहौल परगनों में भी यह प्रथा प्रचलित है। दक्षिण भारत में मालाबार के नायरों में भी यही विवाह प्रथा पाई जाती है।

2. अभ्रातृक बहुपति विवाह (Non-Fraternal Polyandry)

इस प्रथा के अनुसार एक स्त्री के जितने पति होते हैं, वे आपस में भाई नहीं होते। एक स्त्री का कई पुरुषों के साथ विवाह हो जाता है और स्त्री बारी-बारी से समान अवधि तक प्रत्येक पति के घर रहती है। अभ्रातृक बहुपति विवाह प्रथा भारत में नीलगिरी के टोडा लोगों में पाई जाती है। अब 1955 के 'हिन्दू विवाह अधिनियम' के अनुसार कोई भी हिन्दू पहली पत्नी अथवा पति के जीवित होते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता है। डॉ. सक्सेना के अनुसार, "भारत में बहुपतित्व का एक मुख्य उपयोगी पहलू रहा है। सम्मिलित परिवार भारत की विरासत रही है और विभिन्न परिस्थितियों में बहुपतित्व संयुक्त परिवार को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक रहा है. यही कारण है कि सम्मिलित परिवार के परिवर्तन के साथ-साथ बहुपतित्व विघटित हो रहा है।"[1]

(ग) द्वि-पत्नी विवाह (Bigamy)

जब एक पुरुष एक साथ दो पत्नियाँ रखता है तो विवाह को द्वि-पत्नी विवाह या युग्म विवाह कहते हैं साधारणतः पहली पत्नी के अस्वस्थ रहने की स्थिति में दूसरे विवाह की आज्ञा प्रदान की जाती है। आरेगन जनजाति तथा एस्किमो लोगों में भी द्वि-पत्नी विवाह का प्रचलन पाया जाता है। हिन्दू धर्म शास्त्रों में पहली पत्नी से सन्तान नहीं होने की दशा में दूसरे विवाह को उचित माना गया है। वर्तमान समय में कानून द्वारा ऐसे विवाहों को अमान्य घोषित किया जा चुका है।

समूह विवाह (Group Marriage)

जब लड़कों के एक समूह का विवाह लड़कियों के किसी समूह से होता है और सब परस्पर एक दूसरे के पति पत्नी होते हैं तो ऐसे विवाह को समूह विवाह कहते हैं। इसमें किसी पुरुष का किसी एक स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता। सभी स्त्रियाँ सभी पुरुषों की सामूहिक पत्नियाँ होती हैं। वेस्टरमार्क का कथन है कि समूह विवाह तिब्बत, भारत तथा श्रीलंका के बहुपतित्व प्रथा वाले लोगों में पाया जाता है। यह विवाह प्रथा बहुविवाह का ही एक रूप प्रतीत होती है। समूह विवाह किन्हीं वन्य जातियों में भी पहले पाये जाते थे। वर्तमान में ऐसे विवाहों का

1 डॉ. आर.एन. सक्सेना पूर्वोक्त पृष्ठ 40

असभ्य एवं अशोभनीय माना जाता है। ससार में किसी भी समाज में विवाह का यह प्रकार अधिक प्रचलित नही है। डॉ. आर.एन. सक्सेना ने कहा है कि "बहुपतित्व की प्रथा का परिणाम यह हुआ कि वर्तमान समय में यदि परिवार की आर्थिक स्थिति ठीक है तो छोटे भाइयों के लिए स्त्रियों का अलग प्रबन्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जहाँ किसी भाई का किसी स्त्री पर विशेषाधिकार नही है वहा बहुपतित्व ने समूह-विवाह का रूप ले लिया है और जहाँ वर्तमान सुधार आन्दोलन के प्रभाव के कारण प्रत्येक भाई की एक अलग स्त्री होती है वहाँ एक विवाह अस्तित्व में आ रहा है।"[1]

प्रश्न

1. "हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
2. हिन्दू विवाह के प्रमुख स्वरूपों का वर्णन कीजिए।
3. हिन्दू विवाह के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।
4. हिन्दू समाज में विवाह को नियन्त्रित करने वाले विभिन्न प्रतिबन्धों का उल्लेख कीजिए।
5. बहिर्विवाह तथा अन्तर्विवाह का अन्तर बताइये। हिन्दू बहिर्विवाह के प्रमुख आधार क्या हैं?
6. हिन्दू विवाह के आदर्शों का वर्णन कीजिए तथा इसके प्रमुख स्वीकृत प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
7. हिन्दू विवाह के महत्त्व की एक संस्कार के रूप में विवेचना कीजिए।
8. हिन्दू विवाह के प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कीजिए। इसे आप संस्कार किस प्रकार कहेंगे?
9. हिन्दुओं में विवाह के सामाजिक एव धार्मिक महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
10. "आधुनिक हिन्दू विवाह एक सामाजिक समझौता है, न कि एक पवित्र बन्धन।" आलोचनात्मक ढग से स्पष्टीकरण कीजिए।
11. हिन्दू विवाह के क्या उद्देश्य हैं? वर्तमान सामाजिक-सास्कृतिक परिवर्तनों ने इन्हें कितना प्रभावित किया है?
12. 'अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह' पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
13. गोत्र और प्रवर का भेद समझाइये।
14. हिन्दुओं में बहु-पत्नी विवाह अथवा बहु-पति विवाह पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

❑❑❑

16

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित समस्याएँ
(Problems Related to Hindu Marriage)

हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। कापडिया के अनुसार, "हिन्दू विवाह एक संस्कार है। इसको पवित्र माना जाता है क्योंकि पवित्र मन्त्रों सहित धार्मिक-कृत्यों के करने पर ही इसे पूर्ण माना जाता है।"[1] यही बात व्यक्त करते हुए अंग्रेज विद्वान मेन ने लिखा है, "समस्त हिन्दुओं के लिए, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, विवाह एक आवश्यक संस्कार या धार्मिक कृत्य है।"[2] स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। इसका धर्म और जाति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। विवाह सामाजिक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार है क्योंकि इसके माध्यम से ही परिवार की सृष्टि होती है और परिवार समाज की प्राथमिक एवं मौलिक इकाई है। परिवार और समाज की आधार-शिला विवाह संस्था है, जो प्राचीन काल में परम पुनीत मानी जाती थी। उस समय विवाह से सम्बन्धित कोई समस्या उपस्थित नहीं थी। परन्तु आज समय बदल चुका है, अनेक आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन हो चुके हैं। बदली हुई परिस्थितियों का लोगों के दृष्टिकोणों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। जिस गति से हिन्दू समाज के विविध पक्षों में परिवर्तन हुए हैं, उस गति से हिन्दू विवाह संस्था में नहीं हुए। आज भी हिन्दू विवाह संस्था अनेक रूढ़िगत धारणाओं, प्रथाओं एवं परम्पराओं से जकड़ी हुई है। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज से सम्बन्धित अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गईं जो हिन्दू जीवन और समाज को अपने कुप्रभाव से कलुषित करती जा रही हैं। समकालीन भारत में विवाह से सम्बन्धित प्रमुख समस्याएँ ये हैं - (1) दहेज प्रथा, (2) बाल-विवाह, (3) विधवा-विवाह, (4) अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध, एवं (5) विवाह-विच्छेद। यहाँ हम प्रथम तीन समस्याओं पर विचार करेंगे, अन्तिम दो समस्याओं की विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी।

दहेज-प्रथा
(Dowry System)

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित समस्याओं में दहेज प्रथा एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है। इस प्रथा के कारण अधिकांश हिन्दू माता-पिता के लिए लड़कियों का विवाह एक अभिशाप बन गया है। इस समस्या का समाजशास्त्रीय अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतः दहेज उस धन अथवा सम्पत्ति को कहते हैं जो विवाह के समय कन्या-पक्ष द्वारा वर-पक्ष को दी जाती है। ब्राह्म विवाह (जो हिन्दुओं के विवाह प्रकारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है) में लड़की का पिता उसके विवाह के अवसर पर जो वस्त्र, आभूषण तथा अन्य वस्तुएँ वर-पक्ष को देता है, दहेज के रूप में मानी

1 "Hindu Marriage is a sacrament. It is considered sacred because it is said to be complete only on the performance of the sacred rites accompanied by the sacred formulae."
- K.M. Kapadia, op. cit. p. 163

2 Maine, "Treatise on Hindu Law and Usages."

जाती है। फयरचाइल्ड ने लिखा है कि दहेज वह धन या सम्पत्ति है जो विवाह के अवसर पर लडकी के माता-पिता या अन्य निकट सम्बन्धियों द्वारा दी जाती है। मेक्स रेडिन का कथन है, "साधारणत: दहेज वह सम्पत्ति है जो एक पुरुष विवाह के समय अपनी पत्नी या उसके परिवार से प्राप्त करता है।"[1]

कानूनी दृष्टिकोण से दहेज उस सम्पत्ति या मूल्यवान वस्तुओं को मानते हैं जिसे विवाह की एक शर्त के रूप में विवाह के पूर्व, विवाह के समय अथवा विवाह के बाद में एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को देना आवश्यक होता है। दहेज निरोधक बिल के प्रस्तुत होने पर लोकसभा ने 1960 में दहेज की परिभाषा इस प्रकार से की: "दहेज का अर्थ कोई ऐसी सम्पत्ति या मूल्यवान निधि है, जिसे (1) विवाह करने वाले दोनों पक्षों में से एक पक्ष ने दूसरे पक्ष को अथवा (2) विवाह में भाग लेने वाले दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष के माता-पिता या किसी अन्य व्यक्ति ने किसी दूसरे पक्ष अथवा उसके किसी व्यक्ति को विवाह के समय, विवाह के पहले या विवाह के बाद विवाह की आवश्यक शर्त के रूप में दी हो अथवा देना स्वीकार किया हो।" दहेज की इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए लोकसभा में यह भी स्वीकार किया गया कि "विवाह में उपहार या भेंट के रूप में दी जाने वाली वस्तुओं को तब तक दहेज नहीं माना जाएगा जब तक ये वस्तुयें विवाह की अनिवार्य शर्त के रूप में नहीं हों।" लोकसभा द्वारा प्रस्तुत दहेज की इस परिभाषा के अन्तर्गत 'वर-मूल्य और कन्या-मूल्य' दोनों ही प्रथायें आ जाती हैं।

चार्ल्स विनिक ने दहेज का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "वे बहुमूल्य वस्तुयें जो किसी भी पक्ष के सम्बन्धी विवाह के लिए प्रदान करें।"[2] इस परिभाषा के अनुसार भी दहेज के अन्तर्गत वर-मूल्य और कन्या-मूल्य प्रथा दोनों ही आ जाती हैं, लेकिन साधारणत: लोग दहेज के इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते। कन्या-पक्ष की ओर से जो धन या सम्पत्ति वर पक्ष को दी जाती है, उसे सामान्यत: दहेज और वर-पक्ष की ओर से कन्या-पक्ष को जो धन दिया जाता है, उसे कन्या-मूल्य कहते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दहेज-प्रथा और वर-मूल्य प्रथा को कुछ लोगों ने भिन्न माना है। उनका मत है कि सामान्य रीति-रिवाजों के अनुसार लडकी का पिता अपनी इच्छा से जो कुछ वर-पक्ष को देता है, वह दहेज है और इसके अतिरिक्त वर-पक्ष की माँग के अनुसार जो कुछ दिया जाता है, वह वर-मूल्य है। वास्तव में देखा जाए तो दहेज-प्रथा और वर-मूल्य प्रथा में केवल अंशों का अन्तर है। वर्तमान समय में दहेज प्रथा के एक गम्भीर सामाजिक समस्या के रूप में पाए जाने का कारण यही है कि वर-पक्ष के लोग विवाह हेतु बहुत अधिक धन या सम्पत्ति की माँग करते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि दहेज वह धन या सम्पत्ति है जो लडकी का पिता उसके विवाह के समय रीति-रिवाजों के अनुसार या वर पक्ष की माँग के अनुसार देता है, साधारणत: दहेज शब्द का अर्थ अधिकतर प्रचलित है। वर्तमान में दहेज का प्रचलन अधिकांशत: वर-मूल्य के रूप में विवाह की आवश्यक शर्त के रूप में पाया जाता है। दहेज-प्रथा की समस्या का सम्बन्ध कन्या-पक्ष से ही है। लडकी एवं उसके माता-पिता के लिए आज दहेज एक गम्भीर समस्या के रूप में है जिसका निराकरण अत्यन्त आवश्यक है।

1 Max Radin Encyclopaedia of Social Sciences Dowry Vol V p 230
2 "Valuables that the relatives of either party to a marriage contribute to the marriage" - Charles Winick "Dictionary of Anthropology" p 174

प्राचीन समाजों में दहेज-प्रथा नहीं पाई जाती थी। प्रारम्भिक समय में हिन्दुओं में भी दहेज-प्रथा का प्रचलन नहीं था। केवल धनी परिवारों एवं राजघरानों में ही विवाह के अवसर पर कुछ वस्तुएँ भेंट के रूप में वर को दी जाती थी। द्रौपदी, सुभद्रा और उत्तरा के विवाह में हाथी, घोड़े तथा जवाहरात भेंट के रूप में दिए गए थे। विवाह के अवसर पर पवित्र स्नेह के कारण स्वेच्छा से दी गई इन वस्तुओं को दहेज नहीं कहा जा सकता। स्मृतियों में दहेज-प्रथा का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। वास्तव में दहेज-प्रथा का प्रचलन मध्यकाल में हुआ और विशेष रूप से राजपूताना के धनी और राजपूत परिवारों में। इन घरानों में तेरहवी-चौदहवी शताब्दी से दहेज एक समस्या का रूप ग्रहण करता जा रहा था, परन्तु साधारण परिवारों में दहेज की रकम बहुत कम होती थी और इसे कन्या-पक्ष वाले स्नेह-वश देते थे। यह विवाह की एक आवश्यक शर्त नहीं थी। 19वीं शताब्दी के मध्य तक यही स्थिति रही। दहेज की रकम पिछले 70-75 वर्षों से बहुत अधिक बढ़ गई और आज इस प्रथा का प्रचलन सारे देश में हो चुका है। आज ऐसे लड़कों को माता-पिता अपनी लड़कियों के वर के रूप में चुनना चाहते हैं जो उच्च शिक्षा प्राप्त हों, अच्छी नौकरियों में लगे हों अथवा जिन्होंने किसी व्यवसाय में विशेष योग्यता प्राप्त की हो। ऐसी दशा में स्वाभाविक रूप से ऐसे लडकों की विवाह के बाजार में माँग बढ जाती है और परिणामस्वरूप वर-पक्ष वाले अधिक दहेज की माँग करते हैं। वर्तमान में शिक्षा और सामाजिक चेतना के बढने पर भी दहेज की प्रथा आश्चर्यजनक रूप में बढती जा रही है। यह एक संक्रामक रोग के रूप में वीभत्स रूप धारण करती जा रही है। आज अधिकाशतः दहेज की रकम का निर्धारण विवाह की अनिवार्य शर्त सा बन गया है। सिद्धात रूप में दहेज का विरोध करने वाले भी अवसर आने पर इसको अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करना चाहते हैं। डॉ. अल्तेकर ने लिखा है, "हिन्दू समाज के लिए यह उचित समय है कि वह दहेज की दूषित प्रथा को, जिसने अनेक अबोध कन्याओं को आत्महत्या के लिए प्रेरित किया है, समाप्त कर दे।"[1]

दहेज प्रथा के कारण
(Causes of Dowry System)

भारत में अनेक ऐसे कारण या तत्त्व रहे हैं जिन्होंने दहेज-प्रथा के विकास में और इसको बनाये रखने में योग दिया है। ये निम्नलिखित हैं–

1. अन्तर्वर्ण विवाहों पर रोक– अन्तर्वर्ण विवाहों के समाप्त होने और प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियों एवं उपजातियों के बन जाने से जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया तथा लडकियों के लिए योग्य वर चुनने की समस्या गम्भीर हो गई। इस कारण वर-पक्ष वाले अधिक दहेज की माँग करने लगे और यह प्रथा बढती ही गई।

2. कुलीन विवाह प्रथा– हिन्दुओं में कुलीनता की धारणा पाई जाती है जिसने कुलीन विवाहों को प्रोत्साहित किया है। इस प्रथा के अनुसार, प्रत्येक हिन्दू अपनी लडकी का विवाह अपने से उच्च कुल में करना चाहता है। इस कारण उच्च या कुलीन परिवारों में लडकों की कमी रहती है और ऐसी दशा में वर-पक्ष वाले अधिक से अधिक दहेज की माँग करते हैं। कन्या-पक्ष को योग्य वर प्राप्त करने के लिए विवश होकर अधिक दहेज देना पडता है।

1 A S Altekar op cit. p 71

3. बाल विवाह — बाल-विवाहों के प्रचलन के कारण लड़के-लड़कियों को अपना जीवन-साथी चुनने का अवसर नहीं था, फलतः वर-पक्ष वाले इस स्थिति का लाभ उठाने लगे और अधिक दहेज की माँग करने लगे।

4. हिन्दू लड़कियों के लिए विवाह [illegible] किन्तु लड़कियों के लिए विवाह एक धार्मिक [illegible] है। विवाह की इसी अनिवार्यता से लाभ उठाकर वर-पक्ष वाले अधिक से अधिक दहेज की माँग करते हैं जो लड़की वालों को बाध्य होकर देना पड़ता है। काली, कानी, अपनी कुरूप, विकलांग या किसी अन्य शारीरिक अथवा मानसिक दोष वाली लड़की के विवाह के लिए मुआवजे के रूप में भी दहेज की भारी रकम देने के लिए कन्या-पक्ष को विवश होना पड़ता है।

5. उच्च शिक्षा एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के कारण — वर्तमान समय में उच्च शिक्षा एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का महत्त्व बढ़ गया है। उच्च शिक्षा प्राप्त और किसी अच्छे व्यवसाय या नौकरी में लगे हुए लड़के की सामाजिक और आर्थिक स्थिति ऊँची हो जाती है। इस कारण ऐसे लड़कों का मूल्य [illegible] बाजार में बढ़ जाता है और उनके लिए अधिक दहेज की माँग की जाती है।

6. धन का महत्त्व— आधुनिक समाजों में धन का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। धन के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा निश्चित होती है। धनी लोग अधिक दहेज देकर अपनी लड़कियों के लिए उनमें से अच्छे वरों का चुन लेते हैं। प्रत्येक पिता अपनी लड़की के लिए योग्य वर चुनना चाहता है और योग्य वरों की प्रतिस्पर्धा के कारण मूल्य बढ़ जाता है। इसलिए कन्या-पक्ष को विवश होकर अपना सामर्थ्य से अधिक दहेज देना पड़ता है।

7. महँगी शिक्षा— लड़कों को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए माता-पिता को काफी रुपया खर्च करना पड़ता है। कई बार तो उन्हें इस कार्य हेतु कर्ज भी लेना पड़ता है। इस कर्ज को चुकाने के लिए अथवा अपने द्वारा लड़के की शिक्षा पर खर्च की गई भारी रकम के मुआवजे के रूप में लोग अधिक दहेज की माँग करते हैं।

8. प्रदर्शन एवं झूठी प्रतिष्ठा की इच्छा— आजकल लोगों में दिखावे या प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। अपनी जाति या उपजाति में तथा अपने सम्बन्धियों, मित्रों एवं साथियों की दृष्टि में अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा दिखाने की इच्छा या झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर लोग अधिक दहेज लेने और देने में अपनी शान समझते हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ लोगों का यह व्यवहार अन्य लोगों के लिए दहेज के रूप में एक समस्या बन जाता है।

9. गतिशीलता में वृद्धि— वर्तमान समय में यातायात के साधनों में काफी वृद्धि हुई है और नगरीकरण तथा औद्योगीकरण बढ़ा है। इसके परिणामस्वरूप व्यावसायिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है। एक ही जाति या उपजाति के लोग व्यवसाय हेतु देश के विभिन्न भागों में फैल गए हैं नौकरी करने के लिए लोग सैकड़ों हजारों मील दूर चले गए हैं। ऐसी दशा में अपनी जाति या उपजाति के योग्य वर ढूँढ लेना कठिन हो गया है और इस परिस्थिति ने दहेज-प्रथा को प्रोत्साहित किया है।

10. दहेज सामाजिक प्रथा के रूप में — धीरे-धीरे दहेज का प्रचलन समाज में एक शक्तिशाली प्रथा के रूप में हो गया और लोग तदनुसार व्यवहार करने लगे। आज लड़की के माता-

पिता को बाध्य होकर अपनी सामर्थ्य से अधिक दहेज देना पड़ता है अन्यथा उन्हें योग्य वर नहीं मिल पाते हैं। वर्तमान समय में दहेज एक चक्र-सा बन गया है जिसका कहीं अन्त नहीं है। जो लोग अपनी लड़की के विवाह के समय दहेज का विरोध करते हैं, वे ही अपने लड़के के विवाह के समय दहेज की मांग करते हैं। अपनी लड़कियों एवं बहनों के लिए जब दहेज देना पड़ता है तो अपने लड़कों व भाइयों के लिए दहेज लेते भी हैं। इस प्रकार, दहेज का एक प्रथा के रूप में प्रचलन बना रहता है।

दहेज-प्रथा के दुष्परिणाम
(Evil Effects of Dowry System)

दहेज-प्रथा ने समाज का बहुत अधिक अहित किया है। इसी प्रथा के कारण बहुत-सी स्त्रियों का जीवन नरक बन गया है। इस प्रथा के दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं—

1. बालिका-वध— दहेज प्रथा के कारण इस देश में पहले कन्या शिशु-हत्याएँ (बालिका वध) भी होती थीं। दहेज से बचने के लिए कुछ माता-पिता लड़की के जन्मते ही उसे मार डालते थे। राजस्थान में बालिका-वध का प्रचलन विशेष रूप से था जिसे कानून द्वारा रोका गया। आजकल शिशु-हत्या की प्रथा समाप्त प्राय हो चुकी है।

2. **पारिवारिक विघटन**— दहेज प्रथा मुख्य रूप से पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न कर देती है। जो वधू अपने साथ अधिक दहेज नहीं लाती, उसके साथ ससुराल में दुर्व्यवहार किया जाता है। उसकी सास तथा ननदें उसे ताने देती रहती हैं और उसे अपमानित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। कम दहेज लाने वाली वधू को कई बार बहुत अधिक कष्ट दिया जाता है। ऐसी स्थिति में परिवार का वातावरण दूषित तथा पारिवारिक संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। कई बार ऐसे परिवार में दो परिवारों में तनाव तथा शत्रुता तक की नौबत आ जाती है। परिणाम यह होता है कि पति पत्नी सुखी वैवाहिक जीवन नहीं बिता पाते हैं।

3. **आत्महत्या**— दहेज के कारण अनेक आत्महत्याएँ होती हैं। जिन लड़कियों को अधिक दहेज नहीं मिलता, उन्हें ससुराल में अपमानजनक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उन्हें बहुत-से कष्ट सहन करने पड़ते हैं और अन्त में जब वे तंग आ जाती हैं तो उन्हें विवश होकर आत्महत्या करनी पड़ती है। कभी-कभी जब माता-पिता काफी प्रयत्नों के उपरान्त भी योग्य वर का पता नहीं लगा पाते तो उन्हें चिन्ता से मुक्त करने के लिए कुछ लड़कियाँ आत्महत्या तक कर लेती हैं।

4. **ऋणग्रस्तता**— अधिकांश माता-पिता अपनी लड़की के लिए दहेज की भारी रकम नहीं जुटा पाते। ऐसी दशा में दहेज के लिए उन्हें ऋण लेना पड़ता है या अपनी सम्पत्ति को बेचना पड़ता है। फलतः बहुत से परिवार ऋणी बन जाते हैं जो ब्याज पर ब्याज चुकाते रहते हैं।

5. **निम्न जीवन स्तर**— एक मध्यम वर्ग के व्यक्ति को भी आजकल लड़की के विवाह में कम से कम चालीस-पचास हजार रुपए तक खर्च करने पड़ते हैं। जो कुछ बचाता है, उसे तो विवाह में खर्च करना ही पड़ता है और साथ ही बहुत-सा रुपया ऋण के रूप में भी लेना पड़ता है। विवाह में सब कुछ खर्च कर डालने के कारण व्यक्तियों का जीवन-स्तर बहुत गिर जाता है।

6. **बहुपत्नी विवाह**—दहेज बहु-पत्नी विवाह का एक प्रमुख कारण रहा है। आर्थिक लाभ के लिए एक व्यक्ति दूसरा तथा तीसरा विवाह करने का प्रयत्न करता है। डॉ. कापडिया ने लिखा है, "क्योंकि प्रत्येक विवाह से पर्याप्त धन प्राप्त होता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से एक मनुष्य केवल आर्थिक लाभ के लिए दूसरा और तीसरा विवाह करने की इच्छा करता है।"[1] वर्तमान समय में हिन्दू-विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार बहुपत्नी विवाह समाप्त कर दिये गये हैं।

7. **बेमेल विवाह**—अधिक दहेज न द सकने के कारण बहुत-से गरीब माता-पिता को अपनी बेटी का विवाह किसी अपग, अयोग्य, अनमेल अथवा बूढे व्यक्ति के साथ कर देना पडता है क्योंकि वे 'दहेज की भारी रकम इकट्ठी नही कर पाते। बेचारी लडकी भी पिता की विवशता के कारण इस स्थिति को स्वीकार कर लेती है। परिणाम यह होता है कि या तो वह शीघ्र ही विधवा हो जाती है या जीवन-भर दुखी जीवन व्यतीत करती है।

8. **विवाह समाप्त हो जाते है**—कई बार वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित हो जाने के पश्चात् भी दहेज के कारण विवाह टूट जाता है। कई वर-पक्ष वाल तो इतने निर्दयी होते हैं कि बारात तक को बिना विवाह किये लौटा ले जाते हैं। समाचार-पत्रों में इस प्रकार की घटनाएँ समय-समय पर पढने को मिलती हैं।

9. **अपराध को प्रोत्साहन**—दहेज हेतु भारी रकम जुटाने के लिये बहुत-से माता-पिता अपराध तक करने को बाध्य होते हैं। उन्हें घूँस लेनी पडती है या किसी अनुचित साधन से धन एकत्र करना पड़ता है। इस तरह दहेज प्रथा लोगों को अपराध की ओर प्रवृत्त करती है।

10. **अनैतिकता**—दहेज न दे सकने क कारण बहुत-सी लडकियों का विवाह काफी आयु तक नही हो पाता। ऐसी दशा में कभी-कभी वे अपनी यौन-इच्छाओं के वशीभूत हो अनैतिक कार्यों की ओर प्रवृत्त हो जाती हैं तथा उनके चरित्र में गिरावट आती है।

11. **मानसिक बीमारियाँ**— दहेज की कुप्रथा के कारण बहुत-सी लडकियो के माता-पिता को चिन्ता में डूबा हुआ देखकर लडकियाँ भी चिन्तित होने लगती हैं। चिन्ता के कारण माता-पिता तथा लड़कियों को कई प्रकार के मानसिक रोग आ घेरते हैं। विशेष रूप से उन लडकियों को मानसिक रोग अधिक होते हैं जिनका विवाह अधिक आयु तक नही हो पाता है।

12. **स्त्रियो की निम्न स्थिति के लिए उत्तरदायी**— साधारणतः दहेज-प्रथा के कारण लडकी के जन्म को परिवार के लिये भावी विपत्ति समझा जाने लगा है। लडकी के विवाह के आर्थिक बोझ की कल्पना ही परिवार वालों को चिन्तित कर देती है। यह परिस्थिति समाज में स्त्रियों की निम्न स्थिति का एक मुख्य कारण है।

कुछ लोगो ने दहेज के पक्ष मे कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं—**प्रथम**, नवीन दम्पत्ति को विवाह के अवसर पर वे सब वस्तुएँ दहेज में मिल जाती हैं जो उसको घर-गृहस्थी को जमाने में आवश्यक होती हैं। **द्वितीय**, दहेज की अधिक माँग के कारण लोग शीघ्र ही अपनी लडकी का विवाह नही कर पाते, फलस्वरूप विवाह-आयु बढ जाती है। **तृतीय**, दहेज के कारण जब लडकियों का विवाह काफी आयु तक नहीं हो पाता तो माता-पिता उनको शिक्षा दिलाते रहते हैं। इस प्रकार, दहेज-प्रथा स्त्री शिक्षा को बढाने में सहायक प्रतीत होती है।

1 K.M Kapadia op cit p 108

वास्तव में देखा जाये तो दहेज के पक्ष के तर्क खोखले हैं। आज के इस आधुनिक वैज्ञानिक युग में जब शिक्षा का सब ओर प्रसार हो रहा है तो स्त्री-शिक्षा के फैलाव को भी रोका नही जा सकता चाहे दहेज प्रथा हो या न हो। विवाह की आयु बढने के भी अनेक कारण हैं न कि दहेज मात्र। जहाँ तक घर-गृहस्थी को जमाने में दहेज से लाभ का प्रश्न है, वहाँ हमें इसको जुटाने में लडकी के माता-पिता के कष्ट की कल्पना भी करनी चाहिए। दहेज-प्रथा के दुष्परिणामों को देखते हुए दहेज के ये तथाकथित लाभ गौण हैं।

दहेज प्रथा को समाप्त करने हेतु सुझाव
(Suggestions to end the Dowry System)

आज स्थिति यह है कि लोग दहेज लेकर खा रहे हैं और दहेज समाज को खा रहा है, उसकी कर्मशक्ति को खा रहा है। इस कुप्रथा को समाप्त करने हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

1. स्त्री शिक्षा— समय बदला, परिस्थितियाँ बदलीं, परन्तु हिन्दू समाज आज भी उन्ही कुरीतियों को ढो रहा है जो सौ, दो-सौ साल पहले थी। बढते मूल्यों के समान ये कुरीतियाँ पहले से भी अधिक बढ़ गई हैं। ठीक यही बात दहेज के सम्बन्ध में है। इसे मिटाने के लिए आवश्यक है कि भारतीय नारी से अशिक्षा और कुसंस्कारों को समाप्त किया जाए। इस कुप्रथा को समाप्त करने के लिए उचित स्त्री-शिक्षा को बढाने की आवश्यकता है। यदि लडकियाँ भी शिक्षा पूरी होने पर लडकों के समान नौकरी या कोई व्यवसाय करने लगें तो उन्हें पुरुष की दया का भिखारी बनने के लिए बाध्य नही होना पडेगा और ऐसी स्थिति में लडके वालों का दहेज माँगने का साहस अवश्य घट सकेगा। साथ ही ऐसा होने पर स्त्रियों के लिए, विवाह की अनिवार्यता भी समाप्त हो जाएगी। शिक्षित स्त्रियों को दहेज प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व करना होगा जिससे लोगों के विचारों एवं सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हो।

2. जीवन-साथी का चुनाव स्वयं लडके लडकियों द्वारा— जीवन-साथी के चुनाव में लडके-लडकियों को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। जहाँ माता-पिता के द्वारा विवाह सम्बन्ध निश्चित किए जाते हैं, वहाँ साधारणत सौदेबाजी होती है, दहेज की रकम का पहले से निर्धारण होता है और यदि यह अधिकार स्वयं विवाह करने वाले अपने हाथ में ले लें तो स्थिति में परिवर्तन अवश्य आएगा। ऐसा तभी सम्भव है जब लडके-लडकियों को शिक्षा की समुचित सुविधाएँ प्राप्त हों, उन्हें नौकरी या व्यवसाय में लगने, साथ-साथ काम करने और एक-दूसरे के निकट आने के अवसर मिलें। ऐसा होने पर वे स्वय अपने लिए जीवन-साथी का चुनाव कर सकेंगे और ऐसे चुनाव मे 'दहज' बाधा उपस्थित नही कर सकेगा।

3. प्रेम-विवाह— दहज प्रथा इसलिए जिन्दा है कि युवक-युवतियाँ पारस्परिक प्रेम को विवाह में परिणत करने से डरते हैं। व प्रेम तो करते हैं, परन्तु प्रेम विवाह से लोक-लज्जा के कारण घबरात हैं। जब युवा वर्ग के लोग, समाज के ठेकेदारों एवं मठाधीशों की बिना चिन्ता किए अपनी पसन्द के अनुसार विवाह करेंगे तभी दहज-प्रथा समाप्त हो पाएगी। वास्तव में दहेज-प्रथा को मिटाने में प्रेम विवाह (*Love Marriage*) काफी सीमा तक सहायक हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में युवकों को आगे आना होगा, उन्हें अपने दृष्टिकोणों में परिवर्तन करना होगा और यह दृढ निश्चय करना होगा कि उन्हें सुन्दर, सुशील एव सुसस्कृत जीवन-संगिनी चाहिए, न कि दहेज।

4. अन्तर्जातीय विवाह—जाति-बिरादरी के एक सीमित क्षेत्र में बँधे रहकर रिश्ते ढूँढते रहने के कारण दहेज का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है। दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिए अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। शिक्षित वर्ग के लोगों को इस दिशा में पहल करनी होगी, उन्हें अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करना होगा। वास्तव में अन्तर्जातीय विवाहों के प्रचार द्वारा दहेज-प्रथा को समाप्त किया जा सकता है क्योंकि इन विवाहों से एक जाति के लड़कों की कमी दूसरी जातियों से पूर्ण हो सकती है। अन्तर्जातीय विवाहों के कारण जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाएगा तथा योग्य वरों के मिलने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होगी, परिणामस्वरूप दहेज-प्रथा स्वत: ही समाप्त हो जाएगी।

5. लड़कों को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न—पढ़े-लिखे लड़कों को नौकरी नहीं मिलने से दहेज-प्रथा को प्रोत्साहन अधिक मिलता है। पूर्ण रोजगार की अनिवार्य व्यवस्था इस कुप्रथा को समाप्त करने में अवश्य सहायक हो सकेगी। आजकल विवाह में परिवारों को अधिक महत्त्व न देकर लड़कों की योग्यता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यदि लड़कों को उचित शिक्षा और उपयुक्त पद प्राप्त करने के अवसर दिये गए तो योग्य लड़कों की कमी दूर हो जाएगी और दहेज-प्रथा के समाप्त होने में सहायता मिलेगी। वर्तमान में सरकार द्वारा भी नौकरियों के अवसर बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है, नौकरियों के अतिरिक्त व्यावसायिक क्षेत्र में शिक्षितों के लिए जीविकोपार्जन की सुविधा बढ़ाने की आवश्यकता है। कुटीर उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित करना लाभदायक है।

6. दहेज के विरुद्ध जनमत तैयार करके—केवल नियमों के आधार से ही इस कुप्रथा को समाप्त नहीं किया जा सकता। जब तक लोगों के हृदय परिवर्तित नहीं होंगे और नवयुवकों में नवीन मूल्यों का निर्माण नहीं होता, तब तक दहेज प्रथा से छुटकारा नहीं मिल सकता है। यह परिस्थिति प्रचार के द्वारा स्वस्थ जनमत तैयार करके ही उत्पन्न की जा सकती है। समाज में एक नवीन जागरण की आवश्यकता है ताकि चेतना प्राप्त कर लड़के लड़कियाँ स्वयं के विवाह में दहेज का विरोध कर सकें, समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित कर सकें और इस कुप्रथा की समाप्ति में योग दे सकें।

7. दहेज के विरुद्ध कानून (दहेज निरोधक अधिनियम, 1961)— दहेज-प्रथा को समाप्त करने की दृष्टि से कठोर कानून बनाना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि कानून से किसी भी सामाजिक समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता, परन्तु उनका ऐसा विचार उचित नहीं है। यदि कानून की रचना निर्दोष हो और सरकार उसे कठोरतापूर्वक लागू करने का प्रयत्न करे तो हमें शीघ्र ही कानून की उपयोगिता का पता चलेगा। साथ ही यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनता को ऐसे कानून के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी दी जाए।

अनेक समाज-सुधारकों एवं महिला संगठनों ने सरकार से दहेज-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाने की समय-समय पर माँग की। इस माँग को ध्यान में रखते हुए सन् 1959 में लोकसभा में 'दहेज' निरोधक विधेयक प्रस्तुत किया गया। 9 मई, 1961 को लोकसभा और राज्य सभा की संयुक्त बैठक में यह विधेयक पास हो गया और 1 जुलाई सन् 1961 से लागू हो गया। इस अधिनियम में दहेज लेने और देने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, परन्तु साथ ही यह भी बताया गया है कि विवाह के अवसर पर दिये जाने वाले उपहार दहेज नहीं माने जायेंगे। विवाह तय करते समय

जो कुछ उपहार-वस्तुएँ, धन आदि विवाह की आवश्यक शर्त के रूप में माँगे जाएंगे, चाहे वे वर-पक्ष द्वारा माँगे जाएँ अथवा कन्या-पक्ष द्वारा, वे सब दहेज के अन्तर्गत आएंगे और ऐसा कोई भी समझौता गैर-कानूनी एवं दण्डनीय होगा। यदि इस कानून के विरुद्ध कोई दहेज दिया गया तो वह पत्नी की सम्पत्ति मानी जाएगी। इस अधिनियम की धारा 3 में बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति दहेज देता या लेता है अथवा इसके लेन-देन में सहायता करता है तो उसे 6 महीने की कारावास एवं 5 हजार रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है। इस अधिनियम की धारा 4 में कहा गया है कि यदि वर या कन्या के माता-पिता या संरक्षक से कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दहेज माँगेगा तो वह भी उपर्युक्त प्रकार से दण्डित होगा। धारा 7 के अन्तर्गत कहा गया है कि अदालत इस अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले अपराधों पर तभी विचार करेगी जब (1) इस बारे में लिखित शिकायत पेश हो, (2) शिकायत किसी प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत में की जाए, तथा (3) शिकायत दहेज के लेने अथवा देने के एक वर्ष के भीतर ही की जाए। वास्तव में इस अधिनियम को पारित करने वाले व्यक्तियों के उद्देश्य निश्चित रूप से प्रशंसनीय हैं, परन्तु इसमें कुछ ऐसी कमियाँ रह गई हैं जिनकी वजह से यह दहेज-प्रथा को रोकने में असफल रहा है। ये कमियाँ निम्नलिखित हैं

(i) इसमें सबसे बड़ी कमी तो यह है कि यह सिद्ध करना असम्भव-सा है कि कौन-सी वस्तुएँ स्नेह-वश उपहार के रूप में दी जा रही हैं और कौन-सी विवाह की एक शर्त के रूप में दहेज के अन्तगत। दहेज के लेन-देन के लिए दण्ड की व्यवस्था है न कि उपहारों के लिए। परिणाम यह होगा कि विवाह के अवसर पर जो कुछ माँगा और दिया जाएगा, उसे सब लोग उपहार ही मानेंगे और उसे 'विवाह की एक शर्त' के रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकेगा। ऐसी दशा में दहेज-प्रथा को नहीं रोका जा सकेगा।

(ii) इस अधिनियम की एक कमी यह है कि दहेज देने और लेने वाले के विरुद्ध अदालती कार्यवाही तब ही सम्भव है जब कोई इसके विरुद्ध अदालत में शिकायत करे, अदालत ऐसे अपराधों को संज्ञान (Cognizance) बिना किसी शिकायत के स्वयं नहीं करेगी। प्रश्न यह है कि ऐसी शिकायत कौन करे और क्यों करे ? दहेज लेने और देने वाले शिकायत करने से रहे, न वर-पक्ष वाले और न ही कन्यापक्ष वाले अपने हित में ऐसी शिकायत कर सकते हैं। अन्य पास-पड़ौस वाले व्यक्ति ऐसी शिकायत करके आफत क्यों मोल लें? वे बिना बात अदालतों के चक्कर क्यों लगाते फिरें, लोगों से क्यों दुश्मनी मोल लें? और फिर उन्हें भी तो अपने लड़के-लड़कियों के विवाह में दहेज लेना और देना है।

"बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929" के समान यह 'दहेज निरोधक अधिनियम, 1961' भी अपने उद्देश्यों में असफल रहा है। आज अधिकतर लोग तो इस अधिनियम से अपरिचित हैं। इस अधिनियम में ऐसी कमियाँ हैं कि यह दहेज प्रथा को समाप्त नहीं कर सकता। आवश्यकता इस बात की है कि इस अधिनियम की कमियों को दूर किया जाए। इसे कठोरतापूर्वक लागू किया जाये और इसके विरुद्ध कार्य करने वालों को कड़ी सजा दी जाए। इस अधिनियम में 1984 एवं 1986 में संशोधन कर इसे कठोर बनाया गया। दहेज के विरुद्ध अपराध अब संज्ञेय व गैर जमानती है।

8. युवा-आन्दोलन—दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिये युवकों को दहेज के विरुद्ध विद्रोह करना होगा, सत्याग्रह करना होगा, आन्दोलन चलाना होगा। चन्द चाँदी के टुकडों पर अपनी सन्तानों को बेचने वाले दौलत के पुजारी नही जानते कि विवाह क्या होता है। अनेक लडके वाले तो विवाह को बाजारी सौदा समझते हैं। कुछ इसे केवल समझौता मात्र मानते हैं। युवा वर्ग को इन दौलत के पुजारियों को नींद से जगाने की आवश्यकता है। दहेज के कीटाणु आज प्रत्येक लडके के माँ-बाप से चिपके हुए हैं। उन्हें इस बीमारी से छुटकारा दिलाने के लिए अविवाहित युवक-युवतियों को दहेज न लेने-देने का चट्टानी सकल्प करना होगा। प्रत्येक को दृढता के साथ सकल्प करना होगा कि-मैं न दहेज लूंगा, न स्वयं इसे मागूगा और अन्य विवाहों में भी मैं इसका सदैव विरोध करुगा। इस प्रथा का अन्त उसी समय होगा जब नौजवान जागेगा। इस समस्या के निराकरण के लिए, त्यागी, बलिदानी एव उत्साही युवा-वर्ग को आगे बढना होगा। युवतियों को भी दहेज मांगने वाले परिवारों का बहिष्कार करना होगा। युवा-वर्ग को यह सोचने की आवश्यकता है कि क्या कन्या-पक्ष से मिलने वाले धन से किसी का जीवन-निर्वाह हुआ है अथवा हो सकता है ?

स्वयं युवक-युवतियों में भी सामाजिक चेतना की आवश्यकता है। आज के युवकों को अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण में थोडा परिवर्तन लाने की जरूरत है। बहुत-से मध्यम वर्ग के लडके ऊपर से दहेज का विरोध करते हैं, परन्तु मन ही मन चाहते हैं कि शादी में उन्हें रेडियो, टेलीविजन, टेपरिकार्डर, कूलर, रेफ्रिजरेटर, स्कूटर आदि मिलें। युवको को धन और सुविधाओं की अपनी इस भूख पर नियत्रण करने की आवश्यकता है। जब तक युवक इस दुविधापूर्ण मन.स्थिति मे रहेंगे, तब तक दहेज के विरुद्ध सशक्त कदम नही उठा सकेंगे। यदि सारे अविवाहित युवक-युवतियाँ यह व्रत ले लें कि जहाँ दहेज माँगा, लिया या दिया जाता है, उस परिवार में वे किसी भी स्थिति में विवाह नही करेंगे, तो निश्चय ही यह प्रथा समाप्त हो सकती है।

एक पुरानी कहावत प्रचलित है, "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" अर्थात् दूसरों को उपदेश देने में कुशल लोग बहुत-से मिल जाएंगे, परन्तु दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिए दूसरों को उपदेश देने के बजाय स्वय का जलकर मशाल बनना होगा, दूसरों को प्रकाश देना होगा। दूसरों के सम्मुख न तो दहेज लेने और न ही देने का उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। यदि यह कहा जाए कि इस दिशा में सुधार की नही, बल्कि स्वय के योगदान की, दृढ निश्चय की आवश्यकता है तो अधिक उपयुक्त होगा। स्नातक कक्षाओं के एक सर्वेक्षण में दहेज-प्रथा को समाप्त करने हेतु छात्रों ने जो सुझाव दिए, वे इस प्रकार हैं, प्रश्न आता है कि 'दहेज' के कोढ से छुटकारा कैसे मिले? 14 प्रतिशत को लगा कि बिना सामाजिक क्रान्ति के यह होगा नही। 10 प्रतिशत इसे विशुद्ध कानूनी समस्या मानते हैं। सरकार कानून को सख्त करे और उसका पालन भी कठोरता स किया जाए तो समस्या निर्मूल हो सकती है। 12 प्रतिशत छात्रों ने बिना किसी हिचकिचाहट के प्रेम-विवाह के प्रचलन का प्रस्ताव रखा है। 14 प्रतिशत किसी नैतिक आन्दोलन में समाधान पाने की आशा रखते हैं। 2 प्रतिशत छात्रों ने स्त्री-शिक्षा के प्रसार के साथ इसके स्वयमेव समाप्त हो जाने की आशा की है, किन्तु सर्वाधिक संख्या उन छात्रों की है जिन्होंने बिना किसी सहारे के इस कुप्रथा को समाप्त करने का संकल्प स्वयं लिया है। इस प्रकार के छात्र हैं 48 प्रतिशत। इन्हें लगा कि कहीं से कुछ होने वाला नही है। जब तक युवा-वर्ग स्वयं इसे मिटाने को कमर नही कसेगा, कानून लगडा रहेगा, समाज-सुधारक व्यर्थ सिर मारेंगे और अनवरत दहेज की राशि बढ़ती ही जाएगी। दहेज-प्रथा के लिए दोष किसे दिया

जाए? इस प्रथा का विरोध करने वाले लोग भी अपने लड़के के विवाह में हाथ फैलाते हैं माता, पिता, नेता, समाज-सुधारक और युवकों तक की यही स्थिति है। मुख्य दोष युवकों का ही है और आखिर उन्हें इस दिशा में प्रयास करना होगा।

जातीय-पंचायतों या जातीय संगठनों को स्थानीय स्तर पर नियम बनाकर दहेज की अधिकतम राशि निर्धारित करनी चाहिए। साथ ही यह भी अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए कि दहेज को गुप्त रूप में ही दिया अथवा लिया जाए ताकि लोगों में आपसी प्रतिस्पर्धा कम हो।

दहेज-प्रथा के कारण समाज में अनेक नवीन समस्याएँ उत्पन्न होती जा रही हैं जो समाज रूपी शरीर में रोग फैलाती जा रही हैं। आदर्श हिन्दू विवाह दहेज के कारण बाजार की वस्तु बन गया है। अब समाज के हित में इस कुप्रथा को समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। दहेज-प्रथा से छुटकारा प्राप्त करने का एक सशक्त साधन काले-धन (Black Money) की समाप्ति हो सकता है। इसी काले-धन की अधिकता के कारण धनी लोग खूब खुलकर दहेज लेते व देते हैं। धनी लोगों का दौलत का यह प्रदर्शन मध्यम श्रेणी के अनेक माता-पिता के लिये लड़की के विवाह को समस्या बना देता है। दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि दहेज-लोलुप व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार किया जाय। आजकल इतना परिवर्तन तो अवश्य आ रहा है कि अब लोग खुलकर दहेज मांगने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। अब बिना लेन-देन के, सादगीपूर्ण विवाहों को आदर्श माना जाने लगा है। दहेज-रहित 'सामाजिक विवाहों को प्रोत्साहन' देकर भी इस कुप्रथा को नियन्त्रित किया जा सकता है।

बाल विवाह
(Child Marriage)

बाल-विवाह ऐसे विवाह को कहते हैं जिसमें लड़की का विवाह प्रायः रजोदर्शन के पूर्व और लड़के का विवाह किशोरावस्था के पूर्व ही सम्पन्न कर दिया जाता है। इस प्रकार के विवाह में बाल्यावस्था में ही लड़के लड़कियों को विवाह-बन्धन में बांध दिया जाता है। भारत के कुछ भागों में अभी भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जहाँ अग्नि के चारों ओर सात फेरे खाने में असमर्थ छोटी-सी बालिका को थाली में बैठाकर उसका विवाह कर दिया जाता है। इस देश में ऐसे बालक-बालिकाओं का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है जो विवाह का अर्थ तक नहीं समझते। कानूनी दृष्टिकोण से 18 वर्ष से कम आयु की लड़की और 21 वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह बाल-विवाह है।

हिन्दू धर्मशास्त्र विवाह के लिए लड़के लड़कियों की कम आयु के सम्बन्ध में समान धारणायें प्रस्तुत नहीं करते, परन्तु वैदिक और महाकाव्य साहित्य के उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि उस समय युवावस्था में ही विवाह होते थे। वेदों में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके युवावस्था प्राप्त करने वाली लड़की को ही वर मिलता है। उस समय साधारणतः लड़कियों का विवाह 15 या 16 वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। महाभारत में 16 वर्ष की लड़की के विवाह का समर्थन किया गया है। रुक्मणि और कृष्ण, सावित्री और सत्यवान, सुभद्रा और अर्जुन, दुष्यन्त और शकुन्तला आदि के विवाह युवावस्था में ही सम्पन्न हुए थे। ये विवाह लड़कियों की स्वतंत्र इच्छा और चुनाव पर आधारित थे। गृह्यसूत्र में विवाह के पश्चात् तीन दिन ब्रह्मचर्य का पालन कर चौथे दिन यौनिक सम्बन्ध स्थापित करने का आदेश दिया गया है। विवाह के बाद चौथे दिन की इस घटना को काफी लम्बे समय तक 'चतुर्थी-कर्म' कहा जाता रहा। इससे यह सिद्ध होता है कि इस काल में युवा लड़कियों का विवाह होता था न कि बालिकाओं का।

ईसा के 400 वर्ष पूर्व से, कम आयु में लड़कियों के विवाह का समर्थन किया जाने लगा। धर्म सूत्रकारों ने (ईसा के 400 वर्ष पूर्व से ईसा के 100 वर्ष पश्चात् तक) कहा है कि लड़कियों के यौवनारम्भ के बाद उनके विवाह सम्पन्न करने में देर नहीं की जानी चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार, "यौवनारम्भ (Puberty) की यह आयु लड़कियों के लिए करीब 12 वर्ष से 16 वर्ष के बीच और लड़कों के लिए 14 वर्ष से 18 वर्ष के बीच की है।"[1] मनु ने कहा है कि, "यदि लड़की के लिए योग्य पति प्राप्त नहीं किया जा सके, तो उसे जीवन-भर अविवाहित रखा जा सकता है।"[2] इस काल में धीरे-धीरे विवाह की आयु घटती जा रही थी और लड़कियों के यौवनारम्भ के समय ही उनके विवाह की ओर लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा था। मौर्य काल में लड़कियों के विवाह प्रायः 14–15 वर्ष की आयु में सम्पन्न किए जाते थे। ईसा के 100 वर्ष पश्चात् यौवनारम्भ के पूर्व ही लड़कियों के विवाह को उचित माना जाने लगा।

ईसा के 500 वर्ष बाद से 1000 वर्ष के काल में स्मृतिकारों ने यौवनारम्भ के पूर्व ही विवाह सम्पन्न किए जाने पर जोर दिया। इन लोगों ने यहाँ तक कहा कि 10 वर्ष की आयु में ही लड़की की युवावस्था प्रारम्भ हो जाती है, इसलिए इसी अवस्था में उसका विवाह कर दिया जाना चाहिए। युवावस्था के पूर्व विवाह सम्पन्न करने का प्रचलन सर्वप्रथम ब्राह्मणों में हुआ। क्षत्रियों ने इस प्रथा को काफी लम्बे समय तक नहीं अपनाया। अनेक कारणों से मध्यकाल में बाल-विवाहों का प्रचलन बढ़ता ही गया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय लड़कियों के विवाह की आयु सामान्य रूप से 8–9 वर्ष थी। 1931 की जनगणना में पाया गया कि 72 प्रतिशत से अधिक लड़कियों का विवाह 15 वर्ष से कम आयु में ही सम्पन्न हो चुका था। भारत में नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कों के विवाह की औसत आयु क्रमशः 23.8 और 21 है जबकि लड़कियों की क्रमशः 17.8 और 15.4 है। लेकिन गाँवों में आज भी 9–10 वर्ष की आयु में लड़कियों के विवाह होते हैं और कहीं-कहीं तो 3-4 वर्ष की लड़कियों के विवाह कर दिए जाते हैं। वर्तमान में विवाह की आयु में वृद्धि हुई है, विशेषतः नगरीय क्षेत्रों में। नगरों में निम्न जातियों में बाल-विवाह के काफी उदाहरण आज भी मिल जाते हैं।

बाल-विवाह के कारण
(Causes of Child Marriage)

1. **धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृति**—इस देश में बाल-विवाह प्रचलित होने का मुख्य कारण हिन्दू धर्मशास्त्र ही हैं। इन्होंने बाल्यावस्था में विवाह करने की अनुमति प्रदान की है। स्मृतिकारों ने कम आयु की कन्या के विवाह का पक्ष लिया है। याज्ञवल्क्य ने बताया है कि कन्या के मासिक धर्म में आने के पूर्व ही उसका विवाह कर देना चाहिए।

---

1 Goodsell, W "History of Marriage and the Family" pp 63-64 Quoted by P H Prabhu : Hindu Social Organisation, p 182

2. "काममामरणात्तिष्ठेद् कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥"–मनु, IX, 89

2. उपजाति अन्तर्विवाह—हिन्दू समाज अनेक छोटी-छोटी उप-जातियों में विभक्त है और हिन्दुओं में उपजाति अन्तर्विवाह होते हैं। इस कारण जीवन-साथी के चुना का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है और योग्य वरों का मिलना कठिन रहता है। इसलिए माता-पिता कम आयु में ही योग्य वर मिलने पर विवाह कर देते हैं।

3. दहेज प्रथा— समाज में धीरे-धीरे दहेज-प्रथा बहुत बढ गई है। अधिकारा माता-पिता अपनी लडकियों के लिए दहेज नही जुटा पाते। लड़के की आयु क बढने के साथ उसकी योग्यता, गुण ओर प्रतिष्ठा भी बढती जाती है और साथ ही साथ उसका वर-मूल्य भी। इस बढते हुए वर-मूल्य से बचने के लिए माता-पिता बाल्यावस्था में ही अपनी लडकियों का विवाह कर देते हैं जब वर के भावी जीवन तथा गुणों क विषय मे कुछ भी पता लगाना सम्भव नही होता।

4 संयुक्त परिवार प्रणाली—सयुक्त परिवार प्रणाली क कारण बचपन में विवाह हो जाने पर भी लडके पर विवाह का किसी प्रकार का आर्थिक बोझ नही पड़ता क्योंकि भरण-पोषण का दायित्व परिवार के मुखिया का था। इसके अतिरिक्त बाल-विवाह से सयुक्त परिवार के कार्यों में हाथ बँटान वाले एक सदस्य की और वृद्धि हा जाती। भारतवर्ष में बाल-विवाहो को प्रचलित करने में इस कारक न काफी योग दिया है।

5. सामाजिक निन्दा के कारण—सामाजिक निन्दा क भय स बाल-विवाह बढने लगे। अपनी लडकी का विवाह अधिक आयु मे करन वाल व्यक्तियों की समाज में निन्दा की जाती और रिश्तदार तथा पडौसी उन्हें ताने मारते। इसलिए कई व्यक्तियों का, नही चाहते हुए भी कम आयु में अपनी लडकियों का विवाह करना पडता।

6. सती-प्रथा—सती प्रथा के कारण भी बाल-विवाह को प्रोत्साहन मिला। पिता की मृत्यु हा जान पर माता साथ ही सती हा जाती और ऐसी दशा में उनक बालको की देखभाल की समस्या उत्पन्न होती। इस कारण माता-पिता अपनी उपस्थिति में ही अपने बालको का विवाह करक उन्हें अन्य सयुक्त परिवार का सरक्षण प्रदान करना उचित समझत थ।

7. अशिक्षा—प्राचीन भारत में आश्रम-व्यवस्था क अन्तर्गत शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी, परन्तु आश्रम-व्यवस्था के समाप्त होने के पश्चात् अनिवार्य शिक्षा की कोई व्यवस्था देश में स्थापित नही हा सकी। इस व्यवस्था के अभाव में गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ कम आयु में ही होन लगा और इसी कारण बाल-विवाह बढन लगे। वर्तमान में शिक्षा क बढने क साथ-साथ विवाह की आयु भी काफी बढती जा रही है।

8. स्त्रियो की गिरी हुई दशा—वैदिक युग के पश्चात् समाज में स्त्रियों की स्थिति गिरती गई। स्मृतिकारों न स्त्रियों का किसी प्रकार की स्वतन्त्रता देना उचित नहीं समझा। स्त्रियों के लिए कहा गया कि बाल्यावस्था में उन्हे पिता क सरक्षण में, युवावस्था में पति क सरक्षण में और वृद्धावस्था में पुत्र क सरक्षण में रहना चाहिए। स्त्रियो की स्थिति के विषय में इस प्रकार क विचारों क कारण बाल-विवाह प्रचलित हुए।

9. विदेशी आक्रमण—मुसलमानों के आक्रमण क बाद बाल-विवाह अधिक बढ, क्योंकि मुसलमान हिन्दू लडकियों स विवाह करना चाहते थे। ऐसी दशा में हिन्दू रक्त की शुद्धता बनाए रखने के उद्देश्य से, हिन्दू धर्म का नष्ट होन से बचाने के लिए बाल-विवाह को प्रोत्साहन देने लग।

बाल-विवाह से लाभ
(Merits of Child Marriage)

(1) बचपन मे ही विवाह हो जाने से पति-पत्नी को एक साथ रहने का अधिक समय मिलता है। साथ ही उनकी प्रकृति मे लचीलापन तथा विचारों में अपरिपक्वता होती है और उनकी बुद्धि कोमल तथा ग्रहणशील होती है। ऐसी दशा मे उन्हे पारस्परिक अनुकूलन करने में काफी सहायता मिलती है और वे एक दूसरे की प्रकृति के अनुसार सुगमतापूर्वक अनुकूलन कर पाते हैं जिससे उनके वैवाहिक जीवन के सुखी होने की काफी आशा रहती है। (2) बाल-विवाह के कारण पुरुष पर कम आयु मे ही परिवार का उत्तरदायित्व आ जाता है और प्रारम्भ से ही वह अपने पैरों पर खडे होकर आत्म-निर्भर बनने का प्रयत्न करने लगता है, (3) बाल-विवाह के कारण लोगों को नैतिक पतन से रक्षा हो जाती है, क्योंकि जिस समय लडके तथा लडकी मे यौवन के साथ-साथ काम-भावना का विकास होता है, तब उन्हें इसकी पूर्ति का अवसर भी प्राप्त हो जाता है। साथ ही बचपन में विवाह हो जाने से पुरुष में शुरू से ही अपनी स्त्री तथा परिवार के प्रति कर्तव्य की भावना जाग्रत हो जाती है जो उसे बाहरी प्रलोभनों से दूर रखती तथा नैतिक पतन से रक्षा करती है। बाल-विवाह की हानियों को देखते हुए ये लाभ गौण हैं, खोखले मात्र हैं।

बाल-विवाह से हानियाँ
(Evils of Child Marriage)

बाल-विवाह एक प्रमुख सामाजिक समस्या है क्योंकि इससे व्यक्ति तथा समाज को अनेक हानियाँ होती हैं। मुख्य हानियाँ निम्नलिखित हैं—

(1) बाल दम्पति जीवन भार को सम्भालने मे असमर्थ— बाल-विवाह के कारण विवाह का उपहास किया जाता है और उसके उद्देश्य अपूर्ण रह जाते हैं। विवाह के साथ-साथ बाल्यावस्था मे वर-वधू पर उत्तरदायित्व आ पडते हैं जिन्हें सम्भालने मे वे पूर्णतः असमर्थ रहते हैं। (2) स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव— कम आयु मे लडके-लडकियाँ विवाह के भार को सम्भालने की शारीरिक दृष्टि से भी योग्यता नही रखते हैं। बाल-विवाह के कारण उनमें यौन-सम्बन्ध भी अपेक्षाकृत छोटी आयु मे स्थापित होता है जिसका उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। बाल-विवाहों से राष्ट्र का स्वास्थ्य-स्तर भी गिरता है। (3) दुर्बल संतान— बाल-विवाह के कारण कम आयु में ही सन्तान होना प्रारम्भ हो जाती है। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार छोटी आयु में यौनिक सम्बन्ध से निर्बल सन्तान उत्पन्न होती है जिसका भावी पीढी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। (4) पारिवारिक सामजस्य स्थापित होने मे कठिनाई— बचपन में विवाह हो जाने के कारण वर-वधू के व्यक्तित्व की भावी विषमताओं का पता नही लगता और इस कारण कई बार पारिवारिक सामजस्य स्थापित होना कठिन हो जाता है। (5) व्यक्तित्व के विकास मे बाधा— बाल-विवाह के कारण दम्पत्ति पर पारिवारिक भार शीघ्र ही आ पडता है। मुख्य रूप से लडकियों पर सन्तान के पालन-पोषण का भार पड़ जाने से उन्हें शिक्षा प्राप्त करने तथा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के अवसर नहीं मिलते, साथ ही अल्पायु में यौनिक सम्बन्ध की ओर प्रवृत्ति हो जाने से जीवन का उच्च दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है और व्यक्तित्व के विकास मे कई बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी दशा में विवाह उनके लिए अभिशाप बन जाता है।

(6) कम आयु में अधिक माताओं की मृत्यु —बचपन मे सन्तान उत्पन्न होने से गर्भवती माताओं को बहुत कष्ट होता है। उनका स्वास्थ्य गिर जाता है और अधिकतर प्रसूती-काल में ही उनकी मृत्यु हो जाती है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष लाखो माताओ की मृत्यु होती है जो वास्तव में एक बहुत बडी राष्ट्रीय हानि है। (7) अधिक जनसंख्या— बाल विवाह के कारण सन्तान अल्पायु मे ही होना प्रारम्भ हो जाती है और इससे देश की जनसख्या बहुत बढती है। भारत मे वर्तमान समय में जनसख्या को अत्यन्त गम्भीर समस्या है। (8) योग्य जीवन-साथी के चुनाव मे कठिनाई—ऐसे विवाह माता-पिता द्वारा कम आयु में ही कर दिए जाते हैं। विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर बालक-बालिका को सोचन का अवसर ही नही दिया जाता, ऐसी दशा में उनके लिए चुनाव का प्रश्न नही उठता। साथ ही ऐसे विवाह के समय लडके तथा लडकी के भावी जीवन के विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता। एक छोटे बालक को देखकर यह अनुमान नही लगाया जा सकता कि वह आगे आकर एक वैज्ञानिक बनगा या चार। इस प्रकार उनका जीवन 'सयोग' पर छोड दिया जाता है। (9) स्त्री पुरुष मे असमान अनुपात—सर एडवर्ड ब्लट ने कहा है कि भारतवर्ष में लडकियों की कमी का प्रमुख कारण बाल-विवाह है। अल्पायु मे विवाह क कारण शीघ्र सन्तान उत्पन्न होने से स्त्रियों का स्वास्थ्य गिर जाता है और कम आयु मे ही बहुत-सी माताओं की मृत्यु हो जाती है।

बाल विवाह के विरुद्ध आन्दोलन
(Movement Against Child Marriage)

बाल-विवाह क विरुद्ध हिन्दू सुधारकों न 19वीं शताब्दी के आरम्भ में आन्दोलन किया। राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बाल-विवाह रोकने के भरसक प्रयत्न किए। सर्वप्रथम 1860 ई. में एसे विवाह रोकन क लिए अधिनियम पास हुआ, जिसके अनुसार, लडकियों क विवाह को निम्नतम आयु 10 वर्ष रखी गई। 1891 ई में एक अन्य अधिनियम पास हुआ जिसके द्वारा विवाह की निम्नतम आयु 12 वर्ष कर दी गई। बाल-विवाह रोकने के लिए 1929 ई. में श्री हरविलास शारदा के प्रयत्नों से एक महत्त्वपूर्ण कानून 'बाल-विवाह निरोधक अधिनियम' (*Child Marriage Restraint-Act, 1929*) पास हुआ। यह अधिनियम 'शारदा एक्ट' क नाम स भी प्रसिद्ध है। इस अधिनियम के अनुसार, विवाह क समय लडक की आयु कम से कम 18 वर्ष और लडकी की आयु 15 वर्ष होनी चाहिए। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा भी विवाह क लिए यही आयु समूह स्वीकार किया गया। परन्तु इस अधिनियम मे मई, 1976 में सशोधन किया गया जिसक अनुसार विवाह के लिए लडक को कम स कम आयु 21 वर्ष और लडकी क लिए 18 वर्ष कर दी गई। 1929 ई में बाल-विवाह निरोधक अधिनियम क पारित हो जान पर भी दश मे बाल-विवाह बन्द नहीं हुए और कानूनी प्रतिकार विफल रह।

कानूनी प्रतिकारों की विफलता के कारण
(Causes of the Failure of Legal Remedies)

अनक कानूनों क उपरान्त भी भारतवर्ष में बाल-विवाह पूर्ववत् ही प्रचलित रह जिसक अग्रलिखित कारण हैं—

(1) विवाह हो जाने पर उसे त्याज्य या अवैध नही माना जा सकता—उपर्युक्त कानून की रचना दोषपूर्ण है। उसकी सबस बडी कमी यह है कि एक बार किसी भी प्रकार विवाह हो जान पर

उसे त्याज्य या अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। इस कारण लोग इस कानून की अवहेलना करने से नहीं डरते और यही सोचते हैं कि विवाह हो जाने पर थोड़ा बहुत दण्ड भुगत लेंगे।

(2) इस अधिनियम से सम्बन्धित कोई अधिकार पुलिस के पास नहीं—बाल-विवाह को ज्ञातव्य अपराध नहीं माना गया है। पुलिस ऐसे विवाह का अपने आप चालान नहीं कर सकती। ऐसी दशा में पड़ौसियों तथा अन्य व्यक्तियों को क्या पड़ी कि वे अपना समय नष्ट करके अदालत में बाल-विवाह करने वालों के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र दें और उनसे शत्रुता मोल लें?

(3) बहुत कम दण्ड—18 वर्ष से 21 वर्ष तक की आयु वाले पुरुष को 15 वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह करने पर 15 दिन का कारावास या एक हजार रुपये तक का जुर्माना या दोनों हो सकते हैं। 21 वर्ष से अधिक आयु वाले पुरुष को 3 मास का कारावास तथा जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है। यह दण्ड बहुत कम है तथा वर पक्ष के लिए एक हजार रुपया कोई बड़ी रकम नहीं है।

(4) दण्ड देने की उचित व्यवस्था का अभाव—इस अधिनियम के अनुसार बाल-विवाह करने वाले के लिए जो कुछ दण्ड रखा गया है, उसका भी उचित रीति से प्रयोग नहीं किया जाता। इस अधिनियम को तोड़ने वालों को अक्सर किसी प्रकार की भी सजा नहीं मिलती और वे बिना सजा के ही छूट जाते हैं। इस कारण बाल-विवाह करने वालों को इस अधिनियम की कुछ भी चिन्ता नहीं रहती।

(5) विवाह के एक वर्ष बाद कोई कार्यवाही सम्भव नहीं—बाल-विवाह निरोधक अधिनियम की एक दुर्बलता यह है कि विवाह के एक वर्ष पश्चात् अदालत इस सम्बन्ध में किसी भी शिकायत पर ध्यान नहीं देती। इस कमी के होने से कानून का प्रभाव बहुत घट गया है।

(6) गाँवों में संगठित व्यवस्था का अभाव—बाल-विवाह विशेष रूप से गाँवों में प्रचलित हैं, परन्तु वहाँ इन्हें रोकने के लिए सरकार द्वारा किसी प्रकार की संगठित व्यवस्था नहीं है। यही कारण है कि अधिकांश ग्रामवासी इस अधिनियम के विषय में कुछ भी नहीं जानते।

(7) अशिक्षा—भारतीय ग्रामों में शिक्षा का अभाव पाया जाता है और कोई भी कानून शिक्षा के अभाव में सफल नहीं हो सकता। शिक्षा के अभाव में ग्रामीण जनता बाल-विवाह की हानियों का ठीक से अनुभव नहीं कर सकी है और आज तक भी उसमें काफी मात्रा में बाल-विवाह प्रचलित हैं।

(8) प्रचार की कमी—प्रचार के अभाव में कोई भी कानून पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। बाल-विवाह से सम्बन्धित कानूनों के प्रचार का पूर्ण प्रयत्न न तो सरकार द्वारा हुआ और न ही समाज सुधारकों द्वारा।

(9) धार्मिक विश्वास बाल-विवाह के पक्ष में—प्राचीन स्मृतिकारों ने धार्मिक ग्रन्थों में बाल-विवाह का समर्थन किया है। लोगों की यह दृढ़ धारणा रही है कि लड़की का विवाह रजोदर्शन से पूर्व कर देना चाहिए। भारतवर्ष जैसे धर्म-प्रधान देश में लोग कानून की अवहेलना तो कर सकते हैं, परन्तु धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकते। इसी कारण बाल-विवाह से सम्बन्धित कानूनों की आज तक अवहेलना होती रही है। स्पष्ट है कि अनेक दोषों के कारण यह अधिनियम बाल-विवाह रोकने में असमर्थ रहा है।

वर्तमान में अनेक सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप बाल-विवाह के प्रतिकूल वातावरण बनता जा रहा है। शिक्षित लोगों में ऐसे विवाह समाप्त प्रायः हो चुके हैं और अशिक्षित लोगों में भी कम होते जा रहे हैं। आजकल आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से लोग,

बाल विवाहों को उचित नहीं समझते। व्यक्तिगत गुण और धन का महत्त्व बढ़ा है। स्त्री-शिक्षा पहले से बढ़ी है। स्त्रियों में जागरुकता आई है, अब वे आत्म-निर्भर होना चाहती हैं; कम आयु में विवाह करना और शीघ्र ही सन्तानोत्पत्ति करना अब वे ठीक नहीं समझतीं। औद्योगीकरण, नगरीकरण, संयुक्त परिवारों के विघटन, व्यक्तिवादी भावना तथा अन्तर्जातीय विवाहों के प्रसार ने बाल विवाहों की संख्या घटाने में निश्चित रूप से योग दिया है। वर्तमान भारत जिन परिवर्तनों के मध्य से गुजर रहा है, जो नवीन परिस्थितियाँ देश में बनती जा रही हैं, उनको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बाल-विवाह कुछ ही वर्षों में समाप्त हो जाएँगे।

विलम्ब विवाह (Late Marriage)

बहुत से विद्वान बाल-विवाह का विरोध करते समय देर से विवाह करने का पक्ष लेते हैं। उनका कहना है कि *लड़कों का विवाह 25 से 30 वर्ष तथा लड़कियों का विवाह 20 से 25 वर्ष की आयु में होना चाहिए।* इस प्रकार के विलम्ब विवाह के कारण लड़के-लड़कियों को जीवन-साथी के चुनाव का उचित अवसर प्राप्त हो जाता है। देर से विवाह होने के कारण उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो पाता है। इसके अतिरिक्त दम्पत्ति को स्वास्थ्य-रक्षा सम्भव हो जाती है। समाज में दुर्बल सन्तान तथा बाल-विधवाओं की समस्या उपस्थित नहीं होती है और अन्तर्जातीय विवाहों को भी प्रोत्साहन मिलता है।

विलम्ब विवाह के कुछ दुष्परिणाम भी हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं— (1) देर से विवाह के कारण लड़के-लड़कियों की आदतें, विचारधाराएँ तथा प्रवृत्तियाँ पूर्णतः परिपक्व हो जाती हैं जिनमें परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता। इस कारण वे एक-दूसरे की इच्छानुसार अपने आपको परिवर्तित नहीं कर पाते हैं, अतः उनके जीवन में सामंजस्य स्थापित होने की सम्भावना कम रहती है और ऐसी दशा में सुखी वैवाहिक-जीवन कठिन हो जाता है। (2) अधिक आयु में विवाह होने से समाज में अनैतिकता की वृद्धि होती है। तरुण होते ही लड़के-लड़कियों में काम-भावना जाग्रत हो उठती है, परन्तु विलम्ब विवाह के कारण इस समय वैध और उचित साधनों से उनकी यौन-इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती। ऐसी दशा में उनमें से कुछ नीति-विरुद्ध अवैध और अनुचित साधनों से अपनी काम-वासना की तृप्ति करते हैं, फलतः समाज में अनैतिकता और व्यभिचार की वृद्धि होती है।

उपर्युक्त दुष्परिणामों के अतिरिक्त विलम्ब विवाह के कारण कई युवक-युवतियों को अपनी यौन-प्रवृत्तियों को काफी समय तक दबाना पड़ता है जिससे कभी-कभी उनका बौद्धिक विकास कठिन हो जाता है। साथ ही स्त्रियों में यौन-प्रवृत्तियों में शिथिलता आ जाती है। कई बार देर से विवाह होने से लड़के-लड़कियाँ पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निभाने में लापरवाही करने और विवाह को भार समझने लगते हैं।

अतः विवाह न तो अल्पायु में ही होने चाहिएँ और न अधिक देर से, बल्कि बीच की आयु में ही होने चाहिएँ। यौवनारम्भ के पश्चात् ही विवाह किये जाने चाहिए। ऐसे विवाह पति-पत्नी के स्वास्थ्य एवं सुखी वैवाहिक जीवन के लिए अत्यन्त लाभप्रद हैं। वैवाहिक जीवन को सुख शांति के लिए यह आवश्यक है कि दोनों ही एक-दूसरे से अनुकूलन का प्रयत्न करें। छोटी-छोटी बातों पर ध्यान न दें, आपसी तनाव की स्थिति पैदा न होने दें और प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखें। यह सब कुछ मन की वृत्ति पर निर्भर करता है।

यद्यपि कई कारणों से देश में बाल विवाह कम अवश्य होते जा रहे हैं तथापि ग्रामों में और विशेषकर निम्न जातियों में ऐसे विवाह अब भी प्रचलित हैं। बाल विवाह रोकने के अनेक प्रयत्न किए गए, बाल-विवाह निरोधक अधिनियम भी 1929 में पारित हुआ। परन्तु अब भी ऐसे विवाह होते हैं। देश में बाल-विवाह के

प्रचलन का समाप्त करन क लिए यह आवश्यक है कि कानून मे सुधार किया जाय और उस कठोरता से लागू किया जाय। शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जाय, अन्तर्जातीय विवाहों का प्रोत्साहित एव दहेज-प्रथा का समाप्त किया जाय। मूल धर्म-ग्रन्थों क आधार पर लागों का यह विश्वास दिलाना भी आवश्यक है कि प्राचीन-काल मे बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था। बाल-विवाह क विरुद्ध प्रचार द्वारा स्वस्थ जनमत तैयार करना अत्यन्त लाभप्रद है। विवाह का सरलीकरण भी आवश्यक है, इस कम खर्चीला बनाया जाना चाहिए। प्राय. दखा जाता है कि निम्न जातियों में बहुत स माता-पिता अपनी लडकियो क अलग-अलग समय पर विवाह में अधिक खर्च स बचन क लिए दो उनका विवाह एक साथ कर दत हैं चाह उनकी आयु कम ही क्यों न हा। स्थानीय आधार पर नियम बनाकर जातीय सगठनों का एसा प्रयास करना चाहिय कि लाग कम स कम खर्च में विवाह सम्पन्न कर सकें जिसस माता-पिता का आर्थिक कठिनाइयों का सामना न करना पड और व कम आयु मे अपनी लडकियों का विवाह करन की आर प्रवृत्त न हों।

विधवा विवाह
(Widow Marriage)

हिन्दू विवाह स सम्बन्धित एक अन्य समस्या विधवा-पुनर्विवाह की है। विधवा उस स्त्री का कहत हैं जिसक पति की मृत्यु हा चुकी हा तथा पति की मृत्यु क उपरान्त जा पति-रहित रहती हा। एसी विधवा का विधि सस्कारों स दूसरा विवाह विधवा-पुनर्विवाह कहलाता है। हिन्दू समाज में पुरुष का यह अधिकार है कि पहली पत्नी की मृत्यु क पश्चात् वह दूसरा विवाह कर ल और दूसरी पत्नी की मृत्यु क बाद तीसरा और चौथा विवाह। लकिन स्त्री का पति की मृत्यु क पश्चात् पुनर्विवाह क अधिकार स वचित रखा गया है, जीवनपर्यन्त उस वैधव्य जीवन व्यतीत करन क लिए बाध्य किया गया है। पुरुष न धर्म क नाम पर विधवा का सती हान का आदश दिया और स्वय इच्छानुसार एक क बाद दूसरी और तीसरी स्त्री स विवाह करता रहा। यह स्त्री क प्रति पुरुष का अमानवीय व्यवहार है।

वैदिक काल में विधवा विवाह पर काई प्रतिबन्ध नहीं था। ऋग्वद में पति की चिता क निकट बैठी हुई विधवा स कहा गया है कि जिसक पास तुम बैठी हा अब वह निर्जीव है। जिस व्यक्ति न पति क रूप में तुम्हारा हाथ पकडा, तुमस प्रम किया, उसक प्रति तुम्हारा पत्नीत्व पूर्ण हा चुका है। अथर्ववद मे विधवा स कहा गया है कि उसक पास जाओ जा तुम्हारा हाथ पकडता है तथा प्रेम करता है। तुम अब उसक साथ पति-पत्नी क सम्बन्ध में प्रविष्ट हा चुकी हा। इसक अलावा वैदिक काल में मृत पति क भाई के साथ विधवा का विवाह ता सामान्य-सी बात थी। डॉ. कापडिया न अनेक प्रमाणो के आधार पर यह मत व्यक्त किया है।[1] मृत पति क परिवार क बाहर अन्य किसी व्यक्ति स भी विधवा पुनर्विवाह कर सकती थी और ऐसे विवाह हात भी थ। डॉ. अल्तेकर न कहा है, "वैदिक साहित्य में विधवाओं के नियमित पुनर्विवाह क उदाहरण थाडे से हैं, क्योंकि उस समय पुनर्विवाह की बजाय 'नियाग' अधिक प्रचलित था।"[2] वैदिक-काल में विधवा-विवाह प्रचलित थ। धर्मसूत्रों (ईसा क 400 वर्ष पूर्व स 100 वर्ष पश्चात् तक का काल) न स्त्रियों को उनक पति की मृत्यु के अनुमान मात्र के आधार पर पुनर्विवाह की आज्ञा दी है।

धीरे-धीरे विधवा विवाह का प्रचलन कम हाने लगा। ईसा के 300 वर्ष पूर्व से 200 वर्ष पश्चात् के काल में विधवा-पुनर्विवाह को उपक्षा की दृष्टि से देखा जान लगा, उसके पुत्र को उत्तराधिकार की याजना में निम्न समझा गया। ईसा क 200 वर्ष पश्चात् से विधवा-विवाह का विराध

1 K.M Kapadia op cit pp 58-59
2 References to regular marriages of widows in Vedic Literature are few probably because Niyoga was then more popular than remarriage —A S Altekar op cit 151

किया जाने लगा। विष्णु तथा मनु ने कहा है कि मृत्यु के पश्चात् विधवा को पुनर्विवाह का विचार भी मन में न लाना चाहिए। इस काल में बाल विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा प्राप्त थी।

ईसा के 600 वर्ष पश्चात् से स्मृतिकारों ने विधवा विवाह को अत्यन्त निन्दनीय माना तथा इसका घोर विरोध किया। ईसा के 1000 वर्ष पश्चात् तो स्थिति इस सीमा तक पहुँच गई कि बाल-विधवाओं तक का पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई। डॉ. अल्तेकर की मान्यता है कि ईसा के करीब 1100 वर्ष पश्चात् से तो विधवा पुनर्विवाह पूर्णतः ही समाप्त प्रायः हो गए, यहाँ तक कि बाल-विधवाओं का भी पुनर्विवाह नहीं हो सकता था। यह प्रतिबन्ध हिन्दू समाज के उच्च वर्गों में ही लागू था। निम्न वर्गों में-जिनमें हिन्दू समाज के 80 प्रतिशत तक लोग आ जाते हैं, विधवा-पुनर्विवाह प्रचलित रहे।[1] मुस्लिम-काल में रक्त-शुद्धता बनाये रखने तथा मुसलमानों के हिन्दू विधवाओं के साथ विवाह-सम्बन्ध रोकने के उद्देश्य से विधवाओं के पुनर्विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। ये प्रतिबन्ध केवल कुछ उच्च जातियों में ही पाये जाते थे, निम्न जातियों में नहीं।

हिन्दू समाज में विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है। उन्हें जीवित रहते हुए भी मृतक-समान जीवन व्यतीत करना पड़ा। यद्यपि उन्हें समाज ने जीवित रहने का अधिकार तो दिया है लेकिन जीने के साधन प्रदान नहीं किये। विधवा होने के कारण उन्हें जीवन के सब प्रकार के सुखों से वंचित कर दिया जाता है। जो अबोध बाल-विधवाएँ विवाह तथा वैधव्य का अर्थ भी नहीं समझतीं उन्हें भी जीवन भर वैधव्य जीवन बिताने के लिए बाध्य किया जाता है। यह अबोध बालिकाओं के प्रति हिन्दू समाज का कितना अन्याय है, इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है। विधवाएँ अपशकुन समझी जाती हैं, शुभ कार्यों के अवसर पर उन्हें देखना बुरा माना जाता है। सब प्रकार के अधिकारों से उन्हें वंचित रखा जाता है। ये परिवार के परिश्रम-साध्य कार्यों में लगी रहती हैं। उनका जीवन अत्यन्त दयनीय होता है। उन्हें काली अथवा सफेद मैली-सी साड़ी पहननी होती है व शरीर पर कोई शृंगार नहीं कर सकतीं। कहीं-कहीं तो उनके बाल तक कटवा दिए जाते हैं। सन् 1937 के पूर्व तक तो विधवा को अपने पति की सम्पत्ति में हिस्सा तक प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। स्पष्ट है कि विधवाओं को अत्यन्त कष्टपूर्ण जीवन बिताना पड़ता है। कुछ शिक्षित परिवारों में विधवाओं की इस स्थिति में अवश्य सुधार हो रहा है, परन्तु अधिकांश की स्थिति निश्चित रूप से दयनीय है।

विधवा-विवाह निषेध के कारण हिन्दू समाज में सती प्रथा प्रचलित हुई और इस समस्या की ओर प्रसिद्ध समाज-सुधारक राजा राममोहन राय का ध्यान गया। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने 1829 ई. में रेगुलेशन नम्बर 17 बनाकर सती प्रथा को समाप्त कर दिया। सती प्रथा को तो समाप्त कर दिया गया, परन्तु विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई। विधवाओं की अत्यन्त दयनीय दशा से व्याकुल होकर इस समस्या के निराकरण के लिए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने आन्दोलन प्रारम्भ किया और अनेक प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1856 ई. में 'हिन्दू विधवा विवाह अधिनियम' (Hindu Widow Remarriage Act) पारित हुआ। इस अधिनियम द्वारा उन विधवाओं को, जिन्हें विवाह का अधिकार प्राप्त नहीं था, कानून के आधार पर विवाह करने की आज्ञा प्रदान की गयी, परन्तु अज्ञानता, रूढ़िवादिता, अन्ध-विश्वास एवं धार्मिक प्रतिबन्धों के

1 A S Altekar op cit p 156

कारण व्यावहारिक रूप में विधवाओं को इस अधिनियम से कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इतना अवश्य है कि पिछले सत्तर-अस्सी वर्षों के आर्य समाज तथा अन्य संगठनों के प्रयत्नों से और पाश्चात्य शिक्षा एवं नवीन सामाजिक मूल्यों के प्रसार से विधवा पुनर्विवाह के प्रति लोगों के रुख में परिवर्तन आ रहा है। अब विधवा-विवाह को पहले के समान बुरा नहीं समझा जाता। परन्तु विधवा पुनर्विवाह करने वाले लोगों की संख्या आज भी बहुत सीमित है।

विधवा विवाह निषेध के प्रचलन की मात्रा
(Extent of the Practice of Prohibition of Widow Marriage)

सभी हिन्दुओं में विधवा-विवाह निषेध का प्रचलन नहीं है। हिन्दू समाज के उच्च वर्ग तथा कुछ मध्यम वर्ग के लोगों में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं है। निम्न जातियों में विधवा पुनर्विवाह को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता तथा उनमें ऐसे विवाह सदैव प्रचलित रहे हैं। क्रूक ने पिछली शताब्दी के अन्त में उत्तर प्रदेश की सामाजिक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि केवल 24 प्रतिशत जातियाँ विधवा-विवाह का निषेध करती हैं, शेष 76 प्रतिशत जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित हैं। स्पष्ट है कि कुछ उच्च जातियों को छोड़कर अन्य सभी जातियों में ऐसे विवाह होते हैं।

मेन ने बताया है कि दक्षिण भारत की अधिकांश जातियों में विधवा विवाह का प्रचलन है। गूजर, अहीर, कुरमी और गड़रिया आदि जातियों में विधवा-विवाह होते हैं। उत्तरी बिहार के कायस्थों, ब्राह्मणों, राजपूतों और बनियों के अलावा सभी जातियों में इस प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। असम तथा दार्जिलिंग की केवल कुछ उच्च जातियों के अतिरिक्त सभी जातियों में विधवा-विवाह होते हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दू समाज में विधवा विवाह के निषेध का नियम सब लोगों में समान रूप से प्रचलित नहीं है। इस नियम का प्रचलन मुख्य रूप से उच्च जातियों तक ही सीमित है परन्तु जिन उच्च जातियों में विधवा विवाह के निषेध का प्रचलन है, उनमें विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। एस एन अग्रवाल के अनुसार, "ग्रामीण देहली में निम्न जातियों में विधवा पुनर्विवाह की दर 62 प्रतिशत और पश्चिमी भारत में 41 प्रतिशत पाई जाती है। ब्राह्मण, बनिये और क्षत्रियों में विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन अब भी बहुत कम है। ग्रामीण रोहतक में 54 ब्राह्मण विधवाओं में से केवल 3 ने, 12 बनिया विधवाओं में से 1 ने और 17 क्षत्रिय विधवाओं में से केवल एक ने पुनर्विवाह किए। इसी प्रकार ग्रामीण देहली में 19 ब्राह्मण विधवाओं में से किसी ने भी पुनर्विवाह नहीं किया। जब तक ये जातियाँ निःसंकोच रूप से विधवा विवाह नहीं अपनाती तब तक इस ओर अधिक प्रगति होना कठिन मालूम पड़ता है।"[1] इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि उच्च जातियों में अब भी विधवा विवाह का प्रचलन बहुत कम है।

विधवा-विवाह निषेध के कारण
(Causes of Widow-Marriage Prohibition)

भारतवर्ष में कुछ ऐसे सामाजिक और धार्मिक कारण रहे हैं जिन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध लगाने में योग दिया है। ये निम्नलिखित हैं—

---

1 S N Agrawala India's Population Problems, p 100

(1) हिन्दू समाज में विवाह में कन्या-दान का आदर्श रहा है। पिता अपनी कन्या का दान किसी पुरुष को विधिवत् एक ही बार कर सकता है। मृत्यु के पश्चात् भी दान में प्राप्त की गई वस्तु पर पति का अधिकार बना रहता है। एसी दशा में कन्या का दान फिर से नहीं किया जा सकता। (2) स्त्रियों का सतीत्व एवं पतिव्रत धर्म पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण भी विधवा-विवाह निषेध का प्रचलन हुआ। पति की मृत्यु के पश्चात् किसी अन्य पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर यौन सम्बन्ध की बात सोचना भी पाप समझा जाने लगा। इसके पीछे यह धारणा प्रचलित रही है कि विवाह जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है जिसका निश्चय स्वर्ग में होता है और मृत्यु के पश्चात् पति-पत्नी पुन स्वर्ग में मिलते हैं। यह मात्र पाखण्ड है और कुछ नहीं। एसी दशा में पुरुष अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद पुन. विवाह क्यों करता है? क्या सारे आदर्श और प्रतिबन्ध केवल स्त्रियों के लिए ही हैं? (3) हिन्दू समाज में पवित्रता की धारणा और रक्त-शुद्धता पर भी बल दिया गया है। हिन्दू धर्म पर जैन, बौद्ध, मुस्लिम धर्मों के समय-समय पर आक्रमण होते रहे हैं। हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु ब्राह्मणों द्वारा पवित्रता की धारणा पर जोर दिया गया और अनेक सामाजिक निषेधों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ जिनमें विधवा-विवाह निषेध भी था। बहुत-से मुसलमान हिन्दू स्त्रियों से-यहाँ तक कि विधवाओं से भी विवाह करने के इच्छुक थे। रक्त-शुद्धता के लिए ऐसी स्थिति में एक ओर बाल-विवाहों को प्रोत्साहित किया गया और दूसरी ओर विधवा-विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये गये। (4) भारतवासी भाग्यवादिता में अधिक विश्वास करते हैं। किसी स्त्री का विधवा होना उसके फूटे भाग्य का परिणाम समझा गया, स्वयं विधवाएँ भी अपने को अभागिन समझने लगी। अन्धविश्वास के कारण ऐसी विधवाओं से साधारणत कोई पुरुष विवाह करने को भी तैयार नहीं होता। (5) आर्थिक दृष्टि से स्त्रियों के, परिवार के अन्य सदस्यों पर निर्भर रहने के कारण विधवाओं पर पुनर्विवाह सम्बन्धी कठोर नियन्त्रण रहा है। उन्हें तो स्वयं के तथा अपने बालकों के भरण-पोषण के लिए भी परिवार के अन्य सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। एसी दशा में पुनर्विवाह के सम्बन्ध में सोचना और परिवार के मुखिया के सम्मुख अपने विचार प्रकट करना उसके लिए प्राय असम्भव रहा है। परिवार में आयी हुई स्त्री का पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह कर उसे किसी अन्य परिवार को सौंप देना साधारण परिवारों के लिए कल्पना के बाहर की बात रही है। (6) जाति-व्यवस्था के कठोर नियन्त्रण भी विधवा-विवाह निषेध के लिए उत्तरदायी हैं। जो विधवाएँ पुनर्विवाह की सोचती भी हैं, उन्हें जाति निष्कासन का भय रहता है। (7) स्त्रियों की अशिक्षा के कारण भी विधवा-विवाह निषिद्ध रहे हैं। शिक्षा के अभाव में वे अज्ञानता अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता के चंगुल में फंसी रही हैं। उनमें सामाजिक चेतना का अभाव रहा है। वे समाज-सुधार आन्दोलन में आगे नहीं आ सकी हैं। अपनी अशिक्षा एवं रूढ़िवादी धार्मिक विश्वासों के कारण ही वे अपने दयनीय वैधव्य जीवन के विरुद्ध आवाज नहीं उठा पाई हैं। ये सब कारण विधवा पुनर्विवाह निषेध के प्रचलन में प्रमुख रहे हैं।

विधवा-विवाह निषेध के परिणाम
(Consequences of Prohibition of Widow-marriage)

विधवा-विवाह निषेध का समाज तथा नैतिकता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है तथा इस निषेध के अनेक दुष्परिणाम हुए हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. सती प्रथा का प्रचलन—विधवा-विवाह के निषध के कारण सती-प्रथा का प्रचलन सामान्य हा गया। जो विधवाएँ बाधित ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना कठिन पाती, व अपन मृत पति क साथ चिता में जीवित ही मर जाना अधिक उत्तम समझती। पति की मृत्यु क बाद विधवा के रूप में कष्टमय जीवन बिताने की बजाय अपने पति के साथ मर जाना वे ज्यादा अच्छा समझती। जब एक बार यह प्रथा चल पडी ता इसन धीरे-धीरे रूढि का रूप ग्रहण कर लिया और फिर समाज न बहुत-सी अनिच्छुक विधवाओ का जबरदस्ती पति क साथ चिता मे जलन क लिए झोंक दिया। यह समाज का विधवाओं क साथ कैसा भयकर अत्याचार था।

2. पारिवारिक झगड़े—सयुक्त हिन्दू परिवार मे पति ही स्त्री का मुख्य आश्रय हाता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसे दु खमय वैधव्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना पडता है। पति की मृत्यु क बाद उस परिवार मे अनक प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पडती हैं। आरामदायक जीवन ता दूर रहा, उसे खान-पहनन तक को पूरा नहीं दिया जाता और उस रात-दिन कठिन परिश्रम करना पडता है। उस सास, ननद ताने मारती रहती हैं तथा घर मे हान वाली सभी अशुभ घटनाओ का सम्बन्ध उसी की उपस्थिति स लगाया जाता है। शुभ कार्य क समय उसकी उपस्थिति का अपशकुन माना जाता है। हिन्दू परिवारो म विधवा माँ के बच्चों का साधारणत व्यक्तित्व क विकास हतु पूर्ण अवसर प्रदान नहीं किए जाते। एसी परिस्थितियो मे विधवा दु ख स व्याकुल हा उठती हैं और परिवार के सदस्यों स घृणा करन लगती है। अन्त म परिणाम यह हाता है कि पारिवारिक झगडे हान लगत हैं जा सभी दृष्टिकाणा स हानिकारक हैं।

3. अन्य धर्मों की स्वीकृति—यह बात पूर्णत सत्य है कि बहुत सी हिन्दू विधवाओं ने विधवा-विवाह निषध के कारण मुस्लिम और ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया तथा व सदैव क लिए हिन्दू समाज स अलग हा गईं। यह सर्वविदित है कि एक विधवा का हिन्दू समाज मे कितना अपमानित और दु खी जीवन व्यतीत करना पडता है। विधवा हाते ही एक स्त्री को यहाँ जीवन क सब प्रकार क सुखो स वचित कर, उस आत्म-सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करन के लिए कहा जाता है। वास्तव मे यदि देखा जाए ता अभावमय स्थिति मे एक युवती विधवा के लिए सब प्रकार की यौन-इच्छाओं का दमन कर आत्म-सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना अत्यन्त कठिन है। जब हिन्दू विधवाएँ एसा नही कर पाती ता उन्हें विवश होकर अन्य धर्म स्वीकार करना पडता है। मुसलमान या ईसाई बनकर वे विवाह कर लेती हैं तथा अपने दु खमय जीवन से छुटकारा पाती हैं।

4. अनैतिकता और व्यभिचार मे वृद्धि—विधवा विवाह निषध के कारण समाज में अनैतिकता और व्यभिचार फैलता है। यह आशा करना कि विधवाएँ यौन-इच्छाओं का सदैव के लिए दमन करके आत्म-सयम-पूर्ण जीवन व्यतीत करेगी, पूर्णत. निरर्थक है। काम-वासना की पूर्ति की इच्छा मनुष्य-मात्र मे स्वाभाविक है। इसके अलावा यदि विधवाएँ कलक रहित जीवन व्यतीत करना चाहें तो बहुत स दुष्ट व्यक्ति उन्ह ऐसा नही करने दत। व अनेक प्रलोभन दकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं।

5. वेश्यावृत्ति मे वृद्धि—समाज में वेश्याओं के बढन का प्रमुख कारण हिन्दुओ में विधवा पुनर्विवाह निषेध है। विधवाओ पर किए गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि विधवाओं को पुनर्विवाह का

अधिकार नहीं होने के कारण अनेक को विवशतावश वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी है। वेश्याओं की नई भर्ती विधवाओं से ही होती है। आर्थिक संकटों और पारिवारिक संघर्षों से तंग आकर बहुत-सी विधवाएँ वेश्यावृत्ति ग्रहण कर लेती हैं।

6. सामाजिक अपराध— विधवाओं के यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से उनके गर्भ ठहर जाता है और अवैध सन्तान उत्पन्न होती है। अपने पाप को छिपाने के लिए उन्हें भ्रूण-हत्याएँ एवं शिशु-हत्याएँ करनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त दुःखी वैधव्यपूर्ण जीवन से मुक्त होने के लिए बहुत-सी विधवाएँ आत्महत्या कर लेती हैं। बहुत-सी विधवाओं को, जो अन्य पुरुषों से यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से गर्भवती हो जाती हैं, समाज के डर से आत्महत्या तक करनी पड़ती है।

विधवा-विवाह निषेध के कारण हिन्दू समाज को बहुत अधिक हानि हुई है. इस निषेध के कारण लाखों विधवाओं को दुःखी जीवन व्यतीत करना पड़ा है तथा समाज और नैतिकता पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा है।

विधवा पुनर्विवाह का औचित्य
(Justification of Widow-Remarriage)

विधवा पुनर्विवाह के औचित्य के निम्नलिखित कारण हैं—

1. विधवा विवाह का नैतिक औचित्य
(Ethical justification of Widow marriage)

विधवा पुनर्विवाह नैतिक दृष्टि से न्याय-संगत है। विधवाओं को अनिच्छापूर्वक अविवाहित रहने के लिए बाध्य करना उचित नहीं है। बाल-विधवाओं को सब प्रकार के सांसारिक सुखों का उपभोग करने से वंचित रखना सब दृष्टियों से अनुचित है तथा यह उनके प्रति घोर अन्याय है। विधवा पुनर्विवाह से अनेक नैतिक लाभ हैं तथा बहुत-सी सामाजिक बुराइयों के दूर होने की आशा है। निम्नलिखित कारणों के आधार पर विधवा पुनर्विवाह का नैतिक औचित्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है—

(i) विधवाओं की हृदयस्पर्शी अवस्था— समाज विधवाओं को विवश करता है कि वे अपनी सभी इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं का त्याग कर नैराश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करें। उन्हें अच्छे वस्त्राभूषण पहनने, शृंगार करने या अन्य कोई सुहाग-चिन्ह धारण करने से रोक दिया जाता है। उनका वर्तमान असहनीय तथा भविष्य अन्धकारमय होता है। ऐसी लाखों निस्सहाय नारियों की अन्तर्वेदना का कोई भी अनुभव नहीं करता। इन विधवाओं की दशा वास्तव में अत्यन्त हृदयविदारक है। नैतिक दृष्टि से उनके प्रति यह समाज का घोर अन्याय है।

(ii) यौन-सम्बन्धी दोहरी नैतिकता का मापदण्ड अनुचित —हिन्दू धर्मशास्त्रों ने स्त्री तथा पुरुषों के लिए यौन-सम्बन्धी नैतिकता के विभिन्न मापदण्ड प्रस्तावित किए हैं। पुरुष के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि उसे पहली पत्नी की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। दूसरी ओर, स्त्री को इस प्रकार अधिकार से वंचित रखा गया है। मनुस्मृति में लिखा है कि पूर्व मृत पत्नी की अन्त्येष्टि में अग्नि देकर गृहस्थाश्रम हेतु फिर विवाह कर ले फिर अग्निहोत्र ले। स्त्री तथा पुरुष के लिए इस प्रकार के विभिन्न मापदण्ड नैतिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित हैं। जहाँ विधुर को विवाह करने की आज्ञा है, वहीं साथ ही विधवाओं को भी पुनर्विवाह करने की आज्ञा होनी चाहिए।

(iii) आत्म-संयम एक विडम्बना—हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार विधवाओं को आत्म-सयम पूर्ण जीवन बिताना चाहिए। आत्म-सयम का सिद्धान्त केवल एक विडम्बना है, जो दूसरों के लिए सुगमता से प्रस्तावित किया जा सकता है, व्यवहार रूप में इसका पालन अत्यधिक कठिन है। काम-इच्छा स्वाभाविक ही है और काम-वासना की पूर्ति प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से आवश्यक है। यदि काम-वासना का दमन करने का प्रयत्न किया जाता है तो कई प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक राग उत्पन्न हा सकत हैं। इसलिए उचित यही है कि विधवा पुनर्विवाह को प्रात्साहित कर, बढती हुई अनैतिकता को राका जाए।

(iv) व्यभिचार को रोकने के लिए— सती प्रथा समाप्त हाने के बाद विधवाओं की समस्या और भी गम्भीर हो गई है। विधवा-पुनर्विवाह निषेध के कारण अनुचित यौन-सम्बन्ध बढते हैं। वयस्क विधवाओ क लिए यौन-इच्छाओं का दमन करना अत्यन्त कठिन है। जब वे ऐसा नही कर पाती ता उन्हें बाध्य हाकर अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित करन पडत हैं। इसके अतिरिक्त समाज क दुश्चरित्र व्यक्ति विधवाओं की दयनीय स्थिति से लाभ उठाकर उन्हें पथ-भ्रष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार समाज में व्यभिचार और अनैतिकता को प्रात्साहन मिलता है।

(v) वेश्यावृत्ति तथा धर्म परिवर्तन रोकने के लिए—यौन-इच्छाओं का दमन न कर सकने क कारण अनक विधवाएँ अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। जब वे अपने पाप को नहीं छिपा पाती ता परिवार और समाज उनका बहिष्कार कर देता है। एसी दशा में अपनी आजीविका चलाने हतु उन्हे विवश हाकर वेश्यावृत्ति अपनानी पडती है या अन्य धर्म स्वीकार करके नये सिरे से अपना जीवन चलाना पडता है।

(vi) विधवाओ के बालको की बर्बादी रोकने तथा उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए—विधवा माताओं क बालकों का भविष्य बहुत अन्धकारमय होता है। जहाँ विधवाओं को दु:खद जीवन व्यतीत करना पडता है, वहाँ उनक बालकों की तरफ कोई ध्यान नही देता है। उन्हें व्यक्तित्व क विकास हतु उचित परिस्थितियाँ प्रदान नही की जाती। राष्ट्र की निधि तथा राष्ट्र के भविष्य इन बालकों की बर्बादी रोकने तथा इनके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए विधवा-पुनर्विवाह नैतिक दृष्टि स उचित है।

(vii) अपराध रोकने के लिये—विधवा विवाह निषेध के कारण अनेक सामाजिक अपराधों को प्रात्साहन मिलता है। बहुत-सी विधवाओं के अनुचित यौन-सम्बन्धो के कारण गर्भ ठहर जाता है और इसे छिपाने हतु उन्हें भ्रूण-हत्या या शिशु-हत्या करनी पडती है। कई बार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हा जाती हैं कि उन्हे आत्म-हत्या तक का भी सहारा लेना पड़ता है। सामाजिक अपराधों को रोकने के लिए विधवा पुनर्विवाह अनिवार्य है।

(viii) समाज के एक बडे अंग की समस्या—विधवाओ की समस्या केवल कुछ ही नारियो की समस्या नही है बल्कि समाज के एक बहुत बडे अग, अर्थात् करीब दो करोड स अधिक नारियों की समस्या है। उन्हे अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं से जकडे रखना और व्यक्तित्व-विकास के अवसर प्रदान नही करना आज के प्रजातन्त्र और समानता के युग में सभी दृष्टियों से अनुचित है। पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज के इतने बडे अग को पुनर्विवाह का अधिकार देकर उपयोगी बनाया जाए।

2. धार्मिक आधार (Religious Basis)

यदि हम प्राचीन हिन्दू धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि वैदिक काल में विधवा-विवाह का प्रचलन था। पुनर्विवाह करने वाली विधवा को पुनर्भू कहा जाता था। कापड़िया ने लिखा है, "विधवा पुनर्विवाह वैदिक काल में ही काफी प्रचलित और सामान्य प्रथा के रूप में स्वीकृत प्रतीत होता है।"[1] वशिष्ठ, कौटिल्य तथा नारद ने विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित नियम निर्धारित किये और विधवाओं को विवाह की आज्ञा प्रदान की गई, परन्तु मध्य युग के धर्मशास्त्रों ने विधवा विवाह का विरोध किया। मध्य युग के धर्मशास्त्रों पर अधिक विश्वास न करके हमें मूल धार्मिक ग्रन्थों का अनुसरण करना चाहिए, अत: यह अनिवार्य है कि विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया जाए।

3. बहुमत की पुकार (Voice of Majority)

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कृति के प्रसार से भारतवर्ष के शिक्षित लोगों के दृष्टिकोणों में काफी परिवर्तन हो चुका है और अधिकांश व्यक्ति आज विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में हैं। स्वयं विधवाएँ भी पुनर्विवाह के पक्ष में हैं, ऐसा अनेक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है। कापड़िया ने एक सर्वेक्षण के आधार पर लिखा है कि साक्षात्कार किये गये विश्वविद्यालय के 513 छात्रों में से 345 ने बताया कि जो विधवाएँ तरुण, सन्तानहीन या आर्थिक संकट में हों, उनका पुनर्विवाह हो जाना चाहिए। उन्होंने लिखा है "यद्यपि शिक्षित लोगों में अधिकांश पुनर्विवाह के पक्ष में हैं, तथापि अल्प संख्या अब भी इसके विरोध में है।"[2] अत: यह आवश्यक है कि हमें जनमत का आदर करते हुए विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिए।

4. मानवता की माँग (Demand of Humanity)

आज मानवता की माँग है कि विधवाओं को वे सब अधिकार प्रदान किए जाएँ जो समाज में पुरुषों को प्राप्त हैं। अब समय है कि सदियों से शापित विधवाओं को मानव के रूप में जीवित रहने का अधिकार दिया जाए, आज जब 'जीवित रहो और जीवित रहने दो' के सिद्धान्त में विश्वास किया जाता है तब यह आवश्यक है कि जिस प्रकार हिन्दू समाज के अधिकांश सदस्य अपना जीवन व्यतीत करते हैं उसी प्रकार का भेद-भाव रहित जीवन व्यतीत करने की आज्ञा विधवाओं को भी प्रदान की जाए। विश्व के सभी प्रगतिशील देशों में सार्वभौमिक मानव अधिकारों की घोषणा की जा चुकी है, फिर लाखों भारतीय विधवाओं को जीवित रहने के मौलिक अधिकार से क्यों वंचित किया जाता है।

इन तर्कों के आधार पर, हम यही कह सकते हैं कि दुराचार, अनाचार भ्रूण-हत्या, शिशु-हत्या, आत्महत्या तथा अनेक अन्य सामाजिक बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए विधवा पुनर्विवाह अनिवार्य है तथा ऐसे विवाह नैतिक दृष्टि से पूर्णत: उचित हैं।

विधवा विवाह के अनुकूल परिस्थितियाँ
(Favourable Conditions for Widow Marriage)

अंग्रेजी शासन-काल में भारत में ऐसी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ पैदा हुईं जिन्होंने विधवाओं के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने में योग दिया। ये परिस्थितियाँ इन कारणों के फलस्वरूप बन पायीं—

---

1 "Widow remarriage seems to have been fairly well known and accepted as normal from vedic period onwards." - K.M Kapadia op cit p 61

2 Ibid p 176

(iii) आत्म-संयम एक विडम्बना—हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार विधवाओं को आत्म-संयम पूर्ण जीवन बिताना चाहिए। आत्म-संयम का सिद्धान्त केवल एक विडम्बना है, जो दूसरों के लिए सुगमता से प्रस्तावित किया जा सकता है, व्यवहार रूप में इसका पालन अत्यधिक कठिन है। काम-इच्छा स्वाभाविक ही है और काम-वासना की पूर्ति प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से आवश्यक है। यदि काम-वासना का दमन करने का प्रयत्न किया जाता है तो कई प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए उचित यही है कि विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित कर, बढ़ती हुई अनैतिकता को रोका जाए।

(iv) व्यभिचार को रोकने के लिए—सती प्रथा समाप्त होने के बाद विधवाओं की समस्या और भी गम्भीर हो गई है। विधवा-पुनर्विवाह निषेध के कारण अनुचित यौन-सम्बन्ध बढ़ते हैं। वयस्क विधवाओं के लिए यौन-इच्छाओं का दमन करना अत्यन्त कठिन है। जब वे ऐसा नहीं कर पाती तो उन्हें बाध्य होकर अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त समाज के दुश्चरित्र व्यक्ति विधवाओं की दयनीय स्थिति से लाभ उठाकर उन्हें पथ-भ्रष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार समाज में व्यभिचार और अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

(v) वेश्यावृत्ति तथा धर्म परिवर्तन रोकने के लिए—यौन-इच्छाओं का दमन न कर सकने के कारण अनेक विधवाएँ अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। जब वे अपने पाप को नहीं छिपा पाती तो परिवार और समाज उनका बहिष्कार कर देता है। ऐसी दशा में अपनी आजीविका चलाने हेतु उन्हें विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है या अन्य धर्म स्वीकार करके नये सिरे से अपना जीवन चलाना पड़ता है।

(vi) विधवाओं के बालकों की बर्बादी रोकने तथा उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए—विधवा माताओं के बालकों का भविष्य बहुत अन्धकारमय होता है। जहाँ विधवाओं को दुःखद जीवन व्यतीत करना पड़ता है, वहाँ उनके बालकों की तरफ कोई ध्यान नहीं देता है। उन्हें व्यक्तित्व के विकास हेतु उचित परिस्थितियाँ प्रदान नहीं की जाती। राष्ट्र की निधि तथा राष्ट्र के भविष्य इन बालकों की बर्बादी रोकने तथा इनके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए विधवा-पुनर्विवाह नैतिक दृष्टि से उचित है।

(vii) अपराध रोकने के लिये—विधवा विवाह निषेध के कारण अनेक सामाजिक अपराधों को प्रोत्साहन मिलता है। बहुत-सी विधवाओं के अनुचित यौन-सम्बन्धों के कारण गर्भ ठहर जाता है और इसे छिपाने हेतु उन्हें भ्रूण-हत्या या शिशु-हत्या करनी पड़ती है। कई बार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उन्हें आत्म-हत्या तक का भी सहारा लेना पड़ता है। सामाजिक अपराधों को रोकने के लिए विधवा पुनर्विवाह अनिवार्य है।

(viii) समाज के एक बड़े अंग की समस्या—विधवाओं की समस्या केवल कुछ ही नारियों की समस्या नहीं है बल्कि समाज के एक बहुत बड़े अंग, अर्थात् करीब दो करोड़ से अधिक नारियों की समस्या है। उन्हें अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं से जकड़े रखना और व्यक्तित्व-विकास के अवसर प्रदान नहीं करना आज के प्रजातन्त्र और समानता के युग में सभी दृष्टियों से अनुचित है। पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज के इतने बड़े अंग को पुनर्विवाह का अधिकार देकर उपयोगी बनाया जाए।

2. धार्मिक आधार (Religious Basis)

यदि हम प्राचीन हिन्दू धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि वैदिक काल में विधवा-विवाह का प्रचलन था। पुनर्विवाह करने वाली विधवा को पुनर्भू कहा जाता था। कापड़िया ने लिखा है, "विधवा पुनर्विवाह वैदिक काल में ही काफी प्रचलित और सामान्य प्रथा के रूप में स्वीकृत प्रतीत होता है।"[1] वशिष्ठ, कौटिल्य तथा नारद ने विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित नियम निर्धारित किये और विधवाओं को विवाह की आज्ञा प्रदान की गई, परन्तु मध्य-युग के धर्मशास्त्रों ने विधवा विवाह का विरोध किया। मध्य युग के धर्मशास्त्रों पर अधिक विश्वास न करके हमें मूल धार्मिक ग्रन्थों का अनुसरण करना चाहिए, अतः यह अनिवार्य है कि विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया जाए।

3. बहुमत की पुकार (Voice of Majority)

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कृति के प्रसार से भारतवर्ष के शिक्षित लोगों के दृष्टिकोणों में काफी परिवर्तन हो चुका है और अधिकांश व्यक्ति आज विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में हैं। स्वयं विधवाएँ भी पुनर्विवाह के पक्ष में हैं, ऐसा अनेक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है। कापड़िया ने एक सर्वेक्षण के आधार पर लिखा है कि साक्षात्कार किये गये विश्वविद्यालय के 513 छात्रों में से 345 ने बताया कि जो विधवाएँ तरुण, सन्तानहीन या आर्थिक संकट में हों, उनका पुनर्विवाह हो जाना चाहिए। उन्होंने लिखा है "यद्यपि शिक्षित लोगों में अधिकांश पुनर्विवाह के पक्ष में हैं, तथापि अल्प संख्या अब भी इसके विरोध में है।"[2] अतः यह आवश्यक है कि हमें जनमत का आदर करते हुए विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिए।

4. मानवता की माँग (Demand of Humanity)

आज मानवता की माँग है कि विधवाओं को वे सब अधिकार प्रदान किए जाएँ जो समाज में पुरुषों को प्राप्त हैं। अब समय है कि सदियों से शापित विधवाओं को मानव के रूप में जीवित रहने का अधिकार दिया जाए। आज जब 'जीवित रहो और जीवित रहने दो' के सिद्धान्त में विश्वास किया जाता है, तब यह आवश्यक है कि जिस प्रकार हिन्दू समाज के अधिकांश सदस्य अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उसी प्रकार का भेद-भाव रहित जीवन व्यतीत करने की आज्ञा विधवाओं को भी प्रदान की जाए। विश्व के सभी प्रगतिशील देशों में सार्वभौमिक मानव अधिकारों की घोषणा की जा चुकी है, फिर लाखों भारतीय विधवाओं को जीवित रहने के मौलिक अधिकार से क्यों वंचित किया जाता है।

इन तर्कों के आधार पर, हम यही कह सकते हैं कि दुराचार, अनाचार भ्रूण-हत्या, शिशु-हत्या, आत्महत्या तथा अनेक अन्य सामाजिक बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए विधवा पुनर्विवाह अनिवार्य है तथा ऐसे विवाह नैतिक दृष्टि से पूर्णतः उचित है।

विधवा विवाह के अनुकूल परिस्थितियाँ
(Favourable Conditions for Widow Marriage)

अंग्रेजी शासन-काल में भारत में ऐसी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ पैदा हुईं जिन्होंने विधवाओं के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने में योग दिया। ये परिस्थितियाँ इन कारणों के फलस्वरूप बन पायीं—

---

1 "Widow remarriage seems to have been fairly well known and accepted as normal from vadic period onwards." - K.M Kapadia op cit p 61

2 Ibid p 176

(1) विधवाओं की समस्याओं के निराकरण के लिए अनेक उत्साही कार्यकर्त्ता आगे आए। राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इस दिशा में विशेष प्रयास किया। 19वीं शताब्दी में देश में अनेक सुधार-आन्दोलन प्रारम्भ हुए। आर्य समाज और ब्रह्म समाज ने विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया।

(2) पाश्चात्य शिक्षा और सांस्कृतिक मूल्यों के व्यापक प्रचार ने विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में अनुकूल परिस्थितियाँ बनाने में विशेष योग दिया है। लोग तार्किक दृष्टिकोण से सोचने लगे हैं, अन्ध-विश्वास कुछ कम हुए हैं और मानवीय दृष्टिकोण का विकास होता जा रहा है।

(3) राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी लोगों में राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक जागृति लाने में योग दिया है। अनेक नेताओं ने समय-समय पर सामाजिक समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है और ऐसी समस्याओं में विधवा विवाह निषेध मुख्य है। महात्मा गाँधी ने तो युवकों को विधवाओं से विवाह करने का स्पष्ट आदेश दिया है।

(4) वर्तमान समय में स्त्री-शिक्षा का भी व्यापक प्रसार हुआ है। आज उन्हें पुरुषों के समान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। समय-समय पर अपनी निर्योग्यताओं के विरुद्ध स्त्रियों के द्वारा विभिन्न आन्दोलन भी चलाये गए हैं जिन्होंने लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने और विधवा-विवाह के पक्ष में वातावरण बनाने में योग दिया है।

(5) आज की बदली हुई परिस्थितियों में रूढ़िवादी धर्म का प्रभाव तेजी से कम होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप विधवा-विवाह की धार्मिक अड़चनें दूर होती जा रही हैं। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् जब पुरुष पुनः विवाह करना चाहता है, विधुर के रूप में शेष जीवन नहीं बिताना चाहता तो तार्किक दृष्टि से उसको कोई अधिकार नहीं रह जाता कि वह स्त्री को जीवन-पर्यन्त वैधव्य जीवन बिताने के लिए विवश करे।

(6) वर्तमान में सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है। युवक-युवतियों को स्कूलों, कॉलेजों, दफ्तरों, कारखानों और विभिन्न कार्य-स्थलों पर एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने, एक-दूसरे को समझने और पारस्परिक समस्याओं में रुचि लेने का अवसर मिला है। शिक्षित महिलाएँ अब आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होती जा रही हैं और सामाजिक दृष्टि से उनमें कुछ चेतना आने लगी है। यह परिस्थिति विधवा विवाह के अनुकूल है।

अब विधवा-विवाह के मार्ग में कोई वैधानिक अड़चन भी नहीं पाई जाती। पुनर्विवाह करने वाली विधवाओं को राज्य की ओर से वर्तमान में कानूनी सुरक्षा भी प्राप्त है।

विधवा विवाह के कानूनी पहलू
(Legal Aspects of Widow Marriage)

कुछ समय पूर्व हिन्दू समाज में सती-प्रथा के प्रचलन से विधवाओं की समस्या इस रूप में उपस्थित नहीं थी। सती-प्रथा अवश्य समाप्त हो गई, परन्तु विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई। हिन्दू समाज ने उन्हें अपमानित जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। विधवाओं की दयनीय दशा से पसीज कर उनकी स्थिति सुधारने के लिए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने आन्दोलन आरम्भ किया। आर्य समाज, ब्रह्म समाज तथा अनेक अन्य सामाजिक संगठनों तथा सर जे. पी. ग्राण्ट के प्रयत्नों के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने सन् 1856 में विधवा पुनर्विवाह सम्बन्धी निम्नलिखित अधिनियम पारित किया—

हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856
(Hindu Widow Remarriage Act, 1856)

इस अधिनियम से विधवाओं के पुनर्विवाह सम्बन्धी कानूनी अड़चनें दूर हो गई हैं। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) विधवा अपनी इच्छा से पुनर्विवाह कर सकती है। ऐसा विवाह कानून द्वारा मान्य समझा जाएगा तथा ऐसे विवाह से उत्पन्न संतान वैध मानी जाएगी।

(2) पुनर्विवाह करने वाली विधवा यदि नाबालिग है और यदि पहले पति से उसका यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है, तो पिता, दादा, बड़े भाई या निकट के किसी पुरुष रिश्तेदार की स्वीकृति आवश्यक है।

(3) यदि विधवा बालिग है और यदि पहले विवाह में यौन-सम्बन्ध स्थापित हो चुका है तो उसके पुनर्विवाह के लिए केवल उसकी स्वीकृति ही काफी है।

(4) पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने मृत पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहेगा।

(5) पुनर्विवाह करने वाली विधवा को यदि पति के वसीयतनामे या पति के परिवार के सदस्यों के समझौते के अनुसार, पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार मिल गया हो तो उसे पुनर्विवाह के बाद भी उसके अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

(6) जिस नए परिवार में विधवा पुनर्विवाह करेगी, उसमें उसको वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे जो एक कुमारी के रूप में विवाह करने पर उसे प्राप्त होते।

(7) यदि पुनर्विवाह करने वाली विधवा के मृत पति के कोई सन्तान है तो उसे मृत पति के किसी सम्बन्धी के संरक्षण में रखा जायगा। संरक्षण का निश्चय उस स्थान का सिविल कोर्ट करेगा।

स्त्री-शिक्षा के अभाव तथा धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण विधवाओं को इस अधिनियम से कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इसके अलावा यह अधिनियम भी दोषपूर्ण है क्योंकि विधवा के पुनर्विवाह से मृत पति की सम्पत्ति में उसके सब अधिकार समाप्त हो चुके हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विधवा पुनर्विवाह के पक्ष के लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य आया है। विधवा को आज पुनर्विवाह हेतु कानून का आश्रय भी प्राप्त है, परन्तु क्या हिन्दू समाज में विधवा-विवाह प्रचलित हो पाये हैं? क्या विधवाओं से पुनर्विवाह करने को आज के युवक तैयार हैं? ग्रामीण क्षेत्रों में विधवा पुनर्विवाह के सम्बन्ध में ए.एन. अग्रवाल ने बताया है कि यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में 25 से 38 प्रतिशत तक विधवाओं के पुनर्विवाह होते हैं तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं मानना चाहिए कि भूतकाल की विधवा-विवाह निषेध की रुढ़ि टूट चुकी है और काफी मात्रा में विधवाओं के पुनर्विवाह होने लगे हैं। वास्तविकता यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च जातियों में अब भी विधवा पुनर्विवाह बहुत कम होते हैं।

नगरीय क्षेत्रों में विधवा पुनर्विवाह के कुछ उदाहरण सामने आने लगे हैं, परन्तु इसकी संख्या अति न्यून है। विधवा पुनर्विवाह के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा पहले पति से उत्पन्न सन्तान के भविष्य की है। जिस विधवा के पहले विवाह से सन्तान है, उसके साथ विवाह करने को कोई पुरुष साधारणतः तैयार नहीं होता क्योंकि ऐसी दशा में स्त्री के पहले पति की और स्वयं की संतानों के भरण-पोषण का दायित्व उस पर आ पड़ता है। साथ ही नवीन परिवार में विधवा

के पहल विवाह से उत्पन्न बच्चों का भविष्य अन्धकारमय भी हो सकता है, उनक साथ पक्षपात भी किया जा सकता है। अपनी सन्तान की चिन्ता कई बार विधवाओ का पुनर्विवाह करन से रोकती है। इसके अतिरिक्त साधारणत. किसी विधवा से विवाह करके पुरुष परिवार, जाति और समुदाय मे निन्दा का पात्र नही बनना चाहता। एस भी उदाहरण मिलते है जहाँ शिक्षित और प्रगतिशील समझ जाने वाले परिवार, सामाजिक निन्दा क भय स अपनी युवा विधवा लडकियों तक का पुनर्विवाह करने का साहस नहीं कर पात।

वर्तमान परिस्थितियो का रखत हुए इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैस-जैसे स्त्री-शिक्षा का प्रसार हागा, स्त्रियों की आर्थिक आत्म-निर्भरता बढगी और जातीय-बन्धन शिथिल होंग, वैसे-वैसे विधवा पुनर्विवाहो की सख्या भी बढगी। औद्यागीकरण और नगरीकरण को प्रक्रियाओं का विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित करन मे अवश्य याग रहगा। विधवा पुनर्विवाह क लिए युवकों को आग आना हागा तथा विधवाओं का स्वय पुरानी रूढ़ियो का तोडना हागा। माता-पिता को अपनी विधवा लडकिया क पुन विवाह का साहस बटारना हागा और समाज का विधवाओं के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकाण अपनाना हागा। यदि समाज सुधार का दावा करन वाल जातीय-सगठन आग आएँ, विधवा-विवाह का प्रात्साहित करें और विधुरो को विशप रूप स विधवाओं के साथ ही विवाह करन के लिए प्रेरित करें, ता इस दिशा मे काफी कुछ किया जा सकता है।

प्रश्न

1. भारत की प्रमुख वैवाहिक समस्याओं का विवेचन कीजिय।
2. हिन्दुओं में बाल-विवाहों की उत्पत्ति के क्या कारण रहे हैं ? बाल-विवाह के प्रभावो का वर्णन कीजिय।
3. बाल-विवाह ने हिन्दू जीवन मे जिन समस्याओं का जन्म दिया है, उनका वर्णन कीजिए।
4. बाल-विवाह की सामाजिक बुराई का रोकन मे कानूनी प्रतिकारो की विफलता के कारण बताइये।
5. भारत मे बाल-विवाह क गुण-दाप बताइय। विलम्ब विवाह का क्या परिणाम हागा।
6. भारत में बाल-विवाह की समस्या का आलाचनात्मक मूल्याकन कीजिए। इस समस्या के निराकरण हतु सुझाव दीजिए।
7. भारत में दहज-प्रथा के कारणों, परिणामों और उपचारों क बारे में एक निबन्ध लिखिये।
8. आपके मत मे दहेज-प्रथा का किन किन परिस्थितियों ने जन्म दिया है? उससे क्या हानि-लाभ रहे हैं?
9. विधवा-विवाह का नैतिक औचित्य क्या है? इसक कानूनी और सामाजिक पहलू क्या हैं?
10. भारत मे विधवा-विवाह के निषेध का कितना प्रचलन है? समाज और नैतिकता पर इसके प्रभावो का वर्णन कीजिये।
11. नवीन सामाजिक विधान हिन्दू विवाह स सम्बन्धित समस्याओं का सुलझान मे कहाँ तक सफल रहे हैं?
12. दहेज के समाजशास्त्रीय पहलुओ की व्याख्या कीजिए।

□□□

17

हिन्दुओं में विवाह-विच्छेद एवं अन्तर्जातीय विवाह

(Divorce and Inter-Caste Marriage Among Hindus)

विवाह-विच्छेद का अर्थ वैवाहिक सम्बन्धों का सामाजिक एवं वैधानिक दृष्टि से अन्त है। विवाह-विच्छेद के द्वारा पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं तथा वे दोनों एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। इस प्रकार के पृथक्करण के लिए राज्य अथवा समाज की स्वीकृति अत्यन्त आवश्यक है। विवाह-विच्छेद इस बात को प्रकट करता है कि पति-पत्नी सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत करने में असफल रहे हैं। विवाह-विच्छेद को वैवाहिक जीवन का दु:खद अन्त कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिन उद्देश्यों और आशाओं को लेकर पति-पत्नी विवाह सूत्र में बंधे थे, वे अपूर्ण रहे, उन्हें पूरा करने में वे सफल नहीं हो पाये हैं, एक-दूसरे के अनुसार वे अपने आपको नहीं ढाल पाए हैं, उनमें अनुकूलन सम्भव नहीं हो सका है।

विवाह-विच्छेद एक कानूनी समस्या मात्र नहीं है। यह एक संवेदनशील व्यक्तिगत अनुभव भी है। इस सम्बन्ध में इलियट और मैरिल ने लिखा है कि विवाह-विच्छेद सदैव करीब-करीब एक दु:खद घटना के रूप में ही होता है, क्योंकि इसका साधारणत: तात्पर्य है- विश्वास की समाप्ति, प्रतिज्ञा का तोड़ना और गम्भीर मोह भंग। कभी-कभी कोई पक्ष किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करने के लिए विवाह-विच्छेद चाहता है। इससे दूसरे साथी को यह महसूस होता है कि उसे आँक लिया गया और पाया गया है कि एक सफल और सहयोगी जीवन साथी या जीवन-संगिनी की जाँच में वह असफल रहा है, रही है। जब दोनों में से कोई एक पक्ष विवाह-विच्छेद नहीं चाहता तो ऐसी स्थिति में एक पक्ष दूसरे को रद्द करता है। विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया रद्द किये गये व्यक्ति के लिये, जिसने अक्सर दूसरे पक्ष का काफी ध्यान रखा हो, एक उद्वेगात्मक क्रान्ति बन जाती है। रद्द किया गया पक्ष अपने को कुचला हुआ और अपमानित भी अनुभव कर सकता है क्योंकि उसके आत्माभिमान को चोट पहुँचती है। *किसी भी स्थिति में विवाह-विच्छेद एक वैधानिक समस्या से कुछ अधिक ही है।*[1] स्पष्ट है कि विवाह-विच्छेद कोई साधारण घटना नहीं है। यह व्यक्ति, परिवार और समाज को अनेक रूपों में प्रभावित करता है। इसकी सम्यक् विवेचना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है।

हिन्दू समाज में स्त्री के सम्मुख पवित्रता का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। स्त्री को बताया गया है कि पति चाहे कैसा ही क्यों न हो, उसमें कितने ही दोष क्यों न हों, वह देवता तुल्य है, परमेश्वर के रूप में है। ऐसी स्थिति में विवाह विच्छेद स्त्री के लिए पाप समझा गया, कलंक माना गया। पुरुष के लिए अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना भी साधारण-सी बात समझी गई परन्तु स्त्री के इस प्रकार के कार्य को गम्भीर धार्मिक अपराध माना गया है। यही कारण है कि सिद्धान्त रूप में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में विवाह विच्छेद अधिकार के मान्य होने पर भी

---

1 Mabel A. Elliott & Francis E. Merrill : Social Disorganization, p.147

व्यवहार रूप मे स्त्रियो द्वारा तलाक दिये जाने के उदाहरण प्राचीन भारतीय समाज मे बहुत कम दिखाई पडते है। विश्व के सभी समाजो मे चाहे वे आदिम हो अथवा सभ्य, पति-पत्नी के पारिवारिक जीवन के सामान्य न होने पर उनके दु खी वैवाहिक जीवन का अन्त करने की दृष्टि से विवाह-विच्छेद की व्यवस्था पाई जाती है परन्तु हिन्दू समाज मे विवाह-विच्छेद का स्त्री के लिए भयकर पाप समझा गया उसे कलकित करने वाला माना गया है। परिणाम यह हुआ है कि अनेक परिवार दु खमय जीवन व्यतीत कर रहे है, विघटित अवस्था मे है परन्तु फिर भी आदर्शवाद के नाम पर वे चल रहे है, विवाह विच्छेद का आश्रय नही लेते है। यह स्थिति लोगो के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक है उनकी अशान्ति का मूल कारण है। जब पति-पत्नी का किसी भी प्रकार से एक दूसरे के साथ रहते हुए सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करना असम्भव हो, तो ऐसी दशा मे लाभप्रद यही है कि वे विवाह विच्छेद के माध्यम से एक दूसरे से पृथक् हो जाए और अपनी इच्छानुसार पुन अपने जीवन को सगठित करे। विवाह-विच्छेद के मामले मे स्त्री-पुरुष के लिए समान अधिकारो का होना भी आवश्यक है। जहाँ पुरुष को अपनी पत्नी का परित्याग कर दूसरी स्त्री से विवाह करने की स्वतन्त्रता है वहा समानता का नारा देने वाले पुरुषो को स्त्रियों को भी समान रूप से विवाह विच्छेद का अधिकार देना होगा। यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि जहाँ कुछ अवस्थाओ मे विवाह विच्छेद लाभप्रद है वहा किसी समाज मे विवाह-विच्छेद के काफी मात्रा मे बढ जाने से पारिवारिक स्थिरता को खतरा भी पैदा हो जाता है।

हिन्दुओ मे विवाह विच्छेद
(Divorce Among Hindus)

आज हिन्दू समाज के सम्मुख विवाह-विच्छेद की समस्या नवीन प्रतीत होती है, परन्तु यदि हम प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रो का अध्ययन करे तो ज्ञात होगा कि उस समय भारत मे विवाह-विच्छेद मान्य था। ईसा के पूर्व विशिष्ट परिस्थितियो मे विवाह-विच्छेद की आज्ञा थी। डॉ अल्तेकर ने बताया है कि वास्तव मे ईसा काल के प्रारम्भ तक प्रथम विवाह की पूर्णता के उपरान्त भी समाज के सभी वर्गों मे विवाह विच्छेद और पुनर्विवाह यदा कदा होते थे।[1] के एल दफ्तरी ने कहा है कि उस प्राचीन समय मे भी विवाह-विच्छेद की व्यवस्था पाई जाती थी।[2] नारद, बृहस्पति तथा पाराशर स्मृतियों मे कुछ विशेष परिस्थितियों मे विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्रदान की गई है। नारद तथा पाराशर ने कहा है कि यदि पति अज्ञात हो सन्यासी हो गया हो जाति से निकाल दिया गया हो, नपुसक अथवा पतित हो, तो स्त्री अन्य पुरुष से विवाह कर सकती है। कौटिल्य ने पति के अधिक समय तक विदेश मे रहने अथवा राजद्रोही, दुश्चरित्र, जाति बहिष्कृत या नपुसक होने पर स्त्री को विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी है परन्तु यह आज्ञा असुर, गान्धर्व क्षात्र और पैशाच विवाह करने वालो को ही दी गई है। मनु ने कहा है कि "यदि एक स्त्री मद्यपान करती है या बुरे चरित्र की है, अपने पति के अनुकूल चलने वाली नही है रोगिणी है या अपव्यय करने वाली है या भयकर स्वभाव की है, तो उसके रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना उचित है।"

प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रन्थो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उस काल मे लोग विवाह-विच्छेद के पूर्ण विरोधी नही थे तथा कुछ विशेष परिस्थितियों मे पति-पत्नी को विवाह-विच्छेद की अनुमति

1 Altekar op cit p 84

2 "A kind of dissolution of marriage was also in existence in those ancient days -
K.L Daftari The Social Institutions in Ancient India," p 167

थी। हिन्दू शास्त्रकार वैवाहिक समस्याओं और जटिलताओं से पूर्ण परिचित थे, इसलिए उन्होंने विवाह-विच्छेद की व्यवस्था भी की। उस काल में विवाह से सम्बन्धित केवल नियम ही उपलब्ध नहीं होते बल्कि धम्मपद, मज्झिम-निकाय, थेरीगाथा आदि बौद्ध ग्रन्थों में विवाह-विच्छेद के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ स्त्री ने अनेक बार विवाह किया। परन्तु ईसा काल के प्रारम्भ से ही हिन्दू समाज में नैतिकता का ऐसा प्रवाह आया कि विवाह-विच्छेद धार्मिक दृष्टि से अपवित्र एवं घृणित कार्य समझा जाने लगा तथा अनेक नियन्त्रणों के कारण विवाह-विच्छेद समाप्त प्रायः हो गए। परन्तु ऐसा मुख्य रूप से द्विज हिन्दुओं (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) में ही हुआ और शूद्रों तथा निम्न वर्गों में विवाह-विच्छेद सदैव प्रचलित रहे। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि समाज के उच्च वर्गों में विवाह-विच्छेद असामान्य थे, बहुत कम होते थे।

ईसा के 1000 वर्ष के बाद के ग्रंथों में विवाह-विच्छेद का उल्लेख नहीं मिलता। धीरे-धीरे समाज में यह धारणा बनती गई कि कन्या का विवाह में केवल एक बार दिया जा सकता है। वैवाहिक जीवन के दुःखमय होने पर भी अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ विवाह करना भोग-विलासमय या कामुक व्यवहार समझा गया। समाज में इस समय यहाँ तक धारणाएं प्रचलित हो गई कि चाहे पति कितना ही दुश्चरित्र, नैतिक दृष्टि से पतित और अपनी पत्नी के साथ क्रूर व्यवहार करने वाला ही क्यों न हो, स्त्री को विवाह-विच्छेद के द्वारा उससे छुटकारा प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। इस समय नैतिकता का दोहरा मापदण्ड प्रचलित हुआ। पुरुष मनमाने ढंग से अपनी पत्नी को छोड़ सकता था, अन्य स्त्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। परन्तु स्त्री पर सब प्रकार के नियन्त्रण लगा दिए गए।

विवाह-विच्छेद के विपक्ष में कुछ तर्क

(Some Arguments against Divorce)

हिन्दू समाज में बहुत से लोग आज भी यह अनुभव करते हैं कि विवाह-विच्छेद भारतीय समाज के परम्परागत संगठन की दृष्टि से हानिकारक है। लोग निम्नांकित आधारों पर विवाह-विच्छेद का विरोध करते हैं

(1) **हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है, जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध है, इसे तोड़ना अनुचित है, जघन्य अपराध है।** स्त्री का कर्त्तव्य पति की सेवा, बच्चों का पालन पोषण, धार्मिक कार्यों का सम्पादन तथा विभिन्न पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति बताया गया है। यदि स्त्री को विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी गई तो पारिवारिक जीवन विघटित हो जाएगा, परम्पराएं नष्ट हो जाएंगी और भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं हो सकेगी।

(2) **विवाह-विच्छेद के कारण पारिवारिक जीवन के विघटित होने की प्रक्रिया तीव्र हो जायेगी।** पति-पत्नी एक-दूसरे पर अविश्वास करने लगेंगे, तनाव बढ़ेगा और कई परिवार टूट जाएंगे। इस बात की भी सम्भावना है कि स्त्रियाँ बहकावे में आकर अपने पहले पति को छोड़ दें और दूसरा विवाह कर लें। साथ ही पुरुष किसी अन्य स्त्री की ओर आकृष्ट होने पर अपनी पत्नी पर अत्याचार कर सकता है, उसे विवाह-विच्छेद के लिए बाध्य कर सकता है ताकि उसे भरण-पोषण हेतु खर्च न देना पड़े। यह सारी परिस्थिति पारिवारिक दृढ़ता की दृष्टि से घातक है।

(3) **आर्थिक आधार पर भी विवाह-विच्छेद का विरोध किया जाता है।** आज भारत में शिक्षित स्त्रियों का प्रतिशत बहुत थोड़ा है और नौकरी अथवा व्यवसाय में लगी हुई

स्त्रियों का प्रतिशत तो और भी कम है। अधिकतर स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर निर्भर हैं। ऐसी दशा में विवाह-विच्छेद के पश्चात् स्त्रियों के सम्मुख भरण-पोषण की समस्या उपस्थित हो सकती है, उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। इसलिए उचित यही है कि जब तक स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर न हो जाएं अथवा उनके पुनर्विवाह का प्रबन्ध न हो जाए तब तक उन्हें विवाह-विच्छेद का अधिकार नहीं दिया जाए। विवाह विच्छेद के पश्चात् आर्थिक कठिनाइयों के बढ़ने पर यह सम्भव है कि कुछ स्त्रियों को बाध्य होकर अनैतिक जीवन अपनाना पड़े। यह परिस्थिति सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं है।

(4) विवाह-विच्छेद के विपक्ष में एक तर्क बालकों के पोषण का दिया जाता है। विवाह विच्छेद का बच्चों पर निश्चित रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। विवाह-विच्छेद के पश्चात् साधारणतः पिता बालकों के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर नहीं लेना चाहता और यदि यह भार अपने ऊपर ले भी ले तो किसी अन्य स्त्री से विवाह करने पर वह इस दायित्व को ठीक से नहीं निभा पाएगा और सौतेली माँ का बालकों के प्रति पक्षपातपूर्ण अथवा अनुचित व्यवहार हो सकता है। यदि बच्चों को माता के पास रखा जाए तो आर्थिक कठिनाइयों के कारण बालकों के व्यक्तित्व के समुचित विकास में बाधा पड़ सकती है। ऐसे बालक माता-पिता के स्वाभाविक प्रेम से वंचित रह सकते हैं। यह सारी परिस्थिति विवाह-विच्छेद के अनुकूल नहीं है।

इन तर्कों में कुछ सत्यता अवश्य है परन्तु विवाह-विच्छेद के नहीं होने से जो दुष्परिणाम निकल रहे हैं उनको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि विवाह विच्छेद का प्रचलन वर्तमान समय में आवश्यक है। विवाह-विच्छेद अधिकार के न होने से स्त्रियों पर पुरुषों की ओर से अनेक प्रकार के अत्याचार किये जाते रहे हैं उन्हें परिवार में रहते हुए दुःखी जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया जाता रहा है। यदि कहा जाए कि पतिव्रत धर्म के नाम पर हिन्दू समाज में स्त्रियों का शोषण किया जाता रहा है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। विवाह-विच्छेद की व्यवस्था होने से पुरुष स्त्रियों के प्रति अपने कर्तव्य पालन में अधिक सचेत रहेंगे उनके साथ मनमाना अत्याचारपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकेंगे और उनकी स्वच्छाचारिता पर कुछ नियंत्रण रहेगा। परिवार में पति-पत्नी समानता के आधार पर एक-दूसरे के प्रति सद्व्यवहार कर सकेंगे मित्रतापूर्ण घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे और पारिवारिक जीवन अधिक सुखी बना सकेंगे। दुःखमय वैवाहिक जीवन बिताने की अपेक्षा पति पत्नी का एक-दूसरे से पृथक् होकर नवीन सिरे से अपना वैवाहिक जीवन प्रारम्भ करना पारिवारिक व सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद रहेगा। जहाँ तक आर्थिक समस्याओं का प्रश्न है उसके लिए स्त्री शिक्षा का प्रसार किया जाना चाहिए और उन्हें आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनने के अधिकाधिक अवसर दिए जाने चाहिएँ। विवाह-विच्छेद के विपक्ष में बालकों के पालन-पोषण की समस्या निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है जिस पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। इतना अवश्य उचित है कि बालकों को विवाह-विच्छेद के पश्चात् माता के संरक्षण में रखा जाए और पिता उनके पालन-पोषण का पूरा खर्च दे।

विवाह-विच्छेद का औचित्य (Justification of Divorce)

वर्तमान में परिवर्तित परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद को मान्यता प्रदान करना अनेक दृष्टिकोणों से लाभप्रद है। निम्नलिखित आधारों पर विवाह विच्छेद का औचित्य स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है

(1) आज समानता के युग में स्त्री पुरुषों को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हो रहे हैं। ऐसी दशा में वैवाहिक क्षेत्र में भी पुरुषों के पास विशेषाधिकार क्यों होने चाहिए और स्त्रियों को न्यायोचित अधिकारों से क्यों वंचित रखा जाना चाहिए? पुरुष के समान ही स्त्री को असाधारण परिस्थितियों में अपने पति का परित्याग करने की सुविधा होनी चाहिए।

(2) मध्यकाल में स्त्रियों को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित किया गया, उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए उनकी स्थिति में काफी गिरावट आई। उनकी स्थिति में सुधार लाने हेतु यह आवश्यक है कि उन्हें पुरुषों की कृपा पर ही नहीं छोड़ा जाय। पुरुषों के अत्याचारों से रक्षा और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने हेतु सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन्हें विवाह-विच्छेद का अधिकार मिले। पुरुष व्यावहारिक रूप से यदाकदा अपनी पत्नी का परित्याग और स्वयं एक के बाद दूसरा और तीसरा विवाह करता रहा है। पुरुषों की विच्छेदचारिता पर अंकुश लगाने के लिए स्त्री को भी विवाह-विच्छेद का अधिकार मिलना चाहिए।

(3) सुखी वैवाहिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री पुरुषों को समान रूप से विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो। पति के क्रूर दुश्चरित्र भ्रष्टाचारी होने पर पत्नी का जीवन दुःखमय बन जाता है बालकों के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में पत्नी को अपने पति का परित्याग करने का अधिकार होना चाहिए।

(4) आज हिन्दू समाज में विवाह से सम्बन्धित अनेक समस्याएं दिखाई पड़ती हैं, जैसे- बाल विवाह बेमेल विवाह, दहेज प्रथा तथा विधवा विवाह निषेध आदि। इन समस्याओं के निराकरण की दृष्टि से आवश्यक है कि वैवाहिक क्षेत्र में स्त्री पुरुषों को समान अधिकार प्रदान किए जाएं। हिन्दू विवाह से सम्बन्धित सामाजिक नियम एकांगी हैं जो पुरुषों को विशेष अधिकार प्रदान करते हैं। आज ये नियम रूढ़ियों के रूप में परिवर्तित हो चुके हैं और हिन्दू सामाजिक जीवन को दूषित कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में स्त्री को संरक्षण प्रदान करने और बेमेल विवाहों से छुटकारा दिलाने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन्हें भी विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान किया जाय।

(5) स्त्रियों को वैदिक काल और उसके काफी समय पश्चात् तक विशेष परिस्थितियों में विवाह विच्छेद का अधिकार प्राप्त था। मध्ययुग में इन अधिकारों को नियन्त्रित किया गया। फलतः उनकी दशा दयनीय होती गई। यदि स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया जाता है तो उससे भारतीय संस्कृति और परम्परा को कोई खतरा नहीं है बल्कि इससे मौलिक संस्कृति की रक्षा में योग ही मिलेगा और मध्य युग में प्रविष्ट अनेक बुराइयों से समाज को छुटकारा मिल सकेगा।

(6) आज के गतिशील समाज में सामाजिक जीवन में सन्तुलन बनाए रखने की दृष्टि से विवाह विच्छेद आवश्यक है। अब हिन्दू समाज को यथार्थ के धरातल पर आना चाहिए, वास्तविकताओं को स्वीकार करना चाहिए। आज स्त्रियां सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं। उन्हें सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। वे शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक दृष्टि से कार्य भी करने लगी हैं राजनीति में भी आने लगी हैं। ऐसी दशा में सामाजिक क्षेत्र में उन्हें अधिकारों से वंचित रखना, वैवाहिक क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार न देना न्याय संगत नहीं होगा। स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन बनाए रखने की दृष्टि से स्त्रियों को भी पुरुषों के समान विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

यहाँ हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल कानून बना देने मात्र से ही सामाजिक समस्याएँ नही सुलझ जाती। इनके पीछे समाज और धर्म की स्वीकृति भी होनी चाहिए अन्यथा कानून कवल पुस्तको की शोभा बन जाते हैं। आज कानून तो स्त्रियो को समान रूप से विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान करता है, परन्तु समाज और धर्म नही।

विवाह-विच्छेद के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण
(Modern Attitude Towards Divorce)

मध्य युग मे हिन्दू समाज मे अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे। स्त्रियो को विवाह-विच्छेद के अधिकार से वंचित कर दिया गया तथा सामाजिक स्थिति दिन-प्रति-दिन गिरती गई। विवाह के अविच्छेदता के कारण स्त्रियो पर अनेक अत्याचार किए गए। चाहे पति व्यभिचारी, दुराचारी, लूला-लगडा अथवा अन्धा ही क्यो न हो पत्नी को उसे परमेश्वर के रूप में मानने के लिए विवश किया गया। चाहे पति कैसा ही क्यो न हो पत्नी उससे विवाह-विच्छेद नहीं कर सकती थी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भारत मे सामाजिक प्रगति हुई अनेक समाज-सुधारको का ध्यान विवाह की अविच्छेदता से उत्पन्न दोषो की ओर गया। उन्होने स्त्री की स्थिति सुधारने के लिए अनेक प्रयत्न किये। इस दिशा मे महात्मा गाँधी के प्रयत्न प्रशसनीय हैं। स्त्रियो ने उनके असहयोग आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया तथा राष्ट्रीय जागृति के साथ साथ उनमे अपनी स्थिति सुधारने की भावना का भी विकास हुआ। स्त्री-शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप स्त्रियों ने पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने का पूर्ण प्रयास किया। उन्होने विवाह-विच्छेद की कानूनी व्यवस्था के लिए माँग की। साथ ही अनेक समाज-सुधारको ने विवाह-विच्छेद सम्बन्धी कानून बनवाने का प्रयत्न किया। सन् 1955 ई मे भारत सरकार ने 'हिन्दू विवाह अधिनियम 1955' पारित किया जिनके अनुसार स्त्री-पुरुषो को समान रूप से विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्रदान की गई।

यद्यपि भारतवर्ष मे विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिनियम पारित हो चुका है तथापि हमे याद रखना चाहिय कि यहाँ ऐसे अधिकार प्राप्ति के लिए जो आधुनिक माँग की गई, वह भारतीय दृष्टिकोण से सर्वथा विपरीत है इसका जन्म पाश्चात्य शिक्षा एव सभ्यता के फलस्वरूप हुआ। आज भी अधिकाश हिन्दू विवाह-विच्छेद के पक्ष मे नही हैं क्योकि भारतीय समाज मे सदियो से इसे कोई महत्व नहीं दिया गया। हिन्दुओ के विवाह-विच्छेद के पक्ष मे नही होने का कारण बताते हुए डॉ.कापडिया ने उचित ही लिखा है ' विवाह विच्छेद का सिद्धान्त हिन्दुओ के सामाजिक ढाँचे, जिसमे कि वे शताब्दियों से रहते आ रहे हैं के लिए परकीय (पराया) है।'[1] इसके अतिरिक्त पुरुष यह नही चाहते हैं कि उन्हे सदियो से जो अधिकार प्राप्त हैं वह समान रूप से स्त्रियों को भी दिया जाए तथा स्त्री-पुरुषो की वैवाहिक स्थिति समान कर दी जाए। साथ ही हिन्दू यह भी सोचते हैं कि विवाह-विच्छेद की व्यवस्था होने से विवाह-सस्था नष्ट हो जायगी किन्तु यह भय उचित नहीं है।

समय तीव्र गति से बदलता जा रहा है, हिन्दुओं के दृष्टिकोण मे परिवर्तन आ रहा है। बहुत से हिन्दू सामाजिक प्रगति के लिए स्त्रियो की स्थिति सुधारना चाहते हैं तथा वे विवाह-विच्छेद के अधिकार से सहमत हैं। कुछ रूढिवादी हिन्दू अन्धविश्वास के कारण विवाह-विच्छेद का विरोध अवश्य करते हैं। इस सम्बन्ध मे डॉ चन्द्रकला हट द्वारा किए गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि 498 स्त्रियो ने विवाह-विच्छेद के अधिनियम के पक्ष मे और 160 ने इसके विपक्ष मे विचार व्यक्त किए

1 " The principle of divorce is alien to the social pattern in which Hindus have been living for centuries " K M Kapadia op cit p 180

था। डॉ. कापड़िया द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि साक्षात्कार किए गए स्नातकों में से 50 प्रतिशत ने विवाह-विच्छेद के पक्ष में विचार व्यक्त किए, करीब 25 प्रतिशत ने इसे अनुचित समझा तथा 17 प्रतिशत ने इसे हानिकारक माना। डॉ. कापड़िया ने इस सर्वेक्षण के आधार पर कहा है कि *अधिकांश स्नातक इस मत के हैं कि किसी उचित कारण के होने पर* विवाह-विच्छेद किया जा सकता है।

आज कुछ रूढ़िवादी हिन्दुओं को छोड़ कर अन्य सभी यह अनुभव करने लगे हैं कि हिन्दू समाज में विवाह-विच्छेद नितांत आवश्यक है। यदि किसी कारणवश पति-पत्नी सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते, उनका एक साथ रहना सम्भव न हो तो उन्हें एक-दूसरे से पृथक होने का अधिकार अवश्य होना चाहिए। बहुत से लोगों का यह भय कि विवाह-विच्छेद के अधिकार से हिन्दुओं का विवाह संस्था नष्ट हो जाएगी, निराधार है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा और देश में पारित विवाह विच्छेद सम्बन्धी अधिनियम पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि यहाँ पाश्चात्य देशों की भाँति विवाह-विच्छेद का उतना दुरुपयोग नहीं हुआ है और न ही होने का भय है, लेकिन फिर भी विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में कुछ सावधानी आवश्यक है। विवाह विच्छेद के अधिकार का दुरुपयोग न हो, इसके लिए विवाह-विच्छेद के पक्ष में स्वस्थ जनमत का निर्माण करना आवश्यक है। विवाह-विच्छेद की स्थिति में स्त्रियों को कानून के द्वारा आर्थिक सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए, अन्यथा उन्हें अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है। जहाँ तक सम्भव हो, स्त्रियों को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाया जाना चाहिए, तलाक-शुदा परिवारों के बालकों के उचित पालन-पोषण हेतु पूर्ण कानूनी व्यवस्था होनी चाहिए, उन्हें जहाँ तक सम्भव हो, माता के संरक्षण में रखा जाना चाहिए और पिता को खर्चा देना चाहिए। विवाह-विच्छेद अधिकार का उपयोग करने के पूर्व पति-पत्नी के वैवाहिक जीवन में सामंजस्य स्थापित कराने और उन्हें पुनः सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के लिए मार्ग-प्रदर्शन करने हेतु विवाह और परिवार से सम्बन्धित सलाहकार समितियों की स्थापना की जानी चाहिए।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

(The Hindu Marriage act, 1955)

सन् 1955 में हिन्दू विवाह अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम में 'हिन्दुओं' के अन्तर्गत हिन्दुओं के साथ-साथ जैन, बौद्ध तथा सिक्ख लोगों को भी सम्मिलित किया गया है। *इस अधिनियम के द्वारा हिन्दू विवाह सम्बन्धी सभी कानून समाप्त कर दिए गए हैं।* इस अधिनियम के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियों में न्यायिक पृथक्करण की व्यवस्था की गई है और धारा 13 के अधीन स्त्री-पुरुष को अदालत द्वारा विवाह-विच्छेद की माँग करने का अधिकार दिया गया है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 को 27 मई 1976 को संशोधित किया गया जिसकी धारा 13 के अन्तर्गत निम्नलिखित आधारों पर विवाह-विच्छेद की माँग की जा सकती है

(1) प्रार्थी ने दूसरे पक्ष को पिछले दो वर्ष से छोड़ रखा हो या उनका परित्याग कर दिया हो।

(2) प्रार्थी के साथ दूसरे पक्ष द्वारा क्रूरता पूर्ण व्यवहार किया गया हो।

(3) पति-पत्नी में से किसी ने भी एक-दूसरे के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ स्वेच्छा से यौन-समागम (Sexual inter-course) किया हो।

(4) दूसरा पक्ष पागल और जिसका इलाज न हो सके।

(5) दूसरा पक्ष धर्म-परिवर्तन के कारण हिन्दू नहीं रहा हो।

(6) दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ रोग या संक्रामक यौन सम्बन्धी रोग से पीड़ित हो।

(7) दूसरे पक्ष ने संसार त्याग दिया हो और सन्यासी बन गया हो।

(8) दूसरे पक्ष के जीवित होने की कोई सूचना पिछले सात वर्ष से नहीं मिली हो।

(9) दूसरे पक्ष ने न्यायिक-पृथक्करण की राजाज्ञा प्राप्त होने के पश्चात् पिछले एक वर्ष या अधिक समय से इसका पालन नहीं किया हो और पृथक् रहता हो।

(10) दूसरे पक्ष ने वैवाहिक अधिकारों के प्रत्यास्थापन (Restitution of Conjugal Rights) की राजाज्ञा का पालन एक वर्ष या इससे अधिक अवधि के भीतर नहीं किया हो।

उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त स्त्रियों को चार अन्य आधारों पर भी तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र देने की आज्ञा दी गई है। वे ये हैं

(1) यदि इस अधिनियम के लागू होने के पहले किसी व्यक्ति ने दूसरी शादी कर ली है तथा उसकी पहली स्त्री जीवित है तो पत्नी को तलाक देने का अधिकार है।

(2) यदि विवाह के पश्चात् पति बलात्कार, गुदा मैथुन या पशुता का अपराधी हो तो स्त्री उसे तलाक दे सकती है।

(3) यदि पत्नी द्वारा भरण-पोषण की राशि प्राप्त करने की राजाज्ञा का पालन पति के द्वारा नहीं किया गया हो, तो स्त्री अपने पति को तलाक दे सकती है।

(4) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (संशोधित रूप में 1976) के द्वारा पत्नी को वयस्कता के विकल्प का अधिकार (Option of puberty) दिया गया है। इसके अन्तर्गत यदि विवाह के समय लड़की की आयु 15 वर्ष से कम है तो वह 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व तक विवाह की समाप्ति के लिए अदालत में प्रार्थना-पत्र दे सकती है।

संशोधित रूप में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में धारा 13 (ब) में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीन प्रावधान यह रखा गया है कि अब पति-पत्नी पारस्परिक सहमति (Mutual Consent) के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकते हैं। यदि वे पिछले एक वर्ष या अधिक समय से पृथक् रहते हों और यह महसूस करते हों कि उनका साथ-साथ रहना सम्भव नहीं है तथा यदि वे पारस्परिक रूप से विवाह को समाप्त करने के लिए सहमत हों तो इस आधार पर विवाह विच्छेद हो सकता है।

उपर्युक्त अधिनियम के अन्तर्गत अदालत उपर्युक्त आधारों में से किसी भी आधार पर प्रार्थी को न्यायिक पृथक्करण की अथवा विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्रदान कर सकती है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा भारतवर्ष में विवाह विच्छेद की व्यवस्था अवश्य कर दी गई है, परन्तु इस व्यवस्था के होने से हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि अब विवाह-विच्छेद बिल्कुल आसान कार्य हो गया है और पति-पत्नी कभी भी एक दूसरे को तलाक दे सकते हैं। साथ ही यह भी निराधार है कि इस अधिनियम से विवाह संस्था का महत्त्व कम हो गया है। बहुत से लोग तो यहाँ तक सोचते हैं कि विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिकार मिलने से विवाह की संस्था नष्ट हो जाएगी और समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी, परन्तु यह केवल उनका भ्रम मात्र है। इस अधिनियम द्वारा पुरुषों की स्वेच्छाचारिता पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाए गए हैं, परन्तु साथ ही

इनसे समाज के बहुत से विकार दूर हो जाएंगे। डॉ. कापडिया ने उचित ही लिखा है, "साधारणत तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि यदि कानून को विवाह संस्कार में हस्तक्षेप करने दिया गया तो विवाह संस्था नष्ट हो जाएगी। यह भय तर्क-रहित एवं निराधार है। अगर विवाह विच्छेद का तात्पर्य विवाह-संस्था का विनाश है, तो यह बात स्पष्ट है कि स्त्रियों पर प्रतिबन्ध लगाकर यह विनाश केवल कृत्रिम रूप से रोका गया है।"[1]

हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा इस क्षेत्र के स्त्री-पुरुषों को विवाह-विच्छेद का अधिकार अवश्य दिया गया है, परन्तु साथ ही इसमें यह प्रयत्न भी किया गया है कि विवाह-विच्छेद के कम से कम अवसर प्रदान किए जाएं। परन्तु हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में मई, 1976 में जो संशोधन किए गए हैं उनके अनुसार विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया को पहले की तुलना में कुछ सरल कर दिया गया है। अब पारस्परिक सहमति के आधार पर भी विवाह-विच्छेद हो सकता है। धारा 14 में कहा गया है कि कोई भी न्यायालय विवाह-विच्छेद का प्रार्थना-पत्र तब तक स्वीकार नहीं करेगा, जब तक कि विवाह की तिथि से प्रार्थना-पत्र देने की तिथि तक एक वर्ष न हो गया हो। पहले यह अवधि तीन वर्ष थी। धारा 15 के अनुसार विवाह-विच्छेद करने वाला व्यक्ति तब तक दूसरा विवाह नहीं कर सकता जब तक कि विवाह-विच्छेद की आज्ञा या उसके लिए दिए गए प्रार्थना-पत्र को रद्द हुए एक वर्ष व्यतीत न हो गया हो। परन्तु अब विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त होने के बाद कभी भी दूसरा विवाह किया जा सकता है, विवाह-विच्छेद के तुरन्त बाद भी।

इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था है कि विवाह-विच्छेद करने वाला पति अपनी पत्नी को जीवन-निर्वाह के लिए प्रतिमास या कुछ निश्चित अवधि के पश्चात् कुछ धन देगा। यह धन पति, पत्नी को उस समय तक देता रहेगा जब तक कि वह दूसरा विवाह नहीं करती और सच्चरित्र रहती है।

संशोधित रूप में हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की विभिन्न धाराओं से स्पष्ट है कि सापेक्ष रूप से अब विवाह-विच्छेद कुछ सरल अवश्य हो गया है। परन्तु हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि इस देश में अब तलाक तीव्र गति से होने लगेंगे और विवाह की संस्था का महत्त्व कम हो जाएगा। जब तक हिन्दू समाज के सामाजिक आदर्श विवाह-विच्छेद के पक्ष में परिवर्तित नहीं होते, तब तक हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रावधानों का लाभ उठाकर इच्छानुसार कभी भी तलाक दिए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस अधिनियम के सम्बन्ध में डॉ. कापडिया ने लिखा है, "यह भय कि हिन्दू विवाह-अधिनियम, 1955 विवाह-विच्छेद को आसान बना देता है तथा परिणामस्वरूप विवाह को कम महत्त्व देता है, प्रत्यक्ष रूप से अतिशयोक्तिपूर्ण है।"[2] वर्तमान में वास्तविकता यह है कि अब विवाह-विच्छेद के आधार और प्रक्रिया पहले की तुलना में कुछ सरल अवश्य हो गए हैं। परन्तु अभी यह देखना शेष है कि इस अधिनियम का कहाँ तक सदुपयोग या दुरुपयोग होता है।

विवाह-विच्छेद का समर्थन करते समय अधिकतर लोग अपनी अन्तरात्मा की सही आवाज प्रकट नहीं करते। प्रगतिशीलता के नाम पर सर्वेक्षणों में लोग विवाह-विच्छेद के पक्ष में राय अवश्य देते हैं, परन्तु मन से इसे स्वीकार नहीं करते। उनके कहने और करने में अन्तर पाया जाता है। ऐसी

1 K.M. Kapadia Ibid p 180

2. "The apprehension that the legislation makes divorce easy and consequently treats marriage lightly is obviously an exaggerated one." K.M. Kapadia p 980

दशा मे विवाह-विच्छेद पर समाज के हित की दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए। डॉ. एस अल्तेकर ने कहा है कि इसमे कोई सन्देह नहीं कि समाज का सर्वाधिक हित इसी में है कि विवाह-बन्धन को साधारणत स्थायी और अविच्छेद्य माना जाए। यह केवल तभी सम्भव है जब विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा हो। पति-पत्नी दोनो को आत्म-नियन्त्रित और उत्तरदायित्व के उच्च भाव को अपने मे विकसित करना होगा। उन्हे यह अनुभव करना होगा कि मानव प्रकृति जो कुछ भी है वह है स्वभावगत मतभेद दैनिक जीवन मे यदाकदा अवश्य उत्पन्न होगे। विवाह-विच्छेद और दूसरे विवाह द्वारा उनसे छुटकारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। पारिवारिक जीवन मे सुख शान्ति केवल उसी समय सम्भव है जब पति और पत्नी एक दूसरे से अनुकूलन करने के लिए महान् त्याग करने को तैयार हो। विवाह-विच्छेद बहुत ही अपवादस्वरूप मामलो मे अन्तिम उपचार होना चाहिए।[1] अन्त मे कहा जा सकता है कि वैवाहिक जीवन मे अनुकूलन के महत्त्व को स्वीकार किया जाना चाहिए। पारिवारिक जीवन मे समस्याएँ अवश्य उत्पन्न होती है वाद-विवाद भी उठ खड़े होते है पति-पत्नी मे से कभी किसी के द्वारा एक-दूसरे के प्रति उपेक्षा का भाव अपनाया जा सकता है, कोई त्रुटि भी की जा सकती है। ऐसी दशा मे एक दूसरे की गलतियो और कमियो को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति नही होनी चाहिए बल्कि उदारता और त्याग की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जहाँ पति-पत्नी का साथ रहकर सुखी वैवाहिक जीवन असम्भव हो गया हो, केवल वही विवाह-विच्छेद को अन्तिम उपचार के रूप में चुनना चाहिए।

अन्तर्जातीय विवाह
(Inter-caste Marriage)

वैदिक काल मे अन्तर-वर्ण विवाह प्रचलित था। सब द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का एक वैवाहिक समूह था। उनमे आपस मे विवाह हो सकते थे क्योकि द्विजों मे प्रजातीय तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से समानता थी। आठवी शताब्दी तक अन्तर्जातीय विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नही थे परन्तु इसके पश्चात् अनेक कारणो से ये विवाह धीरे-धीरे समाप्त हो गए। डॉ घुरिये ने कहा है कि अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध का मुख्य कारण रक्त की पवित्रता बनाए रखने की इच्छा वैदिक संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास तथा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्थिर बनाए रखने की भावना ही है।[2] परन्तु वास्तव में इस प्रतिबन्ध का मुख्य कारण यह है कि ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को स्थिर बनाये रखने के दृष्टिकोण से वैदिक काल मे जिस अनुलोम विवाह की नीति अपनाई गई उसी ने दसवी शताब्दी मे अन्तर्विवाह (Endogamy) का रूप ग्रहण कर लिया। यदि अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध का कारण रक्त शुद्धता और वैदिक संस्कृति को स्थिर बनाए रखने का प्रयत्न ही होता तो ब्राह्मणो तथा अन्य उच्च वर्ग के लोगों को शूद्र कन्याओ के साथ विवाह की आज्ञा नहीं दी जाती। दसवी शताब्दी के पश्चात् अपनी जाति अथवा उपजाति के बाहर विवाह करना अपराध माना जाने लगा, ऐसे विवाहो को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।

---

1 A S Altekar op cit, pp 88-89
2 G S Ghurye "Caste, Class and Occupation pp 174-175

अन्तर्जातीय विवाहों पर अनेक कारणों से प्रतिबन्ध लगाए गए। देश में विभिन्न प्रजातियों के लोगों के होने और उनमें सांस्कृतिक असमानता पाए जाने से अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबन्ध लगने लगे। अपनी उच्च सामाजिक स्थिति बनाए रखने के लिए उच्च जातियों के लोग अपनी-अपनी जाति में ही विवाह करने लगे और इस प्रकार अन्तर्विवाह के नियम का पालन किया जाने लगा। मुसलमानों के आगमन से देश में जाति व्यवस्था और भी अधिक सुदृढ़ हो गई क्योंकि हिन्दू अपने आपको मुसलमानों के धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभाव से मुक्त रखना चाहते थे। धर्मशास्त्रों ने अपनी जाति में विवाह करना ही उत्तम एवं आवश्यक बताया। इन सब कारणों से जाति-अन्तर्विवाह (Caste Endogamy) का नियम कठोर हो गया और सभी हिन्दू अनिवार्य रूप से अपनी जाति में ही विवाह करने लगे। धीरे-धीरे प्रत्येक जाति अनेक उपजातियों में विभक्त हो गई और तब अपनी उपजाति में ही विवाह करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार, अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध के कारण आज विवाह का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित हो गया है।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् देश की परिस्थितियाँ बदलीं, अनेक सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होने लगे। परिणाम यह हुआ कि अनेक कारकों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाह के प्रतिबन्ध शिथिल पड़ने लगे और कुछ लोग अपनी जाति अथवा उपजाति के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। यहाँ उन कारणों का वर्णन किया जा रहा है जिन्होंने अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया है।

अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने वाले कारक (Factors Promoting Inter-Caste Marriage)

1. पाश्चात्य शिक्षा (Western Education)— पाश्चात्य शिक्षा के कारण देश में पाश्चात्य सामाजिक मूल्यों का काफी मात्रा में प्रचार हुआ, परिणामस्वरूप लोग अनेक अन्धविश्वासों से मुक्त हुए और सांस्कृतिक समानता उत्पन्न हो सकी। विभिन्न समूह एक-दूसरे के और निकट आए और अन्तर्जातीय विवाहों के लिए उचित वातावरण तैयार हो सका।

2. सह शिक्षा (Co-education) — सह-शिक्षा बढ़ने से युवक युवतियों को एक दूसरे के सम्पर्क में आने तथा एक दूसरे को समझने के अधिक अवसर प्राप्त होने लगे हैं। वे जातीय बन्धन को अनुचित समझने लगे हैं। डॉ. घुरिये ने उचित ही लिखा है, "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सह शिक्षा, युवक-युवतियों को एक दूसरे के निकट आने और उनके यौन सम्बन्धी नैतिक पतन से उनकी रक्षा करने का सर्वोत्तम साधन है। उनका उत्साह जाति के कृत्रिम बन्धन को तोड़ने में निश्चय ही सफल होगा।"[1]

3. छापाखाना तथा यातायात के साधन (Press & Means of Transport)- यातायात साधनों के बढ़ने से भौगोलिक पृथकता समाप्त हो चुकी है और सामाजिक गतिशीलता काफी बढ़ गई है। सामाजिक गतिशीलता के बढ़ने से लोग एक-दूसरे के अधिक निकट आने लगे हैं और सांस्कृतिक असमानता समाप्त होती जा रही है। इसके अतिरिक्त छापाखाने ने मासिक पत्रिकाओं, समाचार-पत्रों एवं पुस्तकों द्वारा एक-दूसरे को समझने और जातीय भेदभाव दूर करने में और भी अधिक योग दिया है।

1 G S Ghurye Caste and Class in India 1957, p 296

4. औद्योगीकरण और नगरीय संस्कृति (Industrialization & Urban Culture)—औद्योगीकरण के कारण बहुत से उद्योग धन्धों का विकास हुआ और विशाल नगर बनने लगे। इन नगरों में कई जातियों के लोग साथ-साथ रहने तथा काम करने लगे। जाति के कठोर बन्धनों से मुक्त होकर यहाँ वे स्वच्छन्दता का अनुभव करने लगे। एक साथ रहने और काम करने में उनमें धर्म तथा जाति के प्रति निरपेक्षता का विकास हुआ तथा जातीय भेदभाव समाप्त होने लगे और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला।

5. विज्ञान का प्रभाव (Impact of Science)—शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ विज्ञान का प्रभाव भी बढ़ता गया। विज्ञान ने धार्मिक विश्वासों के मूल आधार को प्रभावित किया। लोग यह समझने लगे कि कोई भी प्रजाति 'शुद्ध' नहीं है और जातीय ऊँच-नीच का भेदभाव पूर्णतः निरर्थक है। इस ज्ञान के बढ़ने से लोगों को ज्ञात हुआ कि अन्तर्जातीय विवाह किसी प्रकार से भी हानिकारक नहीं हैं और ऐसे विवाह होने लगे।

6. समानता के सिद्धान्त का महत्त्व (Importance of the Principle of Equality)—प्रजातान्त्रिक विचारों के प्रसार तथा शिक्षा के बढ़ने से समानता की धारणा पनपने लगी। पारस्परिक धार्मिक भेदभाव और जाति के आधार पर ऊँच-नीच की भावना धीरे-धीरे समाप्त होने लगी और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला।

7. राष्ट्रीय आन्दोलन (National Movement) — महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए देश में महान् राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ जिसमें विभिन्न जातियों के लाखों व्यक्तियों ने भाग लिया। आन्दोलन में भाग लेने, जेल में साथ रहने तथा कार्य करने से उनमें भ्रातृ-भाव की जागृति हुई जिसने अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया।

8. महिला आन्दोलन (Women Movement)— स्त्री-शिक्षा के बढ़ने से महिलाओं में काफी जागृति हो चुकी है। उन्होंने पुरुष के समान राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त कर लिए हैं। अपने जीवन साथी के चुनाव में वे पहले से अधिक स्वतन्त्र हैं और उन पर लगाए गए प्रतिबन्ध समाप्त होते जा रहे हैं और उनका झुकाव अन्तर्जातीय विवाह की ओर होता जा रहा है।

9. ब्रह्म समाज और आर्य समाज का प्रभाव (Impact of Brahama Samaj and Arya Samaj)— ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज ने जाति-पाँति और छुआछूत के भेदभाव को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। वे अपने प्रयत्नों में बहुत अधिक सफल भी रहे। साथ ही इन दोनों ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में भी काफी योग दिया। ये दोनों समाज सदैव अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में रहे हैं।

10. वर-मूल्य प्रथा (Bridegroom Price)— वर-मूल्य प्रथा इतनी बढ़ चुकी है कि अधिकांश माता-पिता दहेज जुटाने में असमर्थ रहते हैं। अत्यधिक दहेज प्रथा से लड़के-लड़कियों का विवाह काफी आयु तक नहीं हो पाता और ऐसी दशा में उन्हें स्वयं अपने विवाह के विषय में निर्णय करने का अवसर मिल जाता है। वे जातीय बन्धनों की चिन्ता न करते हुए दहेज की कुप्रथा से छुटकारा पाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह कर लेते हैं। कभी-कभी दहेज से बचने के लिए माता-पिता भी ऐसे विवाह की अनुमति दे देते हैं।

11. रोमान्स पर आधारित प्रेम-विवाह (Love Marriages based on Romance) —वर्तमान युग में सह-शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता, समान अधिकार और साथ-साथ काम करने की सुविधाओं ने युवक-युवतियों को एक-दूसरे के अधिक निकट ला दिया है और रोमान्स बढ़ता जा रहा है। परिणामस्वरूप, प्रेम-विवाह अधिक होने लगे हैं और प्रेम-विवाह में जातीय बन्धन बाधा के रूप में उपस्थित नहीं हो पाता। इससे अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन मिल रहा है।

12. वैधानिक सुविधाएँ (Legal Facilities)—अन्तर्जातीय विवाह को वर्तमान समय में कानून की तरफ से भी काफी प्रोत्साहन मिलता है। सन् 1872 ई. में "विशेष विवाह अधिनियम" पास हुआ और सन् 1923 में इसमें संशोधन हुआ। इस कानून के अनुसार, हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख तथा जैनों में अन्तर्जातीय विवाह वैध हो गए। सन् 1949 ई. में "हिन्दू विवाह मान्यता अधिनियम" द्वारा उन सब विवाहों को मान्यता प्रदान की गई जो विभिन्न धर्मों, जातियों या उपजातियों के सदस्यों के बीच होते हैं। अब यह अनिवार्य नहीं है कि विवाह करने वाले एक ही जाति या धर्म के हों। सन् 1955 ई. में "हिन्दू विवाह अधिनियम" पारित हुआ जिसके अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता प्रदान की गई।

डॉ. सी. टी. कैनन ने अन्तर्जातीय विवाह करने वाले लोगों के अध्ययन के आधार पर बताया है कि निम्नलिखित कारक ऐसे विवाहों को प्रोत्साहित करने में सहायक हैं :

(1) उच्च प्रस्थिति वाले और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोग अपने लड़के-लड़कियों के लिए उन परिवारों से जीवन-साथी प्राप्त करना चाहते हैं जो उन्हीं के समान स्तर के हों। जब उन्हें उनकी जाति में ऐसे परिवार नहीं मिलते तो वे अपनी जाति के बाहर विवाह करने को तैयार हो जाते हैं। (2) कुछ संगठन अपनी गतिविधियों के माध्यम से जातीय भेद-भावों को दूर करने की दृष्टि से प्रयत्न करते हैं। परिणामस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलता है। (3) कुछ सामाजिक प्रथाएँ, जैसे दहेज प्रथा तथा अपनी जाति में योग्य जीवन-साथी का न मिलना, लोगों को अन्य जातियों से जीवन-साथी प्राप्त करने के लिए बाध्य कर देते हैं। (4) राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विचारों में बहुत अधिक समानता विभिन्न जातीय एवं भाषायी समूहों को विवाह के माध्यम से एक दूसरे के निकट लाने में योग देती है। (5) वे परिवार, जहाँ कोई अन्तर्जातीय विवाह पहले से हो ही चुका हो, अपने परिवार में अन्य अन्तर्जातीय विवाह करने को तैयार रहते हैं।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा लड़के-लड़कियों को एक-दूसरे के निकट लाती है और उन्हें सम्पर्क बढ़ाने का अवसर देती है। ये सम्पर्क उपर्युक्त कारणों में से किसी भी कारण से विवाह में बदल जाते हैं। उच्च शिक्षा और विवाह की बढ़ती हुई आयु ने अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने में विशेष योग दिया है।

अन्तर्जातीय विवाहों से लाभ या अन्तर्जातीय विवाह क्यों (Merits of Inter-Caste Marriage)

अन्तर्जातीय विवाह की आवश्यकता को व्यक्त करते हुए डॉ. घुरिये ने लिखा है, "विभिन्न सम्बन्धों को दृढ़ करने और राष्ट्रीयताओं के पोषण के लिए अन्तर्जातीय विवाह द्वारा रक्त का एकीभाव एक प्रभावशाली साधन है।"[1] डॉ. घुरिये के इस मत की पुष्टि अन्तर्जातीय विवाह के निम्नलिखित लाभों से होती है :

1 "Fusion of blood through inter marriage has been found to be an effective method of cementing alliances and nurturing national ties." —G.S. Ghurye, op. cit., p. 323.

1. जातिवाद को दूर करने मे सहायक (Helpful in Eradicating Casteism)
आज समाज में जातिवाद के दोष दिखलाई पड़ते हैं और उनसे मुक्त होने के लिए जातिवाद की समस्या को सुलझाना अत्यन्त आवश्यक है। जातिवाद की समस्या अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देकर सुगमतापूर्वक सुलझायी जा सकती है। डॉ घुरिये ने जातिवाद को दूर करने के लिए अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि अगर विभिन्न जाति के लड़के और लड़कियों को अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा एक-दूसरे के निकट आने का अवसर दिया जाएगा तो जाति-प्रथा उपेक्षित होगी और जातिवाद के विरोध में क्रियात्मक आवाज उठने लगेगी क्योंकि वे व्यक्ति जो जाति के बन्धनों को तोड़कर विवाह करते हैं केवल जाति विहीन वातावरण का ही सृष्टि नहीं करेंगे बल्कि एक ऐसी पीढ़ी का पोषण भी करेंगे जो जाति-प्रथा की अधिक कट्टर विरोधी होगी।[1]

2. सामाजिक और राष्ट्रीय एकता (Social and National Unity)— भारतीय समाज भाषा, धर्म, जाति एवं पेशा के आधार पर कई समूहों में बँटा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति या अपने समूह के हित को दृष्टि से सोचता है और उसमें साधारणत सामाजिक एकता और राष्ट्रीयता की भावना दिखाई नहीं पड़ती। विभिन्न समूहों या जातियों में आज काफी कटुता दिखाई पड़ती है जो सामाजिक और राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक है। अन्तर्जातीय विवाहों के प्रचलन से जातीय आधार पर पाई जाने वाली कटुता अपने आप दूर हो जाएगी। डासन और गेटिस ने उचित ही लिखा है, "एक आन्तरिक एकता, समूह के सदस्यों में अपनत्व की भावना, सामान्य संस्कृति और एक सामान्य जीवन में भागीदार होने की भावना राष्ट्रीयता के प्रमुख लक्षण है।"[2] राष्ट्रीयता के इन सभी लक्षणों का अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा विकास होगा और देश में सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से अधिक दृढ़ता आएगी। यही कारण है कि हमारे राष्ट्रीय नेता अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न करते रहे हैं।

3. वर मूल्य प्रथा समाप्त करने मे सहायक (Helpful in Checking Bride-groom's price)— अन्तर्जातीय विवाहों के बढ़ने से वर-मूल्य या दहेज प्रथा धीरे-धीरे अपने-आप समाप्त हो जाएगी। दहेज-प्रथा उन्हीं जातियों में अधिक प्रचलित हो पाती है जिनमें जीवन-साथी चुनने का सीमित क्षेत्र होता है और योग्य वर प्राप्त नहीं हो पाते। अन्तर्जातीय विवाहों के होने से विवाह का जातीय और उपजातीय सीमा-क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाएगा और जीवन-साथी के चुनाव में अधिक सुविधा होगी।

4. उत्तम वंशानुसंक्रमण (Better Heredity)— अन्तर्विवाह के नियमों से बाधित होकर एक बहुत ही सीमित समूह में विवाह करने से वंशानुसंक्रमण के गुणों में कमी आती रहती है और उत्तम संतान कम होती जाती है। अन्तर्जातीय विवाह बढ़ने से बाहरी परिवारों से उत्तम वाहकाणु प्राप्त हो सकेंगे और सन्तान भी अधिक उत्तम होगी।

5. विधवा विवाह की समस्या का समाधान (A Solution of the Problem of Widow marriage) – अन्तर्विवाह के बन्धनों के कारण अभी तक समाज में जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत सीमित है और इसी कारण दहेज-प्रथा भी पाई जाती है। जब कन्याओं के

---

1 G S Ghurye op cit p 236
2 C A Dawson and W E Gettys An introduction to Society p 313

लिए योग्य वरों का मिलना कठिन है, तो विधवाओं के लिए वरों का मिलना तो और भी कठिन है। परन्तु अन्तर्जातीय विवाहों से जातीय प्रतिबन्ध समाप्त हो जाएंगे, विधवा-विवाह के मार्ग में जो बाधाएँ हैं वे मिट जाएँगी और विधवाओं का विवाह करने के अवसर प्राप्त होंगे।

6. जनसंख्या की समस्या का समाधान (A Solution of Population Problem)—वर्तमान समय में भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या का एक मुख्य कारण बाल-विवाह या कम आयु में विवाह है। अन्तर्जातीय विवाह होने से ऐसे विवाह कम हो जाएँगे और जनसंख्या की समस्या कुछ मात्रा में हल हो सकेगी।

अन्तर्जातीय विवाहों के औचित्य के इन कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य सामान्य कारण भी हैं। अन्तर्जातीय विवाहों के होने से वर और वधू के चुनाव का क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा। इस चुनाव के क्षेत्र के विस्तृत होने से बेमेल विवाहों का अन्त हो जाएगा और अनेक सामाजिक समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जाएंगी। इसके साथ-साथ लड़कियों के सम्मान की वृद्धि होगी। वर्तमान हिन्दू-समाज में कन्याओं को एक अभिशाप समझा जाता है क्योंकि उनके लिए योग्य वर प्राप्त करने को कठिन समस्या माता-पिता के सामने रहती है। यदि अन्तर्जातीय विवाह होने लगे तो उनको भार नहीं समझा जाएगा तथा उनके सम्मान की वृद्धि होगी। ऐसे विवाहों से समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठेगा। वर-वधू के चुनाव क्षेत्र के सीमित होने से उच्च जातियों में वर-मूल्य प्रथा तथा निम्न जातियों में वधू-मूल्य प्रथा पाई जाती है। इन कुप्रथाओं के कारण कई स्त्री-पुरुष अविवाहित रह जाते हैं। ये अविवाहित स्त्री-पुरुष अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए अवैध यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं और समाज का नैतिक स्तर गिरता है। इस प्रकार की अनैतिकता को अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा दूर करना समाज-हित में आवश्यक है।

यदि आलोचनात्मक दृष्टि से अन्तर्जातीय विवाहों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि इसकी एक-दो बुराइयाँ भी हैं जैसे-दम्पत्ति का अपने समाज एवं जाति से कट जाना और इनसे सम्बन्धित समूह के लोगों द्वारा किसी भी प्रकार की कोई सहायता नहीं मिलना आदि। किन्तु जहाँ अन्तर्जातीय विवाह करने वाले लोग अपनी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति एवं कानून के द्वारा इन बुराइयों का मुकाबला कर सकते हैं, वहाँ ऐसे विवाहों के लाभ अनेक हैं जिनका वर्णन किया जा चुका है।

आज से तीस-पैंतीस वर्ष पहले अन्तर्जातीय विवाह बहुत थोड़े होते थे। अपनी जाति के बाहर विवाह करने वालों को वास्तव में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वर्तमान समय में ऐसे विवाह करने वाले लोगों को कठिनाइयाँ बहुत ही कम हो गई हैं। स्त्री-पुरुषों में उच्च शिक्षा के प्रसार से युवा पीढ़ी में अन्तर्जातीय विवाहों के प्रति रुचि बढ़ती जा रही है, उसका समर्थन ऐसे विवाहों को मिलता जा रहा है। ऐसे विवाहों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है और इनके विरोधी अपनी रूढ़िवादी आपत्तियों को अधिक समय तक प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे।

अन्तर्जातीय विवाह अधिकतर मध्यम और उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों में होते हैं। ऐसे विवाहों में आजकल अधिकांश स्त्रियाँ नौकरी आदि में लगी होती हैं और आर्थिक दृष्टि से वे अन्य पर निर्भर नहीं करतीं। ऐसे विवाह करने वाले लोगों को आज जाति से निष्कासित करना साधारणतः सरल नहीं रहा है क्योंकि ऐसा करने वाले लोगों के विरुद्ध कानून के माध्यम से कठोर कार्यवाही की जा सकती है। डॉ. सी. टी. कैनन ने दो सौ अन्तर्जातीय विवाह करने वाले युग्मों के अध्ययन के आधार पर बताया है कि ऐसे विवाह करने वाले लोगों के बच्चों का विवाह कोई

समस्या नहीं है। उन्होंने लिखा है, "समग्र रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है और समय के साथ-साथ इन विवाहों को समाज की अधिकाधिक स्वीकृति प्राप्त होती जाएगी। हमारे देश में बदलती हुई सामाजिक दशाओं को ध्यान में रखे बिना, ऐसे विवाहों का विरोध, केवल अपने साथ-साथ समाज में अधिक बाधाएँ ही लाएगा, केवल अन्तर्जातीय विवाह करने वाले वर-वधू ही इन्हें दूर कर सकते हैं।"[1]

इस विवरण से स्पष्ट है कि अन्तर्जातीय विवाह व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं को दूर करने में काफी हद तक सहायक सिद्ध हो सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे विवाहों को समाज-सुधारकों, नेताओं तथा सभी प्रगतिशील नागरिकों का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो। आज युवक-युवतियों को आगे आकर सदियों पुराने खोखले एवं संकीर्ण बन्धनों को तोड़कर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देना चाहिए।

प्रश्न

1. भारत में विवाह-विच्छेद की समस्या की विवेचना कीजिए।
2. सन् 1955 के 'हिन्दू विवाह अधिनियम' में दिए गए विवाह-विच्छेद सम्बन्धी मुख्य प्रावधानों का विवेचन कीजिए।
3. सन् 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम की विवेचना कीजिए।
4. विवाह-विच्छेद की अनुमति के विषय में आप पक्ष और विपक्ष में क्या तर्क देंगे? हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में विवाह विच्छेद के विषय में पाये जाने वाले आधारों के विषय में आप क्या जानते हैं?
5. क्या आप अन्तर्जातीय विवाहों के पक्ष में हैं? यदि हाँ तो कारण बताइए।
6. 'अन्तर्जातीय विवाह' पर टिप्पणी लिखिए।
7. सविस्तार स्पष्ट कीजिए कि भारत में अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने में कौन से कारक सहायक सिद्ध हो सकते हैं?
8. "विवाह-विच्छेद के दुष्प्रभाव बहुत गम्भीर हैं।" टिप्पणी कीजिए।



1 C T Kannan "Inter-Caste and Inter-Community Marriage in India" p 217

18

मुस्लिम विवाह एवं परिवार
(Muslim Marriage And Family)

मुस्लिम विवाह की प्रकृति का स्पष्टतः समझने के लिए आवश्यक है कि इस्लाम के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धातो के बारे मे जानकारी प्राप्त की जाए। इस्लाम सनातनी अरबी धर्म का ही परिवर्तित रूप है, इसलिए मुस्लिम सस्थाओं एव सामाजिक व्यवस्थाओ पर सनातनी अरबी व्यवस्थाओ का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पडता है। प्राचीन अरब मे प्रचलित विवाह और परिवार के स्वरूप ने मुस्लिम विवाह और परिवार को अनेक रूपों मे प्रभावित किया है और वह प्रभाव आज तक भी दिखलाई पडता है। रॉबर्टसन स्मिथ ने प्राचीन अरब समाज मे प्रचलित विवाह के तीन लक्षण बतलाये हैं—

(1) स्त्री अपने पति का चुनाव करने मे स्वतन्त्र थी।

(2) वह अपने पति को अपने डेरे या तम्बू में बुलाती, उसके साथ सम्बन्ध रखती और अपनी इच्छानुसार जब चाहे तब उसे बाहर निकाल देती थी।

(3) ऐसे विवाह से उत्पन्न सतति स्त्री के बन्धु-बान्धवो या रिश्तदारों के संरक्षण मे पलती थी।

ऐसे विवाहो का स्थान, जिसको रॉबर्टसन स्मिथ ने 'बीना विवाह' (Beena Marriage) कहा है, बाद मे 'बाल विवाह' अथवा 'आधिपत्य विवाह' (Marriage of dominion) ने ले लिया। इसमें स्त्री अपने पति के घर रहने आती और सतान पति के गोत्र से सम्बन्धित होती। इस प्रकार के विवाहो मे अपनी इच्छानुसार अपने पति को छोड देने की मूल स्वतन्त्रता को स्त्री ने खो दिया। दूसरी ओर विवाह-विच्छेद पति का ही एकमात्र विशेषाधिकार हो गया। लेकिन विवाह का यह नवीन रूप विवाह की पुरानी प्रथा को पूर्णत समाप्त नही कर सका, जो मुताह विवाह के रूप मे मुहम्मद साहब के समय तक चलती रही।[1] स्पष्ट है कि अरब समाज में विवाह के क्षेत्र मे स्त्री काफी स्वतन्त्र थी, लेकिन धीरे-धीरे उसकी यह स्वतन्त्रता छिनती गई, उसके अधिकार सीमित होते गए और विवाह के क्षेत्र मे पुरुष का आधिपत्य होता गया। वह एक से अधिक स्त्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगा, अर्थात् बहुपत्नी विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। विवाह-विच्छेद की दृष्टि से भी पुरुष को विशेष अधिकार प्राप्त हो गया और वह स्वच्छानुसार अपनी पत्नी को तलाक देने लगा। मुहम्मद साहब के समय तक यद्यपि मुताह विवाह होते थे तथापि विवाह का प्रचलित रूप बहुपत्नी विवाह ही था।

अरब समाज में विवाह और परिवार के क्षेत्र में स्त्री के अधिकारो के सीमित हो जाने से उसकी स्थिति में गिरावट आई और उसकी दशा दयनीय होती गई। युद्ध मे प्राप्त स्त्रियों को अरब लोग या तो अपने यहाँ सेविका के रूप में रखते या उनसे विवाह कर लेते। विवाह का इच्छुक व्यक्ति

1 Robertson Smith Quoted by K.M Kapadia op cited p 185

स्त्री के पिता अथवा किसी सम्बन्धी को कन्या-मूल्य चुका कर या मेहर की राशि अदा करके स्त्री के साथ विवाह कर सकता था। युद्ध में स्त्री को प्राप्त कर अथवा कन्या-मूल्य चुका कर, किसी स्त्री के साथ विवाह कर लेना, स्त्री के प्रति पुरुष का सम्पत्ति भाव व्यक्त करता है अर्थात् अरब पुरुष स्त्री को अपनी सम्पत्ति समझने लगा, उसका मूल्य चुकाकर उसे अपनी खरीदी हुई वस्तु मानने लगा। डॉ. कापडिया ने लिखा है, "किसी अतिथि के प्रति आतिथ्य भाव को प्रकट करने के लिए अपनी पत्नी को उसे प्रदान करने का रिवाज अरब लोगो मे था। श्रेष्ठ सन्तान चाहने वाला अरब अपनी पत्नी को किसी महान् पुरुष के साथ रहने को कह देता। पति कुछ समय के लिए अन्यत्र चला जाता और अपनी पत्नी के पास वापस उसी समय लौटता, जब गर्भावस्था काफी विकसित हो जाती। जब कोई अरबी यात्रा के लिए बाहर जाता, तो अपनी पत्नी को अपने किसी मित्र को सौंप जाता। अरबी अपनी पत्नी को भोगने में उस व्यक्ति को साझेदार बना लेता जो उसकी भेडों की देख-भाल करता। अरब पुरुष का अपनी पत्नी के सतीत्व (पातिव्रत्य) के सम्बन्ध में कोई विचार नही था। यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि वह उसे अपनी सम्पत्ति समझता था, जिसको जैसे वह श्रेष्ठ समझता, उस तरीके से उपभोग करने या काम में लेने के लिए स्वतन्त्र था। स्वामी के रूप में अपनी सम्पत्ति के उपयोग के लिए वह सर्वश्रेष्ठ निर्णायक था।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि अरब समाज में स्त्री को सम्पत्ति के रूप में देखा जाता था और विवाह हेतु उसे खरीदने का भाव पाया जाता था। पुरुष स्वेच्छानुसार उसका उपभोग कर सकता था, किसी अतिथि, महान् पुरुष या मित्र को कुछ समय के लिए सौंप सकता था, कभी भी उसका परित्याग कर सकता था, उसे तलाक दे सकता था।

मुस्लिम विवाह के परम्परागत स्वरूप पर अरब समाज में स्त्री के सम्बन्ध में, प्रचलित इन विचारों का प्रभाव निश्चित रूप से रहा है। विवाह और परिवार के क्षेत्र मे मुस्लिम पुरुष की स्थिति स्त्री की तुलना में उच्च रही है। स्त्री का कर्त्तव्य पति की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना और उसकी सेवा करना रहा है। पुरुष का यह अधिकार रहा है कि वह जब चाहे तब अपनी पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, उसे छोड दे, लेकिन वर्तमान में स्थिति मे परिवर्तन आ रहा है। कुछ सुधार हुए हैं, कुछ हो रहे हैं और मुस्लिम समाज में विवाह का परम्परागत स्वरूप बदल रहा है। स्त्रियों की स्थिति मे कुछ उन्नति हो रही है। पुरुषो की स्वेच्छाचारिता पर कुछ नियन्त्रण लगाए जा रहे हैं। अरब समाज मे प्रचलित विवाह सस्था और मुस्लिम विवाह के परम्परागत स्वरूप की इस सामान्य पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यहाँ हम भारतीय मुसलमानों की विवाह सस्था पर विचार करेंगे।

मुस्लिम विवाह का अर्थ
(Meaning of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह को निकाह भी कहते हैं। मुसलमानों में विवाह को एक धार्मिक सस्कार नही, बल्कि एक सामाजिक समझौता माना जाता है। मुस्लिम कानून के अनुसार, विवाह एक सामाजिक या बिना शर्त का दीवानी समझौता है, जिसका उद्देश्य घर बसाना, सन्तानोत्पत्ति और उन्हें वैधता प्रदान करना है। समझौते के रूप में मुस्लिम विवाह के लिए एक ओर से प्रस्ताव होना तथा दूसरी ओर से इस प्रस्ताव की स्वतन्त्र स्वीकृति मिलना आवश्यक है। समझौते मे प्रतिफल के रूप में धन का होना भी आवश्यक है। मुस्लिम विवाह के लिए लडके वाले पक्ष की ओर से माँग के

1 K.M Kapadia op cit pp 187-188

रूप में निकाह का प्रस्ताव रखा जाता है तथा लडकी दो पुरुष गवाहों अथवा एक पुरुष और दो स्त्री गवाहों की उपस्थिति में प्रस्ताव को स्वीकार करती है; लडके वाला पक्ष प्रतिफल के रूप में कुछ धन, जिसे 'मेहर' कहते हैं, लडकी को देने का वादा करता है। हेदे (Hedey) नामक विद्वान ने मुस्लिम विवाह का अर्थ स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यौन-सम्बन्धों, बच्चों के प्रजनन और वैधता को कानूनी रूप प्रदान करने के उद्देश्य से विवाह एक समझौता है और साथ ही इसका उद्देश्य समाज के हित में पति-पत्नी और उनसे उत्पन्न सन्तति के अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारित कर सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित करना है। मुस्लिम विवाह कानून के अनुसार, "स्त्री पुरुष के बीच किया गया यह बिना शर्त का संविदा (समझौता) है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति कर बच्चों को वैध रूप प्रदान करना है।" मुस्लिम विवाह के इस विवरण से स्पष्ट है कि इसमें समझौते के सभी तत्त्व पाये जाते हैं। इस प्रकार मुस्लिम विवाह पर एक ओर अरब व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव है और दूसरी ओर मुस्लिम सुख-विलास सम्बन्धी विचारधारा का। अरब व्यवस्था के अनुसार, मुस्लिम विवाह में स्त्री की स्वीकृति के रूप में उसकी स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया गया है और मेहर का वादा करने या चुकाने पर ही पति को उसके साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। मुस्लिम विवाह पर मुस्लिम सुख सम्बन्धी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पडता है, कुछ देकर पुरुष स्त्री पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। यहाँ विवाह के लिए किन्हीं धार्मिक संस्कारों का होना आवश्यक नहीं है।

मुस्लिम विवाह के उद्देश्य
(Aims of Muslim Marriage)

(1) स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्रदान करना।

(2) सन्तानों को जन्म देना और उनका पालन-पोषण करना।

(3) 'मेहर' द्वारा पति-पत्नी के पारस्परिक अधिकारों को स्थायी बनाना।

(4) सन्तानों के उचित पालन-पोषण हेतु बहुपत्नी विवाह को स्वीकृति प्रदान करना।

(5) एक समझौते के रूप में पति-पत्नी को यह अधिकार देना कि यदि उनमें से कोई समझौते का पालन नहीं करता है तो दूसरा पक्ष भी उसे छोड सकता है।

मुस्लिम विवाह की शर्तें
(Conditions of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह के लिए कुछ शर्तों का होना आवश्यक है, जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं—

(1) प्रत्येक मुसलमान, जो बालिग (15 वर्ष की अवस्था का) हो चुका हो तथा जो पागल न हो अर्थात् सही दिमाग का हो, निकाह के लिए समझौता कर सकता है। पागल तथा नाबालिग बच्चों के निकाह के लिए उनके संरक्षकों (वली) की स्वीकृति आवश्यक है। विवाह के समय यदि लडके-लडकी में से कोई भी नाबालिग हो, तो उसे बालिग या वयस्क होने पर विवाह-सम्बन्ध को समाप्त करने का अधिकार रहता है। इसे 'खैरुल बालिग' (Option of Puberty) कहते हैं। लेकिन साधारणतः पिता या दादा द्वारा किये गए विवाह मुसलमानों में परम्परागत नियमों के अनुसार इस आधार पर समाप्त नहीं किए जा सकते।

(2) विवाह की स्वीकृति दोनों पक्षों की स्वतन्त्र इच्छा से होनी चाहिए न कि धोखे या जबरदस्ती से।

(3) विवाह की स्वीकृति मिलन के अवसर पर दो पुरुष गवाहों अथवा एक पुरुष और दो स्त्री गवाहों का होना आवश्यक है।

(4) विवाह के लिए लडके-लडकी की स्वीकृति काजी के सम्मुख होनी चाहिए।

(5) मुसलमानों में एक स्त्री एक ही पुरुष से विवाह कर सकती है, परन्तु एक पुरुष एक साथ चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है। स्त्री पहले पति से तलाक देने या उसकी मृत्यु के बाद ही दूसरा विवाह कर सकती है।

(6) मुसलमान स्त्री केवल मुसलमान पुरुष के साथ ही विवाह कर सकती है, परन्तु मुसलमान पुरुष किताबिया स्त्री से भी विवाह कर सकता है। जो धर्म किसी किताब पर आधारित है, उसके अनुयायियों को किताबिया कहते हैं, जैसे ईसाई। मुसलमान पुरुष को अग्नि- पूजक स्त्री के साथ सामान्य विवाह की आज्ञा नहीं दी गई है, वह ऐसी स्त्री के साथ अस्थायी विवाह कर सकता है जिसे मुनाह के नाम से पुकारते हैं।

(7) विवाह की एक शर्त के रूप में यह भी आवश्यक है कि 'महर' की राशि चुका दी गई हो या इसका निश्चय कर लिया गया हो।

(8) विवाह के समय लडके-लडकी का सामान्य स्थिति में होना आवश्यक है, अर्थात् वे मादक द्रव्य, जैसे शराब आदि के नशे में न हो।

(9) जो स्त्री इद्दत की अवधि (चार मासिक धर्मों के बीच तीन महिने की अवधि) में हो, उसके साथ विवाह को अनियमित माना गया है।

(10) अति निकट के सम्बन्धियों में विवाह वर्जित है, अर्थात् निषिद्ध सम्बन्धों की श्रेणी में आने वाले लोगों का आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में मुसलमानों में कोई भी माता, दादी, पुत्री दोहती, सगी बहिन, चाची मौसी तथा भाई-बहिन की लडकियों से विवाह नहीं कर सकता। इनसे विवाह निषिद्ध है, परन्तु भाइयों की सन्तानों में आपस में विवाह हो सकता है।

(11) मुसलमानों में तीर्थ-यात्रा के समय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किये जा सकते।

मुस्लिम विवाह में मेहर
(Dower in Muslim Marriage)

मुस्लिम समाज में विवाह के समय लडके की ओर से लडकी को 'महर' अर्थात् कुछ धनराशि दी जाती है अथवा देने का वचन दिया जाता है। सामाजिक और कानूनी दृष्टि से स्त्री को महर प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है। महर की रकम विवाह के पूर्व, विवाह के समय या उसके पश्चात् निश्चित की जा सकती है। यह एक ऐसा अधिकार चला आ रहा है जिसमे पुरुषों की स्वेच्छाचारिता तथा तलाक देने के अधिकार पर कुछ नियत्रण रहता है।

महर को इसके कुछ लक्षणों के आधार पर कन्या-मूल्य कहा जा सकता है। महर का सम्बन्ध पति के यौन-अधिकार के साथ पाया जाता है। पति के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होने के पश्चात् ही पत्नी को महर की पूर्ण राशि प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। महर नहीं देने पर पत्नी कानूनी दृष्टि से पति को यौन-सम्बन्धों के लिए इन्कार कर सकती है। विधवा की अपेक्षा कन्या के

लिए मेहर अधिक होता है। मेहर का अधिकार स्वतंत्र स्त्री को ही होता है; गुलाम स्त्री के मेहर की राशि प्राप्त करने का अधिकार उसके मालिक को होता है। इन लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि महर का कन्या-मूल्य के साथ सम्बन्ध रहा है। प्राचीन अरब समाज में मेहर कन्या-मूल्य के रूप में था, क्योंकि उस समय यह राशि, जिसे 'सदक' कहते थे, कन्या के पिता को प्रदान की जाती थी। इस्लाम में इस स्थिति में सुधार लाया गया और इस्लामी कानून ने कन्या-मूल्य की प्रथा को परिष्कृत कर उसे मेहर का रूप दे दिया। मेहर को कन्या-मूल्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसे प्राप्त करने का अधिकार लड़की को होता है, न कि उसके पिता या अन्य रिश्तेदारों को। इसके अतिरिक्त विवाह के लिए स्वयं लड़की की स्वीकृति आवश्यक होती है। यदि मेहर कन्या-मूल्य मात्र होती तो लड़की की स्वीकृति के स्थान पर उसके पिता की स्वीकृति ली जाती और साथ ही महर की रकम पहले से निश्चित की जाती, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। स्वीकृति लड़की की आवश्यक है और मेहर की रकम का निर्धारण विवाह के बाद भी हो सकता है। ऐसी दशा में मेहर को कन्या-मूल्य नहीं माना जा सकता। मेहर के चार मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. निश्चित मेहर (Specified Dower)— यह वह मेहर है जो दोनों पक्षों द्वारा विवाह के पूर्व या विवाह के समय निश्चित रूप से तय कर ली जाती है। कभी-कभी मेहर की राशि का निर्धारण विवाह के पश्चात् भी होता है। मेहर की राशि कम में पाँच रुपये तक की हो सकती है और अधिक में हजारों रुपए तक।

2. उचित मेहर (Proper Dower) — यह वह मेहर है जिसे अदालत निश्चित करती है। जब विवाह के पूर्व या विवाह के समय महर की राशि निश्चित नहीं की जाती, तो ऐसी दशा में अदालत लड़के तथा उसके पिता की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए और साथ में इस बात पर भी विचार करते हुए कि पत्नी की अन्य बहिनों को क्या मेहर मिला है, मेहर निश्चित करती है। मेहर निश्चित करने का प्रश्न उस समय उपस्थित होता है, जब या तो पत्नी इसके लिए माँग करे या विवाह-विच्छेद की स्थिति आ जाए। इस महर की राशि का निर्धारण मुस्लिम कानून 'शरीयत' के अनुसार भी हो सकता है।

3. सत्वर मेहर (Prompt Dower)— यह वह महर है जो विवाह के समय या विवाह होते ही तुरन्त दी जाती है। इस मेहर के लिए पत्नी द्वारा जब भी माँग की जाती है, तभी फौरन देनी पड़ती है। इस प्रकार की मेहर का प्रचलन बहुत ही कम पाया जाता है।

4. स्थगित मेहर (Deferred Dower)— यह वह महर है, जो विवाह के समाप्त होने पर चुकाई जाती है। विवाह या तो किसी एक पक्ष की मृत्यु होने पर या विवाह-विच्छेद होने पर समाप्त होता है। दोनों पक्ष यह निश्चित कर सकते हैं कि कितना मेहर सत्वर है और कितना स्थगित। इस प्रकार के महर का प्रचलन मुसलमानों में सबसे अधिक है।

मुसलमानों में महर के प्रचलन का एक उपयोगी पक्ष पाया जाता है। महर होने से पति द्वारा पत्नी को तलाक दिए जाने की सम्भावना कम रहती है क्योंकि ऐसी दशा में पति को महर की राशि चुकानी पड़ती है। परिणाम यह होता है कि वह विवाह-विच्छेद के अधिकार का महर के कारण मनमाना उपयोग नहीं कर पाता है। महर के कारण एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने का अधिकार कुछ नियंत्रित हो जाता है। कई पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के लिए महर जुटाने की

स्थिति में नही हात हैं। मेहर के कारण परिवार मे साधारणत स्त्री की स्थिति सुदृढ रह सकती है, किसी भी प्रकार क शापण की दशा मे स्त्री महर की माँग प्रस्तुत कर सकती है। इन्ही सब कारणों स मुस्लिम कानून मे महर क निर्धारण का मान्यता प्रदान की गई है।

मुस्लिम विवाह के भेद
(Forms of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह क चार प्रमुख प्रकार हैं–प्रथम निकाह द्वितीय मुताह, तृतीय फासिद विवाह एव चतुर्थ बातिल विवाह। किन्तु बातिल विवाह का मुस्लिम समाज मान्यता प्रदान नहीं करता।

1. निकाह (Permanent Marriage)— निकाह का 'सही' विवाह भी कहते हैं। य साधारणत स्थायी प्रकृति क हात हैं और पति-पत्नी की पारस्परिक सहमति स हाते हैं तथा विच्छद नही हान तक चलत रहत हैं। एस विवाह मुस्लिम रीति-रिवाजो क अनुसार सम्पन्न होत हैं। मुस्लिम लागो में विवाह का यह प्रकार सबस अधिक प्रचलित है। सुन्नियों मे विवाह के इसी प्रकार का मान्यता प्रदान की जाती है।

2. मुताह (Temporary Marriage)— यह अस्थायी-प्रकार का विवाह है और कवल मुस्लिम समाज मे ही मान्य है। मुसलमानो म सुन्निया क अनुसार, कवल स्थायी-विवाह (निकाह) हो हा सकता ह परन्तु शिया लागो क अनुसार, अस्थायी विवाह भी हा सकता है जिसे मुताह (Mutah) कहत हैं। एस विवाह ईरान आदि शिया दशा मे पाए जात हैं। मुताह विवाह के लिए यह आवश्यक है कि सहवास का समय निश्चित हा, अर्थात् यह पहल स तय कर लिया जाता है कि यह विवाह एक दिन, एक मास एक वर्ष या कितनी अवधि क लिए किया गया है। अवधि क पूर्ण हान पर एसा विवाह स्वत. ही समाप्त हा जाता है। पति-पत्नी चाह ता एस विवाह का स्थायी रूप भी प्रदान कर सकते हैं। एसे विवाहों म महर का निश्चित रूप स उल्लख किया जाता है। महर क निश्चित हाने के उपरान्त भी सहवास क समय के अनिश्चित हान पर एसे विवाह अवैध मान जात हैं जहाँ सहवास का समय निश्चित है और महर चाहे निश्चित नही भी की गई है, ता भी एसे विवाह वैध मान जात हैं।

एस विवाहा स उत्पन्न बच्चा का पिता की सम्पत्ति मे हिस्सा प्राप्त करन का अधिकार हाता है। परन्तु पत्नी का न ता पति की सम्पत्ति म काई हिस्सा प्राप्त हाता है और न ही पति स भरण-पाषण का अधिकार मिलता है। एस विवाह की अवधि क पूर्ण हान के पहल ही यदि पति पत्नी का छाडना चाहे, ता उस महर की पूरी राशि चुकानी पडती है। यदि पत्नी विवाह की अवधि समाप्ति क पूर्व ही पति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध समाप्त करना चाहे, ता उसे मेहर का कुछ भाग छोडना पडता है। डॉ कापडिया लिखते हैं, "कानूनी तौर स शिया लागो को एसे विवाह की आज्ञा प्राप्त हान पर भी इनका भारतवर्ष में प्रचलन नही पाया जाता। यद्यपि मुहम्मद साहब ने एसे विवाहों का अच्छी दृष्टि स नही दखा, तथापि मुताह विवाह उनक समय मे और उनके बाद भी प्रचलित रहे।"[1] इस्लाम का रुख मुताह विवाह क विरुद्ध रहा है। मुहम्मद साहब ने एस विवाह को वेश्यावृत्ति को बहिन कहा है। परन्तु एसा प्रतीत हाता है कि पूर्व काल मे अरब समाज में एस विवाहों का प्रचलन होने से उन्हे मुताह क लिए अपनी स्वीकृति देनी पडी।

---

1 Ibid p 186

3. फासिद विवाह (Irregular Marriage)—विवाहों के बीच कोई कठिनाई आए अर्थात् किन्हीं कारणों से कुछ अनियमितताएँ रह जाएँ और उन्हें दूर किये बिना ही विवाह कर लिया जाए, तो ऐसे विवाह को फासिद विवाह कहते हैं। एसे विवाह में आने वाली कठिनाइयों या अनियमितताओं को दूर करने पर विवाह नियमित माने जाते हैं। यदि कोई मुसलमान पाँचवीं स्त्री से, किसी मूर्ति पूजक स्त्री से या बिना गवाहों की उपस्थिति के विवाह कर ले, तो ऐसा विवाह फासिद विवाह कहलाता है। एसा विवाह उस समय 'सही विवाह' या नियमित विवाह हो जाता है जब पहली चार पत्नियों में से किसी एक को तलाक दे दिया जाए, स्त्री धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बन जाए या बाद में विवाह के लिए गवाही ले ली जाए।

4. बातिल या अवैध विवाह— मुस्लिम समाज में वह विवाह जो शरीयत अधिनियम की शर्तों के अनुसार नहीं किया गया हो, अथवा दूसरे शब्दों में किसी कारण वश विवाह के पूर्व, या विवाह के पश्चात् ऐसे तथ्यों का ज्ञान हो जो विवाह की वैधता पर प्रहार करते हों, किन्तु तब भी पति-पत्नी के सम्बन्धों को न रोका जा सकता हो अथवा वे आपस में तलाक लेने पर राजी न हों तो ऐसा विवाह बातिल विवाह कहलाता है। बातिल विवाह का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है- अकबर तथा जोधा बाई का विवाह। प्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री नर्गिस का सुनीलदत्त से विवाह भी इसी श्रेणी में आता है।

हिन्दू और मुस्लिम विवाहों में समानताएँ एवं अन्तर
(Similarities & Differences between Hindu and Muslim Marriage)

हिन्दू विवाह और मुस्लिम विवाह दो भिन्न संस्कृतियों की देन हैं और इसी कारण इन दोनों प्रकार की विवाह-पद्धतियों में अनेक अन्तर पाए जाते हैं। साथ ही इन विवाह-पद्धतियों में कुछ समानताएँ भी पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं-

हिन्दू और मुस्लिम विवाह में समानताएँ
(Similarities between Hindu and Muslim Marriage)

1. बहुपत्नी विवाह प्रथा (Polygyny)—हिन्दू और मुस्लिम विवाहों में पहली समानता यह है कि इन दोनों में बहुपत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन रहा है। दोनों में एक पुरुष को एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने की आज्ञा रही है। लेकिन हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि हजरत मुहम्मद ने कुरान-शरीफ में एक मुसलमान को चार स्त्रियों तक ही विवाह करने की आज्ञा दी है। हिन्दुओं में इस प्रकार स्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई। उनमें मुख्य रूप से पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से बहुपत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन हुआ। 1955 में 'हिन्दू विवाह अधिनियम' द्वारा हिन्दुओं में बहुपत्नी विवाह पूर्णतः समाप्त कर दिए गए। अब कोई भी हिन्दू एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता है। मुसलमानों में अभी भी एक पुरुष को चार स्त्रियों तक से विवाह करने की अनुमति है। आज आवश्यकता इस बात की है कि संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक नागरिक के लिए सामान्य संहिता (Common Code) हो।

2. बाल विवाह (Child Marriage)—हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में ही बाल-विवाह प्रचलित हैं। आरम्भ में मुस्लिम कानून के अनुसार बाल-विवाह अवैध थे, परन्तु जब मुसलमान भारत में आये और अनेक हिन्दू भी मुसलमान बन गए,तो यहाँ मुसलमानों में बाल विवाहों का प्रचलन हुआ।

मुस्लिम विवाह कानून के अन्तर्गत, उन लोगों को जिनका विवाह 15 वर्ष की आयु के पूर्व उनके संरक्षकों द्वारा कर दिया जाता है, इस विवाह को अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया है, जिसे 'ख्याल उल-बुलूग' कहते हैं। 1939 के 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' के अनुसार, जिनका विवाह 15 वर्ष की आयु के पूर्व हो चुका है उन्हें 18 वर्ष की आयु के पहले, ऐसे विवाह को मानने से इन्कार कर देने का अधिकार दिया गया है।

हिन्दू और मुस्लिम विवाह में अन्तर
(Difference between Hindu and Muslim Marriage)

हिन्दू तथा मुस्लिम विवाह पद्धति में अनेक अन्तर पाए जाते हैं जो इस प्रकार हैं–

1. हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है और मुस्लिम विवाह एक समझौता है (Hindu Marriage is a religious sacrament and Muslim Marriage is a contract)—हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जिसका मुख्य उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति है। पुत्रों का कार्य अपने पितरों का पिण्ड दान देकर उनका तर्पण आदि करके उन्हें मोक्ष प्राप्त करने में सहायता प्रदान करना है। दूसरी ओर मुसलमानों में विवाह एक संविदा या समझौता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य यौन-सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पादन है। हिन्दुओं में यौन-सम्बन्ध या रति को विवाह का अन्तिम उद्देश्य माना गया है, जबकि मुसलमानों में यौन-सम्बन्ध को प्रधानता दी गई है।

2. हिन्दुओं में दहेज तथा मुसलमानों में मेहर की प्रथा (Dowry among Hindus and Dower among Muslims) — हिन्दुओं में पत्नी अपने पिता के घर से दहेज के रूप में धन लाती है जबकि मुसलमानों में पति पत्नी को कुछ धन राशि जिसे 'मेहर' कहते हैं देता है या देने का वादा करता है। हिन्दुओं में लड़के को दहेज दिया जाता है और मुसलमानों में पति पत्नी को मेहर देता है। मुस्लिम समाज में विवाह एक समझौता माना जाता है और इसी कारण समझौते की आवश्यक शर्त के रूप में पति पत्नी को मेहर देता है। हिन्दू जिस प्रकार दहेज की कुप्रथा से परेशान हैं उसी प्रकार मुसलमान मेहर की प्रथा से। हिन्दुओं में दहेज तथा मुसलमानों में मेहर को नियंत्रित करने के लिए आन्दोलन चल रहे हैं।

3. विवाह में निषिद्ध सम्बन्ध (Prohibitions in Hindu and Muslim Marriage)— हिन्दुओं में सपिण्ड और सगोत्र विवाह वर्जित हैं। सपिण्ड में आजकल पिता की ओर पॉच तथा माता की ओर तीन पीढ़ियों तक के लोगों में परस्पर विवाह वर्जित हैं। मुसलमानों में केवल कुछ निकट रक्त सम्बन्धियों को छोड़कर सबके साथ विवाह किया जा सकता है। निषिद्ध सबन्धों के कारण हिन्दुओं में विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित है। मुसलमानों में यह क्षेत्र इतना सीमित नहीं है, क्योंकि उनमें कुछ अति निकट के रिश्तेदारों को छोड़कर शेष सब में विवाह हो सकते हैं।

4. विवाह विच्छेद का अधिकार (Right to Divorce) —प्रचलित व्यवस्था के अनुसार, हिन्दू विवाह एक अटूट बन्धन है जिसे केवल मृत्यु के बाद ही तोड़ा जा सकता है। यहाँ पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का माना जाता है, इसलिए हिन्दुओं में तलाक के द्वारा इस सम्बन्ध को समाप्त करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। दूसरी ओर, मुस्लिम विवाह पति-पत्नी के बीच एक समझौता है, जिसे कुछ विशेष अवस्थाओं में तोड़ा जा सकता है। इस्लाम के पुराने कानून के

अनुसार पति को तलाक संबंधी विशेष अधिकार प्रदान किए गए थे। वह केवल तीन बार 'तलाक' शब्द का उच्चारण करके ही अपनी पत्नी को छोड़ सकता था। सन् 1939 के 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' के अनुसार अब पत्नी भी कुछ विशेष अवस्थाओं में न्यायालय द्वारा पति को तलाक दे सकती है। हिन्दू स्त्री-पुरुषों को भी 1955 में पारित हुए 'हिन्दू विवाह अधिनियम' के अन्तर्गत कुछ विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया गया है।

5. विधवा विवाह (Widow Marriage)—हिन्दुओं में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 के पारित होने के उपरान्त भी विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं हो सका है। उनमें यह धारणा प्रचलित है कि जिस लड़की का कन्यादान के रूप में एक पुरुष को दिया जा चुका है, उस पति की मृत्यु के पश्चात् अन्य पुरुष को दुबारा दान में कैसे दिया जा सकता है। साथ ही, यहाँ विवाह को जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध माना गया है। फिर ऐसी दशा में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा स्त्री पुनर्विवाह कैसे कर सकती है। मुस्लिम समाज में, विवाह के एक समझौता होने के कारण पति की मृत्यु के पश्चात विधवा को दूसरा विवाह करने का अधिकार है। वहाँ विधवा विवाह को अपवित्र या बुरा नहीं माना जाता। उनमें पति की मृत्यु के बाद कुछ निश्चित समय के पश्चात ही एक विधवा पुनर्विवाह कर सकती है। इस प्रतीक्षा काल को 'इद्दत' कहते हैं। इद्दत का उद्देश्य यह पता लगाना है कि स्त्री अपने पहले पति से गर्भवती है या नहीं ताकि यह निश्चित करने में झगड़ा न हो कि संतान का पिता कौन है। इस इद्दत के प्रतीक्षा-काल के पश्चात् विधवा स्त्री विवाह कर सकती है। आजकल हिन्दू समाज में अनेक कारणों से विधवा पुनर्विवाह को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता यद्यपि इसका प्रचलन बहुत सीमित मात्रा में है।

6. शिया मुसलमानों में मुताह विवाह (Mutah Marriage among Sia Muslims)—शिया सम्प्रदाय के लोगों में मुताह नामक अस्थायी विवाह की प्रथा है। इस विवाह में निश्चित की हुई अवधि तक पति-पत्नी एक साथ रहते हैं। इस अवधि के पश्चात विवाह अपने आप समाप्त हो जाता है। एसे मुताह-विवाह स्त्री-पुरुष दोनों कर सकते हैं। हिन्दुओं में इस प्रकार का कोई अस्थायी विवाह प्रचलित नहीं है।

7. विवाह के स्वरूपों के आधार पर अन्तर—हिन्दुओं में विवाह के आठ रूप प्रचलित हैं जबकि मुसलमानों में तीन प्रकार के विवाह (निकाह, मुताह एवं फासिद) ही पाये जाते हैं।

8. इद्दत का अन्तर —मुसलमानों में तलाक के लिए स्त्री को इद्दत की अवधि का पालन करना होता है अर्थात् तलाक के बाद तीन मासिक धर्म की अवधि तक वह किसी से पुनर्विवाह नहीं कर सकती, किन्तु हिन्दुओं में इद्दत की अवधि जैसी कोई चीज प्रचलित नहीं है।

9. वैवाहिक प्रक्रियाओं के आधार पर अन्तर—मुसलमानों में विवाह का प्रस्ताव वर-पक्ष द्वारा वधू पक्ष की तरफ रखा जाता है जिसकी स्वीकृति एक ही बैठक में गवाहों के समक्ष होना जरूरी है। हिन्दुओं में विवाह का प्रस्ताव लड़की वालों की ओर से रखा जाता है, उसमें गवाह एक आवश्यक पक्ष नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और मुस्लिम विवाह पद्धतियों में समानताएँ कम और असमानताएँ अधिक हैं।

मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति
(The Position of Muslim Women)

मुस्लिम समाज में स्त्रियों की स्थिति का समझने क लिए यह आवश्यक है कि सातवीं शताब्दी के अरब समाज क रीति-रिवाजो के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जाए। अरब में स्त्री को सम्पत्ति के रूप में देखा जाता था, लेकिन इस्लाम न इसका विरोध किया। कुरान में विधवा स्त्री को सम्पत्ति का कुछ भाग प्राप्त करन का अधिकार दिया गया है, जिसस प्रकट होता है कि इस्लाम उस सम्पत्ति के रूप मे नही मानता। स्त्री की स्थिति का सुधारन की दृष्टि स इस्लाम की महान देन यही है कि उसन उस सपत्ति सबधी अधिकार प्रदान किय, कानूनी दृष्टि स उस सम्पत्ति का अधिकारी माना तथा मेहर का स्त्री की सम्पत्ति स्वीकार किया। मुहम्मद साहब ने पुत्र के साथ, पुत्री को भी पिता की सम्पत्ति का अधिकारी माना, यद्यपि उसका हिस्सा पुत्र क हिस्से की तुलना में कम रखा गया।

इस्लाम में बहुपत्नी-विवाह का सीमित करन का प्रयत्न किया गया। पुरान अरब समाज में पुरुष इच्छानुसार कितनी भी स्त्रियो स विवाह कर सकता था। मुहम्मद साहब न इस स्थिति में परिवर्तन लान का प्रयत्न किया और चार से अधिक स्त्रियों के विवाह का गैरकानूनी बताया। इस्लाम का झुकाव एक विवाह की ओर था। इस्लाम क पूर्व क अरब समाज मे बालिका- वध (Female infanticide) की घटनाएँ भी हाती थीं। बालिका-हत्या के प्रचलन का एक कारण गरीबी रहा है। उस समय कठिन प्राकृतिक परिस्थितियो में बालिकाओं का भरण-पोषण एक समस्या थी। मुहम्मद साहब न बालिका-वध की घोर निन्दा की और इस पूर्णत अनुचित माना।

मुहम्मद साहब स्त्रियो का धार्मिक अधिकार दन क पक्ष में थे। उन्होंने स्त्रियों का अपने पतियों की आज्ञा स सार्वजनिक स्थानो पर नमाज पढना और मस्जिद मे जाना उचित माना। कुरान में कहा गया है कि पुरुष क समान स्त्री भी बहिश्त (स्वर्ग) में जा सकती है। डॉ. कापड़िया ने लिखा है, "इस्लाम मे पत्नियो की सख्या चार तक सीमित करके, बालिका हत्या की निन्दा करके, स्त्रियों का उत्तराधिकार का भाग प्रदान करक, मेहर का वधू को दी गई भेंट घोषित करके तथा विवाह एव विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अरबी कानून को स्त्रियों क अनुकूल बनाकर, स्त्री की स्थिति में सुधार किया है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि इसन (इस्लाम न) स्त्री और पुरुषों के बीच समानता का माना।"[1] इसमें कोई सन्देह नही कि इस्लाम ने स्त्रियो की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। उन्हें अनक अधिकार भी प्रदान किए, लकिन मुहम्मद साहब सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों को स्वतत्रता दन क पक्ष में नही थ। वे स्त्रियों का कार्य क्षेत्र घर ही समझते थे, उन्हें परदे में रखना चाहते थे और बाहर जाने पर बुरका ओढना उनके लिए आवश्यक समझते थ। अमीर अली ने बतलाया है कि स्त्रियो का एकान्त मे रखन की पैगम्बर की सलाह न, उनक अनुयायियो मे निश्चय ही अनैतिकता की बाढ का और छिप हुए बहुपतित्व क प्रसार का रोकन में बहुत कार्य किया।[2] लेकिन यहाँ हमें इस बात का ध्यान में रखना चाहिए कि अमीर अली न उस युग की नैतिक शिथिलता को बढ़ा-चढा कर तथा परद की प्रथा को आदर्श रूप में व्यक्त किया है।

मुहम्मद साहब द्वारा स्त्रियो की स्थिति का सुधारन के जा कुछ प्रयास किये गये, उनके आधार पर कुछ लेखकों ने इस्लाम का समानता और लोकतत्र का आदर्श रूप माना और साथ ही मुहम्मद साहब को स्त्री के अधिकारों का समर्थक। लेकिन यह कथन आंशिक रूप स ही सही है। इस

1 K.M Kapadia Ibid p 199
2 Ameer Ali Qsuoted by K.M Kapadia Ibid p 197

सबंध मे डॉ. कापडिया ने लिखा है, "मुहम्मद साहब ने फिर भी स्त्रियों की स्थिति को सुधारा, यद्यपि इस क्षेत्र मे एक सुधारक के रूप में उनकी भूमिका को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर इस घोषणा के रूप में दिखलाया गया है कि इस्लाम सामाजिक प्रजातंत्र है। यह सत्य है कि इस्लाम स्त्रियों की स्थिति और पद में परिवर्तन लाया है, लेकिन यह दावा करना बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहना है कि उसने उसकी स्थिति पुरुष के समान कर दिया "[1] इस्लामी कानून के अनुसार विवाह-विच्छेद से सम्बन्धित स्त्रियों के अधिकार बहुत सीमित हैं, जबकि पुरुषों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं। मुस्लिम विवाह में गवाह के रूप में एक पुरुष गवाह के स्थान पर दो स्त्री गवाहों का होना आवश्यक हैं। जब किसी प्रकार का कोई जुर्माना किया जाता है, तो स्त्री, पुरुष की तुलना मे आधा जुर्माना देती है। इसी प्रकार, सम्पत्ति में पुत्री का भाग पुत्र से आधा होता है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम द्वारा स्त्रियों की स्थिति मे सुधार की बात कुछ अंशो में ही सत्य है। सर विलियम म्यूर ने लिखा है 'मुहम्मद साहब ने स्त्रियों को जो स्थिति निश्चित की, वह एक निम्न स्तर के प्राणी की है, जो केवल अपने स्वामी की सेवा करने के लिए ही बनी है, जिसे बिना कोई कारण बतलाए और बिना एक घण्टे की पूर्व सूचना दिए अलग किया जा सकता है।"[2]

वर्तमान समय मे शिक्षित युवक सुधार के पक्ष मे हैं। अनेक परिवर्तनकारी शक्तियाँ मुस्लिम समाज को भी प्रभावित कर रही हैं, परन्तु इसमे परिवर्तन की गति बहुत धीमी है। डॉ. कापडिया ने लिखा है कि मुस्लिम जगत का शिक्षित अभिजात वर्ग (Elite) इस बात का महसूस करता है कि इस्लाम के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आपको नवीन पर्यावरण के अनुकूल बनाए और नवीनीकरण को अपनाए, लेकिन इस्लाम और प्रसिद्ध आधुनिकतावादियों के उपदेशो में उनका विश्वास उन्हें कुरान की ओर पीछे खींच रहा है। अतः युवा पीढ़ी तनाव और बेचैनी के मध्य से गुजर रही है और अब यह देखना शेष है कि यह तनाव दूर कैसे होगा और इस विरोध का समाधान क्या होगा[3]

मुसलमानो मे तलाक (विवाह-विच्छेद)
(Divorce Among Muslims)

मुस्लिम विवाह एक समझौता माना गया है न कि धार्मिक संस्कार। इस जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध नहीं माना गया है। ऐसी दशा में मुसलमानों में इस समझौते को समाप्त करने की व्यवस्था भी की गई है, विवाह-विच्छेद को उनमे न्यायसंगत माना गया है। मुस्लिम समाज में, अन्य समाजों की तुलना में विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। प्राचीन अरबी समाज मे 'खाल' की प्रथा पाई जाती थी जिसके अनुसार लड़की का पिता उसके विवाह मे प्राप्त 'सदक' (वधू-मूल्य) को लौटा कर उसे उसके पति से मुक्त करा सकता था। लेकिन धीरे-धीरे 'सदक' का स्थान 'मेहर' ने ले लिया और ऐसी स्थिति में सदक को लौटा कर लड़की को पति से स्वतंत्र करा लेने की प्रथा समाप्त हो गई। अब केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही पत्नी मेहर लौटा कर विवाह-विच्छेद कर सकती है और वह भी उस स्थिति में जब पति इसके लिए तैयार हो। इस्लाम और उसके कानून के अनुसार, विवाह-विच्छेद का अधिकार पुरुषों को ही दिया गया है, स्त्रियों को नहीं। पुरुष बिना अदालत की सहायता के, कभी भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। तलाक देने के लिए पति को कोई

---

1 Ibid p 196
2 Sir William Muir Quoted by K M Kapadia Ibid, p 200
3 K M Kapadia Ibid p 203

कारण बतलाने की आवश्यकता नही पडती। वह पत्नी को, उसके द्वारा किसी प्रकार की कोई गलती न होने पर भी, तलाक द सकता है। स्त्री का यह अधिकार नही दिया गया है। वह स्वच्छा से अपने पति की इच्छा के विरुद्ध कभी भी विवाह-विच्छद नही कर सकती। परम्परागत मुस्लिम नियम स्त्री का विवाह-विच्छद का अधिकर नही दत। स्त्री उसी अवस्था मे तलाक दे सकती है जब उसका पति इसक लिए राजी हो। जिन परिस्थितिया म स्त्री का तलाक का अधिकार दिया गया है, वहाँ भी तलाक का स्रात पति ही प्रतीत होता है। 'खुला' नामक विवाह-विच्छेद क प्रकार मे स्त्री महर की राशि को लोटा कर, विवाह-विच्छद की माँग ता कर सकती है, परन्तु यह होगा तभी, जब पति इसक लिए तेयार हा। अत स्पप्ट है कि मुस्लिम परम्परागत नियम पुरुप का विवाह-विच्छद सम्बन्धी विशप अधिकार प्रदान करता है, इस क्षत्र म इस्लामी कानून का झुकाव स्पप्टत पुरुप क पक्ष मे है।

अब मुस्लिम स्त्री भी तलाक द सकती हे, परन्तु अदालत की सहायता स। मुस्लिम विवाह-विच्छद अधिनियम, 1939 (Dissolution of Muslim Marriage Act 1939) क अनुसार, पत्नी भी अदालत के माध्यम स विवाह-विच्छद कर सकती है। यद्यपि मुस्लिम समाज में स्त्री-पुरुपों का विवाह-विच्छद का अधिकार प्राप्त है तथापि इन विवाहो म स्थिरता दिखलाई पडती है। मुसलमानो मे विवाह-विच्छेद अच्छा नही समझा गया है और वेवाहिक जीवन मे सफल नही हान पर इस अन्तिम साधन क रूप मे बतलाया गया है। मुसलमानो में दा प्रकार स विवाह-विच्छद हो सकता है-(1) बिना अदालत की सहायता के अर्थात् परम्परागत या प्रथागत नियमो क अनुसार, तथा (2) अदालत की सहायता स अर्थात् कानूनी तरीके स। यहाँ सर्वप्रथम तलाक क प्रथागत स्वरूप पर विचार किया जा रहा हे।

तलाक के प्रथागत स्वरूप
(Customary forms of Divorce)

मुस्लिम समाज मे साधारणत तलाक बिना अदालत की सहायता क हात हैं। पुरप का इस दृष्टि स व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। तलाक क प्रथागत स्वरूप य हें-

1. तलाक (Talak)—मुस्लिम कानून क अनुसार कोई भी स्वस्थ मस्तिष्क वाला मुसलमान, जा वयस्क हे (15 वर्ष की आयु प्राप्त है) कारण बतलाए बिना भी अपनी पत्नी का तलाक द सकता है। यह तलाक कवल शब्दा क उच्चारण-मात्र से ही पूर्ण हा जाता है। यदि पति दबाव या नशे की हालत म या पत्नी की अनुपस्थिति मे 'तलाक' का उच्चारण कर देता है, तो भी तलाक वैध माना जाता हे। शिया कानून के अनुसार तलाक के लिए दा याग्य गवाहा की उपस्थिति मे तलाक का उच्चारण आवश्यक हे परन्तु सुन्नी कानून क अन्तर्गत गवाहो की कोई जरूरत नही हे। तलाक की घापणा स्वय या अपन किसी प्रतिनिधि द्वारा की जा सकती है। तलाक लिखित रूप में भी हो सकता है और अलिखित रूप मे भी। अलिखित तलाक के तीन प्रकार हैं—

(अ) तलाके अहसान (Talak Ahasan)— तलाक क इस प्रकार म पति पत्नी के 'तुहार' (मासिक धर्म) के समय एक बार तलाक की घापणा कर देता है। इसक बाद 'इद्दत' की अवधि मे वह पत्नी के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं करता और इस अवधि के समाप्त होने पर तलाक हा जाता है। इद्दत तलाक की घापणा क बाद चार मासिक धर्मों क बीच की अवधि का कहते हें। यह अवधि प्राय तीन महीने की हाती है। इस अवधि में यदि पति-पत्नी क साथ सहवास

नही करता तो अवधि की समाप्ति पर तलाक हो जाता है। इद्दत की अवधि का प्रमुख लक्ष्य यह ज्ञात करना होता है कि स्त्री गर्भवती तो नही है। साथ ही इस अवधि में पति को अपने तलाक सम्बन्धी निर्णय पर पुन विचार करने का अवसर मिल जाता है। इस अवधि में यदि वह अपने निर्णय को बदलना चाहे तो पत्नी के साथ सहवास कर लेता है और ऐसी दशा में तलाक की घोषणा वापस ले ली जाती है।

(ब) तलाके हसन (Talak Hasan) — तलाक के इस प्रकार में पति को तीन तुहरों के अवसर पर तलाक की घोषणा को दोहराना पडता है। इन तीन तुहरों की अवधि के बीच वह स्त्री के साथ सहवास भी नही करता। इस अवधि के बाद तलाक पूर्ण हो जाता है।

(स) तलाके-उल-बिद्दत (Talak-ul-biddat) — यह तलाक का अत्यन्त सरल तरीका है। किसी भी मासिक धर्म के अवसर पर पति, पत्नी या उसके किसी गवाह की अनुपस्थिति में भी,तलाक की एक बार स्पष्ट घोषणा कर देता है और तलाक हो जाता है। कभी-कभी एक ही मासिक धर्म के अवसर पर थोड-थोड समय के बाद तलाक की तीन बार घोषणा की जाती है और फिर तलाक पूर्ण हो जाता है। तुहर के अवसर पर तलाक की घोषणा का उद्देश्य यही है कि यह ज्ञात हो जाए कि तलाक के समय स्त्री गर्भवती तो नहीं है।

2. इला (Illa of Vow of Continence) — जब पति कसम खाकर चार महिने या इससे अधिक समय तक, पत्नी के साथ यौन सम्बन्ध नहीं रखने की प्रतिज्ञा करता है, तो इसे 'इला' कहते हैं। इस अवधि के पश्चात विवाह -विच्छेद हो जाता है । यदि इस काल में वह पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध कर लेता है तो इला टूट जाता है और ऐसी दशा में विवाह -विच्छेद नहीं होता है। विवाह-विच्छेद की यह रीति अब अधिक प्रचलित नही है ।

3. जिहर (Zihar or Illegal Comparison) —जिहर का तात्पर्य है- गैर कानूनी तुलना के द्वारा विवाह-विच्छेद। यदि पति अपनी पत्नी की तुलना किसी ऐसी स्त्री सम्बन्धी से करता है जिसके साथ विवाह सम्बन्ध वर्जित है तो पत्नी ऐसी तुलना के लिए पति को प्रायश्चित करने को कहती है। पति यदि प्रायश्चित नही करता, तो ऐसी दशा में पत्नी अदालत से विवाह-विच्छेद की माँग कर सकती है। अदालत ऐसी दशा में विवाह-विच्छेद की आज्ञा दे देती है।

4. खुला (Khulla or Redemption) — खुला विवाह-विच्छेद का वह प्रकार है जिसमें पत्नी पति से विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना करती है और पति के वैवाहिक अधिकारों की समाप्ति के बदले में प्रतिफल के रूप में या मेहर को वापस लौटाकर, क्षतिपूर्ति का वादा करती है। यदि पति इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो विवाह-विच्छेद मान लिया जाता है।

5. मुबारत (Mubarrat or Mutual Separation) — यह विवाह-विच्छेद पति-पत्नी की पारस्परिक सहमति (Mutual Consent) के आधार पर होता है। इसमें दोनो ओर से तलाक की इच्छा प्रकट की जाती है। 'खुला' में पत्नी पति को कुछ धन देती है, परन्तु यहाँ उसे कुछ भी देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। ऐसे विवाह-विच्छेद के लिए पत्नी को 'इद्दत' करना होता है और पति को इस अवधि में उसे अपने घर ही रखना पडता है।

6. लियान (Lian or False charge of Adultery) — इसमें पति पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है। पत्नी इस आरोप का खण्डन करती है और अदालत से प्रार्थना करती है कि या तो पति अपने इस आरोप को वापस ले या खुदा को हाजिर नाजिर समझकर घोषणा

करे कि यह आरोप सत्य है। यदि पति का आरोप झूठा सिद्ध होता है तो पत्नी को विवाह-विच्छेद का अधिकार मिल जाता है और वह अदालत की सहायता से विवाह-विच्छेद कर सकती है। यदि पति अपना आरोप वापस ले लेता है तो मुकदमा नहीं चलता है।

7. तलाके तफवीज (Talak Thafabeej) — विवाह-विच्छेद के इस प्रकार में पत्नी द्वारा तलाक की माँग की जाती है। यह माँग विवाह के समय पति द्वारा पत्नी को दिए गए अधिकार के आधार पर की जाती है।

न्यायिक तलाक
(Judicial Divorce)

शरीयत अधिनियम (Shariat Act), 1937 के पहले पत्नी दो आधारों पर विवाह-विच्छेद कर सकती थी। वे आधार ये हैं–

1. पति का नपुंसक होना।
2. पति द्वारा पत्नी पर लगाया व्यभिचार का आरोप गलत सिद्ध होना।

शरीयत अधिनियम 1937 के अनुसार, इला (Illa) और जिहर (Zihar) के आधार पर भी विवाह-विच्छेद किया जा सकता है।

मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 (Dissolution of Muslim Marriage Act 1939) द्वारा मुस्लिम स्त्रियों की विवाह-विच्छेद सम्बन्धी सभी निर्योग्यताएँ एवं असमानताएँ दूर कर दी गई हैं और उन्हें विवाह विच्छेद सम्बन्धी अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं। इन अधिकारों के प्राप्त होने से मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों में तलाक एक सामान्य घटना है और विशेष रूप से पुरुषों के लिए तलाक सरल है, परन्तु वास्तव में मुसलमानों में तलाक बहुत ज्यादा नहीं होते। मुहम्मद साहब तलाक के अधिकार के कम से-कम प्रयोग के पक्ष में थे। वे विवाह और परिवार को स्थायित्व प्रदान करना चाहते थे तथा तलाक के अधिकार और प्रयोग को सीमित। उन्होंने तलाक की आज्ञा उसी स्थिति में दी है जब दोनों पक्षों को यह भय हो कि वे ईश्वरीय सीमा के भीतर नहीं रह सकते। एक मुस्लिम जनश्रुति के अनुसार विवाह-विच्छेद कानून-सम्मत तो है, परन्तु ईश्वर इसे पसन्द नहीं करता। तलाक सम्बन्धी अपने निर्णय पर पुनः विचार करने और तलाक को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से ही 'इद्दत' की अवधि पर इतना जोर दिया गया है। डॉ. कापडिया ने बतलाया है कि "अपने जीवन के अन्त में पैगम्बर इतने आगे बढ़ गए कि उन्होंने पंचों अथवा न्यायाधीशों के हस्तक्षेप के बिना इसका उपयोग पुरुषों के लिए करीब-करीब निषिद्ध-सा ही कर दिया।"[1] आपने आगे बतलाया है कि बाद के न्यायशास्त्रियों ने विवाह विच्छेद की आवृत्ति को सीमित करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार पति द्वारा चाहा गया तलाक वास्तव में पत्नी की सहमति के बिना निषिद्ध था। अतः "*हनाफी, मलिकी, शाफी और अधिकांश शिया विवाह-विच्छेद* की आज्ञा तो देते हैं, परन्तु बिना कारण इसका उपयोग न्यायसम्मत नहीं मानते।" स्पष्ट है कि, चाहे मुहम्मद साहब के पूर्व अरब समाज में विवाह-विच्छेद का काफी प्रचलन रहा हो तथापि वे इसके पक्ष में नहीं थे। उन्होंने तलाक को सीमित कर परिवारों में स्थिरता लाने का काफी प्रयास किया। कानून की दृष्टि से तलाक के सम्बन्ध में स्त्री की स्थिति निराशाजनक अवश्य प्रतीत होती है परन्तु व्यवहार में वास्तव में ऐसा नहीं है। इम्तियाज अहमद ने अपनी पुस्तक में वर्णित-विभिन्न मुस्लिम

---

1 K M Kapadia Ibid pp 190-191

समुदायों के अध्ययन से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर बताया है कि तलाक अधिकतर समूहों में सामाजिक दृष्टि से अस्वीकृत है और इससे न केवल तलाक करने वाले दोनों पक्षों को बल्कि उनके परिवारों की भी सामाजिक प्रतिष्ठा गिरती है। यही कारण है कि मुसलमानों में तलाक बहुत कम होते हैं। साथ ही, सामाजिक प्रथा के अन्तर्गत कुछ संगठनात्मक साधनों को स्वीकार किया गया है जिनके माध्यम से स्त्री अपने पति को तलाक के लिए बाध्य कर सकती है। यद्यपि इस्लामी कानून के अनुसार बहु-विवाह तथा तलाक की दृष्टि से स्त्री की स्थिति कमजोर है, लेकिन व्यवहार रूप में इन दोनों ही मामलों में सामाजिक प्रथा कानून के प्रावधानों से काफी भिन्न है।

मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939
(Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939)

मुस्लिम समाज में पुरुषों को विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त हैं और वे इच्छानुसार, कभी भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकते हैं, परन्तु स्त्रियाँ अपने पति की इच्छा के विरुद्ध कभी भी तलाक नहीं दे सकती और वे अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रही हैं। इन निर्योग्यताओं को दूर करने के उद्देश्य से सन् 1937 में मुस्लिम शरीयत अधिनियम (Muslim Shariat Act) पारित किया गया। इसके अन्तर्गत मुस्लिम स्त्रियों को इला और जिहर के आधार पर विवाह-विच्छेद करने का अधिकार दिया गया है। इसके पारित होने के उपरान्त भी स्त्रियों को पुरुषों के समान विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नहीं हुआ और अन्त में सन् 1939 में मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) पारित हुआ। यह अधिनियम मुस्लिम शरीयत अधिनियम, 1937 में संशोधन करने के उद्देश्य से पारित किया गया था। मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 के अनुसार, स्त्रियों को विवाह-विच्छेद सम्बन्धी पूर्ण अधिकार प्रदान किए गए हैं। इस अधिनियम में 6 धारायें हैं, जिनमें धारा 2 अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार एक स्त्री जिसका विवाह मुस्लिम कानून के अनुसार हुआ है, निम्नलिखित आधारों पर विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र देकर राजाज्ञा प्राप्त कर सकती है-

(1) यदि पति के बारे में चार वर्ष तक कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई हो।

(2) यदि पति लगातार दो वर्ष तक अपनी पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करने में असफल रहा हो।

(3) यदि पति को सात या अधिक वर्षों के लिए जेल की सजा हो चुकी हो। इस आधार पर तलाक उस समय दिया जा सकता है, जब सात वर्ष की सजा का आखिरी फैसला हो चुका हो।

(4) यदि पति तीन वर्ष से बिना किसी पर्याप्त कारण के अपने वैवाहिक कर्त्तव्यों को पूर्ण नहीं कर रहा हो।

(5) यदि यह सिद्ध हो जाए कि पति विवाह के समय नपुंसक था और यही अवस्था तलाक के समय भी जारी है। लेकिन पति अदालत में प्रार्थना-पत्र दे सकता है कि उसे एक वर्ष का समय और दिया जाए और यदि वह इस अवधि के पश्चात् अपने ठीक होने का प्रमाण प्रस्तुत कर दे तो तलाक की आज्ञा नहीं मिलती है।

(6) यदि पति दो वर्ष से पागल हो, कुष्ठ अथवा संक्रामक यौन-रोग से पीड़ित हो।

(7) यदि उसका विवाह 15 वर्ष स कम आयु म उसक पिता या अन्य सरक्षक द्वारा कर दिया गया हो और इस अवधि मे पति-पत्नी का यौन-सम्बन्ध न हुआ हो तथा लडकी न 18 वर्ष की आयु पूर्ण होने क पहल ही ऐस विवाह क विरुद्ध प्रतिवेदन कर दिया हो।

(8) यदि पति पत्नी क साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार कर, जैस-(अ) उस प्राय पीटता हो या अन्य प्रकार स क्रूरता का व्यवहार करता हो। (ब) चरित्रहीन स्त्रियो क साथ सम्पर्क रखता हो। (स) पत्नी को व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करन को बाध्य करता हो (द) उसकी सम्पत्ति का बचता हो या उसक साम्पत्तिक अधिकारो क प्रयोग म बाधा डालता हो (य) पत्नी क धार्मिक कार्यों म बाधा डालता हो, (र) एक स अधिक पत्नियाँ रखकर कुरान क अनुसार सबक साथ समान व्यवहार न करता हो।

(9) किसी अन्य आधार पर जो मुस्लिम कानून क अनुसार विवाह-विच्छेद क लिए मान्य हो।

मुस्लिम विवाह से सम्बन्धित समस्याएँ

(Problems connected with Muslim Marriage)

मुस्लिम सस्थाओ एव सामाजिक व्यवस्थाओं पर सनातनी अरबी व्यवस्थाओ का प्रभाव पडा है और आज भी यह प्रभाव दिखलाई पडता है किन्तु मुस्लिम विवाह का परम्परागत स्वरूप बदल रहा है। पुरुषो की स्वच्छाचारिता पर कुछ नियन्त्रण लगाय गय हैं। स्त्रियो की स्थिति कुछ ऊँची उठाई जा रही है। उन्हे विवाह, परिवार एव सम्पत्ति क क्षेत्र म अनक अधिकार प्रदान किए गए हैं। शरीयत अधिनियम 1937 व मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939 पारित किय गय हैं। साथ ही मुस्लिम विवाह की प्रमुख बात यह है कि इस एक सामाजिक समझौता माना गया है, धार्मिक सस्कार नहीं। अत जब चाह तब स्त्री पुरुष विवाह-विच्छेद कर सकत हैं। इसस यह प्रतीत होता है कि मुस्लिम विवाह काफी सरल है और उसम कोई समस्या नहीं है किन्तु यह तस्वीर का एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। व्यावहारिक दृष्टि स आज मुस्लिम विवाह भी हिन्दू विवाह क समान ही अनक गम्भीर समस्याओं का शिकार बनता जा रहा है। कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित प्रकार स हैं-

1. 'मेहर' की समस्या—मुस्लिम समाज मे महर की प्रथा विकराल रूप ग्रहण कर चुकी है। मुस्लिम विवाह तभी वध माना जाता ह जब वर पक्ष द्वारा वधू पक्ष का महर की धनराशि द दी जाती है अथवा दन का वायदा किया जाता है।

वर्तमान समय मे महर की प्रथा अभिशाप बनती जा रही है। आज महर की राशि दिन-रात चौगुनी गति स बढती जा रही ह। इसस कई मुसलमान, जिनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होती है, वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करन स वचित रह जात हैं व धनाढ्य लागो का ही विवाह पर एकाधिकार बन जाता है। साथ ही इसस बमल विवाह का भी प्रोत्साहन मिलता ह।

2. बहुपत्नी विवाह प्रथा—मुस्लिम समाज म वैधानिक दृष्टि स एक पुरुष को चार स्त्रियों से विवाह करन की स्वीकृति प्राप्त है। इसस पुरुषो की स्वच्छाचारिता बढ जाती है, व तानाशाह बन जाते हैं और स्त्रियो पर अत्याचार किए जात हैं। उनक प्रति भदभाव बढता जाता ह, परिणामस्वरूप उन्हे पत्नीत्व का वास्तविक सुख नहीं मिल पाता। बहुपत्नी प्रथा क कारण ही पारिवारिक वातावरण कलुषित हो जाता है। वहाँ आय दिन ईर्ष्या, द्वष मनमुटाव लडाई-झगड पाय जात हैं। स्त्रियो की सामाजिक आर्थिक स्थिति भी निम्न हो जाती है। अधिक पत्नियाँ तथा अधिक सन्तान बहुधा परिवार पर आर्थिक बोझ भी बन जाती हैं। एसी दशा मे उनक रहन-सहन का स्तर गिरता है उनक बालको का चहुँमुखी विकास अवरुद्ध हो जाता है।

3. बाल विवाह की समस्या—विवाह से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण समस्या बाल-विवाह की भी है। मुस्लिम संस्कृति का हिन्दू संस्कृति से लम्बे समय से सम्पर्क के कारण मुस्लिम संस्कृति में भी बाल-विवाह की कुप्रथा प्रचलित हो गयी। इस दुष्प्रथा के कारण स्त्रियों का स्वास्थ्य गिरा रहता है, दुर्बल सन्तानों का जन्म होता है, पारिवारिक सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई रहती है। साथ ही जनसंख्या वृद्धि को भी प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन मुस्लिम विवाह की एक शर्त के अनुसार यदि 15 वर्ष से कम आयु में विवाह किया जाय तो बालिग होने पर वर-वधू अपने विवाह को समाप्त भी कर सकते हैं।

4. पर्दा प्रथा की समस्या—मुस्लिम विवाह की एक समस्या पर्दा-प्रथा है। मुस्लिम स्त्रियों को घर में बड़े-बूढ़े से, नाते रिश्तेदारों से पर्दा करना पड़ता है। उन्हें घर से बाहर निकलते समय बुरका ओढ़ना पड़ता है, इससे स्त्रियों की निम्न स्थिति रहती है, उनकी समुचित शिक्षा-दीक्षा नहीं हो पाती, व्यक्तित्व का स्वस्थ व सन्तुलित विकास नहीं हो पाता, वे केवल घर की चारदीवारी तक ही सीमित रह जाती हैं।

5. स्त्रियों की असन्तोषजनक स्थिति—हिन्दू स्त्रियों की भाँति मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। अशिक्षा, संयुक्त परिवार प्रथा, पर्दा प्रथा, बहुपत्नी प्रथा एवं आर्थिक निर्भरता के कारण स्त्रियाँ अपने अधिकार का लाभ नहीं उठा पातीं। स्त्रियों के सारे अधिकार छीन लिये गए हैं और पर्दा प्रथा की आड़ में उन्हें जनाने स्थान में बंद करके रख दिया गया है। परिवार संबंधी वास्तविक सत्ता तो पुरुषों के हाथ में केन्द्रित रहती है और स्त्रियों को सेविका की ही भूमिका आजीवन निभानी पड़ती है।

6. वैवाहिक अधिकारों की अव्यावहारिकता—मुस्लिम स्त्रियों को विवाह से सम्बन्धित अनेक अधिकार तो दिए गए हैं, परन्तु वे केवल कहने दिखावा मात्र हैं, व्यावहारिक दृष्टि से उनका उपभोग करना कठिन है। स्त्रियों से विवाह के पूर्व स्वीकृति ली जाती है किन्तु वह एक औपचारिकता है, उन्हें माता-पिता की इच्छा के अनुसार स्वीकृति देनी ही पड़ती है। महर की राशि पर स्त्री का नहीं वरन् परिवार का ही अधिकार होता है। विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार तो है किन्तु ऐसी स्त्री समाज में हीन दृष्टि से देखी जाती है। व्यवहार में तलाक के अधिकार का भी स्त्रियों द्वारा कम ही उपयोग किया जाता है।

7. अस्थायी विवाह —*मुसलमानों में विवाह से सम्बन्धित एक समस्या यह है कि उनमें अस्थायी विवाह भी होते हैं जिसे 'मुताह' (Mutah) कहते हैं एवं विवाह से परस्त्रगमन, घोर अनैतिकता एवं बहुपत्नी विवाह जैसी समस्याएँ जन्म लेती हैं। साथ ही साथ पारिवारिक संगठन भी सन्तुलित नहीं रह पाता। मुहम्मद साहब ने भी ऐसे विवाह को वेश्यावृत्ति की बहिन कहा है।*

8. अधिक जनसंख्या — मुस्लिम समाज में प्रचलित बहुपत्नी विवाह व बाल विवाह की प्रथा के कारण अधिक सन्तानोत्पत्ति की समस्या उत्पन्न होती है। बाल-विवाह के कारण सन्तान अल्पायु में ही होना प्रारम्भ हो जाती है और देश की जनसंख्या बढ़ती जाती है जबकि वर्तमान समय में जनसंख्या की वृद्धि एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है।

9. आर्थिक कठिनाइयाँ —मुस्लिम विवाह पद्धति के कारण कई बार स्त्री-पुरुषों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मुस्लिम विवाह में महर देना अनिवार्य होता है। जब कि पुरुष की आर्थिक स्थिति पहले ही निम्न हो और अपनी अल्प बचत भी दे महर के रूप

म द दे ता बाद म उस आर्थिक अभाव का सामना करना पडता है। इसी प्रकार बहुपत्नी प्रथा क कारण भी परिवार म अधिक स्त्रिया व अधिक सन्ताना क हान स उनक भरण-पाषण व शिक्षा-दीक्षा की समस्या आती है।

10. संविदात्मक विवाह — मुस्लिम समाज मे विवाह का स्वरूप सविदा या सामाजिक समझौता का है। इसका मुख्य लक्ष्य सन्तानात्पत्ति तथा वध यौन सम्बन्धा का धार्मिक-सामाजिक मान्यता प्रदान करना है। मुस्लिम विवाह कानून क अनुसार भी-"स्त्री पुरुष क बीच किया गया यह बिना शर्त का सविदा (Unconditional Contract) ह जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति कर बच्चा का वध रूप प्रदान करना ह।" इनमे विवाह एक स्थायी बन्धन न हाकर कभी भी ताडा जा सकन वाला समझौता मात्र हाता है। इसी कारण मुस्लिम समाज म बहुपत्नी प्रथा, तलाक की प्रथा महर की प्रथा विधवा पुनर्विवाह की स्वीकृति व स्त्रिया की निम्न दशा जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

11. सरल तलाक पद्धति — मुस्लिम विवाह स सम्बन्धित सबस महत्वपूर्ण समस्या विवाह-विच्छेद की है। इसम जब चाह तब पति पत्नी तलाक ल सकत व द सकत हैं। सर विलियम म्यार न लिखा ह "मुहम्मद साहब न जा स्थिति स्त्री क लिए निर्धारित की वह निम्न कोटि की ह और उनक अनुसार स्त्री क भाग्य म कवल अपन स्वामी की सवा करना लिखा है और वह भी उस स्वामी की जा बिना कोई कारण बतलाए तथा बिना एक घण्ट की भी पूर्व सूचना दिए पत्नी का अलग कर सकता है।" साथ ही तलाक स सम्बन्धित अधिकार एक तरफा है। इस पर खल की बागडोर पुरुष क हाथ म रहती ह। पुरुष जब चाह तब बिना बताय तीन बार 'तलाक' शब्द क उच्चारण मात्र स ही पत्नी का तलाक द सकता ह। यद्यपि पुरुष क इस वर्चस्व का 1939 क अधिनियम द्वारा समाप्त किया गया है और कुछ परिस्थितिया मे स्त्रिया का भी तलाक दन का अधिकार दिया गया है परन्तु व्यावहारिक रूप स स्त्रियो द्वारा तलाक कम ही दिया जाता ह। इस सरल तलाक पद्धति क कारण ही स्त्रिया का सदैव पुरुषो की दासी बनकर रहना पडता है। साथ ही स्त्रिया की निम्न स्थिति क लिए सरल तलाक पद्धति ही प्रमुखत उत्तरदायी है।

उपर्युक्त विवरण स स्पष्ट है कि मुस्लिम विवाह पद्धति क कारण आज सम्पूर्ण मुस्लिम समाज अनक गम्भीर दुष्परिणामो स पीडित है। प्रमुखत बहुपत्नी विवाह बाल-विवाह प्रथा, महर प्रथा, सरल विवाह-विच्छेद पद्धति पुरुषो की स्वच्छाचारिता, स्त्रियों की निम्न दशा अधिक सन्तानोत्पत्ति, आर्थिक दबाव आदि समस्याआ का मुस्लिम समाज का सामना करना पड रहा है। यद्यपि समय परिवर्तन क साथ-साथ मुस्लिम विवाह पद्धति म भी अनक परिवर्तन आ रह हैं किन्तु जा परम्परा सदिया स चली आ रही है उस दा चार दिन म नही छाडा जा सकता।

मुस्लिम परिवार
(Muslim Family)

मुस्लिम विवाह एक धर्म प्रधान सस्था हे जिस पर कुरान का स्पष्ट प्रभाव दिखलायी पडता है। कुरान मुस्लिम जीवन-पद्धति का व्यक्त करता हे परिवार क सगठन, सदस्यो क पारस्परिक सम्बन्ध एव उत्तरदायित्व और उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमो पर प्रकाश डालता है। साथ ही मुस्लिम परिवार पर हिन्दू सयुक्त परिवार व्यवस्था का भी प्रभाव पडा हे। डॉ कापडिया

न लिखा है कि भारतीय मुसलमानों का अधिकाश भाग अरब देश अथवा ससार के अन्य किसी भाग के इस्लामी बन्धुओं की अपेक्षा हिन्दुओं से अधिक समानता रखता है। जिन हिन्दुओं ने, इस्लाम का स्वीकार किया उन्होंने इस्लाम को मानते हुए भी अपने मूल धार्मिक विश्वासों और सामाजिक प्रथाओं को नहीं छोड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका धार्मिक जीवन हिन्दू प्रथाओं और विश्वासों से भरा पड़ा है।[1] भारत में मुस्लिम पारिवारिक प्रतिमान हिन्दुओं में पाए जाने वाले पारिवारिक प्रतिमानों के काफी समान हैं। रिजवी, अहमद तथा कोल्लिन ने बतलाया है कि सयुक्त परिवार का समर्थन प्रदान करने वाले प्रतिमान-जो हिन्दू धर्म ग्रन्थों में विशेष समर्थन प्राप्त करने के कारण हिन्दुओं की प्रमुख विशेषता है-समान रूप से मुसलमानों में भी काफी विस्तृत रूप में पाए जाते हैं।[2] स्पष्ट है कि मुस्लिम विवाह और परिवार पर हिन्दू जीवन पद्धति का प्रभाव रहा है।

मुस्लिम परिवार में साधारणत एक पति, उसकी पत्नी या पत्नियाँ और बच्चे होते हैं। मुसलमानों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था पाई जाती है। परिवार में पिता की ही प्रधानता होती है और वंश परम्परा पिता के नाम पर ही चलती है। विवाह के पश्चात् पत्नी अपने पति के घर रहती है, परन्तु जिन परिवारों में पत्नी का कोई भाई नहीं होता वहाँ कहीं-कहीं पति अपनी पत्नी के परिवार में घर-जवाँई के रूप में रहता है। कुछ मुस्लिम परिवारों में, हिन्दुओं के सयुक्त परिवारों के समान सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होती है। जिन परिवारों में कोई बच्चा नहीं होता, वहाँ किसी रिश्तेदार के बच्चे को गोद लेने की प्रथा पाई जाती है जिससे परिवार की निरन्तरता को बनाए रखा जाता है।

मुस्लिम परिवार की विशेषताएँ
(Characteristics of Muslim Family)

मुस्लिम परिवार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. सयुक्त परिवार (Joint Family) —मुस्लिम परिवारों की सरचना सयुक्त प्रकार की है। कुरान में सयुक्त परिवार को श्रेष्ठ माना गया है और इसी कारण मुस्लिम परिवार में सदस्यों की संख्या काफी होती है। एक पुरुष चार पत्नियाँ तक रख सकता है, फिर ऐसी दशा में उत्पन्न सन्तानों की संख्या भी काफी होती है। ग्रामों में निवास करने वाले लोगों में सयुक्त परिवार प्रणाली विशेष रूप से पाई जाती है। वहाँ एक परिवार में पिता पुत्र उसका पुत्र और इनसे सम्बन्धित स्त्रियाँ तथा कुछ अन्य रिश्तेदार पाए जाते हैं। इन परिवारों में कोई वृद्ध पुरुष "मुखिया" के रूप में कार्य करता है जो परिवार के सभी सदस्यों के लिए सम्मान का पात्र होता है। सदस्य उसकी आज्ञाओं का आदर के साथ पालन करते हैं। मुस्लिम सयुक्त परिवार के लिए एक सामान्य निवास-स्थान होता है और सब एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं। परिवार का एक सयुक्त कोष होता है परन्तु ऋणों का भुगतान सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से किया जाता है। वर्तमान समय में विशेषत नगरीय क्षेत्रों में एकाकी परिवारों (Nuclear families) की ओर मुसलमानों का झुकाव बढ़ता जा रहा है और परिवार में सदस्यों की संख्या कम होती जा रही है।

---

1 K M Kapadia Ibid p 47
2 Imtiaz Ahmad op cit p xxi

2. पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था (Patriarchal System) — हिन्दू परिवारों के समान ही मुस्लिम परिवार भी पितृ-सत्तात्मक हैं। परिवार में पिता की प्रधानता पाई जाती है। परिवार के मुखिया के रूप में पुरुष सदस्य ही होता है। उसी की आज्ञा के आधार पर विधवाओं, अनाथ बच्चों एवं अपंग सदस्यों का संरक्षण एवं सुरक्षा प्राप्त होती है। मुस्लिम परिवार में विवाह-विच्छेद की दृष्टि से भी पुरुष को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। ये परिवार पितृ-वंशीय और पितृ-स्थानिक प्रकार के होते हैं। वंश का नाम पिता से पुत्र को प्राप्त होता है और विवाह के पश्चात् लड़की अपने पति के घर जाकर निवास करती है।

3. सदस्यों की पारिवारिक स्थिति में असमानता (Disparity in Family Status of members) — परिवार में सभी सदस्यों की स्थिति समान नहीं होती है। परिवार में आयु के अनुसार सदस्यों को सम्मान प्राप्त होता है, अधिक आयु के लोगों को अधिक सम्मान और कम आयु के लोगों को कम सम्मान। पिता या मुखिया की स्थिति सर्वश्रेष्ठ होती है, उसके बाद माता का स्थान है। पारिवारिक मामलों में लड़कों की राय को लड़कियों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाता है। लड़कियों की बजाय लड़कों की स्थिति ऊँची मानी जाती है। लड़कों में सबसे बड़े लड़के की स्थिति ऊँची होती है।

4. बहु-पत्नी विवाह (Polygynous Marriage) — मुस्लिम परिवार की एक विशेषता बहु-पत्नीत्व है अर्थात् एक पुरुष चार स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है। पुरुष पर यह नियन्त्रण अवश्य लगाया गया है कि वह चारों स्त्रियों के साथ समानता का व्यवहार करेगा। मुस्लिम परिवार में एक पुरुष से एक से अधिक पत्नियों के होने के उपरान्त भी कलह तथा द्वेष कम ही दिखाई पड़ता है। ऐसा शायद इसलिए सम्भव है कि मुस्लिम स्त्रियाँ इस स्थिति के लिए पहले से ही तैयार होती हैं। सम्भवतः इसी के परिणामस्वरूप इस्लामी कानून के अनुसार मुस्लिम समाज में तलाक की व्यवस्था होने पर भी इसका प्रचलन कम ही पाया जाता है। वर्तमान में अनेक शिक्षित मुसलमान, विशेष तौर से स्त्रियाँ बहुपत्नी विवाह वाले परिवार को अच्छा नहीं मानतीं। ऐसी दशा में बहु पत्नी विवाही परिवारों के स्थान पर एक-पत्नी विवाही परिवारों की स्थापना की सम्भावना है।

5. परदा प्रथा (Purdah System) — मुस्लिम परिवारों में परदा-प्रथा पाई जाती है। परिवार में स्त्रियाँ बड़े-बूढ़ों से, अपने से बड़ों से, कई प्रकार के रिश्तेदारों और बाहर के लोगों से परदा करती हैं। घर के दरवाजों पर चिक अथवा परदे लगे रहते हैं। उच्च घरानों की मुस्लिम स्त्रियाँ जब भी घर से बाहर निकलती हैं, बुरका ओढ़ती हैं और ताँगे आदि को भी चादर से ढक दिया जाता है। डॉ. अल्तेकर ने बतलाया है कि परदा सुन्दर स्त्रियों को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करता है, यात्रा के दौरान दुष्टों तथा अत्याचारियों से रक्षा करता है इसलिए हिन्दू स्त्रियों ने भी परदे का स्वागत किया।[1] मुस्लिम परिवारों में केवल परदे का ही रिवाज नहीं पाया जाता बल्कि स्त्रियों और पुरुषों के रहने के स्थान भी अलग-अलग होते हैं। स्त्रियों के रहने के लिए 'जनानखाना' और पुरुषों के लिए 'मर्दानखाना' होता है।

6. परिवार का धार्मिक आधार (Religious Basis of Family) — इस्लाम का मुस्लिम परिवार पर गहरा प्रभाव है। परिवार के सभी सदस्य मुहम्मद साहब के उपदेशों का ध्यान में रखते हुए आचरण करते हैं। कुरान में बतलाए हुए मार्ग पर चलना वे अपना परम कर्त्तव्य

1 A S Altekar op cit p 175

समझते हैं। कुरान में बतलाया गया है कि जो अल्लाह के संदेश पर विश्वास नहीं करते, वे दंड के भागी होते हैं। जो लोग अल्लाह की इच्छा के अनुसार अपने पारिवारिक कर्तव्यों का निभाते हैं वे अल्लाह के प्यारे होते हैं और उन्हें परम आनन्द मिलता है। इस प्रकार, मुसलमानों के धार्मिक विश्वासों ने पारिवारिक दृढ़ता को बनाए रखने में योग दिया है।

7. **परिवार में स्त्रियों की निम्न स्थिति (Low Status of Women in the Family)** — यद्यपि मुस्लिम स्त्रियों को अनेक अधिकार प्राप्त हैं तथापि परिवार में उनकी स्थिति निम्न ही है। उन्हें साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त हैं, मेहर पर भी उनका पूर्ण अधिकार है, दहेज भी उन्हीं की सम्पत्ति मानी जाती है, धार्मिक क्षेत्र में भी उन्हें अनेक अधिकार प्राप्त हैं। विवाह के लिए भी उनकी स्वीकृति इस्लाम के अनुसार आवश्यक है। अधिकारों की दृष्टि से हिन्दू स्त्रियों की तुलना में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति काफी सन्तोषप्रद है परन्तु व्यवहार में मुस्लिम स्त्रियाँ अपने इन अधिकारों का अशिक्षा, अन्धविश्वास, पर्दा-प्रथा तथा संयुक्त परिवार व्यवस्था के कारण उपभोग नहीं कर पातीं। पति की सेविका के रूप में ही उन्हें मुख्य भूमिका निभानी पड़ती है और उनका कार्य-क्षेत्र जनानखाने तक ही सीमित रहता है। वर्तमान में उच्च एवं शिक्षित परिवारों में स्त्रियों की स्थिति में काफी सुधार हो रहा है।

8. **परम्पराओं की प्रधानता (Prominence of Traditions)**— परिवार के सदस्य अधिकांशतः उन्हीं व्यवहारों का पालन करते हैं जो उनके पूर्वज करते आए हैं। इन लोगों में पारिवारिक परम्पराओं के प्रति विशेष आकर्षण पाया जाता है। अपनी भाषा, रीति रिवाज, व्यवहार के तरीकों और जीवन-पद्धति को बनाए रखना वे अपना गौरव समझते हैं। परिवार के माध्यम से मुस्लिम-सांस्कृतिक निरन्तरता बनी रहती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवार का सांस्कृतिक प्रतिमान पिता से पुत्र को और पुत्र से उसके पुत्र को क्रमशः हस्तान्तरित होता रहता है। इस प्रकार अपनी परम्पराओं को बनाए रखने का मुस्लिम परिवार में विशेष महत्त्व है।

मुस्लिम परिवार के कुछ प्रमुख संस्कार
(Some Important Family Rites of Muslims)

मुस्लिम परिवार में कुछ धार्मिक संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं। इन धार्मिक संस्कारों को समझे बिना मुस्लिम परिवार के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। ये संस्कार हैं– सतवा, अकीका, चिल्ला, बिस्मिल्ला, खतना, निकाह और मैयत (अन्त्येष्टि)। सतवा संस्कार गर्भवती स्त्री के सातवें महीने में मनाया जाता है। इस अवसर पर मनाए जाने वाले उत्सव में भाग रिश्तेदार तथा मित्र आदि भाग लेते हैं। स्त्रियाँ बच्चे के जन्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के गीत गाती हैं। अकीका संस्कार बच्चे के जन्म की सातवीं रात को सम्पन्न किया जाता है। इस संस्कार का सम्बन्ध पुत्र जन्म से है। इस अवसर पर फकीरों को दान दिया जाता है। मुल्लाजी बच्चे का नाम रखने के लिए बुलाए जाते हैं और वह बच्चे के लिए अल्लाह से दुआ मांगते हैं। चिल्ला संस्कार बालक के जन्म के चालीसवें दिन मनाया जाता है। इस दिन माता को स्नान कराके पवित्र किया जाता है और रिश्तेदारों द्वारा उसे उपहार दिए जाते हैं। इस अवसर पर नमाज पढ़ा जाता है, भोज दिया जाता है और खैरात बाँटी जाती है। बिस्मिल्ला संस्कार का सम्बन्ध लड़कों से होता है। यह बालक के विद्यारम्भ से सम्बन्धित उत्सव है। इस अवसर पर मुल्लाजी बालक से बिसमिल्ला शब्द

का उच्चारण करवाते और उसे पाटी पर लिखवाते हैं। खतना संस्कार के सम्पन्न होने के पश्चात् ही बालक को धार्मिक क्रिया कलापों में भाग लेने का अधिकार दिया जाता है। यह संस्कार बालक के पाँच से सात वर्ष की आयु के मध्य पूर्ण किया जाता है। इस अवसर पर नाई बालक की मूत्र-नलिका के आगे की खाल काट देता है, उसको कुछ शपथें लेने और कुरान की कुछ आयतें पढ़ने का कहता है। इस अवसर पर भोज का आयोजन किया जाता है और बच्चे को अनेक उपहार दिए जाते हैं। निकाह संस्कार विवाह से सम्बन्धित है। लड़के वाले पक्ष की ओर से विवाह का प्रस्ताव आता है। विवाह के लिए दोनों पक्षों की रजामन्दी होने पर उसकी तारीख निश्चित कर ली जाती है। उस दिन लड़के वाले बारात लेकर लड़की वाले के यहाँ पहुँच जाते हैं। जहाँ बारात का स्वागत किया जाता है। फिर काजी के सामने दो पुरुष गवाहों अथवा एक पुरुष गवाह और दो स्त्री गवाहों की उपस्थिति में, लड़की विवाह के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करती है। तत्पश्चात् निकाह की रस्म अदा की जाती है और काजी अपने रजिस्टर में विवाह दर्ज कर लेता है। मैयत संस्कार व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर सम्पन्न किया जाता है। मृतक को नाई स्नान कराता है, उसे नए वस्त्र पहनाता है और फिर उसे नई खाट पर लिटाकर चादर ओढ़ा दी जाती है। इसके पश्चात् उसे मस्जिद में ले जाया जाता है जहाँ मौलवी द्वारा जनाज़ा की नमाज पढ़ी जाती है। फिर मुर्दे को कब्रिस्तान ले जाकर कब्र में दफना दिया जाता है। इसके पश्चात् तीजा, दसवां, चालीसवाँ और बरसी आदि मृत्यु संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। इन अवसरों पर गरीबों को भोजन खिलाया जाता है और फकीरों को दान दिया जाता है। प्रत्येक मुस्लिम परिवार साधारणतः उपर्युक्त सभी संस्कारों को सम्पन्न करना अपना प्रमुख दायित्व समझता है।

मुस्लिम परिवारों को मुख्यतः परम्परावादी परिवार कहा जा सकता है। यद्यपि औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा के प्रसार, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति तथा व्यक्तिवादी विचारधारा ने मुस्लिम परिवारों में कुछ परिवर्तन लाने में योग दिया है, परन्तु अन्य समाजों की तुलना में मुस्लिम परिवार में बहुत कम परिवर्तन आए हैं। परिवर्तन की धीमी गति का मुख्य कारण मुसलमानों का अपने धर्म के परम्परागत आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा है। कुरान में वर्णित मान्यताओं का ध्यान में रखते हुए ही वे अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं और उसमें साधारणतः किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं चाहते। वर्तमान में मुस्लिम विवाह और परिवार के क्षेत्र में हिन्दू संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। नई पीढ़ी के शिक्षित होने के साथ-साथ इनमें काफी परिवर्तन आने की सम्भावनाएँ हैं। आज स्कूल तथा कॉलेजों में पढ़ने वाले मुस्लिम छात्रों पर भी आधुनिकता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है जो निकट भविष्य में उनकी सम्पूर्ण जीवन-पद्धति में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होगा।

मुस्लिम समुदायों में सामाजिक परिवर्तन
(Social Changes in Muslim Communities)

इम्तियाज अहमद द्वारा सम्पादित पुस्तक में विभिन्न लेखकों ने मुस्लिम समुदायों की प्रथाओं तथा मूल्यों में हो रहे सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख किया है। उदाहरण के रूप में लेम्बेट (Lambat) ने बतलाया कि सुन्नी सूरती बोहरा स्त्रियों के द्वारा विवाह के समय लोक-गीतों के गाये जाने की प्रथा समाप्त हो रही है और इस अवसर पर लड़की के घर कव्वाली के कार्यक्रम का स्थान धार्मिक प्रवचन लेते जा रहे हैं। जेकब्सन (Jacobson) का कहना है कि यद्यपि उच्च प्रस्थिति वाले मुसलमानों में बुरका धीरे-धीरे कुछ नकारात्मक अर्थ ग्रहण करता जा रहा है, लेकिन

कम प्रतिष्ठित सामाजिक-आर्थिक समूहों में इसकी लोकप्रियता बढती जा रही है।[1] पूर्व-काल में परदा-प्रथा के समृद्धशाली वर्गों से सम्बन्धित होने के कारण, निम्न तथा मध्यम प्रस्थिति वाले मुसलमानों के द्वारा इसे अपनाने से उनकी प्रतिष्ठा बढ जाती है। अग्रवाल ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि मेवात में रहने वाली मेवों (Meo) स्त्रियों ने परदा-प्रथा अपनाई है और दहेज का पुराना रिवाज, जो उस क्षेत्र के उच्च जातियों के हिन्दुओं में विशेष रूप से पाया जाता है, का स्थान कन्या-मूल्य की प्रथा लेती जा रही है। अग्रवाल के अनुसार यह परिवर्तन इस कारण सरल हो सका है कि मुसलमान अधिक इस्लामीकृत होते जा रहे हैं और वे हिन्दू जातीय संस्तरण की प्रणाली में अपनी प्रस्थिति के सम्बन्ध में सापेक्ष रूप से कम चिन्तित हैं।[2] इन परिवर्तनों के प्रेरक के रूप में विभिन्न मुस्लिम समुदायों के सदस्यों की अपने को मुसलमानों के रूप में प्रस्तुत करने की इच्छा है। इस प्रकार के परिवर्तनों का इस्लामीकरण (Islamization) के नाम से पुकारा गया है।

मुस्लिम समुदायों मे इस्लामीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ आधुनिकीकरण (Modernisation) तथा पश्चिमीकरण (Westernisation) की प्रक्रियाएँ भी चल रही हैं जिनका कारण विस्तृत सामाजिक शक्तियाँ हैं। इम्तियाज अहमद ने बतलाया है कि मुस्लिम प्रथाएँ और रीति-रिवाज इस्लामीकरण के परिवर्तनकारी प्रभावों के उपरान्त भी अपने अस्तित्व को सफलतापूर्वक बनाये रख सके हैं और अब भी वे अपने पुराने या मामूली परिवर्तित स्वरूप में अपनी निरन्तरता को बनाए हुए हैं।[3] लेम्बट ने बतलाया है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ प्रथाओं और अनुष्ठानों का इस्लामीकरण और धर्म-निरपेक्ष शिक्षा के बढने के साथ-साथ छोडा जा रहा है, लेकिन बहुत सी अन्य प्रथाओं और रीति-रिवाजों का अब भी पालन किया जाता है और उनके भविष्य में भी लोकप्रिय बने रहने की सम्भावना है।[4] अग्रवाल ने भी मेवों लोगों के अपने अध्ययन के आधार पर इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि इस्लामीकरण ने मुसलमानों को अपने को मुस्लिम के रूप में चित्रित करने का प्रेरित किया है लेकिन फिर भी वे उस सांस्कृतिक संकुल के अभिन्न अंग अब भी बने हुए हैं, जिससे वे घिरे हुए हैं।

प्रश्न

1. भारत मे मुस्लिम विवाह और तलाक को नियमित करने सम्बन्धी कानूनी प्रावधानों की विवेचना कीजिए।
2. मुस्लिम समाज मे तलाक लिए जाने की विधि को समझाइए।
3. मुस्लिम विवाह मे हो रहे आधुनिक परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।
4. मुसलमानों में प्रचलित तलाक के स्वरूपों की व्याख्या कीजिए।
5. 'मुस्लिम विवाह' पर एक लेख लिखिए।
6. "मुसलमानों में विवाह एक संविदा है।" विवेचना कीजिए।
7. भारत में हिन्दू तथा मुस्लिम विवाहों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
8. 'महर' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
9. भारत में मुस्लिम परिवार की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।



1 Imtiaz Ahmad op cit, p xxix
2 Ibid p xxx
3 Ibid p xxxi
4 Ibid p xxxi

19

भारतीय परिवार : प्रमुख लक्षण, प्रकार्य एवं संरचना
(Indian Family : Major Features, Functions & Structure)

प्राथमिक समूहो मे परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक सरचना में परिवार की कन्द्रीय स्थिति है। परिवार वास्तव में समाज की आधारभूत इकाई है। परिवार स ही समाज का विस्तार हुआ है और उस पर ही प्रत्यक समाज का जीवित रहना निर्भर करता है। यदि यह कहा जाय कि परिवार समाज को अमरत्व प्रदान करता है ता कोई अतिशयाक्ति नहीं हागी। परिवार सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज के लिए नवीन सदस्यो की भर्ती करता है जा मृत व्यक्तियो क रिक्त स्थान की पूर्ति करत रहत हैं और इस प्रकार समाज की निरन्तरता बनाए रखत हैं। परिवार मे मृत्यु और अमरत्व का सुन्दर समन्वय हुआ है। परिवार क एक सदस्य के रूप मे व्यक्ति मरता है, परन्तु उसका स्थान उसके बटे पात लेत रहत हैं और परिवार का अस्तित्व बना रहता है।

परिवार मानव जीवन क सास्कृतिक विकास क प्रत्यक स्तर पर किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। इस दृष्टि स परिवार एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक सस्था रही है। प्रत्येक समाज म चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, पूर्व का हा या पश्चिम का, परिवार पाया जाता है। व्यक्ति और समाज दानो की दृष्टि स परिवार एक मौलिक सस्था रही है। जन्मते ही बालक परिवार का सदस्य बन जाता है। परिवार ही मुख्यत उसका समाजीकरण करता है, उसे मानव बनाता है और समाज का समर्पित कर देता है। जन्म से लकर मृत्यु तक साधारणत व्यक्ति परिवार का सदस्य बना रहता ह। इस मानव का एक लघु समुदाय कहा जा सकता है। मैकाइवर और पज ने बतलाया है कि सभी प्राथमिक समूहा म समाजशास्त्रीय दृष्टिकाण से, परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण है। परिवार समाज का कई रूपों मे प्रभावित करता है। पारिवारिक परिवर्तन सम्पूर्ण सामाजिक सगठन मे प्रतिध्वनित हो उठत हैं। मानव समाज म असख्य रूपा मे अवतरित हाने तथा परिवर्तनो क मध्य अपनी निरन्तरता और स्थायित्व बनाय रखने की इसमे अपूर्व क्षमता है।[1] एसी महत्त्वपूर्ण सस्था का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

परिवार का अर्थ
(Meaning of Family)

परिवार की परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। डॉ प्रभु न डन्लप का उद्धृत करत हुए लिखा है कि 'परिवार को मनमाने ढग स परिभाषा करन क अतिरिक्त' सार्वभौमिक परिभाषा करना असम्भव-सा है। यह सत्य है कि इसके स्वरूपा में स एक प्रसिद्ध स्वरूप मे, एक पुरुष और एक स्त्री अपन सयुक्त बच्चों सहित आत हैं जा अपन बच्चों की अवयस्कता की अवधि मे एक ही निवास पर साथ-साथ रहत हैं, लेकिन इसक भी अनेक रूप भेद हैं। अत बिना बच्चों वाले परिवार होत हैं या गाद लिए हुए बच्चो वाल परिवार हाते हैं, एस परिवार होत हैं जिनमे

1 MacIver R M & Page C H Society 240

मनुष्य का स्त्री और बच्चो स पृथक् निवास स्थान होता है या दादा-दादी, चाचा-चाची और पोत-पोती सदस्य होत हैं, जिसमे एक स अधिक पत्नी या पति अथवा दोनों होत हैं या जिसमें विधवा माता और उसक बच्च होत है या जिसमे एक माता और उसके गोद लिए हुए बच्चे होत हैं।[1] स्पष्ट है कि परिवार के इन विविध रूपो को एक ही परिभाषा मे समाविष्ट करना बडा कठिन कार्य है। बर्गीस और लॉक न लिखा है, "एक परिवार उन व्यक्तियो का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेन क सम्बन्धों में एक-दूसर से बन्धे रहत है, जो एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं, जो पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री और भाई-बहिन की निजी सामाजिक भूमिका मे, एक-दूसर क साथ अन्त क्रिया और अन्त-संचार करते रहत हैं और जो एक सामान्य सस्कृति का निर्माण करत हैं तथा उस बनाए रखत हैं।"[2] परिवार का अर्थ स्पष्ट करत हुए मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "परिवार एक ऐसा समूह है जो सुनिश्चित और स्थायी यौन-सम्बन्धों द्वारा परिभाषित किया जाता है, जो बच्चो क प्रजनन एव पालन-पोषण क लिए अवसर प्रदान करता है। इसमे समपार्श्विक अथवा सहायक सम्बन्धी भी हो सकत हैं, लेकिन इसका निर्माण पति-पत्नी क एक साथ रहने और बच्चों के साथ मिलकर एक विशिष्ट इकाई बनन स होता है।"[3] परिवार का आधार मनुष्य की दैहिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएँ हैं।

जुकरमन न लिखा है "एक परिवार समूह पुरुष स्वामी उसकी स्त्री या स्त्रियो और उनके बच्चों से मिलकर बनता है और कभी-कभी इसमे एक या अधिक अविवाहित पुरुष भी सम्मिलित होते हैं।"[4] बिसन्ज और बिसन्ज के अनुसार, "परिवार की परिभाषा एक दृष्टिकोण स यह की जा सकती है कि एक स्त्री बच्चो क सहित और एक पुरुष उनकी देख-रेख करने हेतु।"[5] मरडाक न लिखा है, "परिवार एक एसा सामाजिक समूह है जिसमे सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और प्रजनन, विशेषताओं क रूप मे पाए जात हैं। इसमे दोनो लिंगो क वयस्क सम्मिलित होत हैं जिनमे स कम स कम दो मे सामाजिक दृष्टि स स्वीकृत यौन-सम्बन्ध होता है और यौन-सम्बन्धों में बधे इन वयस्को क स्वय क अथवा गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे होत हैं।"[6] ऑगबर्न और निमकॉफ न बतलाया है "परिवार बच्चों सहित अथवा बच्चो रहित पति और पत्नी, या अकले एक पुरुष अथवा स्त्री और बच्चो का लगभग एक स्थायी सघ है।"[7]

इन परिभाषाओं स ज्ञात होता है कि परिवार क अर्थ क सम्बन्ध म विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि परिवार एक एसा सामाजिक समूह है जिस

---

1 Dunlap K Civilized Life The Principles and Applications of Social Psychology" pp 135-37 quoted by P H Prabhu op cit pp 201-202
2 Burgess E W and Locke H J The Family p 8
3 "The family is a group defined by sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children It may include collateral or subsidiary relationships but it is constituted by the [illegible] together of mates forming with their offspring a distinctive unity" MacIver R M and Page C H op cit p 238
4 Zuckerman S The Social Life of Monkeys and Apes, p 225
5 Biesanz J and Biesanz M Modern Society An Introduction to Social Sciences p 204
6 Murdock Social Structure p 1
7 "The family is more or less a durable association of husband and wife with or without children or of a man or woman alone with or without children" W F Ogburn and M F Nimkoff A Hand book of Sociology p 459

सामान्य निवास, आर्थिक सहयाग एव प्रजनन क आधार पर अन्य समूहो स अलग किया जा सकता है। परिवार के सदस्यो मे स साधारणत- दा विषम लिगी व्यक्तियो में यौन सम्बन्ध पाये जाते हैं और इनक स्वय क अथवा गाद लिय हुए बच्चो क पालन पाषण की निश्चित और स्थायी व्यवस्था होती है । पारियारिक समूह मे पति-पत्नी और स्वय क बच्चो क अतिरिक्त एक या दो सदस्य और भी हो सकते हैं जा निकट रक्त-सम्बन्धी या गाद लिय हुए हात हैं ।

परियार की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Characteristics of Family)

विश्व के सभी समाजो म पारिवारिक सगठन की विविधता क बावजूद भी कुछ समान विशापताएँ पाई जाती हैं। मैकाइवर और पज न एसी आठ प्रमुख विशापताओ का वर्णन किया है। य विशापताएँ निम्नलिखित हैं जा भारतीय परिवार मे भी पाई जाती हैं—

1. सार्वभौमिकता (Universality)— सभी छाट-बड सगठना म परिवार सबस अधिक सार्वभौम है। यह सभी समाजो और सभी कालो में पाया जाता रहा है। प्रत्यक मनुष्य अपन जीवन म कभी न कभी किसी न किसी परिवार का सदस्य अवश्य रहा है और भविष्य मे भी रहगा। सामाजिक विकास क प्रत्यक स्तर पर परिवार पाया जाता है। प्रत्यक प्रकार क समाज में चाहे वह सभ्य हा अथवा असभ्य आदिम हा अथवा आधुनिक, ग्रामीण हा अथवा नगरीय, परिवार का अस्तित्व सदैव रहा है।

2. भावात्मक आधार (Emotional Basis)— परिवार क सदस्य भावात्मक आधार पर एक-दूसर स घनिष्ठ रूप स सम्बन्धित रहते हैं। पति पत्नी क बीच घनिष्ठ प्रम और सन्तान-कामना की प्रवृत्ति पाई जाती है। माता-पिता मे अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य और त्याग की भावना पाई जाती है। सन्तान म अपन माता-पिता और परिवार क अन्य सदस्यो के प्रति प्रेम, श्रद्धा और आदर क भाव पाय जात हैं। परिवार क सगठन का बनाय रखन मे इन भावनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

3. रचनात्मक प्रभाव (Formative Influence)— परिवार व्यक्ति का प्रथम सामाजिक पर्यावरण है। परिवार का बच्चो क जीवन पर गहरा प्रभाव पडता है। यह बालको क चरित्र निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, उनक जीवन का सस्कारित करता है। उन पर अमिट छाप डालता है और उनक व्यक्तित्व के निर्माण मे याग दता है। कूले ने परिवार का मानव-स्वभाव का सवर्धन-गृह (Nursery) कहा है।

4. सीमित आकार (Limited Size)— प्राणिशास्त्रीय दशाओ क कारण परिवार का आकार बहुत सीमित होता है। इसमें पति-पत्नी के अतिरिक्त वास्तविक या काल्पनिक रक्त-सम्बन्धी पाये जात हैं। इसमें वे ही बच्चे सदस्या क रूप म हात हैं जिनका जन्म परिवार म हुआ हो या जिन्हें गोद लिया गया हो। इस दृष्टि से सामाजिक सरचना क औपचारिक सगठनों मे परिवार सबस छाटा है।

5. सामाजिक संरचना मे केन्द्रीय स्थिति (Nuclear Position in the Social Structure)— सभी सामाजिक सगठनों म परिवार की केन्द्रीय स्थिति है। यह सामाजिक जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इकाई है। सम्पूर्ण सामाजिक सरचना का आधार परिवार ही है। सरल

प्रकार के समाजों और अधिक विकसित पितृसत्तात्मक समाजों की सामाजिक संरचनाओं का निर्माण पारिवारिक इकाइयों के आधार पर ही हुआ है। आज के कुछ जटिल आधुनिक समाजों में परिवार के इस कार्य में कमी आई है, परन्तु उनमें भी स्थानीय समुदाय परिवारों के संयुक्त रूप अथवा संघ हैं।

6. सदस्यों का उत्तरदायित्व (Responsibility of the Members)— परिवार के सदस्यों में उत्तरदायित्व की असीमित भावना पाई जाती है। संकट के समय व्यक्ति अपने समाज और राष्ट्र हित के लिए त्याग करता है, बलिदान की ओर अग्रसर होता है, परन्तु परिवार में यह सदैव ही एक-दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाता रहता है, त्याग करता रहता है। परिवार के लिए व्यक्ति बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार हो जाता है। परिवार के प्रति उत्तरदायित्व की भावना की जड़ें मनुष्य के स्वभाव में गहरी बैठी हुई हैं। उत्तरदायित्व की यह भावना परिवार के संगठन और स्थायित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

7. सामाजिक नियन्त्रण (Social Regulation)—यद्यपि संसार के विभिन्न भागों में परिवार के अलग-अलग रूप दिखलाई पड़ते हैं तथापि प्रत्येक स्थान पर परिवार सामाजिक नियन्त्रण के एक साधन के रूप में कार्य करता है। व्यक्ति और समाज दोनों के दृष्टिकोण से ही परिवार एक आधारभूत और लाभदायक संगठन है। इसको बनाये रखने के लिए अनेक सामाजिक निषेध और कानून पाये जाते हैं। हिन्दू समाज में "हिन्दू-विवाह अधिनियम, 1955" के अनुसार, एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए कोई भी दूसरा विवाह नहीं कर सकता है। इस प्रकार के अनेक अन्य नियम भी पाये जाते हैं जो विवाह और परिवार को नियन्त्रित करते हैं। वर्तमान समय में कोई भी स्त्री पुरुष विवाह द्वारा परिवार को बसा तो सकते हैं, पर अपनी इच्छानुसार उसे छोड़ नहीं सकते, न ही उसे समाप्त कर सकते हैं।

8. परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति (Its Permanent and Temporary Nature)— एक समिति के रूप में परिवार कुछ सदस्यों का समूह है। इन सदस्यों से मिलकर परिवार का निर्माण होता है। इनके परिवार से अलग हो जाने से परिवार का एक समिति के रूप में अस्तित्व समाप्त हो जाता है। विवाह द्वारा पति-पत्नी मिलकर परिवार की रचना करते हैं और इनकी मृत्यु हो जाने पर अथवा एक-दूसरे को छोड़ देने या तलाक देने पर परिवार भंग हो जाता है। इस रूप में परिवार की प्रकृति परिवर्तनशील या अस्थायी है। परन्तु जब हम परिवार पर एक संस्था के रूप में विचार करते हैं तो पाते हैं कि इसकी प्रकृति स्थायी है, यह निरन्तर बना रहता है। पुराने सदस्य मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं और नवीन सदस्य इसमें प्रवेश करते रहते हैं। एक संस्था के रूप में परिवार के नियम और कार्य-प्रणाली बने रहते हैं, चलते रहते हैं, जो परिवार को स्थायित्व प्रदान करते हैं।

परिवार की उपर्युक्त आठ विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय अन्य सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

9. वैवाहिक सम्बन्ध (Mating Relationship)— वैवाहिक सम्बन्ध के आधार पर ही परिवार का जन्म होता है। यह सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर पति-पत्नी में यौन सम्बन्ध और सन्तानोत्पत्ति होती है जिन्हें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। वर्तमान समय में हिन्दू समाज में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में पति-पत्नी को तलाक देने का अधिकार दिया गया है।

10. आर्थिक व्यवस्था (Economic System)—प्रत्यक परिवार को साधारणत कुछ आर्थिक व्यवस्था अवश्य हाती है जिसक माध्यम स सदस्य अपन अस्तित्व का बनाय रखन क लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करत है। बिना आर्थिक व्यवस्था क परिवार क सदस्यों का भरण पापण सम्भव नहीं हाता।

11. वंश-नाम (Nomenclature)— प्रत्यक परिवार म वश-नाम का चलाए रखन की एक व्यवस्था पाई जाती है। वश नाम को निश्चित करन क सम्बन्ध म कुछ नियम पाय जात हैं। परिवार में प्रत्येक बच्च को किसी नियम क आधार पर उप-नाम (Surname) अथवा वश-नाम प्राप्त हाता है। एक परिवार क सदस्य पीढी दर पीढी इसी उप-नाम स पहचान जात हैं। वश-नाम मातृवशीय भी हा सकता है और पितृवशीय भी। भारत में खासी गारा तथा नय्यर आदि जनजातिया म वश-नाम माता के नाम पर चलत हैं जबकि अन्य जनजातियो और हिन्दुओं म अधिकतर पिता क नाम पर।

12. सामान्य निवास स्थान (Common Habitation)—प्रत्यक परिवार क लिए एक सामान्य निवास स्थान या घर भी हाता है जहाँ सभी सदस्य रहत हैं। यह निवास मातृस्थानिक भी हा सकता है जैस नय्यर, खासी गारा आदि लागा मे और पितृस्थानिक भी। भारत मे अधिकतर परिवारो में पितृ-स्थानिक व्यवस्था ही पाई जाती है। जहाँ पत्नी विवाह क पश्चात् अपन पति क यहाँ जाकर निवास करती है। कभी-कभी एसा भी हाता है कि पति-पत्नी म स काई भी एक दूसर क मूल परिवार म जाकर निवास नही करत बल्कि अपना नया निवास बनाकर रहन लगत हैं। डॉ एस सी दुब न एस परिवारों का नव-स्थानिक परिवार (Neolocal Family) कहा है। आजकल भारत म एस परिवारा क उदाहरण मिलन लग हैं जहाँ नव दम्पति अपना नया घर बसा कर रहत हैं।

परिवार की उत्पत्ति
(Origin of Family)

मानव म सदय स ही भूत (Past) तथा भविष्य (Future) क विषय म जानकारी प्राप्त करन की इच्छा रही है। मानव न इसी इच्छा क कारण यह जानन की उत्सुकता भी प्रकट की कि परिवार का आरम्भ किस प्रकार हुआ तथा उसका प्रारम्भिक रूप क्या था ? विभिन्न समाजशास्त्रियो एव मानवशास्त्रियो द्वारा परिवार की उत्पत्ति क सम्बन्ध म समय-समय पर प्रकट किय गए दृष्टिकाणो का यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ हम परिवार की उत्पत्ति स सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्तो का वर्णन करेंग।

1. शास्त्रीय सिद्धान्त (Classical Theory)

प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle) न इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन विद्वानों की यह मान्यता थी कि आरम्भ स ही समाज और सामाजिक समूहो मे पुरुषो का आधिपत्य रहा है, उनकी प्रधानता पाई जाती रही है। उन्हान परिवार की उत्पत्ति म भी पुरुषो का ही प्रमुख कारण माना है। इसी आधार पर इन लागा न बतलाया है कि प्रारम्भ मे पितृ-सत्तात्मक परिवार ही था। सर हनरीमेन भी 1861 ई में इसी निष्कर्ष पर पहुँच थ। आपन सभी प्राचीन सभ्यताओ क अध्ययन क आधार पर उपर्युक्त विचारों का समर्थन किया है। प्राचीन ग्रीक, रामन एव यहूदी इतिहास पितृ-सत्तात्मक परिवारो क तथ्य की ही पुष्टि करत हैं परन्तु निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि परिवार का मौलिक रूप यही था।

यह सिद्धान्त किसी क्षेत्र विशेष की दृष्टि से सत्य हो सकता है परन्तु यह सभी स्थानों पर परिवार का प्रारम्भिक रूप ही रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विश्व के विभिन्न आदिम समाजों में पितृ-सत्तात्मक परिवारों के पाये जाने की बात वर्तमान समय में अधिकतर वैज्ञानिक अनुसन्धानों के आधार पर प्रमाणित नहीं होती। इस सिद्धान्त के आधार पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार की उत्पत्ति कब, किस रूप में तथा किन अवस्थाओं में हुई

2. यौन साम्यवाद का सिद्धान्त (Theory of Sex Communism)

मानव-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में यौन-साम्यवाद पाया जाता था, ऐसा कतिपय विद्वानों का मत है। लुईस मॉर्गन, फ्रेजर तथा ब्रिफाल्ट की यह मान्यता है कि प्रारम्भ में परिवार नहीं पाये जाते थे। उस समय यौन-सम्बन्धों पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री के साथ और कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। यह नियन्त्रणहीन स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों की स्थिति थी, जिसे यौन साम्यवाद कहा गया है। इस अवस्था में परिवार नाम की कोई संस्था नहीं थी। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने अपने मत के समर्थन में कुछ आदिम जातियों में पाए जाने वाले ऐसे रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यौन सम्बन्धी नियन्त्रण बहुत ही कम मात्रा में पाए जाते थे। ऐसे रीति-रिवाजों में त्यौहारों के अवसर पर यौन-सम्बन्धी स्वच्छन्दता, पत्नियों का आदान-प्रदान और अतिथि सत्कार के लिए पत्नियों को प्रस्तुत करना मुख्य रहा है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक नातेदारी की वर्गीय व्यवस्था (Classificatory System) से भी काफी प्रभावित थे, जिसके अन्तर्गत एक ही आयु-समूह के सभी व्यक्तियों को पिता, माता, भाई, बहिन, पुत्र अथवा पुत्री के रूप में सम्बोधित किया जाता था। इन सब तथ्यों के आधार पर कहा गया है कि मानव जीवन के आरम्भिक काल में यौन साम्यवाद पाया जाता था।

मानवशास्त्रीय अनुसन्धान यौन साम्यवाद के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते हैं। कुछ जनजातियों में विशिष्ट अवसरों पर कुछ यौन सम्बन्धी शिथिलता अवश्य पाई जाती है और कुछ जनजातियों में यौन सम्बन्धों को कठोरता से नियमित करने के विशेष प्रयत्न नहीं किए जाते, परन्तु तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता कि ये सब यौन साम्यवाद के अवशेष हैं। मानव समाज तो दूर रहा उन्नत पशु समाज तक में भी यौन साम्यवाद नहीं पाया जाता है। कुछ समूहों में पाई जाने वाली वर्गीय व्यवस्था के आधार पर यह कह देना कि उन लोगों को सम्बन्धों के भेद का अथवा प्राणिशास्त्रीय पितृत्व का ज्ञान नहीं था, एक भ्रम मात्र है। जहाँ कहीं लोग पिता की प्राणिशास्त्रीय पैतृक भूमिका से अपरिचित रहे हैं, वहाँ भी परिवार पाए जाते रहे हैं। उस समय आदिम से आदिम लोग प्राणिशास्त्रीय पितृत्व के बारे में उतने सजग नहीं थे जितने सामाजिक पितृत्व के सम्बन्ध में। वर्गीय व्यवस्था बहिर्विवाह (Exogamy) के नियमों के पालन एवं कुछ अन्य सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक परम्परागत व्यवस्था थी। आज भी सभ्य समाजों तक में समान आयु के व्यक्तियों के लिए, भाई अथवा बहिन शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि मानव जीवन की आरम्भिक अवस्था में यौन साम्यवाद पाया जाता था।

3. एक विवाह का सिद्धान्त (Theory of Monogamy)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वेस्टरमार्क ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज' में किया है। उनकी यह मान्यता है कि आरम्भ में एक विवाही परिवार ही था। डार्विन का कहना है कि

परिवार का जन्म पुरुष के आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना क कारण हुआ है। वस्टरमार्क न डार्विन क इस कथन का पूर्ण समर्थन करत हुए बतलाया है कि पुरुष स्त्रियों पर उसी प्रकार अधिकार रखना चाहता था, जिस प्रकार सम्पत्ति पर। अपनी शक्ति क आधार पर पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार स्थापित करन मे सफल भी हुआ। फिर जब इस एकाधिकार का स्त्री-पुरुष दानों के हित मे आवश्यक समझा गया, ता समाज द्वारा इस मान्यता प्राप्त हा गई, इसन प्रथा का रूप ग्रहण कर लिया। आगे चलकर यही विवाह की रीति बन गई। वस्टरमार्क न छाटी पूँछ वाल बन्दरों, गारिल्ला, चिम्पाजी आदि का अध्ययन करक यह बतलाया है कि इनमे भी एक विवाह प्रथा का ही प्रचलन है और यौन कामाचार की कल्पना अथवा परिवार क न हान का सिद्धान्त अवास्तविक एव अव्यावहारिक है। जुकरमन तथा मॅलिनावस्की न भी वस्टरमार्क क इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। मैलिनावस्की न लिखा है, "एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा था तथा रहगा।"[1] वस्टरमार्क न एकविवाह की प्रथा का ही विवाह का स्वस्थ स्वरूप माना है, अन्य विवाह प्रथाओं, जैस बहुविवाह इत्यादि का रागों क रूप मे माना है।

यद्यपि परिवार की उत्पत्ति क सम्बन्ध मे वस्टरमार्क न महत्त्वपूर्ण कारका पर जार दिया है तथापि यह नही माना जा सकता कि सभी स्थानों पर विवाह की उत्पत्ति एक-विवाह प्रथा क आधार पर ही हुई है।

4. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त (Theory of Matriarchy)

ब्रिफाल्ट न वस्टरमार्क क इस एक-विवाही सिद्धान्त की कटु आलाचना करत हुए अपनी पुस्तक "दी मदर्स" मे परिवार की उत्पत्ति क सम्बन्ध में मातृसत्तात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने बतलाया है कि आरम्भ मे यौन-सम्बन्धा क बहुत अधिक निश्चित नही हान क कारण, बालक अपनी माता का ही जानत थे। माता और सन्तान क सम्बन्धों मे ही घनिष्ठता पाई जाती थी। पारिवारिक जीवन मे पिता का स्थान महत्त्वपूर्ण नही था, वह शिकार की तलाश मे अक्सर घर स बाहर ही रहता था और परिवार का भार माता पर ही हाता था। एसी दशा में पारिवारिक क्षत्र मे माता क अधिकार बढ गए और मातृसत्तात्मक परिवारा का जन्म हुआ। ब्रिफाल्ट न कहा है कि माता और उसकी सन्तान की आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा की निरन्तर आवश्यकता न परिवार को जन्म दिया। स्त्री न अपनी मूल प्रवृत्तियों का अनुकरण करत हुए पुरुष पर विजय प्राप्त की और पुरुष अपन यौन-स्वार्थों क कारण परिवार का हिस्सदार बन गया। इस प्रकार पुरुष का अपन प्रम बन्धन मे बाँध कर स्त्री न परिवार की उत्पत्ति मे याग दिया। ब्रिफाल्ट न लिखा है कि परिवार का आरम्भिक रूप मातृसत्तात्मक ही था और बाद मे कृषि विकास और पुरुष क आर्थिक प्रभुत्व क कारण, पितृसत्तात्मक परिवारा का उदय हुआ। उन्हान आदिम जातियों मे पाय जान वाल मातृसत्तात्मक परिवारो क उदाहरणो क आधार पर बतलाया है कि इन परिवारों मे न केवल स्त्री का स्थान पुरुष के बराबर है, बल्कि कहीं-कहीं ता पुरुष स ऊँचा भी है। टायलर नामक विद्वान न इस सिद्धान्त का समर्थन करत हुए बतलाया है कि आरम्भ मे परिवार का रूप मातृसत्तात्मक था बाद मे मातृ-सत्तात्मक व पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था का मिश्रित रूप हुआ और अन्त म पितृसत्तात्मक परिवारो की स्थापना हुई।

---

1 "Monogamy is has been and w ll remain the only true type of marriage Malinowski B "Marriage in Encyclopaedia of Britannica Vol XIV 14th Edition 1938 p 940 950

परिवार के विकास में निश्चित रूप से माता का स्थान प्रमुख रहा है, परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि परिवार की उत्पत्ति में केवल माता ही एकमात्र कारण रही है। वास्तव में अनेक कारकों के फलस्वरूप परिवार का विकास हुआ है।

5. उद्विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

परिवार की उत्पत्ति का एक प्रमुख सिद्धान्त उद्विकासीय सिद्धान्त है जिसको सर्वप्रथम बैकोफन (Bachofen) ने प्रतिपादित किया। तत्पश्चात् लुईस मॉर्गन (Lewis Morgan) ने इस विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया। हर्बर्ट स्पेन्सर, मैकलनन, लुबाक तथा टायलर आदि इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक रहे हैं। बैकोफेन ने अपने इस सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

मनुष्य का आरम्भिक पारिवारिक जीवन निम्न स्तर का था। उस समय यौन-सम्बन्धी निश्चित नियमों का अभाव था। कुछ उद्विकासीय लेखकों ने मानव जीवन की इस अवस्था को यौन-स्वच्छन्दता (Sexual Promiscuity) की स्थिति माना है। उस समय पति पत्नी के सम्बन्धों में ढीलापन पाया जाता था। बच्चों का सम्बन्ध मुख्यतः माता के साथ ही था क्योंकि यौन-सम्बन्धी शिथिलता के कारण वास्तविक पिता का पता लगाना बहुत कठिन था। बच्चों को समूह के सभी पुरुष सदस्यों का संरक्षण प्राप्त था। इस समय पारिवारिक सम्बन्धों में काफी ढीलापन था। इस स्थिति को ही परिवार की आरम्भिक अवस्था माना गया है।

धीरे-धीरे परिवार का रूप स्पष्ट होने लगा। यह दरिद्रता और आर्थिक कठिनाइयों का समय था और लोगों को खाने-पीने की वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम और प्रकृति के साथ घोर संघर्ष करना पड़ता था। ऐसी परिस्थितियों में लड़कियों के लिए कठिन परिश्रम करना बड़ा मुश्किल था, अतः उन्हें जन्मते ही मार दिया जाता था। परिणाम यह हुआ कि लड़कियों की कमी होने लगी और बहुपति-विवाही परिवार की उत्पत्ति हुई। साथ ही जीविकोपार्जन के साधनों के बहुत सीमित होने से, एक स्त्री का अपने भरणपोषण के लिए एक ही पति पर आश्रित रहना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि बहुपति-विवाही परिवार बनने लगे।

इसके बाद जब मनुष्य कृषि अवस्था में आया और भोजन में काम आने वाली वस्तुएँ काफी मात्रा में प्राप्त होने लगीं, तो लड़कियों का जन्मते ही मार डालने की प्रथा का अन्त हो गया जिससे समाज में स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई। आर्थिक कठिनाइयों के दूर होने पर पुरुष के लिए भी एक से अधिक स्त्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो गया। इसके अतिरिक्त कृषि कार्य में अधिक अतिरिक्त व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी। ऐसी दशा में एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने लगा। इस प्रकार मानव विकास के इस स्तर पर बहुपत्नी-विवाह परिवार का जन्म हुआ।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ लोगों को बहुपत्नी विवाह के दोषों का पता चलने लगा। विवाह के इन प्रकारों के कारण बहुत से लोग अविवाहित रह जाते थे। इस समय समानता के विचार पनपने लगे, स्त्रियों द्वारा समान अधिकारों की माँग की जाने लगी। इन सब का परिणाम यह हुआ कि एक पुरुष का विवाह एक ही स्त्री के साथ होने लगा और एक विवाही परिवार बनने लगे। वर्तमान समय में परिवार का सर्वाधिक प्रचलित रूप यही है।

उद्विकासीय सिद्धान्त के समर्थन में आदिम जातियों के सामाजिक संगठनों से अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं। आदिम जनजातीय लोगों में ऐसे परिवार अधिक पाए गए जहाँ वंश माता के नाम

से चलता था, अर्थात् इनमें मातृवंशीय परिवारों की अधिकता पाई गई। इससे यह धारणा बनी कि मातृवंशीय परिवारों की स्थापना पहले हुई।

लुईस मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के निम्नलिखित पाँच चरणों का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि सर्वप्रथम रक्त सम्बन्धी परिवार (Consanguine Family) का जन्म हुआ। मानव-जीवन के आरम्भिक काल में ऐसे परिवार पाए जाते थे। इस समय यौन-नियन्त्रण नहीं पाए जाते थे कोई भी किसी के साथ ही ऐसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। इस अवस्था में भाई-बहिनों तक में विवाह होते थे। द्वितीय चरण में समूह परिवार (Punaluan Family) बना। एक परिवार के सभी भाइयों का विवाह दूसरे किसी परिवार की सभी बहिनों के साथ होता था और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति सभी स्त्रियों का पति माना जाता था तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी। इन परिवारों का समूह-परिवार कहा जाता था। तृतीय चरण में सिंडस्मियन परिवार (Syndyasmian Family) की स्थापना हुई। ऐसे परिवारों में एक पुरुष का विवाह यद्यपि एक ही स्त्री के साथ होता था तथापि वह परिवार में विवाहित सभी स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध रख सकता था। ऐसे परिवारों को सिंडस्मियन परिवार कहा गया। चतुर्थ चरण में पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family) का विकास हुआ। इस समय परिवार में पिता सर्व-शक्तिशाली हो गया उसके अधिकार बढ़ गए, वह अपनी इच्छानुसार एक से अधिक स्त्रियों के साथ भी विवाह करने लगा। पंचम चरण में एक विवाही परिवार (Monogamous Family) की स्थापना हुई। ऐसे परिवार उद्विकासीय क्रम में अन्तिम अवस्था है और आधुनिक समय में इन्हीं परिवारों का सर्वाधिक प्रचलन पाया जाता है। ऐसे परिवार में एक पुरुष का विवाह, एक ही स्त्री के साथ होता है और उनके यौन सम्बन्ध उन्हीं तक सीमित रहते हैं। इस प्रकार उद्विकासीय सिद्धान्त के अनुसार, परिवार विभिन्न स्तरों से गुजर कर वर्तमान अवस्था में पहुँचा है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि मानवशास्त्रीय अनुसंधानों के आधार पर आज तक ऐसा कोई आदिवासी समूह नहीं पाया गया है जिसमें यौन-कामाचार की स्थिति पाई जाती हो जबकि उद्विकासवादी लेखक यह मानते हैं कि आरम्भ में यौन-कामाचार की स्थिति थी। साथ ही इस बात को स्वीकारा नहीं जा सकता कि प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक समाज में, परिवार के विकास का एक ही प्रकार का क्रम रहा है। सभी स्थानों पर उपर्युक्त निश्चित स्तरों से गुजर कर ही परिवार वर्तमान अवस्था में पहुँचा है ऐसा नहीं माना जा सकता। वर्तमान में अनेक विद्वान परिवार की उत्पत्ति सम्बन्धी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं।

6. चक्राकार सिद्धान्त (Cyclical Theory)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में स्पेंगलर (Spengler) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सोरोकिन (Sorokin) लिप्ले (Leplay) और जिमरमैन (Zimmerman) इस सिद्धान्त के अन्य प्रतिपादक रहे हैं। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण से घड़ी के पेन्डुलम का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार घड़ी का पेन्डुलम एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है और पुन अपने मूल स्थान पर आता है तथा यह क्रम चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार से पारिवारिक प्रतिमान एक छोर से दूसरे छोर की ओर बढ़ते हैं और पुन अपने मूल स्थान पर लौट आते हैं। तत्पश्चात फिर से परिवार का उद्विकास आरम्भ होता है।

सोरोकिन ने पारिवारिक विकास के इतिहास की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है और कहा है कि जीवन का आरम्भ जहाँ से होता है वह पुन वहीं लौट आता है। परिवार की

उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में उन्होंने अपने इसी विचार को महत्व दिया है। लिप्ले नामक विद्वान ने फ्रेंच पारिवारिक विकास के इतिहास को छः भागों में विभक्त किया है और परिवार की उत्पत्ति के इस चक्राकार सिद्धान्त का समर्थन किया है।

7. मूलर-लियर का सिद्धान्त (Theory of Muller-Lyer)

मूलर-लियर ने परिवार के इतिहास को तीन भागो मे विभक्त किया है— (1) गोत्र-काल (Clan Penod), (2) परिवार काल (Family Penod) और (3) व्यक्तिगत काल (Personal Penod)। उन्होंने प्रथम दो कालो को तीन-तीन उप-कालो में बाँटा है— प्रारम्भिक काल (Early Penod), मध्य काल (M ddle Penod), और उत्तर (प्राचीन) काल (Late Penod)। तीसरे काल (व्यक्तिगत) का अभी आरम्भ हुआ ही है। मूलर-लियर की मान्यता है कि अब एक नवीन प्रजातान्त्रिक परिवार की स्थापना हो रही है और यह युग प्रजातान्त्रिक परिवार के आरम्भ का युग है। उन्होंने लिखा है कि जहाँ राज्य शक्तिशाली होता है, परिवार कमजोर होता है और स्त्रियों की स्थिति अच्छी होती है और जहाँ राज्य कमजोर होता है, वहाँ परिवार शक्तिशाली होता है और स्त्रियो की स्थिति खराब होती है।

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ अनेक सिद्धान्तों पर विचार किया गया है, परन्तु इन सबके विश्लेषण के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि परिवार की उत्पत्ति का किसी एक सिद्धान्त अथवा एक कारक के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। परिवार का विकास हुआ है और इस विकास में अनेक कारकों का योग रहा है। वास्तव में परिवार सृष्टि के आरम्भ से ही किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं। मानव जीवन के इतिहास के किसी ऐसे काल का पता आज तक नहीं चल पाया है जब परिवार नाम की संस्था नहीं थी। इस सम्बन्ध में मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "परिवार की इस दृष्टि से कोई उत्पत्ति नहीं हुई है कि मानव-जीवन की कभी ऐसी अवस्था थी जिसमें परिवार नहीं पाया जाता था अथवा कोई दूसरी अवस्था ऐसी थी जिसमें परिवार का उदय हुआ।"[1] स्पष्ट है कि अनेक कारकों ने परिवार के विकास मे योग दिया है। परिवार के विकास मे मानव की कुछ मौलिक आवश्यकताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसी आवश्यकताओं मे, यौन सम्बन्धी, सन्तानोत्पत्ति की कामना और बच्चों के पालन-पोषण की अनिवार्यता प्रमुख रही है। मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "ये तीन कारक-यौन-इच्छा, सन्तानोत्पादन और अर्थव्यवस्था मुख्य चर (Vanables) हैं जो एक दूसरे से अंत क्रिया करते हुए पारिवारिक जीवन के सभी रूपों में पाए जाते हैं।"[2]

परिवार का समाजशास्त्रीय महत्त्व (Sociological Importance of Family)

प्राथमिक समूहों में परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वह समाज की आधारभूत इकाई है। परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है और परिवार पर ही समाज का जीवित रहना निर्भर करता है। परिवार के समाजशास्त्रीय महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए, बीसन्ज और बीसन्ज

1 Maclver and Page Ibid, p 245
2 Maclver and Page Ibid, p 346

न लिखा है, "परिवार मौलिक एवं सार्वभौमिक संस्था है। प्रत्येक समाज का जीवित रहना इसी पर आधारित है।"[1] समाज की प्रमुख इकाई होने के कारण परिवार का महत्त्व अत्यधिक है। इसके महत्त्व का पता इसी बात से चलता है कि संसार के सभी मनुष्य किसी न किसी परिवार के सदस्य हैं और प्रत्येक मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन परिवार में ही व्यतीत होता है। हर कहीं परिवार ही समाज के लिए नए उत्पन्न हुए बच्चों के रूप में कच्चा माल उत्पन्न करता है। वह उनका समाजीकरण करता है ताकि वे समाज के अन्य संगठनों में पूर्ण रूप से भाग ले सकें और अपने स्वयं के परिवारों का निर्माण कर सकें। परिवार वास्तव में समाज की प्राथमिक एवं मौलिक इकाई है क्योंकि सर्वप्रथम परिवार में ही बालक का जन्म होता है और परिवार उसे एक समय में रखता है और लालन-पालन करता है जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण है। समाज की रचना परिवार के संगठन द्वारा ही होती है। परिवार एक ऐसा आधार है जिस पर समाज रूपी भवन टिका हुआ है। समाजशास्त्री और मानवशास्त्री सभी इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि समाज का विकास प्राथमिक समूह अर्थात् परिवार के विकास द्वारा हुआ है।

परिवार समाज का सूक्ष्म रूप है। समाज में जो कुछ होता है, वह सब संक्षिप्त रूप में परिवार में पाया जाता है। परिवार के तीन मुख्य प्राथमिक कार्य हैं-बच्चों का उत्पादन, बच्चों का पालन तथा पारस्परिक सहायता एवं सहानुभूति। बालक परिवार में ही जन्म लेता है और वहीं पर उसका पालन-पोषण होता है। परिवार में ही बालक में मानवीय गुणों का विकास होता है तथा उसके व्यक्तित्व पर परिवार के वातावरण की अमिट छाप लग जाती है। परिवार ही व्यक्ति का समाजीकरण करता है। परिवार में ही बालक खाना-पीना, बोलना तथा व्यवहार करना सीखता है। यहीं पर उसके चरित्र का गठन होता है और उसे जीवनोपयोगी शिक्षा प्राप्त होती है। परिवार में ही बालक को माता-पिता तथा अन्य सदस्यों के साथ रहने से पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान होता है। सामाजिक संरचना में परिवार नींव के समान है।

परिवार का आधार भावात्मक है। परिवार में सदस्यों को अपनी मूल प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता है। परिवार की सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सामाजिक संगठन पारिवारिक इकाइयों पर ही आधारित होता है। परिवार में सदस्यों को ऐसी शिक्षा मिलती है जो समाज में कार्य करते समय उनके लिए उपयोगी सिद्ध होती है। व्यक्ति परिवार में बहुत से कार्य करता है, बहुत कुछ सीखता है और फिर अपने अनुभव द्वारा अनेक सामाजिक कार्यों को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त करता है। इसलिए यह कहना उचित ही है कि परिवार समाज की प्राथमिक एवं मौलिक इकाई है।

परिवार का मनुष्य और समाज दोनों के लिए अत्यन्त महत्त्व है, क्योंकि यह वह प्राथमिक समूह है जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है और समाज के लिये कार्यकर्ताओं को तैयार करता है। प्राथमिक समूह होने के कारण परिवार सामाजिक नियन्त्रण का कार्य भी बड़ी कुशलता से करता है। परिवार अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखकर समाज में व्यवस्था बनाए रखने में भाग देता है। परिवार मानव-सभ्यता और संस्कृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने का महत्त्वपूर्ण

1 "The family is the basic and universal institution. Upon it depends the survival of every society." Biesanz and Biesanz, Modern Society, p 203

कार्य भी करता है। बालक अपने माता-पिता के द्वारा समाज के उन सब अनुभवों को जो कई सदियों में प्राप्त किए गए हैं, केवल कुछ ही वर्षों में सीख लेता है। परिवार में ही बालक आज्ञापालन, सेवा, त्याग, स्नेह तथा सहयोग इत्यादि का पाठ सीखता है। यहाँ वह अपने समाज की नैतिक शिक्षाओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है तथा अपने धर्म और संस्कृति से परिचित होता है। बालक की सम्पूर्ण सुप्त शक्तियों का विकास मुख्यतः परिवार में ही होता है, उसमें उच्च विचारों का बीजारोपण यहीं पर होता है। जब तक उत्तम परिवार नहीं होंगे, तब तक उत्तम समाज भी नहीं हो सकता।

परिवार के प्रकार्य
(Functions of Family)

परिवार समाज की मौलिक एवं सार्वभौमिक संस्था है। परिवार अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इस सम्बन्ध में इलियट और मैरिल ने लिखा है, "किसी भी संस्था के विविध कार्य होते हैं, सम्भवतः समस्त संस्थाओं में परिवार अत्यन्त विविध कार्यों वाली संस्था है।"[1] परिवार के प्रमुख कार्यों को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है–प्रथम श्रेणी में सार्वभौमिक कार्य आते हैं, जो प्रत्येक समाज और संस्कृति में पाए जाते हैं। ये कार्य परिवार के मौलिक और सार्वभौमिक कार्य कहलाते हैं। दूसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जो विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न होते हैं तथा जिनका निश्चय वहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार होता है। ये कार्य परिवार के परम्परागत कार्य कहलाते हैं।

I. परिवार के मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्य
(Basic & Universal Functions of Family)

परिवार इन्हीं मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्यों की वजह से अपने अस्तित्व को आज तक बनाए हुए है। परिवार के ये कार्य निम्नलिखित हैं–

1. प्राणिशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)

परिवार के प्राणिशास्त्रीय कार्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

(अ) यौन इच्छाओं की पूर्ति (Satisfaction of Sexual Desires)— परिवार दो विषम-लिंगियों की यौन-इच्छाओं की पूर्ति सृष्टि के आरम्भ से ही करता रहा है। यौन-इच्छा वास्तव में मनुष्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। इस इच्छा की पूर्ति परिवार में ही स्थाई रूप से हो सकती है। समाज ऐसे व्यक्तियों को बुरा समझता है, जो इधर-उधर प्रेम प्रदर्शित करते हुए वैवाहिक सम्बन्ध के दायरे के बाहर अपनी यौन-इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। सभी समाजों में यौन सम्बन्धों को नियन्त्रित करने की दृष्टि से कुछ प्रतिबन्ध अवश्य पाए जाते हैं और पति-पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ यौन-सम्बन्धों का समाज में निन्दा की दृष्टि से देखा जाता है। वास्तव में परिवार यौन-इच्छाओं की पूर्ति का सर्वोत्तम स्थान है।

(ब) सन्तानोत्पत्ति (Reproduction)— परिवार का सन्तानोत्पत्ति का कार्य प्रमुख है जो प्रत्येक काल और समाज में इसके द्वारा किया जाता रहा है। सभी स्त्री-पुरुषों में माता-पिता बनने की मूल प्रवृत्ति साधारणतः पाई जाती है, जिसकी सन्तुष्टि परिवार में ही होती है। परिवार

1 Elliott and Merrill Social Disorganization, 1950 p 361

से बाहर सन्तानोत्पत्ति का कार्य सामाजिक दृष्टि से सम्भव नहीं है और यदि कोई ऐसा करता भी है तो समाज इसे बुरा समझता है तथा ऐसी अवैध सन्तानों को मान्यता प्रदान नहीं करता है। परिवार के इस कार्य के सम्बन्ध में सदरलैंड और वुडवर्ड ने लिखा है कि यह एक मौलिक प्राणिशास्त्रीय कार्य है जो परिवार करता रहा है। यह एक ऐसा कार्य है जो किसी भी मानव अथवा पशु समाज के अस्तित्व के लिए पूर्णत: अनिवार्य है।[1] परिवार अपने इस कार्य के द्वारा मानव समाज के अस्तित्व और निरन्तरता को बनाये रखने में योग देता है। मनुष्य मरणशील है, परन्तु परिवार सन्तानोत्पत्ति के माध्यम से मानव जाति को अमरता प्रदान करता है और प्रजाति की निरन्तरता को बनाये रखता है।

(ख) बच्चों का पालन-पोषण (Nuture of Children)— बच्चों का पालन-पोषण करना परिवार का एक आवश्यक कार्य है। बच्चा जन्म के समय असहाय होता है तथा एक लम्बी अवधि तक असहाय ही रहता है। परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता के बिना वह जीवित भी नहीं रह सकता है। परिवार सन्तानोत्पत्ति और बच्चों के पालन-पोषण द्वारा मानव जाति का विकास करता है और उसे नष्ट होने से बचाता है। आजकल नर्सिंग होम, शिशु-सदन आदि संगठनों की अनेक स्थानों पर स्थापना हुई है जो बालकों के पालन-पोषण का प्रयत्न करते हैं। सन् 1917 के पश्चात् रूस में परिवार को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया था, परन्तु वह असफल रहा। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक का जैसा पालन-पोषण और विकास माता-पिता के संरक्षण में होता है वैसा अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं है। अत: बच्चों का पालन-पोषण एक ऐसा कार्य है जिस पर परिवार का एकाधिकार है।

2. मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Functions)

परिवार का मनोवैज्ञानिक कार्य व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परिवार अपने सदस्यों में प्रेम तथा सद्भावना को बढ़ाता है, उन्हें मनोवैज्ञानिक सुरक्षा और मानसिक शान्ति प्रदान करता है। बालकों को वात्सल्य और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा परिवार में ही माता-पिता, भाई-बहिन तथा अन्य सदस्यों के साथ रहते हुए प्राप्त होती है। परिवार का मानसिक सुरक्षा प्रदान करने वाला पर्यावरण बालक में आत्म-विश्वास जाग्रत करता है। वह उसके स्वस्थ विकास में योग देता है, उसके व्यक्तित्व के निर्माण में अपूर्व सहायता पहुँचाता है। परिवार अपने सदस्यों में सतत् सुरक्षा की भावना भरता रहता है। रॉबर्ट फ्रॉस्ट का कथन पूर्णत: उपयुक्त है कि घर वह स्थान है जहाँ जब भी जाना चाहे, तो वे आपको आने देंगे।[2] परिवार अपने सदस्यों को पारस्परिक स्नेह भी प्रदान करता है। इलियट और मैरिल ने परिवार के इस कार्य के सम्बन्ध में लिखा है कि स्नेह कार्य की सुरक्षात्मक तथा उपयोगितावादी विशेषता भी है। विवाहित पुरुष अविवाहित पुरुषों की तुलना में अधिक स्वस्थ प्रतीत होते हैं।[3] बर्गेस और लॉक ने इस कार्य की महत्ता के सम्बन्ध में लिखा है, "पारस्परिक स्नेह, विवाह और परिवार का अनिवार्य आधार बनता जा रहा है।"[4]

1. Robert Sutherland and Woodward Introductory Sociology, p. 610
2. "Home is the place where when you have to go there, they have to take you in."- Robert Frost "The Death of the Hired Man Complete Poems of Robert Frost pp 49 55
3. Elliott and Merrill op. cit p 369
4. Mutual affect on is becoming the essential basis of marriage and the family."
   - Burgess E W and Locke H J op cit p 25

परिवार के मनोवैज्ञानिक कार्य की महत्ता का पता तो उन परिवारों में चलता है जहाँ तलाक हो चुका हो, माता-पिता अलग-अलग रहते हों, अथवा सौतली माँ या सौतेला पिता हों, या माता-पिता की मृत्यु हो गई हो और जहाँ बालकों को अपने माता-पिता और परिवार-जनों का स्नेह नहीं मिला हो एवं मानसिक सुरक्षा का अभाव रहा हो। ऐसे परिवारों के बालकों के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता। ऐसे बालकों के अपराधी बन जाने की सम्भावना अधिक रहती है। एक संगठित परिवार अपने सभी सदस्यों को कितनी मानसिक सुरक्षा प्रदान करता है, कितनी शान्ति और आनन्द देता है, उनकी थकान को किस प्रकार दूर कर सकता है, किस प्रकार उन्हें सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त कर देता है, इसकी कल्पना वे ही लोग कर सकते हैं, जिन्हें ऐसे स्वस्थ परिवारों का सदस्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। घर का स्नेह से परिपूर्ण वातावरण सदस्यों में न केवल सद्-वृत्तियों को जाग्रत करता है बल्कि उन्हें जीवन में महान् कार्य करने की असीम प्रेरणा भी प्रदान करता है। जिस व्यक्ति को जीवन में मानसिक सुरक्षा और शान्ति नहीं होती, वह अपराध की ओर प्रवृत्त होता है। वह शराबी और जुआरी बनता है, वेश्यावृत्ति में रुचि लेता है, अनैतिक और समाज-विरोधी कार्य करता है और ऐसा व्यक्ति कभी-कभी आत्महत्या का सहारा लेकर अपने सारे अभावों और विफलताओं को सदा के लिए भुलाने का प्रयास भी करता है। अतः स्पष्ट है कि परिवार का मनोवैज्ञानिक कार्य व्यक्ति और समाज दोनों के स्वस्थ विकास के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। यदि यह कहा जाए कि स्नेह मानव जीवन का आधार है और परिवार इसका अमित स्रोत, तो इसमें किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

II. परिवार के परम्परागत कार्य (Traditional Functions of Family)

परिवार के परम्परागत कार्य संस्कृति एवं परम्परा द्वारा निश्चित होते हैं। विभिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न परम्पराओं के कारण, अलग-अलग समाजों में परिवार के इन कार्यों में भिन्नता पाई जाती है। परिवार के परम्परागत कार्य ये हैं—

1. प्राणिशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)

परिवार के इन कार्यों को शारीरिक देखभाल के कार्य का नाम भी दिया जाता है। ये कार्य निम्नलिखित हैं-

(अ) सदस्यों की शारीरिक रक्षा (Physical Care) — परिवार के सभी सदस्य आजीवन परिवार द्वारा रक्षा प्राप्त करते रहते हैं। परिवार के इस कार्य के अन्तर्गत घायल व अपाहिजों की सेवा करना, बीमारी के समय सेवा-सुश्रुषा, शारीरिक चोट से रक्षा आदि आते हैं। परिवार न केवल बाल्यावस्था में ही बालकों की शारीरिक रक्षा करता है, बल्कि युवावस्था में भी उनकी देखभाल करता है और वृद्धावस्था में तो उन्हें पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है।

(ब) भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था (Provision for Food and Clothing)—प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों की आवश्यकता का ध्यान में रखते हुए उनके लिए भोजन तथा वस्त्र की अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रबन्ध करता है। अपने सदस्यों के लिए भोजन का प्रबन्ध करना परिवार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो वह आदि काल से करता रहा है। परिवार अपने सदस्यों के लिए वस्त्रों की भी व्यवस्था करता है। परिवार में ही वस्त्रों को सीने, धोने और इस्त्री करने आदि कार्य होते रहे हैं, परन्तु वर्तमान में विशेषज्ञ, जैसे दर्जी और धोबी आदि इन कार्यों को करने लगे हैं।

(द) स्थान की व्यवस्था (Provision for Shelter)— परिवार अपने सदस्यों के रहने के लिए सामान्य घर या निवास-स्थान की व्यवस्था करता है। बिना घर के किसी भी परिवार का रहना सम्भव नहीं है। वर्षा, धूप, सर्दी, गर्मी आदि के प्रतिकूल प्रभाव से घर व्यक्ति को बचाता है और उनके लिए विश्राम-स्थल के रूप में कार्य करता है।

2. आर्थिक कार्य (Economic Functions)

परिवार एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक इकाई के रूप में भी कार्य करता रहा है। परिवार के सदस्य साधारणतः उत्पादन कार्य में योग देते हैं, धनोपार्जन करते हैं और आवश्यकतानुसार धन का खर्च भी करते हैं। प्रत्येक परिवार का एक वंशानुगत व्यवसाय रहा है, लेकिन वर्तमान समय में एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य परिस्थिति वश विविध प्रकार के कार्य करने लगे हैं। परिवार के प्रमुख आर्थिक कार्य निम्नलिखित हैं—

(अ) श्रम विभाजन (Division of Labour)— परिवार में लिंग तथा आयु के आधार पर प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित प्रस्थिति और भूमिका होती है। सदस्यों की प्रस्थिति के आधार पर ही उनमें श्रम विभाजन किया जाता है। अधिकतर पिता धनोपार्जन का कार्य करता है तथा परिवार का प्रधान माना जाता है। माता भोजन पकाने, बालकों का लालन-पालन करने और घर की व्यवस्था करने का कार्य करती है। परिवार में बच्चों, वयस्कों तथा वृद्धों के कार्य उनकी योग्यतानुसार अलग-अलग होते हैं। मनुष्य जब शिकारी अवस्था में था, उस समय भी लिंग भेद के आधार पर स्त्री-पुरुष में श्रम विभाजन पाया जाता था और आज के आधुनिक समय में भी श्रम विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। परिवार व्यावसायिक ज्ञान को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करने का कार्य भी करता है।

(ब) आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र (Centre of Economic Activities)—परिवार आरम्भ से ही उत्पादन का प्रमुख केन्द्र रहा है। कृषि युग तक इसने आर्थिक दृष्टि से एक उत्पादक इकाई के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज भी ग्रामीण भारत में परिवार के छोटे बड़े सभी सदस्य किसी न किसी रूप में खेती के कार्य में लगे रहते हैं। इसी प्रकार अनेक परिवारों के विभिन्न सदस्य गृह उद्योग में लगे हुए हैं। वर्तमान समय में नगरीय क्षेत्रों में, आर्थिक क्रियाओं के केन्द्र के रूप में परिवार का महत्त्व अवश्य कम हुआ है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिवार आज भी उपभोग का प्रमुख केन्द्र है। आज तक भी भारत में अधिकतर परिवार ऐसे हैं जिनके सभी सदस्य मिलकर अपने वंशानुगत व्यवसाय को करते हैं। जुलाहे, बढ़ई, लुहार, सुनार, मोची, धोबी और इसी प्रकार के अन्य परिवारों में विभिन्न सदस्य मिलकर आर्थिक कार्य करते हैं और उनमें परिवारों का एक उत्पादक इकाई के रूप में महत्त्व पाया जाता है।

(स) आय एवं सम्पत्ति का प्रबन्ध (Management of Income and Property)— साधारणतः प्रत्येक परिवार की आय का कोई न कोई साधन अवश्य होता है, जिसके माध्यम से सदस्यों की आवश्यकता पूर्ति होती है। आय के अनुसार परिवार का बजट बनता है, यह निश्चित होता है कि कौन-कौन सी मदों पर कितना रुपया खर्च किया जाएगा। प्रत्येक परिवार की थोड़ी-बहुत सम्पत्ति मकान, दुकान, खेत, जेवर या नगद मुद्रा के रूप में होती है। परिवार इस सम्पत्ति का उचित प्रबन्ध करता है। इसके अतिरिक्त परिवार सम्पत्ति के उत्तराधिकारी का निर्णय भी करता है। यह

यह निश्चित करता है कि पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी कौन होगा। साधारणतः पितृ-वंशीय परिवारों में लड़कों में और मातृ-वंशीय परिवारों में लड़कियों में सम्पत्ति का विभाजन होता है, परन्तु आजकल हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार, कानूनी दृष्टि से पुत्रियों को भी सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।

3. सामाजिक कार्य (Social Functions)

समाज की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में परिवार अनेक सामाजिक कार्य करता है जो इस प्रकार हैं —

(अ) प्रस्थिति निश्चित करना (To determine status)— प्रत्येक परिवार की समाज में एक निश्चित प्रस्थिति होती है। परिवार की इस प्रस्थिति के अनुसार ही सदस्यों को समाज में स्थिति प्राप्त होती है। प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों को प्रस्थिति और उनसे सम्बन्धित कार्य प्रदान करता है। परिवार ही निश्चित करता है कि व्यक्ति किन लोगों से मिलेगा, किनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करेगा, किन लोगों के साथ खाएगा-पीएगा और किस प्रकार से जीविकोपार्जन करेगा। एक साधारण मजदूर-परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति और भूमिका उस व्यक्ति से भिन्न होगी जिसका जन्म किसी धनी परिवार में हुआ हो। इसी प्रकार, एक ब्राह्मण और एक शूद्र परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्तियों की प्रस्थिति और कार्यों में भी अन्तर पाया जाएगा। यही कारण है कि परिवार को सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करने वाला प्रतिनिधि (Status giving agent of Society) कहा गया है।

(ब) समाजीकरण (Socialization)— व्यक्ति का समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में परिवार का महत्त्व सर्वाधिक है। परिवार में सदस्यों में पारस्परिक घनिष्ठ और स्थाई सम्बन्ध पाए जाते हैं, उनमें अन्तःक्रिया होती रहती है। बालक माता-पिता और अन्य सदस्यों के सम्पर्क में रहता हुआ उनका प्यार और दुलार पाता हुआ जो कुछ सीखता है, ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है, वह उसके समाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास में अपूर्व योग देता है। परिवार ही बालक को समाज का एक योग्य सदस्य बनाता है। परिवार उसे आचरण सम्बन्धी नियमों से परिचित कराता है। परिवार ही बालक को पशु से मानव बनाता है। सदरलैंड तथा वुडवर्ड ने परिवार को समाजीकरण की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समिति माना है।[1]

(स) मानव सभ्यता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना (Prepetuation of human achievement from one generation to another)— मानव सभ्यता और संस्कृति का इतिहास बहुत विशाल है। सदियों से मानव जो कुछ सीखता एवं अनुभव प्राप्त करता आ रहा है, वह सब कुछ परिवार बच्चों को बहुत शीघ्र ही सिखा देता है। माता-पिता अपने पूर्वजों से जो कुछ सीखते हैं, उसे वे अपने बालकों को सिखाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार मानव सभ्यता एवं संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है तथा इनके विकास में योग मिलता है।

(द) सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)— प्राथमिक समूह के रूप में परिवार सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य साधन है। परिवार के सदस्यों का एक-दूसरे पर नियन्त्रण रहता है, सब सदस्य बड़ों की आज्ञा का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। परिवार का कोई भी सदस्य साधारण

1 Sutherland and Woodward Ibid p 613

(स) स्थान की व्यवस्था (Provision for Shelter)— परिवार अपने सदस्यों के रहने के लिए सामान्य घर या निवास-स्थान की व्यवस्था करता है। बिना घर के किसी भी परिवार का रहना सम्भव नही है। वर्षा, धूप, सर्दी, गर्मी आदि के प्रतिकूल प्रभाव से घर व्यक्ति को बचाता है और उसके लिए विश्राम-स्थल के रूप मे कार्य करता है।

2. आर्थिक कार्य (Economic Functions)

परिवार एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक इकाई के रूप मे भी कार्य करता रहा है। परिवार के सदस्य साधारणत उत्पादन कार्य मे भाग देते हैं, धनोपार्जन करते हैं और आवश्यकतानुसार धन का खर्च भी करते हैं। प्रत्येक परिवार का एक वंशानुगत व्यवसाय रहा है, लेकिन वर्तमान समय में एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य परिस्थिति वश विविध प्रकार के कार्य करने लगे हैं। परिवार के प्रमुख आर्थिक कार्य निम्नलिखित हैं —

(अ) श्रम विभाजन (Division of Labour)— परिवार में लिंग तथा आयु के आधार पर प्रत्येक सदस्य को एक निश्चित प्रस्थिति और भूमिका होती है। सदस्यो की प्रस्थिति के आधार पर ही उनमे श्रम-विभाजन किया जाता है। अधिकतर पिता धनोपार्जन का कार्य करता है तथा परिवार का प्रधान माना जाता है। माता भोजन पकाने बालकों का पालन पोषण करने और घर की व्यवस्था करने का कार्य करती है। परिवार मे बच्चों वयस्कों तथा वृद्धो के कार्य उनकी योग्यतानुसार अलग-अलग होते हैं। मनुष्य जब शिकारी अवस्था मे था उस समय भी लिंग भेद के आधार पर स्त्री-पुरुष मे श्रम-विभाजन पाया जाता था और आज के आधुनिक समय मे भी श्रम विभाजन का एक महत्वपूर्ण आधार है। परिवार व्यावसायिक ज्ञान को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करने का कार्य भी करता है।

(ब) आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र (Centre of Economic Activities)—परिवार आरम्भ से ही उत्पादन का प्रमुख केन्द्र रहा है। कृषि युग तक इसने आर्थिक दृष्टि से एक उत्पादक इकाई के रूप मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज भी ग्रामीण भारत में परिवार के छोटे बड़े सभी सदस्य किसी न किसी रूप मे खेती के कार्य मे योग देते ही हैं। इसी प्रकार अनेक परिवारों के विभिन्न सदस्य गृह उद्योग में लगे हुए हैं। वर्तमान समय मे नगरीय क्षेत्रो मे, आर्थिक क्रियाओ के केन्द्र के रूप मे परिवार का महत्त्व अवश्य कम हुआ है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नही कि परिवार आज भी उपभोग का प्रमुख केन्द्र है। आज तक भी भारत मे अधिकतर परिवार ऐसे हैं जिनके सभी सदस्य मिलकर अपने वंशानुगत व्यवसाय को करते हैं। जुलाहे, बढ़ई, लुहार, सुनार, मोची, धोबी और इसी प्रकार के अन्य परिवारों मे विभिन्न सदस्य मिलकर आर्थिक कार्य करते हैं और उनमे परिवारों का एक उत्पादक इकाई के रूप मे महत्त्व पाया जाता है।

(स) आय एवं सम्पत्ति का प्रबन्ध (Management of Income and Property)— साधारणत प्रत्येक परिवार की आय का कोई न कोई साधन अवश्य होता है, जिसके माध्यम से सदस्यों की आवश्यकता पूर्ति होती है। आय के अनुसार परिवार का बजट बनता है. यह निश्चित होता है कि कौन-कौन सी मदों पर कितना रुपया खर्च किया जाएगा। प्रत्येक परिवार की थोड़ी-बहुत सम्पत्ति मकान, दूकान, खेत, जेवर या नगद मुद्रा के रूप मे होती है। परिवार इस सम्पत्ति का उचित प्रबन्ध करता है। इसके अतिरिक्त परिवार, सम्पत्ति के उत्तराधिकारी का निर्णय भी करता है। यह

यह निश्चित करता है कि पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी कौन होगा। साधारणतः पितृ-वंशीय परिवारों में लड़कों में और मातृ-वंशीय परिवारों में लड़कियों में सम्पत्ति का विभाजन होता है, परन्तु आजकल हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार कानूनी दृष्टि से पुत्रियों को भी सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।

3. *सामाजिक कार्य (Social Functions)*

समाज की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में परिवार अनेक सामाजिक कार्य करता है जो इस प्रकार हैं —

(अ) प्रस्थिति निश्चित करना (To determine status)— प्रत्येक परिवार को समाज में एक निश्चित प्रस्थिति होती है। परिवार की इस प्रस्थिति के अनुसार ही सदस्यों को समाज में स्थिति प्राप्त होती है। प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों को प्रस्थिति और उनसे सम्बन्धित कार्य प्रदान करता है। परिवार ही निश्चित करता है कि व्यक्ति किन लोगों से मिलेगा, किनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करेगा, किन लोगों के साथ खाएगा-पीएगा और किस प्रकार से जीविकोपार्जन करेगा। एक साधारण मजदूर-परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति और भूमिका उस व्यक्ति से भिन्न होगी जिसका जन्म किसी धनी परिवार में हुआ हो। इसी प्रकार एक ब्राह्मण और एक शूद्र परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्तियों की प्रस्थिति और कार्यों में भी अन्तर पाया जाएगा। यही कारण है कि परिवार को सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करने वाला प्रतिनिधि (Status giving agent of Society) कहा गया है।

(ब) समाजीकरण (Socialization)— व्यक्ति का समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में परिवार का महत्त्व सर्वाधिक है। परिवार में सदस्यों में पारस्परिक घनिष्ठ और स्थाई सम्बन्ध पाए जाते हैं, उनमें अन्तःक्रिया होती रहती है। बालक माता-पिता और अन्य सदस्यों के सम्पर्क में रहता हुआ, *उनका प्यार और दुलार पाता हुआ जो कुछ सीखता है, ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है, वह* उसके समाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास में अपूर्व योग देता है। परिवार ही बालक को समाज का एक योग्य सदस्य बनाता है। *परिवार उसे आचरण सम्बन्धी नियमों से परिचित कराता है। परिवार* ही बालक को पशु से मानव बनाता है। सदरलैंड तथा वुडवर्ड ने परिवार को समाजीकरण की सबसे *अधिक महत्त्वपूर्ण समिति माना है।*[1]

(स) मानव सभ्यता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना (Prepetuation of human achievement from one generation to another)— मानव सभ्यता और संस्कृति का इतिहास बहुत विशाल है। सदियों से मानव जो कुछ सीखता एवं अनुभव प्राप्त करता आ रहा है, वह सब कुछ परिवार बच्चों को बहुत शीघ्र ही सिखा देता है। माता-पिता अपने पूर्वजों से जो कुछ सीखते हैं, उसे वे अपने बालकों को सिखाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार मानव सभ्यता एवं संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है तथा इनके विकास में योग मिलता है।

(द) सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)—प्राथमिक समूह के रूप में परिवार सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य साधन है। परिवार के सदस्यों का एक दूसरे पर नियन्त्रण रहता है, सब सदस्य बड़ों की आज्ञा का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। परिवार का कोई भी सदस्य साधारणतः

1 *Sutherland and Woodward Ibid p 613*

एसा कोई कार्य नही करना चाहता, जिसस परिवार की बदनामी हो। परिवार अपन सदस्यों म नागरिकता क गुण भरता है, उन्हे सद्गुणी बनाता हैं ओर अनुशासित जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दता है। इन सबका प्रभाव सामाजिक क्षत्र पर भी पडता है और सामाजिक नियन्त्रण के कार्य में सहायता मिलती है।

4. शिक्षात्मक कार्य (Educational Functions)

बच्चों का प्रारम्भिक शिक्षा परिवार मे ही प्राप्त होती है। परिवार की प्रारम्भिक शिक्षा का बालक पर गहरा प्रभाव पडता है। परिवार बालक क चरित्र-निर्माण मे काफी याग देता है, यह वास्तव मे सामाजिक जीवन का अमित स्रात है। परिवार मे बच्चा अनुकरण के द्वारा जो कुछ सीखता है, उसी क आधार पर उसका जीवन बनता है। परिवार मे बालक मे अनक मानवीय गुणो का विकास हाता है। यही वह प्रम, आत्म-त्याग, परापकार, कर्त्तव्य और आज्ञापालन तथा सहयाग का पाठ सीखता है। परिवार बालकों म अनक सामाजिक गुणो का विकास और सद्भावनाओं का सचार करता है। बालक नागरिकता का प्रथम पाठ माता क चुम्बन और पिता क आलिगन में ही सीखता है।

5. मनोरंजनात्मक कार्य (Recreational Functions)

परिवार अपन सदस्या का मनारजन भी करता है। यद्यपि सिनमा, सर्कस, क्लब आदि परिवार क इस कार्य का छीनत जा रह हैं तथापि भारत जस निर्धन दश क कराडो लाग व्यावसायिक मनोरजन क इन साधना का लाभ नही उठा पाते। एसी दशा म इन लागा का मनारजन घर मे ही हाता है। परिवार बिना पैस क बहुत ही स्वास्थ्यप्रद मनारजन की व्यवस्था करता है। परिवार मे बच्चो की प्यार भरी बात हँसी-मजाक माता-पिता का बच्चों क प्रति स्नेह-पूर्ण व्यवहार, पति-पत्नी का आपसी प्रेम और अवकाश क समय म एक जगह बैठकर गप शप करना किस्स-कहानियाँ सुनना-सुनाना, गीत और भजन गाना ताश आदि खलना मनारजन क परम्परागत पारिवारिक साधन हैं। इस प्रकार क मनारजन का बालका क व्यक्तित्व क विकास पर स्वस्थ प्रभाव पडता है जबकि सिनमा, थियटर आदि का उन पर कुप्रभाव पडता ह। आजकल रडियो ओर टलीविजन भी परिवार मे मनोरजन के मुख्य साधन बन गय हैं। मनारजन का सुखी पारिवारिक जीवन की दृष्टि से काफी महत्त्व है। यह परिश्रम स थक हुए व्यक्ति म नवजीवन का सचार करता हे, उसकी कार्यक्षमता और कुशलता को बढाता है।

6. धार्मिक कार्य (Religious Functions)

परिवार धार्मिक एव आध्यात्मिक शिक्षा का कन्द्र है। यहाँ सदस्यो का धार्मिक उत्सवो क महत्त्व, उनमे भाग लन क नियमा तथा विधियो और पाप-पुण्य क भेद आदि का ज्ञान प्राप्त हाता है। माता-पिता के धार्मिक आचरण द्वारा बालको का धार्मिक शिक्षा भी यहीं प्राप्त होती है। अनेक जनजातीय परिवार ता अपन सदस्यो को धार्मिक एव जादू सम्बन्धी क्रियाएँ सिखात हैं ताकि वे इनके माध्यम से जीवन की समस्याओं का मुकाबला कर सकें।

7. सांस्कृतिक कार्य (Cultural Functions)

परिवार संस्कृति का जीवित रखने ओर उसे अपने सदस्यो का पीढी-दर पीढी सौंपने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। परिवार अपन सदस्यों का समाज क रीति रिवाजो, परम्पराओं, रूढियो, आदर्शों, सामाजिक मूल्यों अर्थात् उस समाज विशष की सम्पूर्ण जीवन-विधि स परिचित कराता है।

वह सदस्यों को इस योग्य बनाता है कि वे समाज के नियमों का मानते हुए और एक दूसरे के अधिकारों का ध्यान रखते हुए, अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। संस्कृति का अस्तित्व परिवार के इसी कार्य पर निर्भर करता है।

8. राजनीतिक कार्य (Political Functions)

परिवार राजनीतिक कार्य भी करता रहा है। परिवार के राजनीतिक कार्यों का सरल प्रकार के समाजों में विशेष महत्त्व रहा है। जनजातीय लोगों में शासन-प्रबन्ध का कार्य अधिकतर एक मुखिया द्वारा किया जाता रहा है। सभी परिवारों के बड़े-बूढ़ों की बनी हुई समिति मुखिया को इस कार्य में भाग देती है। परिवार के माध्यम से सदस्यों को राजनीतिक शिक्षा भी प्राप्त होती है। परिवार को राज्य का एक छोटा रूप माना जा सकता है। राज्य का कोई न कोई मुखिया होता है, उसी प्रकार प्रत्येक परिवार का भी एक मुखिया होता है जिसको भारतीय संयुक्त परिवार में कर्त्ता कहा जाता है। डॉ. मजूमदार का कथन है कि कर्त्ता ही परिवार का वास्तविक मुखिया होता है। जज और जूरी होता है। वही पारिवारिक झगड़ों को निपटाता है और सामाजिक, धार्मिक एवं सामुदायिक कार्यों में परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। वह ग्राम पंचायत में भी परिवार के प्रतिनिधि के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस प्रकार कर्त्ता एक राजनीतिक मुखिया के रूप में कार्य करता है।

परिवार के उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट है कि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। परिवार बालक के समाजीकरण की एक अपूर्व समिति है। जन्म के समय बालक न तो मानव होता है और न ही सामाजिक। परिवार में ही वह अन्य सदस्यों के साथ रहता है और संचार करता हुआ व्यवहार-प्रतिमानों और आचरण संहिता से परिचित होता है। परिवार में ही विभिन्न सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया के आधार पर बालक के व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

मनोवैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि बालक अपने व्यक्तित्व और चरित्र सम्बन्धी करीब-करीब सभी लक्षण अपने जीवन के प्रारम्भिक पाँच वर्षों में ही प्राप्त कर लेता है और इस महत्त्वपूर्ण काल में वह परिवार में ही रहता है। इससे स्पष्ट है कि पारिवारिक पर्यावरण का बालक पर कितना गहरा और शीघ्र मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के निर्माण में परिवार का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य कोई समिति बालक के चरित्र और व्यक्तित्व-निर्माण में परिवार की तुलना में नहीं ठहर सकती है।

व्यक्ति आजीवन परिवार में कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। बालक परिवार में जो कुछ देखता, सुनता और अनुभव करता है, वह सबके व्यवहार में झलकने लगता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक यंग ने बतलाया है कि परिवार में प्राणिशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय शक्तियाँ मिलकर व्यक्ति को उसके जीवन प्रारम्भ करने योग्य बनाती हैं।[1] मनुष्य में जितनी भी सद्‌वृत्तियाँ, उत्तम गुण, महानता के आधार, त्याग, सहानुभूति, सहयोग की भावना, सेवा और प्रेम पाये जाते हैं, उनका मूल स्रोत वास्तव में परिवार ही है। परिवार वह उद्गम स्थान है जिसमें भविष्य का जन्म होता है और वह पोषण-केन्द्र है जिसमें नवीन प्रजातान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था ढलती है। परिवार परम्पराओं द्वारा भूत से सम्बन्धित होता है, लेकिन उत्तरदायित्व और सामाजिक विश्वास द्वारा यह भविष्य से भी जुड़ा होता है।

---

1 Young, P.V., Social Psychology, p. 237

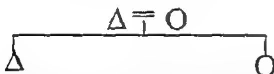
भारत में परिवार के स्वरूप
(Forms of Family in India)

ससार क विभिन्न भागो मे परिवार क स्वरूपा में विविधता दिखलाई पडती है। इस विविधता का मूल कारण स्थान विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नताएँ है। भारतवर्ष में ही अनक प्रकार क परिवार पाए जाते है। उदाहरण क रूप में यहाँ एक-विवाही बहु-विवाही, पितृ-सत्तात्मक, मातृ-सत्तात्मक, केन्द्रीय और सयुक्त परिवार पाए जाते है। रचना और सगठन की दृष्टि स परिवार क अनक रूप विश्व क विभिन्न भागो मे मिलत है। यहाँ कुछ प्रमुख आधारों पर परिवार क स्वरूपा का वर्णन किया जा रहा है।

सदस्य संख्या के आधार पर परिवार के स्वरूप
(Forms of Family on the Basis of Number of Family Members)

सदस्यो की सख्या क आधार पर परिवार क तीन प्रकार पाए जाते है—

1. केन्द्रीय, मूल या नाभिक परिवार (Primary or Nuclear Family)—केन्द्रीय परिवार का प्राथमिक, मूल या नाभिक परिवार कहत है। यह परिवार का सबस छाटा और मूलभूत रूप है। एस परिवार में पति-पत्नी और अविवाहित बच्चे हाते हैं। इस प्रकार क परिवार मे अन्य रिश्तेदार नही पाये जाते हैं। वर्तमान में विशेष रूप स नगरीय क्षेत्रों मे एस परिवारो की सख्या बढती जा रही है। केन्द्रीय (नाभिक) परिवार ससार क सभी भागों मे पाये जाते हैं। एस परिवार मे साधारणत आठ प्रकार क सम्बन्ध हाते हैं— पति-पत्नी, पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, माता-पुत्री भाई-भाई, बहिन-बहिन तथा भाई-बहिन। एस परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजो में विशेष रूप से पाये जाते हैं। केन्द्रीय परिवार का निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है-



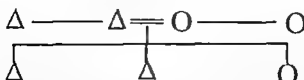
2. विवाह सम्बन्धी परिवार (Conjugal Family)— विवाह सम्बन्धी परिवार के केन्द्र में तो पति-पत्नी और उनक अविवाहित बच्चे होते है, साथ ही विवाह के आधार पर बने कुछ अन्य रिश्तेदार भी एस परिवार के सदस्य हाते हैं। इस प्रकार, विवाह-सम्बन्धी परिवार में पति-पत्नी, उनके अविवाहित बच्चे तथा सम्बन्धी आते हैं। इसको परिभाषित करते हुए चार्ल्स विनिक ने लिखा है, "यह पति-पत्नी का एक केन्द्र है जो सम्बन्धियों क जाल से घिरा हुआ है।"[1] एसे परिवार भारतीय समाज मे सब जगह पाए जाते हैं। अनेक जनजातियों में इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं, जैसे खरिया जनजाति मे। एस परिवार को निम्नलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है।

---

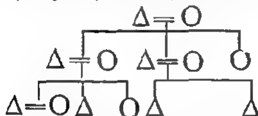
1 "It is a nucleus of spouses surrounded by a fringe of relatives"
Charles Winick Dictionary of Anthropology, p 202

Δ-पुरुष, O-स्त्री, = वैवाहिक सम्बन्ध क लिए। माता-पिता क सन्तानों के साथ सम्बन्ध क लिए, -भाई-बहिनों के आपसी सम्बन्ध के लिए।

विवाह सम्बन्धी परिवार



3. संयुक्त परिवार (Joint Family)— संयुक्त परिवार का तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हैं। ये सदस्य पारस्परिक कर्तव्य-परायणता के आधार पर बंधे रहते हैं। संयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए डॉ. एस. सी दुबे ने लिखा है, "यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक ही आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में, संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।"[1] संयुक्त परिवार में पति-पत्नी, उनके बच्चे, दादा-दादी, चाचा-चाची, चचेरे भाई उनकी पत्नियाँ और बच्चे एवं विधवा बहिनें आदि सम्मिलित होते हैं। संयुक्त परिवार हिन्दुओं में विशेष रूप से पाये जाते हैं। नायर जनजाति में भी ऐसे परिवार पाए जाते हैं, परन्तु उनमें मातृस्थानिक संयुक्त परिवार होते हैं जबकि हिन्दुओं में पितृ-स्थानिक संयुक्त परिवार। संयुक्त परिवार पर अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। संयुक्त परिवार को यहाँ दिए गए चित्र द्वारा समझा जा सकता है—



विवाह सम्बन्ध के आधार पर परिवार के स्वरूप

(Forms of Family on the Basis of Marriage-relation)

विवाह-सम्बन्ध के आधार पर परिवार के मुख्यतः दो स्वरूप पाए जाते हैं —

1. **एक-विवाही परिवार (Monogamous Family)**— जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है, तो ऐसे विवाह के आधार पर बने परिवार को "एक विवाही परिवार" कहते हैं। वर्तमान में एक विवाही परिवार को परिवार का आदर्श रूप माना जाता है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में ऐसे परिवार अधिक पाए जाते हैं। कुछ जनजातीय लोगों में भी एक-विवाही परिवार ही पाए जाते हैं, जैसे-भारत में सन्थाल और कादर लोगों में। हिन्दुओं में भी एक विवाही परिवार काफी पाए जाते हैं।

2. **बहु-विवाही परिवार (Polygamous Family)** जब एक पुरुष का एक से अधिक स्त्रियों के साथ या एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है, तो परिणामस्वरूप बहु-विवाही परिवार बनते हैं। ऐसे परिवारों के दो प्रकार होते हैं—

1 डॉ. श्यामचरण दुबे: मानव और संस्कृति, पृ. 105

(अ)बहु-पत्नी परिवार (Polygynous Family)— जब एक पुरुष एक स अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करता है तो बहु-पत्नी परिवार की रचना हाती है। एस परिवार में एक पुरुष की एक स अधिक पत्नियाँ होती हैं। हिन्दुओं मे प्राय इस प्रकार क परिवार नही पाए जाते, परन्तु मुसलमानो में एस परिवार मिलते हैं। उनमे एक पुरुष चार पत्नियाँ तक रख सकता है। हिन्दुओं मे एक-विवाह क नियम का कानूनी दृष्टि स आवश्यक बना दिया गया है। भारत की नागा, बैगा तथा गौंड जनजातियां मे बहु-पत्नी विवाही परिवार पाये जाते हैं।

(ब) बहुपति-विवाही परिवार (Polyandrous Family)— जहाँ पर एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह हाता है, वहाँ बहुपति-विवाही परिवार का निर्माण होता है। मिस्र तथा भारत मे कुछ जनजातीय लागो मे एस परिवार पाए जात हैं। उत्तर-प्रदेश क जौनसर बावर की खस जनजाति मे दक्षिण भारत की काटा, टाडा तथा टियान आदि जनजातियों में और मलाबार क नायर लागो मे एस परिवार दिखलाई पडत हैं। एसे परिवार में सभी पतियों का पत्नी पर समान अधिकार हाता है।

अधिकार या सत्ता के आधार पर परिवार के स्वरूप (Forms of Family on the Basis of Authority)

सत्ता क आधार पर परिवार क दा प्रकार पाय जात हैं—

1. पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family)— जिन परिवारो में सत्ता पुरुष क हाथ मे हाती है जहाँ महत्वपूर्ण निर्णय उसी क द्वारा लिये जाते हैं, जहाँ वही परिवार का केन्द्र हाता है, जहाँ उसी का प्रभुत्व हाता है, वहाँ एसे परिवार का पितृसत्तात्मक परिवार कहते हैं। ऐस परिवार मे पुरुष की स्थिति माता स ऊँची हाती है। वही परिवार मे कर्त्ता-धर्त्ता हाता है और सब सदस्या पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। एसे परिवार में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पिता के बाद पुत्र ही होता है। समस्त हिन्दू समाज मे पितृसत्तात्मक परिवार ही पाय जात हैं। खरिया, भील आदि जनजातियो म भी ऐस ही परिवार मिलत हैं।

2. मातृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal Family)— मातृसत्तात्मक परिवार में माता ही परिवार का कन्द्र होती है। एस परिवार मे स्त्री को ही मूल पूर्वज माना जाता है। इस प्रकार क परिवार मे बच्चो पर माता या उसके रक्त-सम्बन्धियों का ही अधिकार होता है न कि पिता या उसके रक्त सम्बन्धियो का। बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा आदि का प्रबन्ध लडकों के माता-पिता या भाई करते हैं। एसे परिवार मे स्त्री को स्थिति पुरुष से उच्च होती है और वही परिवार का सचालन करती है। यही कारण है कि इस प्रकार के परिवार का मातृसत्तात्मक परिवार कहते हैं। ऐस परिवार मे पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी नही होता बल्कि माता का भाई अथवा बहिन का लडका (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

वैदिक साहित्य स ज्ञात होता है कि उस समय भारत मे मातृसत्तात्मक परिवार पाये जाते थे। वर्तमान में मलाबार तथा असम में एसे परिवार पाए जाते हैं। मलाबार मे बेल्लार, नायर, जोगी पुरुष, मलयाली क्षत्रिय, समन्तन तथा पल्लन आदि मे मातृसत्तात्मक परिवार पाय जात हैं। भारतीय जनजातियो में, विशेष रूप से असम मे खासी तथा गारो लोगों मे मातृसत्तात्मक परिवार मिलते हैं। नायर लागो मे ऐसे मातृसत्तात्मक परिवार का "तारवाद" कहते हैं।

वंश नाम के आधार पर परिवार के स्वरूप
(Forms of Family on the Basis of Nomenclature)

वंश के आधार पर परिवार के निम्नांकित प्रकार पाये जाते हैं —

1. पितृवंशीय परिवार (Patrilineal Family)— इस परिवार में वंश-परम्परा पिता के नाम पर चलती है अर्थात् पिता का वंश नाम ही पुत्रों को प्राप्त होता है। वे पिता के वंश के ही माने जाते हैं, न कि माता के वंश के। हिन्दू परिवार पितृवंशीय परिवार ही हैं।

2. मातृवंशीय परिवार (Matrilineal Family)— ऐसे परिवारों में स्त्री ही वंश परम्परा तथा उत्तराधिकार का आधार होती है। बच्चे पिता के वंश के नहीं, बल्कि माता के वंश के माने जाते हैं। माता का ही वंश-नाम बच्चों को प्राप्त होता है। मलाबार के नायरों में ऐसे परिवार पाये जाते हैं।

3. उभयवाही परिवार— जिन परिवारों के वंश-परिचय में, वंशानुगत सम्बन्ध का महत्त्व नहीं दिया जाता और वंश नाम का निर्धारण सभी निकट सम्बन्धियों के आधार पर होता है, उन्हें उभयवाही परिवार कहते हैं।

4. द्विनामी परिवार— ऐसे परिवारों में वंश नाम का निर्धारण केवल पिता अथवा माता के वंश के आधार पर न होकर दोनों के आधार पर होता है। माता और पिता, दोनों का ही वंश-नाम जहाँ साथ-साथ चलता है वहाँ इस प्रकार के परिवार को द्विनामी परिवार कहते हैं। डॉ. एस. सी. दुबे के अनुसार, "पितृनामी परिवार में किसी व्यक्ति का केवल अपने पिता और दादा से सम्बन्ध रहता है जबकि मातृ-नामी परिवार में अपनी नानी से। उभयवाही वंश के परिवार में एक व्यक्ति का सम्बन्ध दादा-दादी और नाना-नानी चारों सम्बन्धियों से समान रूप से रहता है जबकि द्विनामी परिवार में एक ही समय में सम्बन्ध दादा और नानी से तो रहता है, किन्तु अन्य दो सम्बन्धियों (दादी और नाना) से नहीं।"[1]

निवास के आधार पर परिवार के स्वरूप
(Forms of Family on the Basis of Residence)

निवास या घर के आधार पर परिवार के तीन प्रकार पाये जाते हैं —

1. पितृ-स्थानीय परिवार (Patrilocal Family)— जब विवाह के पश्चात पत्नी अपने माता-पिता के परिवार को छोड़कर अपने पति के घर जाकर निवास करती है तो ऐसे परिवार को पितृ-स्थानीय परिवार कहते हैं। साधारणत, विवाह के बाद पति अपनी पत्नी को पिता के परिवार में रखता है। हिन्दू समाज में और खरिया, भील आदि जनजातियों में इसी प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

2. मातृ-स्थानीय परिवार (Matrilocal Family)— जब विवाह के पश्चात पत्नी अपने पति के घर जाकर निवास नहीं करती और माता-पिता के घर में ही रहती है तथा पति स्वयं अपनी पत्नी के घर जाकर निवास करता है तो ऐसे परिवार को मातृ-स्थानीय परिवार कहते हैं।

---
1 डॉ. श्यामाचरण दुबे, पूर्वोक्त, पृ. 104-105

`एसे परिवार में बच्च भी अपने पिता क परिवार म न रहकर माता के परिवार मे ही रहते हैं। अधिकतर एस परिवार मलाबार क नायरो तथा खासी एव गारो आदि जातियों मे पाये जाते हैं।

3. नव-स्थानीय परिवार (Neo-local Family)— जब विवाह के बाद पति-पत्नी में से काई भी एक दूसर क पिता क घर मे जाकर निवास नही करत और अपना स्वय का नया घर बसा कर रहत हैं ता एस परिवार को नव-स्थानीय परिवार कहत हैं। वर्तमान मे बदली हुई परिस्थितियो मे एसे परिवार बनने लग हैं।

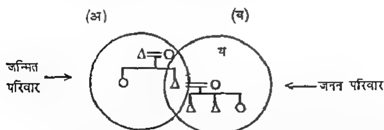
यहाँ हमे यह ध्यान रखना है कि मूल रूप मे पितृ-सत्तात्मक, पितृ-वशीय और पितृ-स्थानीय परिवार एक ही प्रकार क परिवार के विभिन्न लक्षण हैं। साधारणत जा परिवार पितृ-सत्तात्मक हाता है, वही पितृ-वशीय और पितृ-स्थानीय भी हाता है, जैस-हिन्दू परिवार। यही बात मातृ-सत्तात्मक परिवार क लिए भी सत्य है। खासी,गारो तथा नायर परिवारों में मातृ-सत्तात्मक, मातृ वशीय और मातृ-स्थानीय व्यवस्था पाई जाती है।

परिवार के कुछ अन्य स्वरूप
(Some Other Forms of Family)

डविस नामक विद्वान ने परिवार क दो प्रकार बतलाय हैं —

1. जन्मित परिवार (Family of Orientation)— जन्मित परिवार वह हाता है जिसम एक व्यक्ति जन्म लता, पलता और बडा हाता है। इस परिवार में उस व्यक्ति क माता-पिता तथा भाई-बहिन हात हैं।

2. जनन परिवार (Family of Procreation)— विवाह के पश्चात् व्यक्ति जिस परिवार की स्थापना करता है उसे जनन अथवा सन्तानात्पत्ति वाला परिवार कहते हैं। इसमें पति-पत्नी, उनक लडके और लडकियाँ होती हैं। इन दानों प्रकार क परिवारो का निम्नांकित चित्र द्वारा सुगमता स समझा जा सकता है—



"य" नामक व्यक्ति के लिए "अ" परिवार जन्मित परिवार है, जिसमे उसका जन्म और पालन-पोषण होता है। इसी व्यक्ति क लिए "ब" परिवार जनन परिवार है जिसकी स्थापना वह स्वय विवाह द्वारा करता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति अपन जीवन-काल मे साधारणत दो परिवारो का सदस्य होता है— एक जन्मित परिवार का और दूसरा जनन परिवार का।

लिण्टन (Linton) ने परिवार क दो प्रकार बतलाय हैं— रक्त सम्बन्धी परिवार और विवाह सम्बन्धी परिवार। विवाह-सम्बन्धी परिवार का वर्णन पहल किया जा चुका है। रक्त सम्बन्धी

परिवार (Consangu ne Family) उस परिवार को कहते हैं, जिसके केन्द्र में रक्त-सम्बन्धी होते हैं और जिनमें आपस में किसी प्रकार का यौन सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। इस परिवार में कुछ अन्य सम्बन्धी भी होते हैं जिनमें पति-पत्नी भी हो सकते हैं परन्तु ये परिवार के आधार के रूप में नहीं होते। चार्ल्स विनिक ने लिखा है, "रक्त-सम्बन्धी परिवार रक्त-सम्बन्धियों का एक केन्द्र है जो पति-पत्नी के जाल से घिरा हुआ है।"[1] इस परिवार की सदस्यता व्यक्ति को जन्म के आधार पर प्राप्त होती है। विवाह विच्छेद द्वारा रक्त-सम्बन्धी परिवार का अन्त नहीं होता। अत इस प्रकार के परिवार अधिक स्थायी होते हैं। रक्त-सम्बन्धियों में विवाह का निषेध होने के कारण ये परिवार अपने सदस्यों की यौन इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाते और इसी कारण ऐसा परिवार पति पत्नी के जाल से घिरा होता है। इस परिवार में रक्त-सम्बन्ध पर जोर दिया जाता है न कि विवाह सम्बन्ध पर। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक मलाबार के नायरों में ऐसे परिवार पाये जाते थे। ये परिवार में पति अथवा पिता को कोई मान्यता प्रदान नहीं करते थे।

प्रश्न

1. परिवार की परिभाषा दीजिए तथा इसकी विशेषताओं एव कार्यों का विवेचन कीजिए।
2. परिवार की परिभाषा दीजिए। आधुनिक समाज में इसके महत्वपूर्ण स्वरूपों एव कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. परिवार के प्रमुख उद्देश्य बतलाते हुए इसकी परिभाषा दीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताओं का स्पष्ट कीजिए।
4. परिवार के परम्परागत कार्यों का वर्णन कीजिये और यह बताइए कि इनमें अब किस प्रकार परिवर्तन हो रहे हैं?
5. भारत में पाये जाने वाले परिवारों के प्रमुख स्वरूपों का विश्लेषण कीजिए।
6. नाभिक परिवार एव विवाह-सम्बन्धी परिवार पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।



1 "Consanguineal fami y is nucleus of blood relatives surrounded by a fringe of spouses " Charles Winick op cit p 203

20

भारतीय संयुक्त परिवार : निरन्तरता एवं परिवर्तन
(Indian Joint Family : Continuity and Change)

सयुक्त परिवार प्राचीन काल स ही भारतीय सामाजिक सरचना की एक महत्त्वपूर्ण विशषता के रूप में रहा है। आज जबकि लोगों मे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण काफी मात्रा मे विकसित हा चुका है, तब भी सयुक्त परिवार यहाँ के सामाजिक जीवन के समष्टिवाद के आदर्श को प्रकट करता हुआ समाज मे एक मौलिक सस्था क रूप मे दिखलाई पडता है। पाश्चात्य देशो में पति-पत्नी और उनक अविवाहित बच्चों स मिलकर जा समूह बनता है, उस 'परिवार' कहा जाता है। जब पति-पत्नी और उनक अवयस्क बच्चों वाल समूह को 'परिवार' की सज्ञा दी जाती है, तब जहाँ एक स अधिक दम्पति अपन बेटो, पोतों और कुछ अन्य रिश्तदारो के साथ एक साथ रहत हों तो एस परिवार को 'विस्तृत' अथवा 'सयुक्त' परिवार कहना उपयुक्त होगा। हिन्दू समाज की इकाई वास्तव में सयुक्त परिवार ही रहा है, न कि व्यक्ति। सयुक्त परिवार वास्तव मे भारतीय सस्कृति के आदर्श तत्त्वों को व्यक्त और समूह कल्याण के सुन्दर आदर्शो को प्रस्तुत करता है।

सयुक्त परिवार केवल भारतवर्ष मे ही पाय जाते हो, एसी बात नही है। जो भी समाज हल की खती पर आधारित रह हैं, उनमे साधारणत पितृ-सत्तात्मक विस्तृत परिवार पाए गए हैं। वर्तमान समय मे भी मानव जाति का बहुत बडा भाग हल की खती पर आधारित है। ऐसे समाजों में सयुक्त परिवारो का ही अधिकाशत प्रचलन पाया जाता है।

संयुक्त परिवार का अर्थ
(Meaning of Joint Family)

सयुक्त परिवार की परिभाषा क सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो मे मतभेद पाया जाता है। कुछ न सयुक्त परिवार क सरचनात्मक तत्त्वों क आधार पर इसको परिभाषित किया है ता कुछ ने कानूनी आधार पर। सयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए श्रीमती इरावती कर्वे ने लिखा है, "एक सयुक्त परिवार उन लोगों का समूह हे जो साधारणत. एक ही भवन में रहते हैं, जो एक ही रसाई में बना हुआ भाजन करते हैं, जा सम्पत्ति क सम्मिलित स्वामी होते हैं, जो सामान्य पूजा मे भाग लेत हैं और जो किसी न किसी प्रकार एक दूसरे क रक्त सम्बन्धी हैं।"[1] इस परिभाषा के अनुसार सयुक्त परिवार म वे ही लोग सम्मिलित हा सकते हैं, जो रक्त-सम्बन्धी हों जबकि वास्तविकता यह है कि किसी-किसी सयुक्त परिवार में कुछ अन्य सम्बन्धी भी हाते हैं, जैसे-पत्नी का भाई, बहिन, अन्य कोई रिश्तेदार। यद्यपि परिवार की सम्पत्ति में इनका कोई हिस्सा नही होता तथापि इन्हें सयुक्त परिवार का सदस्य माना जाता है। यह परिभाषा सयुक्त परिवार क संरचनात्मक आधारों को व्यक्त करने मे अवश्य योग देती है।

1 Dr I Karve Kinship Organization in India p 10

संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुए डॉ आई पी देसाई ने लिखा है "हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकाकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (अर्थात् तीन या अधिक) के सदस्य रहते हों और जिसके सदस्य एक दूसरे से सम्पत्ति आय और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों द्वारा सम्बद्ध हों।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि डॉ देसाई संयुक्त परिवार के लिए सामान्य पाकशाला एवं समूह के सदस्यों की संख्या को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार, पीढ़ियों की संख्या सम्मिलित सम्पत्ति तथा आय और पारस्परिक कर्त्तव्य दायित्व संयुक्त परिवार के लिए आवश्यक है। पीढ़ी की गहराई से उनका तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें दादा, पिता और पुत्र तीनों पीढ़ियों या इससे भी अधिक पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हों। ऐसे संयुक्त परिवार में दादा और पिता के भाइयों एवं उनकी सन्तानों का होना आवश्यक नहीं है। डॉ देसाई की इस परिभाषा के अनुसार ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार नहीं कहा जा सकता जिसमें दो या अधिक भाई अपनी पत्नियों एवं अविवाहित अथवा विवाहित बच्चों सहित एक साथ रहते हों एक ही स्थान पर बना भोजन करते हों तथा जिनकी आय व सम्पत्ति सम्मिलित हो। ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं लेना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि वस्तुतः व्यावहारिक रूप में संयुक्त परिवार का क्षेत्र काफी व्यापक है। इस परिभाषा में पारस्परिक अधिकारों और कर्त्तव्यों पर विशेष जोर दिया गया है। ऐसे परिवार की सम्पत्ति और आय का उपभोग सभी सदस्य संयुक्त रूप से करते हैं।

संयुक्त परिवार के अर्थ के सम्बन्ध में बुलेटिन ऑफ दी क्रिश्चियन इन्स्टीट्यूट फॉर दी स्टडी ऑफ सोसाइटी में बतलाया गया है—"संयुक्त परिवार से हमारा अभिप्राय उस परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के सदस्य एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक कर्त्तव्य-परायणता के बन्धन में बंधे रहते हैं।"[2] इस परिभाषा के अनुसार संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य होते हैं और वे एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। डॉ एस सी दुबे ने लिखा है कि यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हो, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है। जौली ने संयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है "न केवल माता-पिता तथा सन्तान, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं बल्कि कभी-कभी इनमें कई पीढ़ियों तक की सन्तान, पूर्वज तथा समानान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहते हैं।"[3]

सामान्यतः संयुक्त परिवार का तात्पर्य एक ऐसे परिवार से है जिसमें अनेक पीढ़ियों के रक्त-सम्बन्धी और विवाह द्वारा बने सदस्य सम्मिलित रूप से एक ही भवन में निवास व एक ही रसोई में बना हुआ भोजन करते हैं तथा जिनकी सम्पत्ति एवं आय सम्मिलित है और जो पारस्परिक कर्त्तव्य-परायणता के आधार पर एक दूसरे से बंधे हुए हैं।

---

1 I P Desai The Joint Family in India Sociological Bulletin Vol V No 2 Sept 1956 p 148
2 *Bulletin of the Christian Institute for the Study of Society Sept 1957 Vol IV No 2* p 48
3 Jolly Hindu Law and Custom, p 178

सयुक्त परिवार के प्रमुख लक्षण
(Main Features of Joint Family)

सयुक्त परिवार के अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके प्रमुख लक्षणो को जाना जाए—

1. सामान्य निवास (Common Residence)— सयुक्त परिवार के लिए एक सामान्य निवास-स्थान का होना आवश्यक है। सामान्य निवास-स्थान के अभाव मे सदस्यों में सहयोगी सम्बन्धो का बना रहना बहुत कठिन है। डॉ. आई. पी. देसाई ने सामान्य निवास-स्थान को सयुक्त परिवार का आवश्यक लक्षण नहीं माना है, परन्तु उनका यह दृष्टिकोण उचित प्रतीत नही होता। सयुक्त परिवार के लिए सामान्य निवास-स्थान का होना आवश्यक है। ऐसे निवास-स्थान मे एक सामान्य पाकशाला भी होती है और साधारणत परिवार के सभी सदस्य उसी मे बना भोजन करते हैं।

2. सम्मिलित सम्पत्ति (Common Property)— सयुक्त परिवार का एक मुख्य लक्षण सम्पत्ति का सम्मिलित स्वामित्व है। पारिवारिक सम्पत्ति पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न होकर सम्पूर्ण परिवार का होता है। इस सम्पत्ति का उपभोग परिवार के सामान्य लाभ के लिए होता है न कि व्यक्ति विशेष के लिए। सभी सदस्यो की आय एक सामान्य कोष मे जमा हो जाती है और परिवार का मुखिया प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार उस सम्मिलित कोष में से खर्च करता है। प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है, परन्तु प्राप्त अपनी आवश्यकता के अनुसार करता है। सयुक्त परिवार मे पुरुष सदस्य चाहे वे कमाते हो या नहीं, स्त्रियाँ चाहे वे विवाहित हो या अविवाहित,विधवा तथा बच्चे सभी समान रूप से उपलब्ध सुख-सुविधाओ का उपभोग करते हैं।

3. सामान्य पूजा तथा धार्मिक कर्त्तव्य (Common Worship and Religious Duties)— सयुक्त परिवार का एक महत्वपूर्ण आधार सामान्य पूजा और धार्मिक दायित्व का निर्वाह है। सभी सदस्य सामान्य पितृ-पूजा के कारण एक-दूसरे से बधे रहते हैं। पितरो की पूजा घर में स्थान विशेष पर ही की जाती है। वह स्थान पवित्र माना जाता है और सभी सदस्य आध्यात्मिक रूप से उस स्थान से जुडे रहते हैं। परिवार के सभी सदस्य धार्मिक उत्सव सम्मिलित रूप से मनाते हैं, अनेक व्रत आदि करते हैं, धार्मिक अनुष्ठानो में भाग लेते हैं और श्राद्ध के अवसर पर तर्पण व पिण्ड-दान करते हैं। परिवार में समय-समय पर अनेक संस्कार-जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि सम्पन्न किए जाते हैं जिनमें सभी सदस्य सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं। सयुक्त परिवार का धार्मिक पक्ष सदस्यो को एक सूत्र मे बाँध रखता है, उनमे समूह-कल्याण की भावना को प्रोत्साहित करता है और सभी सदस्यो को एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने को प्रेरणा देता है।

सामान्य निवास-स्थान सामान्य रसोईघर, सामान्य सम्पत्ति, सामान्य पूजा एव धार्मिक -कर्त्तव्य संयुक्त-परिवार रूपी शरीर के भौतिक लक्षण हैं और पारस्परिक कर्त्तव्य-परायणता (Mutual Obligations) इसकी आत्मा है। कर्त्तव्य-परायणता सयुक्त परिवार का एक ऐसा आन्तरिक आवश्यक लक्षण है जो सदस्यों को एक सूत्र मे बाँधता है। इन लक्षणो के अलावा सयुक्त परिवार में कुछ विशेषताएँ और भी पाई जाती हैं जो निम्नलिखित हैं—

4. बड़ा आकार (Larger Size)— संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हैं जैसे-दादा, पिता, पुत्र, उनकी पत्नियाँ और अन्य अनेक नाते-रिश्तेदार। इन सब लोगों के एक साथ रहने से परिवार के आकार का बड़ा होना स्वाभाविक ही है। हिन्दू संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या काफी पाई जाती है।

5. सहयोगी व्यवस्था (Co-operative Organization)— संयुक्त परिवार सदस्यों के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। सहयोग के अभाव में संयुक्त परिवार का अधिक समय तक संयुक्त बना रहना सम्भव नहीं है। संयुक्त परिवार की प्रकृति समाजवादी ढंग की है अर्थात् इसमें प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करता, उत्पादन में योग देता और आवश्यकताओं के अनुसार प्राप्त करता है। संयुक्त परिवार में 'एक सब के लिए और सभी एक के लिए' नामक आदर्श की अभिव्यक्ति हुई है। संयुक्त परिवार एक उत्पादन इकाई के रूप में कार्य करता है। परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों में परस्पर सहयोग पाया जाता है।

6. कर्त्ता का सर्वोच्च स्थान (Highest Position of Karta)—परिवार का कोई बुजुर्ग सदस्य मुखिया के रूप में कार्य करता है जिसे हिन्दू संयुक्त परिवार में कर्त्ता कहा गया है। परिवार के सभी सदस्यों में कर्त्ता की स्थिति सर्वश्रेष्ठ होती है। उसे अन्य सदस्यों का आदर प्राप्त होता है और सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते तथा उसके अनुशासन में रहते हैं। परिवार के प्रत्येक मामले में महत्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं। वह सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करता है, अनुचित कार्य करने पर उन्हें बुरा-भला भी कहता है। परिवार से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसी की राय के अनुसार होते हैं। अन्य सभी क्षेत्रों में वह परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। परिवार की एकता बहुत कुछ मात्रा में कर्त्ता के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है।

7. सदस्यों में एक निश्चित स्तरण (A Definite Hierarchy)—संरचनात्मक दृष्टि से संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों के अधिकारों और स्थितियों में भिन्नता पाई जाती है जिनमें साधारणतः कोई परिवर्तन सम्भव नहीं होता। संयुक्त परिवार में सर्वोच्च स्थान कर्त्ता का और उसके पश्चात् दूसरा स्थान उसकी पत्नी का होता है। यह धार्मिक कार्यों का संचालन करती और परिवार की स्त्रियों को विविध प्रकार के कार्य करने की आज्ञा देती है। इस स्तरण में तीसरा स्थान कर्त्ता के भाइयों को दिया गया है जो उसे सहयोग प्रदान करते हैं। चौथा स्थान कर्त्ता के सबसे बड़े पुत्र को दिया है जिसका धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व होता है श्राद्ध के अवसर पर पिण्ड आदि अर्पित करने का उसी का दायित्व माना गया है। संयुक्त परिवार में पाँचवाँ, छठा और सातवाँ स्थान क्रमशः छोटे पुत्रों, पुत्रों की पत्नियों और पुत्रियों को प्रदान किया गया है। संयुक्त परिवार की संरचना में विधवाओं की स्थिति सबसे निम्न मानी गई है।

8. तुलनात्मक स्थायित्व (Comparative Permanence)—संयुक्त परिवार में अन्य प्रकार के परिवारों की तुलना में अधिक स्थायित्व पाया जाता है क्योंकि सभी सदस्य पारस्परिक कर्त्तव्यपरायणता के सूत्र में बँधे रहते हैं, एक-दूसरे से मिलकर सामूहिक रूप से कार्य करते रहते हैं। संयुक्त परिवार की सदस्य संख्या अन्य प्रकार के परिवारों की तुलना में अधिक होती है। किसी सदस्य के मरने, अपंग या वृद्ध हो जाने अथवा किसी की नौकरी छूट जाने पर ऐसे परिवार को

सरचना विघटित नही हाती। एसी किसी भी स्थिति का अन्य सभी सदस्य मिलकर मुकाबला करत हैं। एसा दा कारणो स सम्भव हाता है-प्रथम एस परिवार मे आर्थिक स्थिरता पाई जाती है। अनक कमान वाल हात हैं, जिनकी आय सामान्य काप म जमा हाती रहती है और उसी मे से सम्पूर्ण परिवार की आवश्यकता क अनुसार खर्च हाता रहता है। द्वितीय परिवार मे अनक पीढियों क सदस्यों के एक साथ रहन स सास्कृतिक निरन्तरता बनी रहती है। सास्कृतिक विशषताएँ पिता से पुत्र का और पुत्र स पौत्र का, पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित हाती रहती हैं। एसी दशा म यह कहा जा सकता है कि सयुक्त परिवार म तुलनात्मक दृष्टि स अधिक स्थायित्व पाया जाता है।

सयुक्त परिवार क पूर्व-वर्णित लक्षण तथा कुछ अन्य विशषताएँ इसक आदर्श प्रारूप (Ideal Type) का व्यक्त करत हैं। किसी परिवार के सयुक्त परिवार कहलान क लिए उपर्युक्त सभी बाता का हाना अनिवार्य नही है। परन्तु इतना अवश्य है कि सयुक्त परिवार का सयुक्त बनाए रखने क लिए उसके सदस्या म एकता और पारस्परिक कर्तव्यपरायणता कर्तव्य-पालन तथा त्याग की भावना हानी चाहिए।

कृषक समाजो मे परिवार (Family in Agricultural Societies)

सामान्यत सभी कृषक समाजा म परिवार क कुछ मौलिक लक्षण पाये जाते हैं। सारोकिन और जिमरमैन नामक समाजशास्त्रियो न अपनी पुस्तक 'ए सिस्टमैटिक कार्स बुक ऑफ रूरल सोशियोलॉजी' में इन लक्षणो पर प्रकाश डाला है। कृषक समाजा म परिवारा म आतरिक भद बहुत कम दिखलाई पडत हैं। सदस्यो म जीवन क प्रति विचार और दृष्टिकोणा म समानता पाई जाती है। सदस्यो क आपसी सम्बन्ध सुदृढ हात हैं। उनम आयु तथा लिंग क आधार पर कार्य का विभाजन हाता है। सभी सदस्य विभिन्न कार्यों म एक-दूसरे का सहयाग प्रदान करत हैं। एस परिवारो मे नगरीय परिवारों की तुलना मे अनुशासन अधिक पाया जाता है स्वच्छाचारिता का अभाव दिखलाई पडता है तथा सदस्यो में एक-दूसर पर निर्भरता पाई जाती है। आयु और सम्बन्धा क आधार पर प्राप्त स्थिति क अनुसार प्रत्यक सदस्य का व्यवहार करना पडता है। एस परिवार म सदस्य व्यक्तिगत दृष्टिकाण स न साचकर पारिवारिक दृष्टिकोण स साचत हैं। परिवार की प्रतिष्ठा अप्रतिष्ठा का व काफी ध्यान रखते हैं और एसे काम स बचन का प्रयत्न करत हैं जिसस परिवार की प्रतिष्ठा का ठस पहुँचती है। कृषि-प्रधान व्यवस्था वाल समाजो में परिवार क मुखिया अथवा पिता का परिवार क अन्य सदस्यो पर काफी अधिकार प्राप्त हात हैं। भारतीय सयुक्त परिवार मे भी पिता की आज्ञा-पालन का विशष महत्त्व रहा है। राम न पिता की आज्ञा-पालन हतु ही परिवार, राज्य और सब सुखो का छाड कर वन-गमन किया। इस आज्ञा पालन क कारण रामायण क नायक क रूप मे उनका चरित्र निखर उठा है। रामायण मे पितृ-सत्तात्मक सयुक्त परिवार का दृढता प्रदान करन वाल आज्ञा-पालन क इस गुण का विशष महत्त्व बताया गया है। सारोकिन और जिमरमैन का कथन है कि ग्रामीण समाजा म परिवार का इतना अधिक महत्त्व हाता है कि इन समाजा मे अन्य सस्थाएँ तथा सामाजिक सम्बन्ध भी पारिवारिक ढाँच क अनुरूप हात हैं। ग्रामीण समाजों मे इस लक्षण का पारिवारिकता की सज्ञा दी गई है और पारिवारिकता को ही इन समाजा क ढाँच का प्रमुख स्वभाव माना गया है। कृषक समाजो म पाई जान वाली परिवार की उपर्युक्त सभी विशषताएँ भारतीय परम्परागत सयुक्त परिवार म पाई जाती हैं, विशष रूप स ग्रामीण परिवारों मे।[1]

1 सारोकिन और जिमरमैन, उद्धृत 'भारतीय समाज' द्वारा डॉ इन्द्रदेव, पृ 84

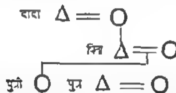
संयुक्त परिवार के प्रकार
(Forms of Joint Family)

भारत में मुख्यतः संयुक्त परिवार के निम्नलिखित दो प्रकार पाए जाते हैं -

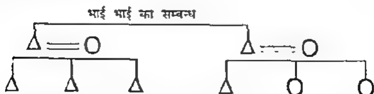
1. पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय परिवार (Patriarchal, Patrilineal and Patrilocal Family)

ऐसे संयुक्त परिवारों में पिता का प्रमुख स्थान होता है, वंश-परम्परा उसी के नाम पर ही चलती है। सम्पत्ति अधिकार पिता से पुत्रों को प्राप्त होता है और पत्नियाँ ऐसे परिवारों में आकर निवास करती हैं। पुरुष पक्ष के तीन-चार पीढ़ियों के सदस्य ऐसे परिवार में एक साथ रहते हैं। भारत में अधिकांश हिन्दुओं में इसी प्रकार के संयुक्त परिवार पाए जाते हैं। मालाबार में नम्बूद्री ब्राह्मणों के संयुक्त परिवार (इल्लम) और उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी क्षेत्रों के निवासी खस-राजपूतों के बहुपति प्रथा पर आधारित परिवार पितृ-सत्तात्मक संयुक्त परिवारों के ही उदाहरण हैं यद्यपि इनके परिवारों की संरचना और सिद्धान्त हिन्दू परिवारों से भिन्न है। डॉ. कैलाशनाथ शर्मा ने उपर्युक्त परिवारों के तीन प्रकार बताए हैं —

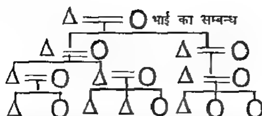
(1) संयुक्त परिवार का उदग्र (Vertical) स्वरूप-इस प्रकार के संयुक्त परिवार में एक ही उदग्र रेखा से सम्बन्धित कम से कम तीन पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ रहते हैं। डॉ. आई. पी. देसाई ने ऐसे परिवार को ही संयुक्त परिवार कहा है। ऐसे परिवार को निम्नलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है—



(2) संयुक्त परिवार का क्षैतिज (Horizontal) स्वरूप— इस प्रकार के परिवार में मुख्यतया क्षैतिज प्रकार का अर्थात् भाई का सम्बन्ध पाया जाता है। इसमें दो अथवा तीन भाइयों के एकाकी परिवार साथ-साथ रहते हैं। इस प्रकार के परिवार को निम्नांकित चित्र से समझा जा सकता है—



(3) संयुक्त परिवार का उदग्र एवं क्षैतिज (Vertical & Horizontal) स्वरूप— ऐसे परिवार में न केवल दादा, पिता और पुत्र के उदग्र सम्बन्ध हो, बल्कि साथ ही भाइयों के क्षैतिज सम्बन्ध भी पाए जाते हैं। ऐसे परिवार को निम्नांकित चित्र द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है।



2. मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय परिवार
(Matriarchal, Matrilineal and Matrilocal Family)

एस परिवारो मे साधारणत माता का प्रमुख स्थान हाता है। परिवार की सम्पत्ति पर भी उसी का अधिकार माना जाता है। उत्तराधिकार माता स पुत्रियो का अथवा भाई क पुत्रों को प्राप्त हाता है। एस परिवारा मे वंश परम्परा माता क नाम पर ही चलती है, अर्थात् वंश-नाम माता स पुत्रियो का प्राप्त हाता है। इस प्रकार के संयुक्त परिवारों में एक स्त्री, उसके भाई, उसकी बहिनें तथा परिवार की सभी स्त्रियो क बच्च हात हैं। केरल में एस परिवार को 'थारवाड' (तारवाद) क नाम स पुकारते हैं। एस परिवार नायरो और असम क खासी एव गारो लोगों मे पाये जाते हैं।

नायर परिवार—इस मलयालम म 'थारवाड' या तारवाद कहा जाता है। यह मातृसत्तात्मक परिवार का उत्तम उदाहरण है। तारवाद में एक स्त्री के कई पीढियों क वंशज रहते हैं। ऐसे परिवार मे एक स्त्री, उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ, उसकी पुत्रियो क पुत्र एव पुत्रियाँ तथा पुत्रियों की पुत्रियों के लडक एव लडकियाँ पाए जात हैं। लडको की सन्तान को इस तारवाद की सदस्यता प्राप्त न होकर उनकी माता क तारवाद की सदस्यता प्राप्त होती है। तारवाद की सम्पत्ति अविभाज्य मानी जाती है जिस पर सभी सदस्या का अधिकार हाता है। इस सम्पत्ति का प्रबन्धक कार्नवान कहलाता है जा परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष हाता है। परिवार की सम्पत्ति के विभाजन पर कोई जार नही द सकता यद्यपि एसी माँग रखी जा सकती है परन्तु किसी भी सदस्य क विभाजन क विरुद्ध हाने पर सम्पत्ति का विभाजन नही किया जा सकता। तारवाद की सम्पत्ति मे स सभी का भरण पाषण का अधिकार प्राप्त हाता है। कार्नवान सब सदस्यो की राय क बिना पारिवारिक सम्पत्ति का न तो बेच सकता हे और न ही गिरवी रख सकता है। परिवार मे कितना धन, किस प्रकार, कैसे खर्च किया जाएगा, यह कार्नवान पर ही निर्भर करता है, व्यवहार रूप मे वह काफी शक्तिशाली होता है। वर्तमान समय में तारवाद छाटी परिवार इकाई तावजो क रूप मे बदल रहे हैं। एक तावजी का गठन एक स्त्री, उसकी सन्तान और क्रमागत वंशजों स मिलकर हाता है। तावजी क सदस्यों का तारवाद के साथ वंशज सम्बन्ध ता बनता रहता है, परन्तु पैतृक-तारवाद की सम्पत्ति पर उनका अधिकार समाप्त हा जाता है।

हिन्दू संयुक्त परिवार की प्रकृति
(Nature of Hindu Joint Family)

हिन्दू परिवार मे गृहस्थ को प्रतिदिन शास्त्रों में वर्णित निर्देशों के अनुसार अपन कर्त्तव्यों का पालन करना होता है, प्रतिदिन पच महायज्ञ करने पडते हैं। इन यज्ञों द्वारा वह अनेक पापों का प्रायश्चित करता है, ऋषियो-मुनियो, देवताओं अतिथियो और प्राणी मात्र के प्रति अपने सामाजिक

और मानवीय दायित्वों को निभाता है। गृहस्थ इन यज्ञों द्वारा स्थायी आनन्द प्राप्त करता है और त्याग के महत्त्व से परिचित होता है। डॉ. प्रभु का कथन है कि घर मात्र जीवित सदस्यों के रहने का स्थान ही नहीं है, बल्कि मृत पूर्वजों-पिता, पितामह और जन्म लेने वाले पुत्र एवं पौत्रों के रहने का भी स्थान है। ऐसे परिवार में गृहस्थ जीवन की सभी क्रियाओं को कर्तव्य के रूप में सम्पन्न करता हुआ धर्म अर्जित करता है। धर्म को अपने दैनिक जीवन में वह अधिक महत्त्व देता है। वह जानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला जन्मता, अकेला ही मरता, अच्छे कामों का फल भी अकेला ही प्राप्त करता और पापों का दण्ड भी अकेला ही भुगतता है। मृत शरीर को भूमि पर लकड़ी के लट्ठे अथवा मिट्टी के ढेले के समान छोड़कर रिश्तेदार उसके पास से चले जाते हैं, केवल उसका धर्म ही उसके साथ रहता है। इसलिए उस धर्म के संग्रहण हेतु धीरे-धीरे निरन्तर प्रयास करना चाहिए, क्योंकि धर्म की सहायता से ही वह अन्धकार (तम) के पार जाने में समर्थ हो सकेगा जिसको अन्यथा पार करना कठिन है।[1]

स्पष्ट है कि हिन्दू परिवार और उसकी परम्पराओं का आधार आध्यात्मिक निरन्तरता की भावना है। ऐसे परिवार में पारिवारिक सम्पत्ति को व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं मानकर सारे घर की सम्पत्ति समझा जाता है और घर वर्तमान, भूतकालीन और भविष्य में जन्म लेने वाले सभी सदस्यों की निरन्तरता से बनता है। परिवार को पवित्र परम्पराओं के स्थान के रूप में देखा जाता है। घर में गृहस्थ को अपने धार्मिक दायित्वों को निभाना और विविध कर्मों को करना होता है। संसार में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित करते हुए भी गृहस्थ अपने में निर्लिप्त भाव को जाग्रत करता है, स्वार्थ रहित होकर निष्काम भाव से कर्म करता है। वह पूर्णतः शान्त चित्त रहता है। वह जानता है कि वह स्वयं घर का स्वामी नहीं है, वह तो परिवार की निरन्तरता की प्रतीक पवित्र अग्नि की देखरेख में अपने दायित्वों का निर्वाह करने वाला एक सदस्य मात्र है। वह संसार को क्षणभंगुर (अस्थायी) समझता है। वह जानता है कि संसार उसके लिए अस्थायी कर्मभूमि है, जहाँ उसे कर्म करते हुए धर्म का अर्जन और मोक्ष प्राप्त करना है। जहाँ एक-एक गृहस्थ इन विचारों और आदर्शों से प्रेरित होकर अपना गृहस्थ जीवन बिताता है, वहाँ पारिवारिक जीवन कितना सुखद और वातावरण कितना आनन्दमय होगा, इसकी वर्तमान समय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। आज आदर्श और यथार्थ में काफी अन्तर आ चुका है परन्तु फिर भी कहीं-कहीं ऐसे आदर्श संयुक्त परिवार मिल अवश्य जाते हैं।

ऐसे परिवार में धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति और अर्थ के उपार्जन से सम्बन्धित क्रियाएँ भी की जाती हैं। सदस्यों के जीवन को संस्कारित करने और उन्हें पारस्परिक दायित्वों के पालन की प्रेरणा प्रदान करने की दृष्टि से हिन्दू परिवार में समय-समय पर अनेक संस्कार भी सम्पन्न किए जाते हैं। विभिन्न संस्कारों द्वारा परिवार व्यक्ति का समाजीकरण करता, उसे अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग बनाता और जीवन के विभिन्न स्तरों पर दायित्वों से परिचित कराता है।

हिन्दू परिवार के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इसमें पति-पत्नी और केवल उसके बच्चे ही नहीं आते, बल्कि कई पीढ़ियों के सदस्य पिता, दादा, पुत्र-पौत्र, चाचा-ताऊ और विवाहित स्त्रियाँ, सन्तानें आदि आते हैं।

1 Manu iv 239-242 Quoted by P.H. Prabhu op cit p.215

संयुक्त परिवार के कार्य (लाभ)
(Functions or Merits of Joint Family)

भारतीय संयुक्त परिवार व्यवस्था समय-विशेष की देन है। कृषि-प्रधान व्यवस्था वाले समाजों में संयुक्त परिवार की विशेष उपयोगिता रही है। ऐसे समाजों में संयुक्त परिवार के अनेक लाभ अथवा कार्य रहे हैं जिनकी यहाँ विवेचना की जा रही है —

1. बच्चों का समुचित पालन-पोषण— संयुक्त परिवार बच्चों के पालन-पोषण के लिए उत्तम स्थान है। ऐसे परिवार में वृद्ध सदस्य भी होते हैं जैसे दादा-दादी आदि। वृद्ध सदस्य कठोर परिश्रम तो नहीं कर पाते परन्तु सुगमता से बालकों की देखभाल कर लेते हैं। आज एकाकी परिवारों में बालकों के उचित पालन-पोषण की समस्या पाई जाती है क्योंकि पति कार्य हेतु घर से बाहर चला जाता है पत्नी भी कहीं नौकरी करती है, वह किसी न किसी काम में व्यस्त रहती है। ऐसे परिवारों में नौकरों की देखरेख में बालक पलते हैं।

2. प्रशिक्षण एवं समाजीकरण का उत्तम स्थल—संयुक्त परिवार में विभिन्न सदस्यों के सम्पर्क में रहते हुए बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त होती है बड़े-बूढ़ों के अनुभवों का उन्हें लाभ मिलता है। समय-समय पर उनको मार्ग-दर्शन होता रहता है। ये परिवार बालकों के समाजीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐसे परिवार में बालकों में सद्गुणों का विकास होता है। यहाँ वे प्रेम सहयोग त्याग, सहनशीलता, परोपकार, सेवा आदि का पाठ सीखते हैं। ऐसे परिवारों में सदस्यों में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति नहीं पनप पाती है। यहाँ विभिन्न सदस्य एक-दूसरे के हितों को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं। उनमें सामूहिकता और समष्टिवाद की भावना का विकास होता है। यहाँ वे स्वार्थरहित होकर कार्य करना सीखते हैं। बालक में इन सब गुणों का विकास पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

3. धन का उचित उपयोग—संयुक्त परिवार के सामान्य कोष में वृद्धि करने की दृष्टि से प्रत्येक सदस्य द्वारा प्रयत्न किया जाता है। सभी सदस्यों की आवश्यकताओं का ध्यान में रखते हुए पारिवारिक धन का सर्वोत्तम उपयोग किया जाता है। उपभोग की दृष्टि से भी खर्चे में बचत होती है। एक साथ वस्तुएँ खरीदी जाती हैं, सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं, सुविधाओं का सामान्य प्रबन्ध किया जाता है और कर्त्ता के नियंत्रण के कारण अनावश्यक खर्चों से बचा जाता है। संयुक्त परिवार में कम खर्च में अधिक लोगों का भरण-पोषण हो जाता है। संयुक्त परिवार समाजवादी व्यवस्था के अधिक निकट है। यहाँ प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाता है और आवश्यकता के अनुसार उस पर खर्च किया जाता है।

4. सम्पत्ति के विभाजन से बचाव—संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण सम्पत्ति के विभाजन से बचा जा सका है। सभी सदस्यों के मिलकर एक साथ रहने से सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता। संयुक्त परिवारों ने भारतीय ग्रामों में खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होने और दूर-दूर छिटकने को काफी सीमा तक रोका है। कृषि के क्षेत्र में इस प्रणाली का लाभकारी गुण रहा है जिसने उत्पादन को बढ़ाने में योग दिया है। इस प्रकार संयुक्त परिवार आर्थिक जीवन में स्थायित्व लाने और व्यक्तिवादिता पर अंकुश रखने में काफी सहायक रहे हैं।

5. श्रम विभाजन—संयुक्त परिवार में श्रम-विभाजन के सब लाभ प्राप्त हो जाते हैं। सब सदस्यों में उनकी योग्यता का ध्यान में रखकर ही कार्य बाँटा जाता है। वृद्ध और कमजोर, अपाहिज और शारीरिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों को बिना उन पर अनावश्यक भार डाले, उनकी सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य दिये जाते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार में पुरुष धनोपार्जन का कार्य करते हैं, स्त्रियाँ बालकों का पालन-पोषण तथा घर की देख-भाल करती हैं और आवश्यकतानुसार आर्थिक क्रियाओं में भी योग देती हैं। श्रम के उचित विभाजन के परिणामस्वरूप सबकी कार्य-कुशलता बनी रहती है और परिवार को श्रम विभाजन का पूर्ण लाभ मिल पाता है।

6. आपत्तियों का पारिवारिक बीमा—संयुक्त परिवार अपने सदस्यों के लिए बीमा कम्पनी के रूप में कार्य करता है। यदि किसी की नौकरी छूट जाती है, कोई दुर्घटना-ग्रस्त, बीमारी और शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से कार्य करने के अयोग्य हो जाता है तो संयुक्त परिवार उन सबकी देखभाल तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करता है, उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करता है। संयुक्त परिवार व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है, चिंताओं से मुक्त रखता है और व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में योग देता है। अनाथ बच्चों, विधवाओं और वृद्धों के लिए संयुक्त परिवार उत्तम आश्रय-स्थल है। यहाँ इन सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो जाती है और सम्मान भी बना रहता है।

7. अनुशासन एवं नियंत्रण—संयुक्त परिवार में सभी सदस्य मुखिया के आदेशानुसार कार्य करते हैं। इस कारण इस प्रकार के परिवारों में अनुशासन एवं नियंत्रण बना रहता है। एकाकी परिवारों में सामान्यतः बड़े-बूढ़ों के नहीं होने से व्यक्ति सापेक्ष रूप से स्वतंत्रतापूर्वक आचरण करता है, उस पर अनौपचारिक नियंत्रण के साधनों का प्रभाव बहुत कम होता है। संयुक्त परिवार में प्रत्येक को मुखिया के आदेशानुसार ही कार्य करना और नियंत्रण में रहना पड़ता है। उन्हें ऐसे कार्यों से बचना पड़ता है जो पारिवारिक प्रतिष्ठा को गिराने में योग देते हैं। संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों का एक-दूसरे पर अंकुश बना रहता है।

8. संस्कृति की रक्षा—भारतीय संस्कृति की निरन्तरता और स्थायित्व को बनाए रखने में संयुक्त परिवार का अपूर्व योग रहा है। ये परिवार अपने सदस्यों को प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों और सामाजिक मान्यताओं के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करते रहे हैं। विविध सामाजिक और धार्मिक उत्सवों के माध्यम से संयुक्त परिवार, व्यवहार के सामान्य प्रतिमानों को बनाए रखते हैं। संयुक्त परिवार इन सबको पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी सन्तानों को हस्तान्तरित करते रहे हैं।

9. राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन तथा देश सेवा में योग—संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को सामुदायिक जीवन की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करते हैं। आज व्यक्तिवादिता के बहुत बढ़ जाने के उपरान्त भी संयुक्त परिवार व्यक्तियों में त्याग, परोपकार, सहयोग और सामूहिकता की भावनाओं को भर रहे हैं और राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित कर रहे हैं। संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने से, एक-दो सदस्य अपना समय सुगमता से सार्वजनिक और देशहित के कार्यों में लगा सकते हैं। एकाकी परिवार के किसी सदस्य के लिए सार्वजनिक कार्यों के लिए समय निकालना बड़ा कठिन होता है। साथ ही देश सेवा के लिए जिन गुणों की आवश्यकता पड़ती है, उनका विकास साधारणतः संयुक्त परिवार में ही होता है।

इन सब कार्यों क अतिरिक्त सयुक्त परिवार अपन सदस्यों का स्वस्थ मनोरजन करता है। बहुत स बालकों की तुतली-तुतली प्यार भरी बाते बडी प्रिय लगती हैं। भाई-बहिनों का प्रेम, माता का वात्सल्य और अन्य सदस्यों का हास-परिहास सभी सदस्यों के लिए आनन्ददायक होता है। सयुक्त परिवार मे रहकर सदस्य जा सुरक्षा महसूस करत हैं वह उनक मानसिक सन्तुलन का बनाये रखन में विशेष लाभकारी सिद्ध हाती है। सयुक्त परिवार न समष्टिवादी समाज क निर्माण में याग दिया है।

संयुक्त परिवार के दोष
(Demerits of Joint Family)

समय की माँग क अनुसार सस्थाओं का विकास हाता है और परिस्थितियो क बदलन पर उनका अस्तित्व भी खतर मे पड जाता है। उनम अनक दाष उत्पन्न हा जात हैं तथा विघटन के लक्षण दिखलाई पडन लगत हैं। यही बात भारतीय सयुक्त परिवार क सम्बन्ध मे भी चरितार्थ होती है। आज की बदली हुई परिस्थितियो म सयुक्त परिवार व्यवस्था में अनक दाष स्पष्ट दिखाई पडने लग हैं जा निम्नलिखित हैं—

1. कुशलता मे बाधक—सयुक्त परिवार म व्यक्ति की सब प्रकार की सुख-सुविधाओं की पूर्ति हा जाती है चाह वह कमाता हा अथवा नहीं। आर्थिक दृष्टि स काई कार्य नही करने पर भी समान रूप स सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति एक आर ता कमान वालो मे असन्तोष पैदा करती है और दूसरी आर रहन-सहन क स्तर का गिराती है जिसका प्रभाव सदस्यो की कार्य-कुशलता पर पडता है। न कमान वालों का भार भी कमान वालों पर आ पडन क कारण कुशलता मे कमी आती है। कमान वाला का अपन परिश्रम का उचित पुरस्कार नही मिल पाता और उनक द्वारा कमाया हुआ धन आलसी एव अकर्मण्य व्यक्तियो पर खर्च किया जाता है। आज के इस भौतिकवादी युग मे अपन कठोर परिश्रम का लाभ व्यक्ति स्वय ही प्राप्त करना चाहता है। सयुक्त परिवार में व्यक्ति का कठिन परिश्रम करन की प्ररणा नहीं मिल पाती।

2. गतिशीलता मे बाधक—सयुक्त परिवार का स्नह-युक्त वातावरण व्यक्तियो का परिवार में ही बने रहन और किसी प्रकार का दायित्व अथवा जोखिम उठान की प्ररणा प्रदान नही करता। सयुक्त परिवार का व्यक्ति पर इतना प्रभाव है कि वह अपन ही रक्त सम्बन्धियों के बीच बना रहना चाहता है, चाहे उस स्थान विशेष पर उस राजगार की सुविधा उपलब्ध न भी हो। किसी अन्य स्थान पर राजगार क मिलने पर भी वह अपन घर का माह छाडकर साधारणत. वहाँ जाने को उत्सुक नहीं रहता। परिणामस्वरूप श्रम की गतिशीलता म बाधा पहुँचती है जा आर्थिक विकास की दृष्टि से हानिकारक है।

3. व्यक्तित्व के विकास मे बाधक— सयुक्त परिवार में होनहार बालको का अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर नही मिल पाता, क्योकि वहाँ सबके साथ समानता बरती जाती है। ऐसी दशा में योग्य और प्रतिभाशाली बालकों का विशेष सुविधाये नही मिल पाती हैं। ऐसे परिवार मे सदस्यों पर बडे-बूढो का कठोर नियत्रण पाया जाता है, निश्चित नियमो क अन्तर्गत ही सदस्यो को व्यवहार करना पडता है। ऐसा व्यवहार यन्त्रवत और रूढ़िवादी बन जाता है। ऐसे परिवार के सदस्यो मे आत्म-विश्वास की कमी और दूसरो पर निर्भरता अधिक पाई जाती है, उनमे चेतना का

अभाव रहता है और निर्णय लेने की शक्ति का उचित मात्रा में विकास नहीं हो पाता है। इस प्रकार के व्यक्तियों का निर्माण चेतन समाज और प्रगतिशील राष्ट्र के विकास में बाधक है।

4. द्वेष और कलह— सयुक्त परिवार में विभिन्न सदस्यों के बीच द्वेष और कलह की स्थिति पाई जाती है जो अनेक पारिवारिक झगडों के लिए उत्तरदायी होती है। बच्चों, आय, व्यय अथवा कर्त्ता के पक्षपातपूर्ण व्यवहार को लेकर सदस्यों में मनमुटाव होता रहता है जो झगडों के रूप में प्रकट होता है। मुखिया और युवा सदस्यों के आदर्शों और स्वभाव सम्बन्धी विशेषताओं में अन्तर होने के कारण भी समय-समय पर झगडे होते रहते हैं। छोटी छोटी बातों पर सास-बहू, देवरानी-जेठानी तथा ननद-भौजाई में कलह होती रहती है। ऐसे कलह-पूर्ण वातावरण में सदस्यों में तनाव बना रहता है, जो शान्त तथा सुखी पारिवारिक जीवन को असम्भव बना देता है। ऐसे परिवार बालक के स्वस्थ विकास में बाधक सिद्ध होते हैं, वे उनमें सद्गुणों का विकास करने के बजाय द्वेष और कलह का बीजारोपण कर देते हैं।

5. स्त्रियों की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी— सयुक्त परिवार स्त्रियों की दयनीय दशा के लिए उत्तरदायी हैं। सयुक्त परिवार में सर्वाधिक शोषण स्त्रियों का ही हुआ है। पारिवारिक मामलों में प्रभुता-सम्पन्न पुरुषों और मुखिया की स्त्री को ही सब प्रकार के अधिकार प्राप्त रहे हैं। जिन स्त्रियों ने सयुक्त परिवार में वर-वधू के रूप में परिश्रम साध्य कार्य किए हैं, सास और ननद का दुर्व्यवहार सहन किया है, उनके ताने सुने हैं, उनकी डाट-फटकार के बावजूद प्रात काल से रात्रि में सोने के पूर्व तक उनकी सेवा की है, वे स्वयं सास के रूप में अपनी बहुओं के साथ इसी प्रकार के व्यवहार को दोहराती हैं। नव-वधुओं को हर समय बडे-बूढों के कठोर नियन्त्रण में रहना तथा यन्त्रवत् व्यवहार करना पडता है। ऐसे परिवार में वे स्वतन्त्र वातावरण में सास नहीं ले पाती हैं। सयुक्त परिवार में स्त्रियों की दुर्दशा ने शिक्षित महिलाओं को इस व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाने को बाध्य किया है। साधारणत नव-वधुएँ ऐसे सयुक्त परिवारों में रहने के बजाय एकाकी परिवारों में स्वतन्त्रतापूर्वक रहना पसन्द करती हैं।

6. गोपनीय स्थान का अभाव— सयुक्त परिवार में सदस्यों की सख्या बढने और उसी अनुपात में रहने के स्थान में वृद्धि न होने के कारण गोपनीय स्थान का अभाव पाया जाता है। नव-विवाहित दम्पत्ति रात्रि में ही कुछ समय तक एक-दूसरे के साथ रह सकते हैं। दिन में अन्य सदस्यों की उपस्थिति में पत्नी से बातचीत करना अनुचित समझा जाता है। ऐसी दशा में पति-पत्नी में सच्चे दाम्पत्य प्रेम और पारस्परिक सद्भावना का विकास होना सम्भव नहीं है।

7. सामाजिक समस्याओं को प्रोत्साहन— यदि सयुक्त परिवार को रूढिवादिता का केन्द्र कहा जाए तो किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं होगी। सयुक्त परिवारों ने बाल विवाहों को प्रोत्साहित किया है, विधवा विवाह निषेध में योग दिया है, दहेज प्रथा, पर्दा और जाति अन्तर्विवाह को बनाए रखने में सहायता पहुँचाई है, बडे-बूढों ने परम्पराओं की रक्षा के नाम पर अनेक कुरीतियों को बनाए रखने में विशेष भूमिका निभायी है। सयुक्त परिवार परिवर्तन विरोधी और अनेक सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

8. शुष्क एवं नीरस वातावरण— सयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या के अधिक होने

से उनक आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ न हाकर औपचारिक रहते हैं। सभी सदस्यों मे समान रूप स एक दूसर क प्रति आत्मीयता नहीं पाई जाती जिसक अभाव में व्यक्ति का मानसिक सुरक्षा नहीं मिल पाती। यही कारण है कि आजकल अनक सयुक्त परिवारों में शुष्क एव नीरस वातावरण बना रहता है। कहां-कहो ता मनमुटाव और कलह की स्थिति भी पाई जाती है।

9. **मुखिया की स्वेच्छाचारिता**— सयुक्त परिवार क सभी सदस्य मुखिया क आदेशानुसार कार्य करत हैं। उसकी इच्छा के अनुसार ही परिवार में सब कार्य चलत हैं। पारिवारिक मामलों में मुखिया क अतिरिक्त अन्य सदस्यों का काई स्वतत्रता नही हाती। जैसा वह चाहता है वैसे ही अन्य सदस्यों का करना पडता है। अपनी स्वय की इच्छा स व कुछ भी नहीं कर सकते। अपन परिवार का कर्त्ता धर्त्ता समझकर मुखिया कई बार अपन अधिकारों का दुरुपयाग भी करता है। नवीन विचारों स आत-प्रात युवा सदस्य मुखिया की इस स्वच्छाचारिता का अब सहन करने को तैयार नही हैं। उनमें आज सयुक्त परिवार से पृथक् एकाकी परिवार म रहन की इच्छा बलवती होती जा रही है।

आज भारत कृषि स्तर स औद्यागिक स्तर की आर बढता जा रहा है। सयुक्त परिवार कृषि-प्रधान व्यवस्था वाल समाजों क लिए श्रष्ठ सिद्ध हुए हैं, किन्तु आज क औद्यागिक समाजों म व नवीन युग की माँग का पूरा नही कर पा रह हैं।

संयुक्त परिवार को परिवर्तित (विघटित) करने वाले कारक
(Factors Changing Joint Family)

वर्तमान समय में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। प्राय आज भारत मे सयुक्त परिवार विघटित हा रह हैं। अग्रजों क भारत मे आगमन क पश्चात् औद्यागीकरण क परिणामस्वरूप नवीन सामाजिक-आर्थिक शक्तियों का भारतीय समाज पर प्रभाव पडन लगा। कृषि-प्रधान सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था, औद्यागिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में बदलन लगी। इस नवीन आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव सामाजिक सस्थाओं पर पडने लगा और सयुक्त परिवार परिवर्तित होन लगे। आज सयुक्त परिवार क आकार मे ह्रास हाता जा रहा है। सदस्यों में धर्म के प्रति उदासीनता बढती जा रही है। कर्त्ता की प्रभुत्ता और स्वच्छाचारित्ता में कमी आती जा रही है। युवा सदस्यों की स्थिति मे परिवर्तन आ रहा है और उनक अधिकारों में वृद्धि हा रही है। वर्तमान में सदस्यो की स्थिति का निर्धारण उनकी याग्यता एव उपलब्धियों के आधार पर हाने लगा है।

संयुक्त परिवार को परिवर्तित करने में अनेक कारको का याग रहा है। जी.एस.भट्ट न लिखा है कि जिन परिवर्तनकारी शक्तियों के कारण सयुक्त परिवार की सरचना में रूपान्तरण हुआ है, उन्हें तीन श्रेणियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है— प्रथम श्रणी क अन्तर्गत व शक्तियाँ आती हैं जो औद्योगीकरण तथा पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था स उत्पन्न हुई हैं, दूसरी श्रेणी क अन्तर्गत वे भावनात्मक शक्तियाँ आती हैं जो पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था के सास्कृतिक आदर्शों से उत्पन्न हुई हैं और जिन्हें भारत में परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे पनपने का अवसर मिला है, तीसरी श्रेणी में उन शक्तियों की गणना है जिन्हें नई विधि प्रणाली ने जन्म दिया।[1] बाटोमोर की मान्यता

1 जी एस भट्ट : भारत में समाजशास्त्र प्रजाति और सस्कृति, पृ 772

है कि सयुक्त परिवारो का विघटन कवल औद्योगीकरण स सम्बन्धित विभिन्न दशाओं का ही परिणाम नही है, बल्कि इसका प्रमुख कारण यह है कि सयुक्तपरिवार आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल सिद्ध हो चुके हैं।[1] डॉ कापडिया का कथन है कि नवीन न्याय व्यवस्था, शिक्षा-प्रसार एव परिवर्तित मनोवृत्तियो न सयुक्त परिवारों को विघटित करन मे विशेष भूमिका निभायी है। यद्यपि सैकडों वर्षों तक सयुक्त परिवार भारतीय समाज में महत्वपूर्ण कार्य और व्यक्ति का सब प्रकार स सुरक्षा प्रदान करता रहा है तथापि आज की बदलती हुई परिस्थितियों में इसमे अनक परिवर्तन आ रह है। वर्तमान समय मे सयुक्त परिवार की सरचना में पारिवारिक दायित्वो, महत्त्वपूर्ण निर्णयों एव सदस्यो क आपसी सम्बन्धो और बच्चो क समाजीकरण स सम्बन्धित अनक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रह हैं। आधुनिक शिक्षा न स्त्रियो का अपन अधिकारो क प्रति जागरुक बनाया है। व शिक्षा प्राप्त कर नौकरी करन लगी हैं उनकी प्रस्थिति और भूमिका मे अन्तर आया है। अनेक कारकों न नाभिक परिवारो (Nuclear Families) की स्थापना में भाग दिया है। इन सब परिवर्तनों न नवीन मूल्यों और मनोवृत्तियों का जन्म दिया है जो व्यवहार की परम्परागत सहिता का समर्थन प्रदान करत हैं। सयुक्त परिवार का परिवर्तित करन वाल महत्त्वपूर्ण कारक निम्नलिखित हैं—

1. औद्योगीकरण (Industrialization)

सयुक्त परिवार उत्पादन और उपभोग, दोनो क ही केन्द्र रह हैं। न कवल परिवार के सभी सदस्य एक साथ खत पर सम्मिलित रूप से खती करत थे बल्कि गृह-उद्योगों में भी एक साथ मिलकर ही काम करत थ। उस समय सयुक्त परिवार देश की आर्थिक परिस्थितियों क अनुरूप थे, परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और औद्योगीकरण के फलस्वरूप बडे-बडे कारखानों की स्थापना हुई, जहाँ मशीनो की सहायता से कार्य होने लगा। भूमि पर जनसख्या का दबाव बढन, कुटीर उद्योगो क नष्ट होन तथा नए-नए व्यवसायों के पनपन स लोग ग्रामों स नगरों की ओर बढन लग। वे नगर में अकेले अथवा अपनी पत्नी एव बच्चो क साथ रहन लगे। नगरीय क्षेत्रों में मकानो क अभाव क कारण सयुक्त परिवार के सभी सदस्यों का वहाँ ल जाना सम्भव नही था।

औद्योगीकरण क फलस्वरूप स्त्रियों को भी आर्थिक क्षेत्र में नौकरी करन की सुविधा प्राप्त हुई। उनकी प्रस्थिति और भूमिका में परिवर्तन हुआ, उनमे आत्मनिर्भरता बढी और व अपने अधिकारों क प्रति जागरुक होने लगी, परिणाम यह हुआ कि सयुक्त परिवार के प्रति व अपने विद्रोह का व्यक्त करन लगी, *इस व्यवस्था क विरुद्ध आवाज उठाने लगी और एकाकी परिवारो की स्थापना* में सक्रिय भाग दन लगी। औद्योगीकरण न नगद मजदूरी प्रणाली को लागू करके, सयुक्त परिवार क सदस्यों का अपन श्रम क परिणाम का नकद क रूप में आँकने का मौका दिया। सयुक्त परिवार का वह सदस्य जो अधिक कमान लगा, इस बात से असन्तुष्ट रहन लगा कि उसक द्वारा कमाया हुआ रुपया, परिवार के सभी सदस्यों पर चाहे कोई कमाता हो या चाहे कोई नही कमाता हो, चाहे कोई कम कमाता हो या अधिक, समान रूप स खर्च किया जाय। परिणाम यह हुआ कि सदस्यों में व्यक्तिवादी भावना पनपन लगी और वे अपन कमाये हुए धन को अपन स्त्री-बच्चों पर ही खर्च करन की इच्छा रखन लगे। परिवार के अन्य सदस्यों पर अपने कमाये हुए धन को खर्च

1 T B Bottomore Sociology A Guide to Problems and Literature, p 177

करने के बजाय वे इसे जोड़ना अधिक उचित समझने लगे क्योंकि औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत धन का विशेष महत्त्व पाया जाता है। धन के आधार पर व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इस सारी परिस्थिति ने व्यक्ति को संयुक्त परिवार से अलग रहकर जीविकोपार्जन करने और एकाकी परिवार की स्थापना के लिए अवसर एवं प्रेरणा प्रदान की। डॉ. इन्द्रदेव ने संयुक्त परिवार पर औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की माँग गतिशीलता और स्पर्धा है। संयुक्त परिवार कम से कम अपने परम्परागत रूप में, इनकी पूर्ति में बाधक है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं कि यह व्यवस्था जो इतने समय तक अपने अस्तित्व को बनाए रख सकी और समाज की अन्य संस्थाओं का एक प्रकार से शासित करती रही, आज अपनी जड़ों से हिलती दिखाई देती है।[1] आज जब व्यक्तिगत उपलब्धि का महत्त्व काफी बढ़ गया है, व्यक्तिगत व्यवसाय, नौकरी आदि से व्यक्तिगत आय होने लगी है, संयुक्त श्रम एवं स्वामित्व का महत्त्व कम हो गया है, नौकरी अथवा व्यवसाय के लिए सदस्यों का अलग-अलग नगरों में जाना पड़ता है, तब ऐसी दशा में उनके अलग-अलग परिवारों का बन जाना स्वाभाविक है।

2. नगरीकरण (Urbanization)

पश्चिमी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण और यातायात के साधनों के विकास ने नगरीकरण की प्रक्रिया को गति दी है। एक ओर नए नगरों का विकास हुआ है तथा दूसरी ओर छोटे नगर बड़े नगरों में व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग धन्धों का विकास हुआ है, नौकरियों के अवसर बढ़े हैं, ग्रामों से लाखों लोग नौकरी हेतु नगरों में पहुँचे हैं, जहाँ वे नाभिक परिवारों में रहने लगे हैं। नगर में विभिन्न विचारधाराएँ, आदर्श एवं सामाजिक मूल्य पाए जाते हैं। आधुनिक शिक्षा प्राप्त एवं नगरीय सभ्यता में पले युवक-युवतियाँ जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते हैं। इनमें व्यक्तिवादिता अधिक पाई जाती है। ये लोग नवीनता प्रिय होते हैं। इनका झुकाव आधुनिकता की ओर होता है जबकि माता-पिता परम्पराओं से चिपके रहना चाहते हैं। नगरीय क्षेत्रों में माता-पिता अपने पुत्रों एवं बहुओं से यह आशा करते हैं कि वे परिवार की मान्यताओं, रीति-रिवाजों तथा रूढ़ियों के अनुसार व्यवहार करें, परन्तु युवा पुत्र एवं बहुएँ अपनी पसन्द के अनुसार रहना और व्यवहार करना चाहते हैं। ऐसी दशा में माता-पिता तथा परिवार के अन्य युवा सदस्यों में विचारों, आदर्शों एवं सामाजिक मूल्यों सम्बन्धी भिन्नता के कारण तनाव पाया जाता है। घर में सास चाहती है कि उसकी बहू पर्दा करे, जबकि बहू अपने पति के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक घूमना चाहती है। ऐसी स्थिति में एक ओर माता-पिता पुत्र से कुछ अपेक्षाएँ रखते हैं और दूसरी ओर पत्नी और बच्चे कुछ अन्य अपेक्षाएँ रखते हैं, उनकी अपेक्षाओं में विरोध पाया जाता है और पुत्र अपने आपको द्वन्द्वात्मक स्थिति में पाता है, जिसका उसके मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यह सारी स्थिति संयुक्त परिवार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सहायक है, नाभिक परिवार के निर्माण में प्रेरक है। नगरीय क्षेत्रों में व्यक्तिगत उपलब्धि का विशेष महत्त्व पाया जाता है। यहाँ व्यक्ति आगे बढ़ना चाहता है, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करना चाहता है, परन्तु संयुक्त परिवार में व्यक्ति को ऐसा करने के लिए उचित अवसर एवं प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। नगरीय पर्यावरण ने संयुक्त परिवार को परिवर्तित करने में निश्चित रूप से योग दिया है।

---

1. डॉ. इन्द्रदेव, पूर्व उद्धृत, पृ 90

3. पाश्चात्य संस्कृति एवं शिक्षा का प्रभाव (Impact of Western Culture and Education)

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात भारतवासी अंग्रेजों के सम्पर्क में आये। उन्होंने अनेक कारणों से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ किया। उनके विचारों, मनोवृत्तियों और सामाजिक मूल्यों पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से यूरोपीय सभ्यता के अनेक तत्त्व भारतीय समाज में समाहित होने लगे और परिवार सम्बन्धी मान्यतायें बदलने लगीं। फलस्वरूप भारतीय संयुक्त परिवार परिवर्तित होने लगे। स्त्री-पुरुष की समानता को यहाँ भी महत्व दिया जाने लगा, सॉंवैधानिक सुधारों के लागू होने पर भारतीय स्त्रियों को मताधिकार का राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो गया। इस काल में अनेक नारी-सुलभ पेशे-नर्सिंग, डाक्टरी, शिक्षण कार्य, स्टैनोटाईपिंग तथा क्लर्की आदि अस्तित्व में आए। इन पेशों से स्त्रियों को आर्थिक स्वतंत्रता मिली। सन्तति निग्रह के उपकरणों ने भारतीय नारी को मातृत्व के निरन्तर भार से मुक्त किया। अब वह घर के बाहर विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने लगी। पश्चिम की उदारवादी विचारधारा और प्रकृतिवादी दर्शन ने स्त्री-पुरुष की समानता की धारणा को विकसित और स्वतंत्र, स्वाभाविक एवं वैयक्तिक प्रेम की धारणा को प्रोत्साहित किया। यौन-सन्तुष्टि का सहज आवश्यकता बतलाया गया और विवाह को स्वाभाविक प्रेम पर आधारित एक समझौता माना गया। परिणाम यह हुआ की प्रेम-विवाह और सिविल मैरिज की धारणा विकसित हुई। ये वैचारिक परिवर्तन जितनी तेजी से हुए उतनी तेजी से परम्परागत सामाजिक मान्यताएँ नहीं बदल पाईं। ऐसी परिस्थिति में रूमानी विचारधारा का अंग्रेजी साहित्य पर प्रभाव पड़ा। यह विचारधारा सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह और अतृप्त अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। इसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा। यहाँ भी कविता, उपन्यासों, लेखों आदि में वैयक्तिकता, स्वाभाविक प्रेम एवं नारी-स्वातन्त्र्य का महत्व दिया गया। परिवार और जाति के बन्धनों से व्यक्ति को मुक्त रखने का प्रयत्न किया गया। इन वैचारिक परिवर्तनों का स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है, जिसने संयुक्त परिवार को परिवर्तित करने में योग दिया है। ये नवीन विचार संयुक्त परिवार के आदर्शों के प्रतिकूल दिखाई पड़ते हैं। आज की नारी संयुक्त परिवार के बन्धनों से मुक्त होकर ऐसे परिवार में रहना चाहती है जहाँ पति-पत्नी के सम्बन्धों का विशेष महत्त्व हो, जहाँ वे एक दूसरे के अधिक निकट रह सकें और अपनी इच्छानुसार अपने बालकों का भरण-पोषण एवं शिक्षा आदि का प्रबन्ध कर सकें।

स्त्री-शिक्षा ने महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति सजग किया, उनमें नवजागृति का संचार किया और सामाजिक जीवन के नियमों का पुनर्परीक्षण करने का उन्हें अवसर प्रदान दिया। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हुए, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में अन्तर आया, इसी समय देश में नवजागरण हुआ। सती-प्रथा के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने आन्दोलन किया और फिर धीरे-धीरे विधवा विवाह, बाल विवाह विरोध, अन्तर्जातीय-विवाह एवं विवाह-विच्छेद आदि को नवजागृति के प्रणेताओं ने वैधानिक आधार प्रदान करने की कोशिश की और साथ ही इन समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हुए जनमत-निर्माण का प्रयास किया। इन सब कारणों ने संयुक्त परिवार को परिवर्तित करने में योग दिया।

4. कानूनों का प्रभाव (Impact of Legislations)

अंग्रेजों द्वारा स्थापित अदालतों में हिन्दू-प्रणाली का जिस प्रकार से प्रयोग किया गया, उसके

परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार के सदस्य परिवार में निहित अपने उत्तराधिकारों की धीरे- धीरे माँग करने लगे। फल यह हुआ कि सयुक्त परिवार विभाजित होने लगे। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही देश में ऐसे कानून बनने लगे जिन्होने संयुक्त परिवार के संयुक्त आधार को चोट पहुँचाई। संयुक्त परिवार की स्थिरता के बने रहने का एक मूल कारण यह था कि पारिवारिक सम्पत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नही थे। अब कानून द्वारा कर्ज चुकाने के लिए कर्त्ता को सम्पत्ति बचने का अधिकार दे दिया गया। "हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम 1929" के द्वारा सर्वप्रथम उन व्यक्तियो को परिवार की सम्पत्ति मे अधिकार प्रदान किए गए, जो संयुक्त परिवार से पृथक् रहना चाहते थे। "गेन्स ऑफ लर्निंग एक्ट 1930" के द्वारा व्यक्ति की स्वयं अर्जित सम्पत्ति की सीमा को काफी विस्तृत कर दिया गया। "हिन्दू स्त्रियो के सम्पत्ति विषयक अधिनियम 1937" के द्वारा सयुक्त परिवार की सम्पत्ति मे स्त्रियो के अधिकार को स्वीकार किया गया। परिवार की सम्पत्ति मे पति के समान पत्नी के अधिकार को मान लेने से संयुक्त परिवार का परम्परागत पितृवशी संयुक्त आधार ही टूट गया। सन् 1954 मे विशेष विवाह अधिनियम को सशोधित कर किसी भी जाति एव धर्म के स्त्री-पुरुषों को वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की गई। सन् 1955 में पारित "हिन्दू विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम" के द्वारा स्त्री पुरुष को समान रूप से विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिकार प्रदान किए गए एवं वैवाहिक निर्योग्यताओ को दूर कर दिया गया। सन् 1956 मे पारित हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम के द्वारा स्त्रियो को भी पुरुषों के समान ही सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार दिये गये। "अवयस्क बच्चो की संरक्षता अधिनियम" भी इसी वर्ष पास किया गया जिसके द्वारा परिवार में नाबालिग बच्चों के आर्थिक हितों को संरक्षण प्रदान किया गया। इन सब सामाजिक कानूनो ने सयुक्त परिवार में उन सब परिवर्तनों को पनपने का अवसर प्रदान किया जो नवीन सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप अंकुरित हुए थे।

5. पारिवारिक विवाद (Familial Quarrels)

पारिवारिक झगडों ने संयुक्त परिवार के रूपान्तरण में योग दिया है। एक संयुक्त परिवार में कई पीढियों के सदस्यों के एक साथ रहने से उनमें विचारों मनोवृत्तियो एवं आदर्शों की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है जो कई बार आपसी तनाव और पारिवारिक झगडो का कारण बन जाता है। संयुक्त परिवार में साधारणत स्त्रियो की ओर से झगड़े प्रारम्भ होते है क्योकि सास-बहू या देवरानी-जेठानी मे विभिन्न मूल-परिवारों से आने के कारण स्वभाव सम्बन्धी अन्तर पाए जाते हैं। अधिकतर झगडे आय-व्यय को लेकर खडे होते हैं। यदि एक सदस्य अधिक कमाता है और दूसरा सदस्य कम और यदि कम कमाने वाले के बच्चे अधिक हैं तो उस दशा में अधिक कमाने वाले सदस्य की पत्नी इस स्थिति से असन्तुष्ट रहती है, वह कम कमाने वाले सदस्य की पत्नी को समय-समय पर ताने मारती है। इसके अतिरिक्त बच्चों अथवा पारिवारिक श्रम के वितरण को लेकर छोटी-छोटी बातों पर स्त्रियों मे झगड़े हो जाते हैं। इन झगडों का प्रभाव पुरुष सदस्यों पर अनिवार्यत पडता है। झगड़ों के बढने से संयुक्त परिवार का वातावरण दूषित तथा सुख और शान्ति नष्ट हो जाती है। यदि परिवार के मुखिया का सब सदस्यों के साथ समान बर्ताव नही रहता और वह पक्षपात पूर्ण व्यवहार करता है, सभी सदस्यों की सुख-सुविधाओ का समान रूप से ध्यान नही रखता है तो परिवार के अन्य सदस्यो का उस पर से विश्वास उठ जाता है, फलत संयुक्त परिवार टूटने लगता है। आज कई संयुक्त परिवारो मे यह स्थिति देखने को मिलती है।

6. संयुक्त परिवार के कार्यों का घटना (Reduction of Functions)

आधुनिक समय में सयुक्त परिवार के बहुत-से कार्य अन्य समितियों को हस्तान्तरित हो गय हैं। अब परिवार उत्पादन क केन्द्र नही रह हैं। पहले परिवार के द्वारा व्यक्ति क लिए जा कुछ कार्य किए जात थे, व आजकल विभिन्न प्रकार के अन्य समूहों, क्लबो, सघों, शिक्षण समितियो आदि क द्वारा किए जाते हैं। वर्तमान मे कपडो की धुलाई के लिए लॉन्ड्रियाँ, सिलाई के लिए टलरिंग हाउस तथा अनाज को कूटने-पीसने क लिए फ्लारिंग मील हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति की सयुक्त परिवार पर निर्भरता कम हुई है, इसकं प्रति उसकी निष्ठा में कमी आई है। व्यक्ति यह महसूस करन लगा है कि सयुक्त परिवार स पृथक् हाकर भी वह जीवन में आग बढ सकता है, अपनी उन्नति अधिक उत्तमता स कर सकता है।

पूर्वोक्त विवरण स स्पष्ट है कि अनेक आर्थिक-सामाजिक शक्तियों, पाश्चात्य आदर्शों और मूल्यों, आधुनिक शिक्षा और महिला-जागृति, पारिवारिक कलह और सामाजिक कानूनों न सयुक्त परिवार के आदर्श, सरचना और आधार पर चाट की है और उसमें अनेक आधारभूत परिवर्तन लाने में योग दिया है। वर्तमान परिस्थितियों को दखत हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य मे सयुक्त परिवार को उसक परम्परागत रूप में बनाए रखना सम्भव प्रतीत नही हाता। परम्परागत सयुक्त परिवारों म प्राय: स्त्री का स्थान नीचा रहा है, परन्तु भविष्य में ऐसे परिवार का अस्तित्व, जहाँ स्त्री को निम्न समझा जाता हा, सदिग्ध मालूम पडता है। चाहे ऐस सयुक्त परिवार टूट कर एकाकी परिवार न बनें, परन्तु समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार इसकी सरचना और आदर्शों में कुछ मौलिक परिवर्तनों का आना निश्चित है।

सयुक्त परिवार में हाने वाले परिवर्तनों को देखकर साधारणत: यह कहा जाता है कि यह विघटन-प्रक्रिया में है। बहुत स शिक्षित लाग ता यह मानने लगे हैं कि पाश्चात्य संस्कृति के सघात स भारत में सयुक्त परिवार विघटित हा चुका है। एस लाग सयुक्त परिवार को अप्रजातन्त्रीय मानते हैं और उसकी समाप्ति के पक्ष में अपना मत प्रकट करते हैं। के.एम. पणिक्कर की मान्यता है कि सयुक्त परिवार आदिवासी अवस्था का व्यक्त करता है, अत उसे समाप्त होना ही चाहिए।[1] उनका कथन है कि स्त्रियों द्वारा सामाजिक जीवन क सिद्धांतों का पुनर्परीक्षण वर्तमान हिन्दू समाज के लिए एक महानतम चुनौती है, जिसक फलस्वरूप सयुक्त परिवार, जाति एव ग्राम जैसी समष्टिवादी सस्थाओं का विघटन हा रहा है। आर.एन. सक्सेना क अनुसार, सयुक्त परिवार विषयक वास्तविक स्थिति यह है कि यह विघटन प्रक्रिया में न हाकर परिवर्तन प्रक्रिया में है। इस सम्बन्ध में जी.एस भट्ट न लिखा है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण स यह मान्यता निर्मूल सिद्ध होती है कि जिस प्रकार वर्तमान यूरोप में औद्योगीकरण, शहरीकरण और स्थानान्तरण से उत्पन्न शक्तियों न एकाकी परिवारों को जन्म दिया और परिवार पर व्यक्ति की निर्भरता का अन्त कर दिया है, वैस ही भारत में यही परिवर्तनकारी शक्तियाँ सयुक्त परिवार का विघटन कर रही हैं। भारत में सयुक्त परिवार का विघटन न होकर रूपान्तरण हुआ है। भारत में औद्योगीकरण, शहरीकरण और स्थानान्तरण जैसी परिवर्तनकारी शक्तियों का प्रवेश धीरे-धीरे हुआ है। इसी कारण, भारत की सामाजिक सस्थाएँ, एक ओर रूपान्तरित हुई हैं और दूसरी ओर ये परिवर्तनकारी शक्तियाँ एवं उनसे उत्पन्न होने वाला सामाजिक परिवर्तन, भारत की सस्थाओं से प्रभावित हुआ है।

1 K M Panikkar op cit pp 18-19

संयुक्त परिवार परिवर्तन और चुनौती के मध्य
(Joint Family in the Change and Challenge)

परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्त परिवार शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगे लेकिन शोध-कार्यों के आधार पर जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे तो ऐसा ज्ञात होता है कि न तो यह संस्था समाप्त हुई है और न ही निकट भविष्य में इसकी समाप्ति की कोई सम्भावना है। नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले शिक्षित लोग तक इसे बनाए रखने के पक्ष में हैं। सन् 1930–32 में के.टी. मर्चेन्ट द्वारा विवाह और परिवार के सम्बन्ध में 446 ग्रेजुएट और 152 बिना ग्रेजुएट लोगों के बदलते हुए दृष्टिकोणों का जो अध्ययन किया गया, उसके आधार पर पाया गया कि सम्पर्क किए गए कुल लोगों में से 56 प्रतिशत संयुक्त परिवार में रहते हैं, ग्रेजुएट लोगों में संयुक्त परिवार में रहने वालों का प्रतिशत 62.1 और बिना ग्रेजुएट लोगों में यह प्रतिशत 38.5 ज्ञात हुआ। इस अध्ययन से यह भी पता चला कि संयुक्त परिवार में रहने वाले लोगों में से 43.2 प्रतिशत लोगों ने संयुक्त परिवार के पक्ष में और 36.5 प्रतिशत लोगों ने विपक्ष में अपना मत व्यक्त किया। ग्रेजुएट और बिना ग्रेजुएट दोनों ही प्रकार के लोगों में संयुक्त परिवार के समर्थकों का अनुपात प्रायः समान पाया गया जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा के प्रभाव के बावजूद भी लोगों के दृष्टिकोण संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं, शिक्षित लोग निश्चित रूप से संयुक्त परिवार के विरुद्ध नहीं हैं।[1] डॉ. के.एम. कापड़िया ने 513 ग्रेजुएट लोगों के साथ किए गए साक्षात्कार के आधार पर बताया है कि इनमें 57.3 प्रतिशत लोग संयुक्त परिवारों में रह रहे थे। संयुक्त परिवार में रहने वाले इन लोगों में से 86 प्रतिशत लोगों ने इसे एक अच्छी व्यवस्था माना और 83.3 प्रतिशत लोगों ने संयुक्त परिवार में ही रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की। केवल 11.9 प्रतिशत ग्रेजुएट ही ऐसे पाए गए जो इसे अच्छी व्यवस्था नहीं मानते थे और इसे बनाए रखने के विरुद्ध थे। इन तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षित हिन्दुओं में करीब तीन चौथाई लोग अब भी संयुक्त परिवार में रहते हैं और शिक्षित लोगों का आठवाँ भाग इस व्यवस्था से असन्तुष्ट है। स्पष्ट है कि इस अध्ययन में भी शिक्षित लोग संयुक्त परिवार के पक्ष में पाए गए। के.टी. मर्चेन्ट और डॉ. कापड़िया के अध्ययनों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि इन दोनों अध्ययनों के बीच की 20 वर्ष की अवधि में संयुक्त परिवार में रहने वाले स्नातकों की संख्या में करीब 5 प्रतिशत कमी हुई है। संयुक्त परिवार में रहने के इच्छुक लोगों की संख्या दुगुनी हो गई है जबकि इस व्यवस्था का विरोध करने वालों की संख्या आधी रह गई है।

सन् 1951 की जनगणना में यह पाया गया था कि कम सदस्यों वाले परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है। इस आधार पर जनगणना-कमिश्नर द्वारा यह मत व्यक्त किया गया था कि भारत में संयुक्त परिवार विघटन-प्रक्रिया में है, यहाँ केवल शहरों में ही नहीं बल्कि गाँवों में भी संयुक्त परिवार का विघटन तेजी से हो रहा है। जनगणना सम्बन्धी आँकड़ों के आधार पर निकाले गए इन निष्कर्षों की अनेक समाजशास्त्रियों द्वारा कटु आलोचना की गई है। केवल सम्मिलित निवास-स्थान एवं परिवार के आकार के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं, तार्किक दृष्टि से उचित नहीं है। यह कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार विघटित नहीं हो रहे हैं, यह वर्तमान में भी सशक्त हैं।

---

1 K.T. Merchant : Changing Views on Marriage and Family, pp. 128-278.

प्रो. आई. पी. देसाई ने अपने सौराष्ट्र के 'महुआ' नामक छोटे नगर में परिवार में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में 410 परिवारों के अध्ययन के आधार पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। आपने उस परिवार को एकाकी परिवार माना है जिसके सदस्य दूसरे बन्धुओं से सम्पत्ति या आय या इनसे सम्बन्धित अधिकारों एवं कर्त्तव्यों द्वारा सम्बन्धित न हों, जैसी कि बन्धुता से सम्बद्ध लोगों से अपेक्षा की जाती है। दूसरी ओर, उस परिवार को आपने सयुक्त परिवार कहा है जिसमें पीढ़ियों की गहराई (तीन या अधिक) एकाकी परिवार की तुलना में अधिक हो एवं जिसके सदस्य सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों और कर्त्तव्यों द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हों। उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि यदि हम विभिन्न किस्म के परिवारों के प्रभाव में रहने वाले व्यक्तियों की सख्या की ओर ध्यान दें, तो पाएँगे कि कुल व्यक्तियों की सख्या में से केवल 23 प्रतिशत लोग ही एकाकी परिवारों के प्रभाव में हैं, शेष 77 प्रतिशत व्यक्ति किसी न किसी तरीके से सयुक्त परिवार के प्रभाव में हैं। प्रो. देसाई द्वारा सौराष्ट्र के महुआ और स्वयं के द्वारा गुजरात में नवसारी नामक दो छोटे अर्द्ध औद्योगीकृत नगरों के परिवारों के अध्ययनों के आधार पर डॉ. कापड़िया ने बताया है कि इनमें पाया जाने वाला सयुक्त परिवारों का ऊँचा अनुपात, भारत में सयुक्त परिवार के अस्तित्व की सम्भावना के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की भविष्यवाणी के लिए महत्त्वपूर्ण है।[1] प्रो.देसाई ने महुआ के अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि किसी विशिष्ट जाति से परिवार की सयुक्तता सम्बन्धित नहीं है। इतना अवश्य है कि अन्य व्यवसायों में लगी हुई जातियों की तुलना में व्यापार और कृषि कार्यों में लगी हुई जातियों में सयुक्तता अधिक पाई जाती है। आपका कथन है कि दो-तरफा प्रक्रिया-सयुक्तता से नाभिकता की ओर, और नाभिकता से सयुक्तता की ओर अभी भी चालू है तथा वह संयुक्तता के पक्ष में कार्य कर सकती है क्योंकि हमने देखा है कि सयुक्त रूप में रहने के विचार को लोग अब भी संजोए हुए हैं। संयुक्त रूप में रहने की इच्छा में विश्वास काफी व्यापक रूप में पाया गया।[2]

रॉस ने बंगलौर के नगरीय क्षेत्र में मध्यम तथा उच्च वर्ग के 157 पुरुषों तथा स्त्रियों के साथ किए गए साक्षात्कार के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि यदि प्रौद्योगिक शक्तियाँ पूर्ण सख्या में पारिवारिक सरचना पर अतिक्रमण करती हैं, तो वह बदलेगा।[3] आगे आपने बतलाया है कि छोटी पारिवारिक इकाइयों को प्रोत्साहित करने वाले नवीन कारक ये हैं—उच्च शिक्षा के अवसर, बढ़ी हुई महत्त्वाकांक्षाएँ, उच्च व्यावसायिक गतिशीलता, रहन-सहन के उच्च स्तर की इच्छा, अधिक व्यक्तिवादिता और अधिक स्वतन्त्रता। परिवार के पुराने स्वरूपों को बनाये रखने में सहायता पहुँचाने वाले कारक ये हैं—स्नेह तथा उत्तरदायित्व की परम्परागत अभिवृत्तियाँ, आर्थिक असुरक्षा तथा जीवन-निर्वाह के लिए अधिक लागत। डॉ. एस. एस. गोरे ने शहरी और ग्रामीण दोनों प्रकार के परिवारों का अध्ययन किया। आपने अपने अध्ययन हेतु हरियाणा राज्य के रोहतक जिले के 399 अग्रवाल परिवारों को मुख्य निदर्शन के लिए और दिल्ली क्षेत्र के 100 अग्रवाल परिवारों को सहायक निदर्शन के रूप में चुना। अपने अध्ययन के आधार पर आपने दो निष्कर्ष निकाले हैं। प्रथम, निदर्शन समग्र रूप में अब भी व्यवहार, भूमिका बोध एवं अभिवृत्ति (Attitude) की दृष्टि से अधिकतर सयुक्त पारिवारिक प्रतिमान के अनुरूप है। द्वितीय, अनुरूपता के इस व्यापक प्रतिमान के अन्तर्गत नगरीय निवास एवं शिक्षा ने कुछ मात्रा

1 K.M Kapadia op cit p 148
2 I P Desai Some aspects of Family in Mahuva, pp 146-147
3 Aileen Ross The Hindu Family in its Urban Setting

मात्रा म विभेद आरम्भ कर दिया हे।[1] आपका कथन हे कि हमार तथ्य यह प्रकट करत हें कि नगरीय क्षेत्रो मे और भारत म अधिक शिक्षित लागों में भ्रातृक-सयुक्त परिवार को वशज सयुक्त परिवार की तुलना म कम समर्थन प्राप्त हान की सम्भावना है। इस बात की पुष्टि नवसारी क कापडिया द्वारा और बगलौर क मध्यमवर्गीय परिवारा क रॉस द्वारा प्राप्त तथ्या स भी हाती है।

महाराष्ट्र क पूना जिल क हवली तालुका मे लानीखण्ड नामक ग्राम की पारिवारिक सरचना क सम्बन्ध मे 1819 1958 ओर 1967 मे प्राप्त किए गए तथ्यों क आधार पर पी.एम. कालिण्डा न कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। पिछली डढ शताब्दी में लानीखण्ड में जीवन के स्वरूप मे काई गहन परिवर्तन आया हा, एसी काई बात नहीं है। हमार आँकड जा कुछ प्रकट करत हैं, वह यह है कि सयुक्त परिवार-सुनिर्वाह (Joint family living) मे कमी नहीं आई है। 1819 मे करीब-करीब समान और सम्भवत आनुपातिक रूप स 1967 की तुलना मे थाड सयुक्त परिवार थ। हमारे आँकडे बतलात हैं कि उस समय अब क बजाय सपूरक (Supplemented) नाभिक परिवार अधिक थ जबकि नाभिक परिवार थाड थ। इतना स्पष्ट है कि 1967 की तुलना में 1819 मे अधिक सयुक्त परिवार नही थ।[2]

डॉ कापडिया न लिखा है कि यद्यपि युवा पीढी अक्सर सयुक्त परिवार क दमघाटू वातावरण की शिकायत करती है तथापि साथ ही एसा प्रतीत हाता है कि वह सयुक्त रूप में रहन के कुछ लाभों क प्रति जागरूक है, जैस आर्थिक सहायता, सकट की परिस्थितियों में आश्रय, छोट बच्चो का उचित पालन-पाषण पति-पत्नी में सघर्ष की स्थिति में निराधक प्रभाव आदि। सक्षेप में सयुक्त परिवार अब भी अपन सदस्यो की आवश्यकताओं की पूर्ति करन क याग्य है। इसी कारण बहुत स लाग आज भी सयुक्त परिवार स मनावैज्ञानिक दृष्टि स पृथक् हान का तैयार नही हैं। जा असन्ताष पाया जाता है, वह इस व्यवस्था क विरुद्ध इतना नहीं है, जितना उस वातावरण क जा परिवार क कुछ सदस्यों के व्यवहार प्रतिमान क कारण उत्पन्न है। इस सम्बन्ध में आवश्यकता समझौते और अनुकूलन की है।[3]

अग्रवाल परिवारों के अध्ययन क आधार पर डॉ एम एस गार ने भी उपर्युक्त प्रकार क निष्कर्ष निकाल हैं। यदि सयुक्त परिवार सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य का अध्ययन किया जाय, ता यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे सरचनात्मक दृष्टि स कुछ परिवर्तन आ रह हैं, लेकिन अभिवृत्ति सम्बन्धी परिवर्तनों का आना कठिन है। बी क रामानुजम् ने कहा हे कि अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यदि सरचनात्मक दृष्टि स सयुक्त परिवार नाभिक परिवारो मे टूटता भी है, ता भी प्रकार्यात्मक दृष्टि स परिवार के सभी सदस्य उसक प्रति निष्ठा क रूप में 'सयुक्तता' का बनाए रखते हें। क्षेत्र में बहुत से कार्यकर्ताओं न पता लगाया है कि विशष अवसरो, जैस-जन्म, विवाह, मृत्यु अथवा धार्मिक उत्सवों पर, सम्पूर्ण परिवार इकट्ठा हो जाता है। वित्तीय एव अन्य दायित्वो तक का भी सब अपनी सामर्थ्य के अनुसार निभात हैं। अत: पृथक् हान क बाद भी मूल परिवार क साथ उनका शक्तिशाली उद्गात्मक सम्बन्ध पाया जाता है।[4] ए. एम शाह क गुजरात क राधवानाज ग्राम क परिवारो के अपन अध्ययन तथा साथ ही सम्बन्धित

1 M S Gore Urbanization and Family Change p 232
2 Pauline Mahar Kolenda Family Structure in Village Lonikhand India 1819 1958 &1967 Contributions to Indian Sociology No iv December 1970 p 70
3 K.M Kapadia op cit (third ed) 291 292
4 B K. Ramanujam The Indian Family in Transition The Indian Family in the Change and Challenge of the Seventies, p 23

साहित्य की समीक्षा के आधार पर बतलाया है कि पैतृक नातदारों तथा उनकी पत्नियों का निवासीय एकता का सिद्धान्त नीचा तथा कम संस्कृतिकृत जातियों में कमजोर है और उच्च तथा अधिक संस्कृतिकृत जातियों में मजबूत है।[1] शाह की मान्यता है कि उच्च जातियों में निम्न जातियों की तुलना में संयुक्त परिवार अधिक पाए जाते हैं।

संयुक्त परिवार का भविष्य
(Future of Joint Family)

शोध-कार्यों से प्रकट होता है कि यद्यपि संयुक्त परिवार पर अनेक आधुनिक शक्तियाँ अपना प्रभाव डाल रही हैं तथापि नगरीय क्षेत्रों के शिक्षित लोगों तक में भी संयुक्त परिवार अभी तक समाप्त नहीं हुए हैं और न ही सब लोग ऐसे परिवारों के विरुद्ध हैं। अभी तक संयुक्त परिवार सम्बन्धी जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, वे अपर्याप्त हैं और उसके आधार पर भारत में संयुक्त परिवार के भविष्य के सम्बन्ध में कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों की वैज्ञानिक दृष्टि से तुलना करना भी कठिन है क्योंकि सब अध्ययनों में संयुक्त परिवार की समान परिभाषा नहीं अपनाई गई है। डॉ. आर.एन. सक्सेना ने लिखा है कि वर्तमान संयुक्त परिवार का वास्तविक रूप एक परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में है न कि सम्मिलित निवास स्थान, सम्पत्ति और रसोई में। यह सच है कि आज संयुक्त परिवार-विभाजन की संख्या बढ़ गई है, पर प्रत्येक विभाजित संयुक्त परिवार कालान्तर में कई नए संयुक्त परिवारों को जन्म देता है। कुछ भी हो आज भी हिन्दू परिवार वृद्ध माता-पिता को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है और कुसमय में व्यक्ति को आर्थिक तथा सामाजिक संरक्षण। विधवाओं और परित्यक्ताओं को बहुधा अपने माता-पिता के परिवार में ही शरण मिलती है और आज भी ऐसे कितने ही परिवार मिलेंगे जिनमें पुत्रियों या बहिनों की सन्तान परिवार के सदस्य हैं।[2]

वर्तमान समय में संयुक्त परिवार के परम्परागत लक्षणों, जैसे— कई पीढ़ियों के सदस्यों का एक साथ रहना, एक ही रसोई में बना खाना, सम्पत्ति का सहस्वामित्व, धार्मिक एवं अन्य पारिवारिक अनुष्ठानों में सम्मिलित रूप से भाग लेना आदि में परिवर्तन हो रहे हैं। कतिपय समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि कई भाइयों के अलग-अलग रहने के उपरान्त भी यदि वे पारिवारिक सम्बन्धों, सामान्य सम्पत्ति एवं पारस्परिक कर्तव्य-परायणता के आधार पर एक सूत्र में बंधे हुए हैं तो भी उन्हें संयुक्त परिवार का सदस्य ही माना जाएगा। डॉ. इन्द्रदेव ने संयुक्त परिवार के भविष्य के सम्बन्ध में लिखा है कि संयुक्त परिवार के ढाँचे (Structure) में विघटन अवश्य हो रहा है, पर उसके कार्यात्मक पक्ष (Functional aspect) में नहीं। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि संयुक्त परिवार टूट कर सीधे शुद्ध व्यक्तिगत परिवार नहीं बन रहे हैं, बल्कि परिवार के बहुत से ऐसे प्रकार बन रहे हैं जो न पूरी तरह से एक में रखे जा सकते हैं न दूसरे में। इन्हें मध्यवर्ती प्रकार (Intermediary types) कहा जा सकता है।[3] भारत में जो नवीन प्रकार के परिवार बन रहे हैं, उन्हें चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय, इतना

1 A.M. Shah The Household Dimensions of the Family in India (1977) p 162.
2 डॉ. आर.एन. सक्सेना पूर्व उद्धृत, पृ. 20
3 डॉ. इन्द्रदेव पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 14

निश्चित है कि उन्हे सयुक्त परिवार की एकाकी इकाइयों को अधिक स्वतन्त्रता देनी हागी। पारिवारिक मामलो मे स्त्री की राय का महत्त्व दना हागा और सम्बन्धों को जटिल व्यवस्था में युवा सदस्यों का भाग लन क लिए प्रात्साहित करना हागा। यद्यपि डॉ कापडिया न शोध कार्यो क आधार पर लिखा है कि हिन्दू मनावृत्तियाँ आज भी सयुक्त परिवार क पक्ष मे है, तथापिआज की बदली हुई परिस्थितियो मे नगरीय क्षत्रो म सयुक्त परिवार का अपन परम्परागत रूप मे बनाए रखना सम्भव नही है। इतना अवश्य है कि ग्रामीण समाज की सरचना और कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था आज भी सयुक्त परिवार का बनाए रखन म समर्थ है।

डॉ. यागन्द्रसिह न परिवर्तित पारिवारिक सरचना क सम्बन्ध म बतलाया है कि भारत मे सयुक्त परिवारा की सरचना एव प्रकार्यों मे परिवर्तन एक समन्वयात्मक प्रतिमान का अनुसरण कर रह हैं एक एसा प्रतिमान जा कि भारतीय समाज में सरचनात्मक परिवर्तनो में सर्वसामान्य है। जीवन-साथी क चुनाव में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का, विशपत नगरीय परिवार मे, आज बढती हुई मात्रा मे माता-पिता की स्वीकृति द्वारा समाधान किया जा रहा है। मध्यमवर्गीय घरो म पत्नी की बाहर दफ्तरो एव स्कूलो मे काम करन की स्वतन्त्रता पति की स्वीकृति और कभी-कभी पति क या पत्नी क माता-पिता की स्वीकृति क परम्परागत ढाँचे मे ही क्रियाशील हाती है। इस प्रकार समन्वय फिर भी बिना तनाव के नही होत जो कि सामाजिक परिवर्तन का एक अपरिहार्य पक्ष है। इन परिवर्तनो के बावजूद भी सयुक्त परिवार की परम्परागत विश्व-दृष्टि (World-view) अब भी पाई जाती है।[1]

प्रा. आन्द्र बिताई न बताया है कि हिन्दू समाज मे अलग-अलग क्षत्रो में परिवार सरचना भिन्न-भिन्न रही है। यह मान्यता कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज मे सयुक्त परिवार प्रतिमान ही पाया जाता रहा है, वास्तविकता की दृष्टि स सही नही है। बडे सयुक्त परिवार जिनको हम परम्परागत रूप स हिन्दू समाज क विशिष्ट लक्षण क रूप मे मानत हैं, वास्तव में उसक किसी भाग से सम्बन्धित रह हैं। आपने बतलाया है कि उत्तरी भारत क गाँवा में बड सयुक्त परिवार राजपूत, जाट, भूमिहर तथा अन्य भू-स्वामी जातियो स ही परम्परागत रूप स सम्बन्धित रहे हैं। कुछ व्यापारिक समुदाय भी बड परिवारो स सम्बद्ध दिखलाई पडत हैं। इन वर्षों मे किए गए ग्राम अध्ययनों स यह तथ्य स्पष्ट हाता है कि भू-स्वामी जातियो में बडे परिवार अधिक सामान्य हैं, जबकि निम्न जातिया मे नाभिक परिवार तुलनात्मक दृष्टि से अधिक हैं।[2] गुडे ने भारतीय परिवार के सम्बन्ध में निष्कर्ष के रूप मे बतलाया है, "एक निश्चित दिए हुए समय पर, अधिकाश भारतीय परिवारो की सयुक्त बनावट नही है, यह तथ्य फिर भी यह प्रमाणित नही करता कि काफी परिवर्तन आया है क्योकि अधिकाश परिवार भूतकाल मे भी सयुक्त नही थे। फिर भी, भारतीय मूल्य और प्रवृत्तियाँ अब भी सामान्यत. सयुक्त परिवार के पक्ष मे हैं और सयुक्त परिवार मे अनेक महत्त्वपूर्ण सरचनात्मक परिवर्तन हा रह हैं।[3]

---

1 Yogendra Singh Modernization of Indian Tradition p 184
2 Andre Beteille Family and Social Change in India & Other South Asian Countries', Economic Weekly Annual XVI (1964) p 238
3 William J Goode (68), The Family pp 238-239

विभिन्न अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार परिवर्तन के मध्य है। इसके विभिन्न संरचनात्मक पक्षों में परिवर्तन दिखलाई पड़ रहा है, इसके कई कार्य परिवर्तित परिस्थितियों में बदल गए हैं। परन्तु फिर भी संयुक्त परिवार टूटा नहीं है, बल्कि चक्रीय प्रक्रिया के माध्यम से अपनी निरन्तरता को बनाए रख सका है। डॉ. आई. पी. देसाई तथा अन्य समाजशास्त्रियों का कथन है कि नाभिक परिवार संयुक्त परिवार-चक्र में एक अवस्था है। संयुक्त परिवार से पृथक् होने वाले निर्माणक भाग प्रारम्भ में नाभिक परिवारों के रूप में होते हैं और कालान्तर में वे संयुक्त परिवार के रूप में विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार विकास का नवीन चक्र पुनः प्रारम्भ हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि नाभिक परिवार को एक नवीन प्रकार की पारिवारिक संरचना मानने के बजाय संयुक्त परिवार व्यवस्था का एक भाग माना जाना चाहिए। रामकृष्ण मुखर्जी ने उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि "भारतीय समाज में केन्द्रीय प्रवृत्ति संयुक्त परिवार संगठन को जारी रखने की है जबकि संयुक्त संरचनाओं की समानान्तर शाखाओं को तोड़ देने की और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि समानान्तर प्रवृत्ति का स्थान निकट भविष्य में किसी अन्य के द्वारा लिया जा रहा है।"[1] तात्पर्य यह है कि आज समानान्तर सम्बन्धियों अर्थात् विभिन्न भाइयों और उनकी सन्तानों को एक सूत्र में बाँधने वाले बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं, अपने स्वयं के लड़के-लड़कियों और पौत्र-पौत्रियों के प्रति प्रेम बढ़ता जा रहा है, पति-पत्नी के बीच स्नेहपूर्ण सम्बन्ध दृढ़ होते जा रहे हैं। यह परिवर्तन परम्परागत परिवार की संरचना को प्रभावित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न

1. संयुक्त परिवार से आप क्या समझते हैं? संयुक्त परिवार में हो रहे परिवर्तन के कारणों का विवेचन कीजिए।
2. हिन्दू संयुक्त परिवार के प्रमुख लक्षणों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? क्या कार्यों की दृष्टि से भी संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं? सकारण उत्तर दीजिए।
4. हिन्दू संयुक्त परिवार के गुण एवं दोष क्या हैं? क्या इसकी तीव्रता से विघटन हो रहा है? स्पष्ट कीजिए।
5. भारत में संयुक्त परिवार प्रथा कहाँ तक विघटित हो रही है? कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययनों पर प्रकाश डालते हुए विवेचना कीजिए। साथ ही विघटन के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए।
6. क्या हिन्दू संयुक्त परिवार संक्रमण की अवस्था में है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
7. हिन्दू संयुक्त परिवार में हो रहे आधुनिक परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।
8. भारतीय परिवार की संरचना तथा कार्यों में परिवर्तन के कारणों की विवेचना कीजिए।
9. क्या संयुक्त परिवार टूट रहा है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
10. संयुक्त परिवार की संरचना और प्रकार्यों पर नगरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।
11. भारत में संयुक्त परिवार व्यवस्था की विशेषताओं, कार्यों एवं अकार्यों की व्याख्या कीजिए।
12. "संयुक्त परिवार प्रणाली विघटित हो रही है।" (आई. पी. देसाई) व्याख्या कीजिए।
13. "हिन्दू भावनाएँ आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं।" उन कारकों का विश्लेषण कीजिए जो इसकी निरन्तरता के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

---

1. Ramkrishna Mukherjee : Family in India - A perspective (1969) p. 97

21

भारतीय परिवार : परिवर्तन के मध्य

(The Indian Family in the Change)

वर्तमान समय मे सामाजिक परिवर्तनो की बाढ-सी आ गई है। एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे और इसी क्रम से निरन्तर परिवर्तन होते जा रहे हैं। अब विश्व मे चारों ओर बड़ी तेजी से परिवर्तन आ रहे हैं, तो परिवार जो वृहद् समाज का ही एक भाग है, उनसे अछूता कैसे रह सकता है? बर्गेस ने बताया है कि भौतिक वस्तुओं के सचय, आविष्कारो के क्षेत्र और विविधता, आवागमन और सन्देशवाहन की उन्नत सुविधाओं तथा बढते हुए औद्योगीकरण और नगरीकरण ने परिवार के बहुत से प्रतिमानों को, जो जीवित मानव की स्मृति मे सार्वभौम रूप से स्वीकृत थे, विघटित करने में योग दिया है।[1] अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक कारकों के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धो के फलस्वरूप स्त्री-पुरुषों के परम्परागत सम्बन्धों में परिवर्तन हो रहा है। नवीन अभिवृत्तियां मूल्यो और आदर्शों का विकास होता जा रहा है जो परिवार की सरचना और प्रकार्यों में परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी हैं।

इलियट और मैरिल का कथन है कि जब कभी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक समस्याएँ जो व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करती हैं, उठती हैं तो परिवार *सामाजिक बैरोमीटर के रूप मे परिवर्तन को पजीकृत करता है।*[2] स्पष्ट है कि विविध क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों का निश्चय ही परिवार पर प्रभाव पडता है। वर्तमान समय में प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण के कारण, आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं, स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए हैं लोगो के धार्मिक विश्वासों में अन्तर आया है तथा विकसित एव विकासशील देश आधुनिकीकरण की ओर बढ़ हैं और बढते जा रहे हैं। विवाह और पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में विचारों और अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन आया है। पुराने आदर्श-प्रतिमानो और नियन्त्रणों का व्यक्ति पर प्रभाव कम होता जा रहा है। वे प्राय समाप्त होते जा रहे हैं, परन्तु उनके स्थान पर नवीन सन्तोषप्रद प्रतिमानों का विकास नहीं हुआ है। ऐसी दशा में जीवन की समस्याओं को सुलझाने में व्यक्ति कठिनाई महसूस कर रहा है। वह प्रयत्न और परीक्षण करता जा रहा है ताकि वैवाहिक और पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाया जा सके और बदली हुई परिस्थितियो के साथ सफल समायोजन किया जा सके।

परिवार के परम्परागत प्रतिमानों को परिवर्तित करने मे अनेक कारको का योग रहा है। ये कारक एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं और इनके सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप ही आज परिवार में अनेकानेक परिवर्तन दिखलाई पड रहे हैं। वर्तमान में परिवार मे अनेक आधुनिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हो रही हैं। पाश्चात्य देशों के परिवार में अधिक परिवर्तन आए हैं। भारतीय परिवार

1 Ernest W Burgess "The Family in a Changing Society" American Journal of Sociology 53 417-422 May 1984

2 Elliott and Merrill, op cit p 344

भी परिवर्तनों के मध्य अवश्य हैं, यह भी समय को चुनौती को स्वीकार कर रहा है। भारतीय नगरीय परिवारों में ग्रामीण परिवारों की तुलना में आधुनिक प्रवृत्तियाँ अधिक दिखलाई पड रही हैं।

परिवार की आधुनिक प्रवृत्तियॉं
(Recent Trends of Family)

आज परिवार की सरचना और कार्यों में अनेक परिवर्तन दिखलाई पड रह हैं। आजकल कई नवीन पारिवारिक प्रतिमान उभर कर सामने आ रहे हैं। परिवार क कई कार्य अन्य समितियों द्वारा अपना लिए गए हैं और इसके पास बहुत थाडे कार्य शप रह गये हैं। वर्तमान मे परिवार सक्रमण की स्थिति से गुजर रहे हैं और अभी तक काई सर्व-स्वीकृत पारिवारिक प्रतिमान दृष्टिगाचर नही हा रहे हैं। आधुनिक समय में परिवार मे निम्नलिखित नवीन प्रवृत्तियाँ एव परिवर्तन दिखलाई पड रहे हैं —

1. परिवार के आकार मे ह्रास (Decline in the size of family)—आधुनिक परिवार का आकार बहुत छोटा हो गया है। साधारणत आजकल परिवार में पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे पाए जाते हैं। नव-विवाहित दम्पति अपने मूल-परिवार के साथ रहना पसन्द न कर, स्वय का नया परिवार बसाना चाहते हैं। एसे परिवार में उनका स्वतन्त्रता अधिक रहती है। आज अनक देशों में तो सन्तानहीन परिवार भी काफी मात्रा में पाए जाते हैं और दो बच्चों का परिवार तो सामान्य आदर्श-सा बनता जा रहा है। फॉल्सम न कहा है, "दो बच्चो का परिवार आजकल प्रचलित सामाजिक मानदण्ड या आदर्श है।"[1] रहन-सहन के उच्च-स्तर का बनाए रखने, अधिक बच्चो के पालन-पोषण क भार से बचने तथा सन्तति-निरोध के साधनों क उपलब्ध होने से परिवार का आकार घटता जा रहा है। आधुनिक समय मे परिवार के सदस्यों की संख्या औसतन 4–5 तक रह गई है।

2. पितृसत्तात्मक अधिकार मे कमी (Decline in patriarchal Authority)—कुछ समय पूर्व तक परिवार में पिता की सत्ता सर्वोपरि थी, वह परिवार क निरकुश शासक के समान था। उसके पत्नी तथा बच्चों पर असीमित अधिकार थे, परन्तु अब स्थिति बदल चुकी है। राज्य द्वारा स्त्री तथा बच्चों को अनेक अधिकार प्रदान किए जा चुके हैं और पिता की शक्तियों का आज सीमित कर दिया गया है। पारिवारिक समस्याओं पर विचार करत समय पत्नी और बच्चों की राय को भी महत्त्व दिया जाने लगा है। पत्नी भी अपनी उन्नत स्थिति का पारिवारिक निर्णयों मे लाभदायक उपयोग कर रही है। यह कहा जा सकता है कि आधुनिक परिवार अधिनायकवादी आदर्शों से प्रजातात्रिक आदर्शों की आर बढ रह हैं।

3. अस्थायी परिवार (Instable family)—आधुनिक परिवार की भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता पहले से काफी बढ चुकी है। परिवार के आकार क छोटा होन तथा विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक सुविधाओं के उपलब्ध हान स, एक परिवार एक स्थान स दूसरे स्थान पर और एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में सुगमता से जा सकता है। परिणाम यह हाता है कि मूल परिवार, रिश्तेदारों और पडौसियो का एसे परिवार पर कोई नियत्रण नही रहता, आचरण

1 "The two child family is now a prevailing social standard or ideal"
-J K Folsom The Family & Democratic Society" p 188

सम्बन्धी परम्परागत आदर्श नवीन पर्यावरण म प्रभावहीन हा जात हैं। पति-पत्नी और बच्च काफी समय तक परिवार स दूर रहत हैं। अब ता विवाह-विच्छेद का भी कानूनी मान्यता प्रदान की जा चुकी है। एसी दशा म कभी भी परिवार क टूटन का खतरा उपस्थित हा सकता है। परिवार क अस्थायित्व का बढान म बदलती हुई यौन-धारणाओ न भी याग दिया है।

4. घर अमहत्त्वपूर्ण (Home unimportant)—आधुनिक परिवार क लिए घर का काई विशष आकर्षण एव महत्त्व नही रहा है। कवल खान, नाश्ता एव भाजन करन क समय व्यक्ति घर पर रहता है और शष समय अन्य स्थाना पर व्यतीत करता है इसस सदस्यो मे अन्त क्रिया की मात्रा घट गई है। बहुत स लाग समय-समय पर मकान बदलत हैं। एस लागो क लिए 'घर' अथवा 'गृहस्थी' का काई महत्त्व नहीं हाता। एसी स्थिति मे व्यक्ति का पारिवारिक जीवन का लाभ नही मिल पाता।

5. नातेदारी के महत्त्व मे कमी (Declining importance of Kinship)—आधुनिक समय म नातदारी का महत्त्व कम हाता जा रहा है तथा पारस्परिक सम्बन्धों मे तीव्रता स परिवर्तन हा रह हैं। कुछ समय पूर्व तक न कवल पारस्परिक सम्बन्धा का बल्कि नात-रिश्तदारों का भी काफी महत्त्व था। व्यक्ति विभिन्न सम्बन्धियों क साथ घनिष्ठ रूप स सम्बन्धित था। आज व्यक्तिवादिता इतनी बढ चुकी है कि कई व्यक्ति अपन माता-पिता तथा भाई-बहिनों तक की चिन्ता नही करत नात-रिश्तदारा की बात ता दूर रही। पहल व्यक्ति प्रस्थिति का निर्धारण बहुत कुछ सीमा तक उसक परिवार और नात रिश्तदारा की प्रस्थिति क आधार पर ही हाता था। परन्तु आजकल उसकी प्रस्थिति का निर्धारण अधिकाशत उसकी स्वय की याग्यता एव उपलब्धियो क आधार पर हाता है। इस प्रकार नाते-रिश्तदारी का महत्त्व वर्तमान मे काफी घट गया है।

6. स्त्रियो के अधिकारो मे वृद्धि (Increased rights of women)—आधुनिक समय मे सम-सत्तात्मक परिवार बनत जा रह हैं। एस परिवारो में पति और पत्नी की समान सत्ता हाती है। पारिवारिक निर्णयों मे दानो ही समान भूमिका निभात हैं। स्त्री-पुरुष की दासी नही बल्कि जीवन-संगिनी और मित्र के रूप म मानी जाती है। इस बदली हुई स्थिति का मूल कारण स्त्रियों को अनेक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारो का प्राप्त हाना है। शिक्षा क प्रसार न स्त्रियों का अपने अधिकारों क प्रति सजग बनाया है, उनम सामाजिक और राजनीतिक चतना जाग्रत करन में याग दिया है। आजकल स्त्रियो न नवीन भूमिकाएँ ग्रहण की हैं। ये विभिन्न व्यवसायों में पुरुषों के समान ही प्रविष्ट हान लगी हैं। इसका प्रभाव पारिवारिक सम्बन्धो पर पडता जा रहा है। अब उन्हे घर की चार-दीवारी म बन्द नही रखा जा सकता। अब वे अनेक सार्वजनिक कार्यों मे भाग लेने लगी हैं। आधुनिक परिवार की स्त्रियाँ न केवल नौकरी करती हैं बल्कि क्लबों मे जाती हैं, चाय पार्टियों मे भाग लती हैं ताश खेलती हैं, राजनीतिक गतिविधियो और सामाजिक सेवा-कार्यों में सम्मिलित हाती हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी भूमिकाएँ बढ चुकी है और अब वे परिवार के लिए उतना समय नही द पाती जितनी उनस अपेक्षा की जाती रही है। परिणाम यह होता है कि यह स्थिति कई बार तनाव का कारण बन जाती है। पारिवारिक सामञ्जस्य बनाए रखन के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री की बदली हुई स्थिति को पुरुष समझे और मान्यता प्रदान करे।

7. परिवार के परिवर्तित कार्य (The changing functions of the family)— अपनी स्वीकृत प्रस्थिति और भूमिका से सम्बन्धित जो कार्य परिवार के विभिन्न सदस्यों द्वारा किये जाते थे, उनमें वर्तमान में काफी परिवर्तन आ चुका है। परम्परागत परिवार अपने सदस्यों के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करता था, जैसे—आर्थिक, धार्मिक शैक्षणिक, मनोरंजनात्मक, सुरक्षात्मक, स्थिति एवं स्नेह प्रदान करना आदि। यद्यपि ये कार्य आज भी परिवार द्वारा किए अवश्य जाते हैं तथापि बहुत ही सीमित मात्रा में और इनमें से बहुत से कार्यों का तो महत्त्व काफी कम हो गया है। उदाहरण के रूप में व्यक्ति परिवार के बाहर आर्थिक क्रियाएँ करता है, आर्थिक उत्पादन का कार्य परिवार से छिन गया है। अब यह केवल उपभोग का केन्द्र मात्र रह गया है। शिक्षा प्रदान करने का कार्य मुख्यतः राज्य द्वारा किया जाता है और परिवार का शैक्षिक कार्य कम महत्त्वपूर्ण हो गया है। आज बाल-कल्याण की दृष्टि से राज्य द्वारा अनेक कार्यक्रम क्रियान्वित किए जाते हैं परन्तु बालकों के पालन-पोषण का कार्य अभी भी परिवार द्वारा किया जाता है परन्तु यह प्रवृत्ति बनती जा रही है कि बालकों की देखभाल विशेषज्ञों द्वारा की जानी चाहिए।

आधुनिक समय में परिवार द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों में दो मुख्य कार्य शेष रह गए हैं, प्रथम प्राणिशास्त्रीय कार्य और द्वितीय, स्नेह प्रदान करने का कार्य। परिवार के अन्य कार्यों का महत्त्व घट जाने से इन दो का महत्त्व पहले से काफी बढ़ गया है। सन्तानोत्पादन का कार्य आज भी परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। इतना अवश्य है कि अब अनेक देशों में परिवार के इस कार्य में इस दृष्टि से अन्तर आया है कि आज कल कई परिवारों में बहुत कम बच्चे होते हैं और अनेक परिवार तो सन्तानहीन होते हैं।

सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में वैवाहिक सम्बन्ध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पति-पत्नी एक-दूसरे के सहयोग से न केवल अपनी यौन-इच्छाओं की सन्तुष्टि करते हैं बल्कि परस्पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण भी अपनाते और घनिष्ठ स्नेह अनुक्रिया भी करते हैं। विवाह द्वारा पति-पत्नी को एक-दूसरे से अपार स्नेह, भावनात्मक सुरक्षा सुख-दुःख को समझने और उसमें पूरी तरह पारस्परिक सहयोग करने की प्रेरणा मिलती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पति-पत्नी एक-दूसरे के श्रेष्ठ मित्र होते हैं। वे एक-दूसरे के व्यक्तित्व को पूरी तरह समझते और आदर करते हैं। जहाँ परिवार द्वारा स्नेह प्रदान करने के कार्य में कमी पाई जाती है, वहाँ पारिवारिक सम्बन्धों में शिथिलता आ जाती है और इसका परिवार के स्थायित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इलियट और मैरिल का कथन है कि जब परिवार को बनाए रखने में स्नेह प्रदान करने का कार्य और प्राणिशास्त्रीय कार्य इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, तो स्नेह की अभिव्यक्ति का ह्रास या कमी विवाह को संकट में डाल सकता है।[1] यद्यपि आधुनिक समय में परिवार उपर्युक्त दो कार्यों के अतिरिक्त समाजीकरण मनोरंजन और शिक्षा प्रदान करने तथा आर्थिक कार्य भी करता है तथापि अब इन कार्यों का उतना महत्त्व नहीं रहा जितना किसी समय था।

8. विवाह के रूप में परिवर्तन (Change in the marriage form) —आधुनिक परिवार एक-विवाही रूप धारण करते जा रहे हैं, बहु-विवाह की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है। अब हिन्दू समाज में दो पत्नियाँ रखना कानूनी दृष्टि से मान्य नहीं है। विवाह की आयु में वृद्धि हो रही

1 Elliott and Merrill op cit p 363

है। बाल-विवाह कम होते जा रहे हैं। विवाह में रोमान्स का महत्त्व बढ़ रहा है। अन्तर्जातीय और प्रेम-विवाह होने लगे हैं। विधवाओं के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। कहीं-कहीं विधवा पुनर्विवाह भी होने लगे हैं। आजकल परिवार-नियोजन का इतना महत्त्व दिया जाने लगा है कि अब 'गर्भ गिराना' भ्रूण हत्या नहीं माना जाता। एक-विवाह के आधार पर बनने वाले परिवारों में बालकों की सीमित संख्या और एक ही माँ से सम्बन्धित होने से, सम्बन्धों में अधिक घनिष्ठता और मधुरता दिखलाई पड़ती है।

परिवार की जिन आधुनिक प्रवृत्तियों का यहाँ वर्णन किया गया है, वे विश्व के प्रायः सभी आधुनिक जटिल समाजों में अपना प्रभाव दिखला रही हैं। भारतीय परिवार पर भी इन प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा है नगरीय परिवारों पर अधिक और ग्रामीण परिवारों पर कम। इतना अवश्य है कि किन्हीं परिवारों में कुछ प्रवृत्तियों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है तो अन्य परिवारों में कुछ दूसरी प्रवृत्तियों का, कुछ परिवार इन आधुनिक प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित हुए हैं तो कुछ कम। आज के तेजी से बदलते हुए समाजों में भावी परिवार की संरचना और कार्यों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।

भारतीय परिवार परिवर्तन के मध्य
(The Indian Family in the Change)

आन्द्रे बिताई ने भारत में पारिवारिक जीवन और पारिवारिक संरचना के सम्बन्ध में लिखा है, "शताब्दियों के महान् सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के मध्य, भारत के स्थायी पारिवारिक जीवन और पारिवारिक संरचना की एक लम्बी विरासत रही है और पारिवारिक दृढ़ता का भाव एक पुष्टिदायक शक्ति के रूप में रहा है जिसने भारतीय लोगों के दैनिक जीवन को अर्थपूर्ण बनाया है।"[1] भारत में परिवार का परम्परागत प्रतिमान संयुक्त प्रकार का रहा है। संयुक्त परिवार व्यवस्था भारतीय सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के अनुकूल है और धर्म ने भी संयुक्त प्रकार की जीवन-व्यवस्था बनाये रखने में योग दिया है। डेविड और वीरा मेस ने लिखा है, "आजकल नागरिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ रहे हैं, जो पारिवारिक जीवन के प्रतिमान को प्रभावित कर रहे हैं।"[2] वर्तमान समय में शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं, नौकरी प्राप्त करने के अवसरों तथा सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण भारत में पारिवारिक संरचना काफी प्रभावित हुई है। डॉ ए आर देसाई ने लिखा है, "परम्परागत संयुक्त परिवार और परिवारवादी ग्रामीण ढाँचे में गुणात्मक परिवर्तन आ रहा है। ग्रामीण सम्बन्धों का आधार प्रस्थिति से समझौते की ओर बदल रहा है। प्रथा की हुकूमत कानून द्वारा बदली जा रही है। परिवार उत्पादन की इकाई से उपभोग की इकाई के रूप में बदलता जा रहा है।"[3] श्रीमती रास का कथन है, "शिक्षित महिलाओं के स्वीकृत "पारिवारिक परम्पराओं" और "पारिवारिक लक्षणों" से अलग हो जाने और आत्माभिव्यक्ति के लिए अपने घरों से बाहर दृष्टि डालने से, भारतीय परिवार में एक

---

1 Andre Beteille Family and Social Change in India and Other South Asian Countries' - Economic Weekly Annual XVI (1964) pp 237-244

2 David & Vera Mace "Marriage East and West" p 322-324

3 A R Desai Rural Sociology in India p 48

शान्त सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"[1] देवानन्दन और थॉमस नामक विद्वानों के अनुसार,"उदार-शिक्षा का प्रसार, समानता और आत्मसम्मान के नवीन विचार, व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास को दिया जाने वाला महत्त्व और आर्थिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता की इच्छा आदि कुछ प्रमुख कारकों में से हैं जो विवाह और पारिवारिक जीवन के प्रतिमान को प्रभावित कर रहे हैं और स्त्रियों को उनके उत्तरदायित्व के मुख्य क्षेत्र अर्थात् घर के प्रबन्ध से दूर हटा रहे हैं।"[2]

वर्तमान समय में औद्योगीकरण और नगरीकरण के परिणामस्वरूप न केवल व्यावसायिक गतिशीलता बढ़ी है बल्कि एक ही जाति और परिवार के लोगों के व्यवसाय और आय में काफी अन्तर आया है। न केवल उनकी सामाजिक प्रस्थिति में, बल्कि उनके दृष्टिकोण में भी काफी भिन्नता पाई जाती है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने और स्वयं को किसी व्यवसाय के योग्य बनाने में काफी वर्ष लग जाते हैं, ऐसी दशा में विवाह देर से होते हैं। उच्च शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव के कारण व्यक्ति में उदार, तार्किक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपता है। पी डी देवानन्दन तथा एम. एम. थॉमस ने भारत में पारिवारिक प्रतिमानों में परिवर्तन के लिए निम्नलिखित तीन अन्तर-सम्बन्धित कारकों को उत्तरदायी माना है—(1) नवीन विचार (New Ideas), (2) नवीन सामाजिक अनुशास्ति (New Social Sanctions), (3) नवीन सामाजिक संरचनाएँ (New Social Structures)।

1. नवीन विचार (New Ideas)

नवीन विचारों को लोग धीरे-धीरे ग्रहण करते हैं और काफी समय के पश्चात् ये सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों को प्रभावित कर पाते हैं। एक पीढ़ी के लोग जब नवीन विचारों को ग्रहण कर लेते हैं तब उनके व्यवहार प्रतिमानों में तो थोड़ा-बहुत परिवर्तन आ जाता है परन्तु उसके बाद वाली पीढ़ी में यह परिवर्तन तेजी से आता है। नवीन विचारों को लोग न्यूनाधिक मात्रा में ग्रहण करते हैं। जिन नवीन विचारों ने भारत में पारिवारिक प्रतिमानों को परिवर्तित करने में योग दिया है, उनमें मुख्य हैं- प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास को पूर्ण स्वतंत्रता और अवसर प्राप्त हो। वर्तमान समय में यौन-सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोणों में अन्तर आया है, रोमान्टिक प्रेम को महत्त्व दिया जाने लगा है। आजकल धार्मिक परम्पराओं का महत्त्व कम हो रहा है और धर्म-निरपेक्षवाद (Secularization) की प्रक्रिया तीव्र हो रही है। लोग वैज्ञानिक, प्रजातान्त्रिक और समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप समाज एक "पवित्र परिवार" (Sacred Family) से 'धर्म-निरपेक्ष परिवार' (Secular Family) की ओर बढ़ रहा है। धर्म-निरपेक्ष परिवार में व्यक्ति परिवर्तनों को सुगमता से स्वीकार कर लेता है। आजकल पाश्चात्य सभ्यता के प्रति लोग उपयोगितावादी दृष्टिकोण रखने लगे हैं। वे पाश्चात्य मूल्यों को स्वीकार करना भौतिक दृष्टिकोण से अपने लिए लाभदायक समझते हैं।

2. नवीन सामाजिक अनुशास्ति (New Social Sanctions)

पिछले कुछ वर्षों में भारत में पारित अधिनियमों और अनेक नवीन सामाजिक प्रथाओं के कारण स्त्रियों को विभिन्न अधिकार मिले हैं। ये सिद्धान्त रूप में स्त्री और पुरुष को समान स्तर

1 Aileen D Ross op cit p 197
2 P D Devanandan & M M Thomas (ed) The Changing Pattern of Family in India p 22

पर ले आए हैं । सन् 1955 एव 56 मे चार अधिनियम बनाए गए जिनके द्वारा विवाह और विवाह-विच्छेद के आधारो का निश्चित किया गया सम्पत्ति के उत्तराधिकार का निर्धारण, गोद लेन तथा भरण-पोषण एव सरक्षता सम्बन्धी नियमों का तय किया गया । ये सब अधिनियम विवाह और परिवार के प्रतिमानो मे परिवर्तन लाने की दृष्टि स महत्त्वपूर्ण थ ।

3. सामाजिक सरचना (Social Structure)

औद्योगीकरण के साथ साथ देश मे नगरीकरण बढता जा रहा है। 'आर्थिक सरचनाएँ' मुद्रीकरण की ओर कदम बढा रही हैं और 'राजनीतिक सरचनाओं' का विस्तार होता जा रहा है। व्यावसायिक सुविधाओं के बढने स एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य अलग-अलग व्यवसायों में अलग-अलग स्थानो पर काम करने लगे हैं। उनकी आय म भी काफी असमानता पाई जाती है। परिणाम यह हुआ कि सयुक्त प्रकार के जीवन की विशेषताएँ समाप्त होने लगी हैं और एक ही परिवार के सदस्यो के हितो, दृष्टिकोणो तथा आय मे विभेद पैदा हो गए हैं। शिक्षा-व्यवस्था के कारण माता-पिता और सन्तान तथा भाई-भाई के दृष्टिकोणो म अन्तर उत्पन्न हुआ है। जाति-सरचना में भी परिवर्तन हुए हैं जातीय-बन्धन कुछ शिथिल होते जा रहे हैं तथा अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं। विभिन्न जाति के नव विवाहित लडके लडकियो के लिए सयुक्त परिवार मे अपना अनुकूलन करना कुछ कठिन रहता है। ऐसी दशा मे अन्तर्जातीय विवाहो के बढने के साथ-साथ परिवार के प्रतिमान और सामाजिक सम्बन्धो में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन लाने में राज्य द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जा रही है। राज्य सामाजिक और आर्थिक विकास की दृष्टि स योजनाएँ बनाता जा रहा है। राज्य लोगो को सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील है। ये सारे नियोजित प्रयास परिवार के प्रतिमानो को परिवर्तित करने मे सक्रिय योग दे रहे हैं।

परिवार के बदलते हुए प्रतिमान
(Changing Patterns of Family)

भारत म विवाह की आयु म परिवर्तन किया गया है। अब किसी हिन्दू के लिए दो पत्नियाँ रखना कानूनी अपराध है। कानून द्वारा अन्तर्जातीय और प्रेम-विवाहो को मान्यता दी जा चुकी है। अब विवाह-विच्छेद और परिवार नियोजन के उद्देश्य स गर्भ गिराने की भी आज्ञा है। ये सब परिवर्तन विवाह और परिवार के परम्परागत प्रतिमानो को अवश्य प्रभावित कर रहे हैं । पिछले 40-50 वर्षों में पुरुषों के विवाह की आयु, 18 स 20 वर्ष के आसपास रही है, परन्तु स्त्रियों की यह आयु 13-14 वर्ष स बढकर करीब 19 वर्ष के आस-पास हो रही है। विवाह की आयु बढने से, अब विवाह सम्बन्धी निर्णयो मे युवक अपने प्रौढाधिकार का प्रयोग करने लगे हैं। लडकियाँ अधिक समय तक अपने पिता के घर रहती हैं और वहीं उच्च शिक्षा भी प्राप्त करती हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे नौकरी भी करती हैं और परिवार की आय बढाने मे योग देती हैं। आर्थिक दृष्टि से स्वतत्र होने स आजकल उन पर माता-पिता का नियत्रण कम पाया जाता है। अपने पुरुष-सहयोगियो स मिलने, बातचीत और हँसी-मजाक करने तथा इधर-उधर घूमने जाने तक का उन्हें मौका मिलने लगा है। यह परिस्थिति उन्हें प्रेमालाप का सुअवसर देती है प्रेम-विवाह तक करने के लिए उन्हें प्रेरित करती है। सहशिक्षा और स्त्री-पुरुष के साथ-साथ नौकरी करने की

सुविधा न कुछ का जाति-पाँति के बन्धनों को तोडकर अन्तर्जातीय विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किया है ।

आजकल माता-पिता अपनी लडकियों का विवाह एस लडकों के साथ करना चाहते हैं जो शिक्षित हों, जिनकी आय इतनी हो कि वे सुगमता से अपनी पत्नी तथा बच्चों का भरण-पोषण कर सकें तथा जिन्होंने कोई सामाजिक एव आर्थिक प्रस्थिति अर्जित कर ली हो। इसका तात्पर्य है विवाह की आयु में वृद्धि । विवाह की यह बढती हुई आयु सयुक्त परिवार में व्यक्ति के अनुकूलन को कठिन बना देती है।

वर्तमान समय में पति-पत्नी दोनों ही नौकरी करने लगे हैं। यदि वे दोनों ही अलग-अलग स्थानों पर नौकरी करते हैं तो उन्हें एक-दूसरे से दूर रहना पडता है। उच्च मध्यमवर्गीय लोगों में अक्सर यह स्थिति पाई जाती है। श्रमिक वर्ग के लोगों में भी समान स्थिति दिखलाई पडती है। जब पुरुष को प्रथम बार नौकरी मिलती है, तो कुछ समय तक साधारणत उसे पत्नी एव बच्चों से अलग रहना पडता है। इस प्रकार आर्थिक कारकों ने पति-पत्नी को एक-दूसरे से अलग रहने तक के लिए प्रेरित किया है।

हमारे देश में भारतीय परिवार पर अनेक वैज्ञानिक शोध-कार्य हुए हैं जिनसे बदलते हुए पारिवारिक प्रतिमानों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्रोफेसर रॉस ने भारत में चार प्रकार के परिवारों का उल्लेख किया है—(1) वृहद सयुक्त परिवार जिसमें तीन या अधिक पीढियों के सदस्य एक ही मकान में साथ-साथ रहते हैं, जिनका एक ही रसोई में खाना बनता है, जो सामान्य सम्पत्ति के भागीदार होते हैं और जो खर्च के लिए अपनी आय को इकट्ठा कर लेते हैं, (2) छोटे संयुक्त परिवार जिसमें माता-पिता अपने विवाहित लडकों और अन्य अविवाहित बच्चों के साथ रहते हैं या दो भाई अपनी पत्नियों और बच्चों के साथ इकट्ठे रहते हैं, (3) नाभिक परिवार जिसमें दो पीढियों के लोग पाए जाते हैं, जिसमें अक्सर माता-पिता और उनके बच्चे होते हैं, (4) नाभिक परिवार आश्रितों सहित जिसमें माता-पिता, उनके बच्चे तथा एक या अधिक आश्रित पाए जाते हैं। बगलौर के अधिकांश उच्च जाति के परिवारों के अध्ययन के आधार पर, श्रीमती रॉस ने बताया है कि प्रवृत्ति नाभिक किस्म के पारिवारिक प्रतिमान की ओर है। बहुत से परिवार अपने जीवन के विभिन्न स्तरों पर विविध प्रकार के परिवारों के बीच चक्रीय गति से गुजरते हैं। भारत के नगरीय क्षेत्रों में मध्यम और उच्च वर्गों में छोटा सयुक्त परिवार सर्वाधिक आदर्शभूत स्वरूप है लोगों की बढती हुई संख्या अब कम से कम अपने जीवन का कुछ भाग एकाकी पारिवारिक इकाइयों में बिताती है।[1]

प्रोफेसर एम एस गोर ने हरियाणा क्षेत्र के अग्रवाल परिवारों के अध्ययन के आधार पर कहा है कि निदर्शन (Sample) व्यवहार भूमिका बोध और अभिवृत्तियों की दृष्टि से अधिकांशत सयुक्त परिवार प्रतिमान की पुष्टि करता है। इस प्रकार के पारिवारिक प्रतिमान के अनुरूप तथ्यों के प्राप्त होने के साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि नगरीय निवास और शिक्षा कुछ मात्रा में पारिवारिक प्रतिमान में अन्तर लाने के लिए उत्तरदायी हैं। आपकी मान्यता है कि प्रत्येक विशेष रूप से युवक

1 Aileen D Ross op cit p 50
2 M S Gore op cit p 232

"सीमित परिवर्तन" के पक्ष मे हैं। यदि परिवार स सम्बन्धित शाध-कार्यों का अध्ययन किया जाए, ता ज्ञात हाता है कि सरचनात्मक दृष्टि स कुछ परिवर्तन आ रह हैं, परन्तु अभिवृत्ति सम्बन्धी परिवर्तनों का आना मुश्किल है। डॉ. कापडिया का कहना है कि युवा सदस्यो और परिवार क बीच तथा युवा स्त्री-पुरुषों क बीच सम्बन्धों का इस प्रकार पुन निर्धारित करन की आवश्यकता है कि युवा लोगों का अपन व्यक्तित्व क विकास हतु पूर्ण अवसर मिल सकें। आपकी मान्यता है कि सयुक्त परिवार से अलग हा जान पर भी लागों क अपन मूल परिवार क साथ दृढ भावात्मक सम्बन्ध पाये जात हैं। जन्म विवाह मृत्यु आदि अवसरो पर सभी सदस्य इकट्ठ होत हैं और अपनी-अपनी क्षमता क अनुसार वित्तीय एव अन्य दायित्वों का निभात हैं।[1]

डॉ दसाई न गुजरात क एक छाट कस्ब महुआ क परिवारो क अध्ययन क आधार पर यह बताया है कि अधिकाशत सयुक्त परिवार अब भी मान्य प्रतिमान हैं। आपने नाभिक परिवारों मे काई वृद्धि नही पाई और कई लागो क अनुमानो क विपरीत यह पाया कि नाभिकता जाति, धर्म, व्यवसाय या शिक्षा क साथ-साथ व्यवस्थित रूप स परिवर्तित नही हुई है। लेकिन इस अध्ययन क आधार पर इस उप-कल्पना का कि नाभिक परिवार और औद्योगीकरण, नौकरशाही-तत्र, नगरीकरण और मुद्रीकरण क बीच सम्बन्ध है, खण्डन नहीं हाता है।[2] प्रा दसाई ने स्वय कहा है कि अपन 'वशज समूह' यानि पति, पत्नी ओर बच्चों क हितो का बढावा दने के प्रयत्नो से परिवार म प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हाती है। एसा प्रतीत हाता है कि वर्तमान मे व्यक्ति, सयुक्त परिवार क आदर्श स हटकर नाभिक आदर्श को आर बढ रहा है। वह रक्त-सम्बन्ध क बजाय दाम्पत्य-सम्बन्ध को अधिक महत्त्व दन लगा है अपन बालकों क पालन-पाषण का उत्तरदायित्व अपना ही समझने लगा है। प्रो गार न यद्यपि व्यवहार, भूमिका-बोध एव अभिवृत्तियो की दृष्टि स सयुक्त पारिवारिक प्रतिमाना की पुष्टि की है तथापि उन्होने अपन अतिरिक्त निदर्शन क आधार पर यह भी माना है कि नगरीय निवास तथा शिक्षा न लागों का सयुक्त पारिवारिक जीवन की कठिनाइयों के प्रति जागरूक बनाया है, अब व कुछ मात्रा मे दाम्पत्य सम्बन्ध क महत्त्व को स्वीकार करने लग हैं। कोलिण्डा (Kolenda) न पारिवारिक प्रतिमानों क तुलनात्मक अध्ययन (1967) क आधार पर कहा है कि नाभिक गृहस्थ बहुमत म थ यद्यपि अधिकाश लाग सयुक्त परिवारो मे रह रह थे। आपने यह भी पाया कि अस्पृश्य जातियो मे सयुक्त परिवारों का विस्तार सबस कम, ब्राह्मणों में मध्यम तथा अन्य द्विज जातियों मे ऊँच स नीचा था। आपन परिवार क विभाजन क समय के अन्तरों की ओर भी ध्यान दिया और पता लगाया कि पति की तुलना मे सौदेबाजी करन की पत्नी की जितनी अधिक शक्ति होती है, उतना ही शीघ्र परिवार का विभाजन हाता है।

श्रीमती पॉलिन एम कालिण्डा न अपन अध्ययनों क आधार पर भारत म पाय जाने वाले बारह किस्म के परिवार बताय हैं—(1) अकेले व्यक्ति वाला परिवार (2) उप-नाभिक परिवार (पहले वाले नाभिक परिवार क एक अग या भाग के रूप में एक विधवा/विधुर या तलाक शुदा माता-पिता अविवाहित बच्चा सहित, या विधवा/विधुर या तलाक शुदा सहोदर भाई या बहिनों का साथ रहना) ; (3) संपूरक उप-नाभिक परिवार (एक उप-नाभिक परिवार और साथ ही कुछ

1 K.M Kapadia op cit, pp 320-323
2 I P Desai Quoted by P D Devanandan and M N Thomas op cit p 99

अन्य अविवाहित, विधवा/विधुर या तलाक शुदा रिश्तदार जो कि मूल नाभिक परिवार के भाग नहीं थे. उदाहरण के रूप मे, एक विधवा अविवाहित बच्चों के साथ तथा उसके मृत पति के भाई की विधवा); (4) **नाभिक परिवार** (पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे), (5) **संपूरक नाभिक परिवार** (एक नाभिक परिवार और साथ ही कुछ अन्य वैधव्य-प्राप्त, तलाकशुदा या अविवाहित रिश्तदार जैसे पति की विधवा माता या पति का अविवाहित भाई या बहिन) (6) **वंशानुगत संयुक्त परिवार** (माता-पिता अविवाहित बच्चों के साथ और साथ ही एक विवाहित पुत्र और उसकी पत्नी एव अविवाहित बच्चे), (7) **संपूरक वंशानुगत संयुक्त परिवार** (एक वंशानुगत संयुक्त परिवार और साथ ही कुछ अन्य अविवाहित तलाक-शुदा या वैधव्य प्राप्त रिश्तदार, जैसे वृद्ध व्यक्ति की विधवा बहिन या उसका अविवाहित भाई), (8) **समानांतर (संपार्श्विक) संयुक्त परिवार** (दो या अधिक विवाहित भाई अपनी पत्नियों एव अविवाहित बच्चों सहित), (9) **संपूरक-समानांतर संयुक्त परिवार** (एक समानान्तर संयुक्त परिवार और साथ ही कुछ अन्य अविवाहित, वैधव्य-प्राप्त या तलाक शुदा रिश्तदार, जैसे विधवा माता या विधुर पिता या विवाहित भाइयों के अविवाहित भाई या बहिन); (10) **वंशानुगत-समानान्तर संयुक्त परिवार** (माता-पिता, उनके अविवाहित बच्चे और साथ ही दो या अधिक विवाहित पुत्र अपनी पत्नियां तथा विवाहित और अविवाहित बच्चों सहित), (11) **संपूरक वंशानुगत समानान्तर संयुक्त परिवार** (एक वंशानुगत समानान्तर संयुक्त परिवार और साथ ही कुछ अन्य रिश्तदार जो इसमें सम्मिलित किसी भी नाभिक परिवारों में से किसी के भी सदस्य नहीं है।) उदाहरण के रूप में एक पत्नी का भाई या सबसे बड़े पुरुष का अविवाहित भाई, (12) **अन्य** (वे परिवार जिनका अनुसन्धानकर्ताओं ने 'अन्य' की श्रेणी में रखा है और जिनकी कोई परिभाषा या वर्णन नहीं दिया गया है, साथ ही कुछ परिवार जो पूर्व में बतलाये प्रकारों के अन्तर्गत नहीं आते हैं, जैसे एक दादी का अपने पौत्र के साथ रहना और एक विधुर का अपनी पुत्र-वधू के साथ रहना)।[1] श्रीमती कालिण्डा ने परिवार के उपरोक्त बारह प्रकारों को दो श्रेणियों में शामिल किया है- प्रथम, अकेला व्यक्ति उप-नाभिक और नाभिक परिवार, द्वितीय संयुक्त एव संपूरक नाभिक परिवार।

कालिण्डा ने विभिन्न प्रदेशों तथा राष्ट्रों में संयुक्त अथवा नाभिक किस्म के परिवारों का विभिन्न मात्रा में पाये जाने की व्याख्या परिवार के विसर्जन या टूटने की प्रक्रिया के रूप में की है। भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों के अध्ययन से परिवार के टूटने के तीन भिन्न-भिन्न प्रतिमानात्मक-समय उभरते हैं। प्रथम प्रतिमानात्मक विघटन लडके के विवाह के कुछ महीनों या वर्षों में होता है (रामीरपत, तेलंगाना के लिए डुबे, नामहाली मैसूर के लिए बोल्स आमालाई कालार के लिए डूमान्ट तथा बोसीमार के लिये बलों द्वारा वर्णित)। द्वितीय प्रतिमान पिता की मृत्यु पर अथवा इसके शीघ्र बाद में विवाहित भाइयों का पृथक् होना है एक तीसरा प्रतिमान एक संयुक्त परिवार का टूटना है जब उसके प्रधान विवाहित भाई हों, जो कुछ वर्षों से अपने परिवारों सहित इकट्ठे रह रहे हों या उस समय भी जब परिवार के प्रधान के रूप में प्रथम चचेरे भाई हों। यह प्रतिमान सेनापुर उत्तर-प्रदेश के ठाकुरों में दिखलाई पड़ता है।

---

1 Pauline M Kolenda "Regional differences in Indian Family Structure (ed) Robert I Crane Regions and Regionalism in South Asian Studies An Exploratory Study p 140-150

प्रा आन्द्र बिताई न बताया कि हिन्दू समाज म अलग-अलग क्षत्रों मे परिवार की सरचना भिन्न-भिन्न रही है। यह मान्यता कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज में सयुक्त परिवार प्रतिमान ही पाया जाता रहा है, वास्तविकता की दृष्टि स सही नही है। बड सयुक्त परिवार जिनका हम परम्परागत रूप से हिन्दू समाज क विशिष्ट लक्षण क रूप मे मानत हैं वास्तव मे उसक किसी भाग स सम्बन्धित रह हैं। आपने बतलाया है कि उत्तरी भारत क गाँवो म बड सयुक्त परिवार राजपूत, जाट, भूमिहर तथा अन्य भू स्वामी जातिया स ही परम्परागत रूप स सम्बन्धित रह हैं। कुछ व्यापारिक समुदाय भी बड परिवारा स सम्बद्ध दिखलाई पडत हैं। इन वर्षो म किए गए ग्राम अध्ययनों स यह तथ्य स्पष्ट हाता है कि भू-स्वामी जातियो मे बड परिवार अधिक सामान्य हैं जबकि निम्न जातियों में नाभिक परिवार तुलनात्मक दृष्टि स अधिक हैं।[1] स्पष्ट है कि भारतीय परम्परागत सामाजिक सरचना में विभिन्न प्रकार क परिवार पाय जात रह हैं।

डॉ यागन्द्रसिह न बताया है कि भारत क कुछ प्रदशो म नाभिक या छाट परिवारों की प्रधानता परिवारो की सामाजिक सरचना म परिवर्तन का अभिसूचक नही हा सकती क्योंकि यह प्रतिमान एक पुराना प्रतिमान है।[2] डॉ आई पी दसाई तथा कई अन्य समाजशास्त्रियो न अवलाकित किया है कि भारत म नाभिक परिवार सयुक्त परिवार चक्र मे एक अवस्था ह। इस सम्बन्ध मे डॉ एस सी दुब न बताया ह कि सरल स वृहद ओर वृहद स सरल परिवारा क रूप म परिवर्तन स्पष्टत तीव्र है। पूर्ण तीन पीढियो वाल वृहद परिवार मिलना कठिन हैं और न ही बहुत स सरल परिवार प्राविधिक दृष्टि स अधिक लम्बी अवधि तक सरल बन रह सकत हैं।[3] इस सम्बन्ध म प्रा. दसाई न बताया है कि दा तरफा प्रक्रिया सयुक्तता स नाभिकता की और नाभिकता स सयुक्तता की ओर अभी भी चालू है ओर यह सयुक्तता क पक्ष म कार्य कर सकती है क्योंकि हमन दखा है कि सयुक्त रूप म बन रहन की इच्छा (वॉछा) मे विश्वास काफी रूप मे पाया गया।[4] परिवार की सरचना की दृष्टि स हम इस आर ध्यान दना हागा कि सयुक्त परिवार एक चक्रीय प्रक्रिया क माध्यम से अपनी निरन्तरता का बनाए रखता है। एक सयुक्त परिवार खण्डित हाकर शीघ्र ही कई नवीन सयुक्त परिवारा का जन्म नही दता है। सयुक्त परिवारा स पृथक् हान वाल निर्णायक भाग आरम्भ मे नाभिक परिवारो क रूप मे हात हैं आर कालान्तर म व सयुक्त परिवारा क रूप म विकसित हो जात हैं। अत नाभिक परिवार का एक नवीन प्रकार की पारिवारिक सरचना मानन क बजाय सयुक्त परिवार व्यवस्था का एक भाग माना जाना चाहिए।

यहाँ कुछ अन्य विद्वानो क विचारो स परिचित हाना भी आवश्यक है। बी क रामानुजम का कथन है कि वर्तमान म या ता आर्थिक आवश्यकताओ के कारण या व्यक्तिगत कारणों स, नाभिक परिवार स्थापित करन की आर झुकाव है।[5] इसी प्रकार क विचार व्यक्त करत हुए दवानदन ओर थॉमस ने लिखा है कि परिवर्तना क इतने कारको क कारण, गति नाभिक पारिवारिक प्रतिमान

1 Andre Beteille op cit p 238
2 Yogendra Singh op cit p 178
3 S C Dube Mens and Womens Role in India A Sociological Review (ed) Baravaa E Ward Women in New As a p 177
4 I P Desai op cit, p 146-147
5 B K Ramanujam The Ind an Family in Transition "The Indian Family in the Change and Challenge of the Seventies p 25

की ओर है, जिसमें एक पति-पत्नी अपने अविवाहित बच्चों के साथ पाए जाते हैं यह प्रतिमान व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सभी सदस्यों के, विशेष रूप से स्त्रियों और बच्चों के स्वतंत्र निर्णय का अधिक मात्रा में आदर करेगा।[1]

वर्तमान समय में बदलते हुए पारिवारिक प्रतिमानों से सम्बन्धित कुछ नवीन समस्याएँ भी सामने आई हैं। आजकल आर्थिक कारणों से स्त्रियाँ नौकरी करने लगी हैं और उनके पति उनके नौकरी करने को साधारणतः बुरा नहीं समझते। लेकिन कठिनाई यह है कि पुरुष, परिवार में उनकी बदली हुई प्रस्थिति और भूमिका को स्वीकार करने को तैयार नहीं। वे नहीं चाहते कि उनकी पत्नियाँ घरों में अपने परम्परागत उत्तरदायित्वों की तनिक भी अवहेलना करें जबकि वास्तविकता यह है कि नौकरी के कारण अब वे घर में उतना समय नहीं दे पातीं और न ही उतनी कुशलता से सब पारिवारिक कार्यों को पूर्ण कर पाती हैं। स्त्री की इस नवीन भूमिका ने परिवार में तनाव की स्थिति पैदा कर दी है क्योंकि वह नौकरी करती हुई पति, सास-ससुर, बच्चों तथा अन्य रिश्तेदारों की सब प्रकार की अपेक्षाओं को पूर्ण नहीं कर पाती है। आजकल की शिक्षित स्त्रियाँ विवाह के पश्चात् शीघ्र ही अपनी पृथक् गृहस्थी बनाना चाहती हैं।

वर्तमान में एक ओर विवाह की आयु बढ़ रही है और दूसरी ओर स्कूलों एवं कॉलेजों में लड़के-लड़कियों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का मौका मिला है। उन्हें आपस में भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। लेकिन इसके साथ ही लोगों के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों में विशेष अन्तर नहीं आया है। लड़के-लड़कियों के मिलने-जुलने को आज भी रोकने का प्रयत्न किया जाता है। अभी भी अधिकांश विवाह माता-पिता द्वारा ही निश्चित किए जाते हैं। लड़के-लड़कियों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर अवश्य मिला है लेकिन अपने जीवन-साथी के चुनाव में उन्हें अभी तक अपेक्षित स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। अपने मनचाहे लड़के के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाने के कारण आज अनेक लड़कियों में निराशा पाई जाती है। यह निराशा आगे चलकर उनके पारिवारिक सम्बन्धों पर कुप्रभाव डालती है। आज समय बदल चुका है, मूल्यों में भी कुछ परिवर्तन आया है और ऐसी दशा में व्यवहार के परम्परागत तरीकों को बनाए रखना सम्भव नहीं है।

अभी तक माता-पिता अपने लड़कों से यह आशा करते हैं कि वे उनकी वृद्धावस्था में देखभाल करेंगे, उन्हें सुरक्षा प्रदान करेंगे। परम्परागत मूल्यों के अनुसार माता-पिता की सेवा करना, विशेषतः बुढ़ापे में सन्तान का पवित्र दायित्व समझा जाता था। आज भी सिद्धान्त रूप में इसे स्वीकार अवश्य किया जाता है। लेकिन आज की आर्थिक कठिनाइयों के समय में कई लड़के यह दायित्व निभाने को तैयार नहीं हैं। यदि सभी पुत्र मिलकर इस दायित्व को पूरा करें तब तो कोई कठिनाई नहीं आती, परन्तु यह भार एक पुत्र पर ही आ पड़ता है तो तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। माता पिता की परिवार में सिद्धान्त रूप में सर्वोपरि सत्ता होती है परन्तु व्यवहार में वे आश्रितों की स्थिति में पहुँच जाते हैं। यह स्थिति काफी सीमा तक पारिवारिक तनाव के लिए उत्तरदायी बन जाती है।

नवोदित नाभिक परिवारों में माता पिता और सन्तान के बीच अन्तःक्रिया अधिक पाई जाती है सम्बन्धों में अधिक घनिष्ठता दिखलाई पड़ती है। दोनों ओर से एक-दूसरे से काफी अपेक्षाएँ

1 P D Devanandan & M M Thomas op cit p 116

की जाती हैं। शिक्षा के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण माता-पिता अपने बालकों से यह आशा करते हैं कि स्कूल और कॉलेजों में उनकी प्रगति श्रेष्ठतम हो। बालक माता-पिता से अधिकाधिक सुविधाओं की माँग करते हैं; उन्हें अच्छे से अच्छे वस्त्र चाहिए और सिनेमा देखने, रेस्तरां में बैठने तथा पिकनिक पार्टी में जाने के लिए खर्चे के लिए राशि चाहिए। इसके अलावा, ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों में शिक्षा प्राप्त करने हेतु आने वाले छात्र, कालान्तर में यह महसूस करने लगते हैं कि उनमें और उनके परिवार में कोई भी समानता नहीं रही है, वे आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर अपने आपको परिवार से भिन्न समझने लगते हैं। माता-पिता यह सोचने लगते हैं कि उनकी आशा और विश्वास का केन्द्र (पुत्र) उनसे दूर होता जा रहा है। यह स्थिति तनाव और निराशा को उत्पन्न करती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय परिवार के परिवर्तनीय प्रतिमानों से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ हैं जिनका निदान आवश्यक है। आज आवश्यकता इस बात की है कि वैज्ञानिक शोध कार्यों द्वारा वास्तविकता का पता लगाया जाए, सही स्थिति के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त की जाए और भारतीय परिवार के कल्याण और विकास की दृष्टि से नए तरीकों को ढूँढ निकाला जाए। कानून बना देने मात्र से परिवार सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण नहीं किया जा सकेगा, इसके लिए प्रचार द्वारा स्वस्थ जनमत के निर्माण और वांछित परिवर्तन के लिए लोगों को तैयार करने की आवश्यकता है।

प्रश्न

1. परिवार की परिभाषा दीजिए। आधुनिक समाज में इसके महत्त्वपूर्ण प्रकारों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।
2. विभिन्न अध्ययनों के आधार पर भारत में परिवार में हो रहे परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
3. आधुनिक परिवार में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन कीजिये।



22

भारत में स्त्रियों की स्थिति : प्रमुख समस्याएँ
(Status of Women in India : Major Problems)

अनेक पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता रही है कि स्त्री कुछ जन्मजात दोषों के कारण पुरुष के समान नहीं मानी जा सकती, उसे पुरुष के समान स्तर पर नहीं रखा जा सकता। डॉ. रूबेक का कथन है कि स्त्रियों में जन्म से अस्थिरता का दोष पाया जाता है।[1] प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड का विचार है कि स्त्रियों के मस्तिष्क में ईर्ष्या भरे होने से उनमें न्याय की भावना बहुत कम होती है।[2] स्त्रियों के सम्बन्ध में भारतीय समाज में इस प्रकार की कोई भ्रान्त धारणाएँ नहीं पाई जाती हैं। यहाँ स्त्री को सम्मानपूर्ण स्थिति प्राप्त रही है। उसको शक्ति की साकार प्रतिमा के रूप में माना गया है वह सुख-समृद्धि और ज्ञान की प्रतीक समझी गई है। यहाँ स्त्री की लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा के रूप में आराधना की जाती रही है। स्त्री के अभाव में पुरुष को अधूरा माना गया है, उस पुरुष की अर्द्धांगिनी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति काफी उन्नत थी। कालान्तर में पुरुष इनके अधिकारों को छीनता गया और इनकी स्थिति में गिरावट आती गई। मध्य-युग में इनकी स्थिति काफी दयनीय हो गयी और इन पर समाज द्वारा अनेक निर्योग्यताएँ लाद दी गई। 19वीं शताब्दी में इनकी स्थिति में सुधार लाने के व्यापक प्रयास किए गये। इन प्रयासों में समाज सुधारकों का विशेष योग रहा है। वे इस बात के प्रति जागरूक थे कि किसी भी समाज की प्रगति और उन्नयन के लिए यह आवश्यक है कि स्त्रियों को मानवोचित सम्मान और पुरुषों के बराबर अधिकार दिये जाएँ। इस देश में स्त्रियों को अपनी स्थिति उन्नत करने के लिए उतना प्रयास नहीं करना पड़ा जितना पाश्चात्य देशों की स्त्रियों को। 20वीं शताब्दी में स्त्रियों ने भी अपनी स्थिति सुधारने हेतु पुरुषों के प्रयत्नों में योग दिया। उन्होंने समाज-सुधार कार्यक्रमों एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया। परिणामस्वरूप राष्ट्र नेता स्त्रियों की अपार शक्ति से परिचित होने लगे। स्त्रियों के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आता गया और धीरे-धीरे स्त्रियों को सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में अनेक अधिकार प्राप्त हुए।

हमें समाज में स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते समय इस बात का भी ध्यान में रखना होगा कि अलग-अलग कालों में स्त्रियों की स्थिति में भिन्नता पाई जाती रही है। उच्च जातियों और निम्न जातियों में स्त्रियों की स्थिति में अन्तर रहा है। निम्न जातियों की स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से अधिक आत्म-निर्भर और सामाजिक दृष्टि से अधिक स्वतन्त्र रही हैं। यही बात कई जनजातियों के सम्बन्ध में भी प्रतीत होती है। आज अनेक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप स्त्रियाँ समाज में वह स्थान प्राप्त करती जा रही है जो उन्हें प्रारम्भिक वैदिक युग में प्राप्त था।

1 A.A. Roback : The Psychology of Character, pp. 609-611
2. Freud : New Introductory Lectures on Psycho-Analysis, p. 134

विभिन्न कालो मे स्त्रियों की स्थिति
(Status of Women in Different Periods)

1. ऋग्वैदिक काल (Rig-vedic Period)
(2500 वर्ष ईसा पूर्व से 1500 वर्ष ईसा पूर्व तक)

इस काल में स्त्रियों को स्थिति काफी उन्नत थी। इस समय स्त्री-पुरुषों की स्थिति में कोई असमानता नही थी। लडकों के समान ही लडकियों के लिए भी उपनयन संस्कार को व्यवस्था थी और उन्हें भी ब्रह्मचर्य काल में शिक्षा प्राप्त करन का सुअवसर मिला हुआ था। अथर्ववद में कहा गया है कि वैवाहिक जोवन में स्त्री की सफलता उसक उचित प्रशिक्षण पर निर्भर करती है, जो उसे ब्रह्मचर्य काल में मिलता है। इस समय लडकियों का विवाह युवावस्था में ही होता था। साधारणत. उनका विवाह सालह-सत्रह वर्ष की आयु मे हाता था। जीवन-साथी के चुनाव में शिक्षित लडकियों की राय का काफी महत्त्व था। इस समय प्रम-विवाह भी हात थे। स्त्रियों को अलग से एकान्त में नही रखा जाता था और धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में वे सम्मिलित होती थीं। विवाह स्त्री-पुरुष दानों के लिए धार्मिक दृष्टि स आवश्यक समझा जाता था। आदर्श विवाह धार्मिक संस्कार क रूप में था जिसक द्वारा दम्पति का गृह का सयुक्त स्वामी माना जाता था। एक-विवाह प्रथा का प्रचलन था यद्यपि धनी परिवारों और राज-घरानों में बहु-विवाह की रीति भी प्रचलित थी। इस काल में सती प्रथा नही पाई जाती थी। विधवा अपनी इच्छानुसार पुनर्विवाह या नियोग के द्वारा सन्तानोत्पत्ति कर सकती थी। इस काल में स्त्रियों का साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त नही थे। लकिन यहाँ हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि इस समय पितृसत्ताक ही परिवार की सम्पति का स्वामी एव सरक्षक माना जाता था, कवल स्त्रियों का ही नही अन्य पुरुष सदस्यों को भी परिवार की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त नही थ। कुछ थाड-स एसे उल्लख मिलते हैं जिनसे प्रतीत हाता है कि इस काल में कभी-कभी विवाह क लिए लडकियों को बेचा जाता था। पत्नी को पति की सम्पत्ति समझ जाने की पुरानी परम्परा का अभी कुछ सीमा तक प्रचलन था।

यह कहा जा सकता है कि इस काल में स्त्रियों की स्थिति काफी सन्तोषजनक थी। उन्हें जीवन क विभिन्न क्षत्रों में काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी और समग्र रूप में समाज उनको आदर की दृष्टि से देखता था। इस युग में अनेक विदुषी महिलाएँ हुई, जैसे लोपामुद्रा, विश्ववारा, शिकावा, निवावारी घोषा एव इन्द्राणी आदि, जिन्होंन अनक मन्त्र बनाए। इन विदुषी स्त्रियों के उदाहरणों से प्रतीत हाता है कि इस काल में पर्दा-प्रथा नही थी।

2. उत्तरकालीन संहिताओ, ब्राह्मण ग्रंथो एवं उपनिषदो का काल
(Age of Later Sanhitas, Brahmans and Upniashads)
(1500 वर्ष ईसा पूर्व से 500 वर्ष ईसा पूर्व तक)

इस समय समाज क उच्च वर्गों में लडकियों के लिए उपनयन सस्कार जारी रहा और उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था भी थी। परन्तु धीर-धीरे स्त्री-शिक्षा का ह्रास होता जा रहा था। केवल कुछ उच्च घरानों में लडकियों की शिक्षा पर अब ध्यान दिया जाता था। स्त्रियों के धार्मिक अधिकार भी कुछ सीमित किए जा रहे थ। इस काल मे विवाह की आयु में कोई अन्तर नही आया। लडकियों का विवाह करीब सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न किया जाता था और क्षत्रियों में स्वयवर

होते थे। इस प्रकार, इस समय पति के चुनाव में लड़की की इच्छा को महत्त्व दिया जाता था। विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद की भी आज्ञा थी, लेकिन इसका लाभ बहुत कम लोगों द्वारा उठाया जाता था। विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार था, वह अपने देवर अथवा किसी अन्य व्यक्ति के साथ विवाह कर सकती थी। इस समय सती प्रथा का प्रचलन नहीं था। पर्दा-प्रथा नहीं थी, परन्तु इस काल में स्त्रियों का सार्वजनिक सभाओं में सम्मिलित होना प्रायः बन्द हो चुका था।

इन दो कालों में स्त्रियों की उन्नत दशा और अपेक्षाकृत सन्तोषजनक स्थिति होने के कुछ कारण हैं। डॉ. अल्तेकर का कथन है कि पुरुषों के युद्ध कार्यों में लगे रहने के कारण स्त्रियाँ कृषि युद्ध-सामग्री के निर्माण एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं में सक्रिय भाग लेती थीं, वे समाज की उपयोगी सदस्याएँ थीं। वैदिक काल में युद्ध की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, अधिकाधिक वीरों की आवश्यकता थी। इस कारण प्राग-ऐतिहासिक काल में प्रचलित सती प्रथा को समाप्त किया जा चुका था, नियोग और पुनर्विवाह की आज्ञा थी। इस समय प्रत्येक दम्पत्ति को दस पुत्र सन्तानों को जन्म देने का उपदेश दिया जाता था। धर्म के प्रभाव से स्त्रियों की सन्तोषजनक स्थिति बनी रही। धार्मिक कार्यों में पत्नी की महत्ता को स्वीकार किया गया था। लड़कियों का विवाह युवावस्था में होने के कारण जीवन-साथी के चुनाव में, उनकी इच्छा-अनिच्छा का ध्यान रखा जाता था।

3. सूत्रों, महाकाव्यों और प्रारम्भिक स्मृतियों का काल (Period of Sutras, the Epics and Early Smritis) (500 वर्ष ईसा पूर्व से 500 वर्ष ईसा पश्चात्)

इस काल में ही महाभारत की रचना हुई। यह एक संक्रान्ति-काल था, जिसमें स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में विरोधी विचार पाये जाते हैं। उदाहरण के रूप में भीष्म पितामह ने कहा है कि स्त्री को सदैव पूज्य मान कर उससे स्नेह का व्यवहार करना आवश्यक है। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है और उनकी अनुपस्थिति में सभी कार्य पुण्य-रहित हो जाते हैं।[1] एक अन्य स्थान पर स्त्रियों की प्रकृति के सम्बन्ध में भीष्म पितामह ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि स्वभाव से स्त्री में लालच को दबाने की क्षमता नहीं होती और इसलिए उसे हमेशा किसी पुरुष का संरक्षण मिलना अनिवार्य होता है।[2] इसी काल में जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा। बौद्ध धर्म में स्त्रियों को सम्माननीय स्थान प्राप्त था। महान् शासक अशोक की बहिन संघमित्रा बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु श्रीलंका तक गई थी। थेरीगाथा के लेखकों में 83 महिला-लेखक थीं, जिनमें से 32 ने तो अविवाहित जीवन बिताया। जयन्ती नामक राजकुमारी ने स्वयं महावीर स्वामी से दीक्षा ली थी और आजीवन अविवाहित रही। इन तथ्यों के आधार पर डॉ. अल्तेकर का कथन है कि हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि खुशहाल परिवारों में बहुत-सी लड़कियों को ईसा के करीब 300 वर्ष पूर्व तक उचित मात्रा में शिक्षा प्रदान की जाती थी।[3] यह कहा जा सकता है कि इस समय तक स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक थी।

1 महाभारत, अनुशासन पर्व 46/5
2 महाभारत अनुशासन पर्व 43/19-21
3 A S Altekar op cit, p 15

ईसा के करीब 300 वर्ष पूर्व स भारतीय समाज मे कुछ एसे सामाजिक परिवर्तन आने लग जिनके कारण स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई। डॉ अल्तेकर के अनुसार, आर्य गृह में अनार्य स्त्री का प्रवेश स्त्रियों की सामान्य स्थिति की अवनति का मुख्य कारण है। यह अवनति ईसा के करीब 1000 वर्ष पूर्व धीरे-धीरे अति सूक्ष्म रूप मे प्रारम्भ हुई और करीब 500 वर्ष परचात् काफी स्पष्ट मालूम पडने लगी।[1] यहाँ क मूल-निवासियों पर विजय प्राप्त कर आर्यों ने उन्हें अपनी सामाजिक सरचना मे चौथे वर्ण अर्थात् शूद्र क रूप म स्थान दिया, उन्हें अर्द्ध-दासों के रूप में सेवा का कार्य सौंपा। आर्यों और मूल निवासियों-शूद्रों (अर्द्ध-दासों) मे आपस मे विवाह होने लगे। महाभारत मे इस प्रकार क विवाह के अनक उदाहरण मिलते हैं, जैसे-अर्जुन ने नाग राजकुमारी युलुपी के साथ विवाह किया था। धीरे-धीरे एस विवाह सामान्य होत गए। अनार्य स्त्रियाँ अशिक्षित थीं, सस्कृत भाषा का उन्हें ज्ञान नही था, वैदिक ग्रन्थो का उन्होंने अध्ययन नही किया था। इसके अतिरिक्त कर्मकाण्डो की जटिलता क कारण स्त्रियों का धार्मिक सस्कारों में सक्रिय रूप से भाग लना सम्भव नही हो सका। जब आर्यों का भारत जैस समृद्धिशाली दश पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया, तो उन्होंने यहाँ आरामदायक जीवन बिताना आरम्भ किया और लडकियों के विवाह की आयु घटती गई। पुत्र सतान का धार्मिक कारणों स महत्त्व बढ गया। देवताओ, ऋषियों और माता-पिता क ऋण स मुक्त होन क लिए पुत्र सन्तान का जन्म दना आवश्यक बतलाया गया और पुत्र सन्तान की प्राप्ति क लिए लडकी के प्रौढ होत ही उसका शीघ्रातिशीघ्र विवाह कर दने की बात रखी गई।

लडकियों को शिक्षा और धार्मिक सस्कारों के सम्पादन के अधिकार से वचित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि लडकियो के लिए उपनयन सस्कार समाप्त हो गया और उनके विवाह की आयु को घटाने की ओर झुकाव होने लगा। यह कहा गया है कि लडकियों के यौवनारम्भ क समय ही उनका विवाह कर दिया जाना चाहिए। ईसा क करीब 200 वर्ष परचात् यह बताया गया है कि विवाह ही लडकियों क लिए उपनयन सस्कार है, अत नौ-दस वर्ष की आयु में ही उनका विवाह सम्पन्न कर दना चाहिए। डॉ. अल्तेकर ने कहा कि उपनयन सस्कार की समाप्ति, शिक्षा की उपक्षा तथा विवाह की आयु क घटाने का स्त्रियों की प्रतिष्ठा और स्थिति पर अनर्थकारी प्रभाव पडा।[2] करीब इसी समय धीरे-धीरे विधवा विवाह और नियोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। पत्नी के लिए विवाह अटूट बन्धन बना दिया गया। स्मृतिकारो न लिखा है कि पत्नी को अपने पति को परमेश्वर मानना चाहिए, चाहे उसम कितने ही दोष क्यो न हो। स्त्रियों की अशिक्षा और अज्ञानता के कारण धीरे-धीरे उनक अधिकार छिनते जा रहे थे। पुरुष अपनी पत्नी को छोड सकता था, अन्य से विवाह कर सकता था, परन्तु स्त्री को इस प्रकार का अधिकार नही दिया गया।

4. उत्तरकालीन स्मृतियाँ, टीकाकारो एवं सार संग्रह लेखको का काल
(Period of Later Smritis, Commentators and Digest-writers)
(ईसा के 500 वर्ष पश्चात् से 1000 वर्ष पश्चात् तक)

इस काल को सामाजिक और धार्मिक सकीर्णता का युग कहा जा सकता है। चन्द्रावती लखनपाल का कथन है कि इस काल मे स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी से याचिका के रूप में दिखायी देने लगी,

1 Ibid p 345
2 Ibid p 348

माता सेविका तथा जीवन और शक्ति प्रदायिनी देवी अब निर्बलताओं की प्रतीक बन गई। स्त्री, जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व द्वारा देश के साहित्य और समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी, अब परतन्त्र, पराधीन, निस्सहाय और निर्बल बन चुकी थी।[1] स्त्रियों के लिए उपनयन संस्कार समाप्त हो चुका था, अत: उन्हें शूद्र के समान स्थिति प्रदान की गई। लडकियों के विवाह के लिए दस वर्ष की आयु को प्रस्तावित किया गया, परन्तु आदर्श रूप मे आठ वर्ष की लडकी का विवाह करना ही उचित बताया गया। इस समय क्षत्रिय परिवारों मे लडकियों का विवाह अवश्य चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु मे होता था। ईसा के पश्चात् 12 वी शताब्दी तक कुछ धनी परिवारों को छोडकर शेष लोगों में शिक्षा प्राय समाप्त हो चुकी थी। कम आयु मे विवाह होने के कारण जीवन-साथी के चुनाव में लडकियों की इच्छा जानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था। इसी समय बहु-पत्नी विवाह का प्रचलन राजा महाराजाओं की देखा-देखी बढता गया। ईसा के 1000 वर्ष पश्चात् सम्मानित परिवारों की विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। 13वी शताब्दी में मुस्लिम स्त्रियों में प्रचलित पर्दा-प्रथा को हिन्दू स्त्रियों ने अपनाना आरम्भ कर दिया।

इस काल में स्त्रियों को स्थिति गिराने मे अनेक शास्त्रकारों द्वारा दी गई व्यवस्थाओं का योग रहा। इस समय पातिव्रत्य का एक-तरफा आदर्श प्रस्तुत किया गया। स्त्रियों को वैराग्य में बाधक मानने के कारण भी उनकी निन्दा की गई है। स्त्रियों को पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित कर पतित करने वाला बतलाया गया है। स्वयं मनु ने कहा है कि स्त्रियाँ कभी भी स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं हैं बाल्यावस्था मे उन्हें पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण मे रहना चाहिए।[2] नारी के सम्बन्ध में व्यक्त इन विचारों ने पुरुषों को उनके अधिकारों से वंचित करने, उन्हें भोग्य-वस्तु समझने और उन पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने में योग दिया। महाभारत तथा कुछ स्मृतियों में स्त्रियों को आदर के योग्य बताया गया है।

वस्तुत इस काल में स्त्रियों की सामान्य स्थिति में गिरावट आई। डॉ अल्तेकर ने लिखा है, "इस तरह ईसा के 200 वर्ष पूर्व से 1800 वर्ष पश्चात् के करीब 2000 वर्षों के काल में स्त्रियों की स्थिति लगातार गिरती गई, यद्यपि माता-पिता उसे दुलारते थे, पति उससे प्रेम करता था और बच्चे उसका आदर करते थे। सती-प्रथा के पुन प्रचलन, पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध, पर्दा-प्रथा के विस्तार और बहु-विवाह की व्यापकता ने उसकी स्थिति को बहुत निकृष्ट कर दिया।"[3] बीसवी शताब्दी से पूर्व तक स्त्रियों की ऐसी स्थिति का मुख्य कारण हल की खेती पर आधारित समाज-व्यवस्था प्रतीत होता है। ऐसे समाजों में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों का विशेष महत्त्व पाया जाता है और स्त्री का स्थान सामान्यत: पुरुष से नीचा होता। पारिवारिक दृढता बनाए रखने की दृष्टि से सम्भवत स्त्री की इस प्रकार की स्थिति आवश्यक थी।

ब्रिटिश काल अर्थात् 18 वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों से 20 वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक स्त्रियों की निर्योग्यताओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों मे स्त्रियों की स्थिति पूर्ववत ही बनी रही। इस काल में अंग्रेजों

1 चन्द्रावती लखनपाल, स्त्रियों की स्थिति पृष्ठ 25

2 पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।मनुस्मृति।।

3 Dr A S Altekar op cit pp 359-360

का यह प्रयत्न रहा कि लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया जाए। अपनी इस नीति के कारण उन्होंने भारत में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में कोई विशेष रुचि नहीं ली। इस देश में स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए अनेक कारण उत्तरदायी रहे हैं। इन कारकों में मुख्य स्त्री-शिक्षा की उपेक्षा, बाल-विवाह, बहुपत्नी विवाह, पर्दा-प्रथा, कन्या-दान का आदर्श, स्त्रियों की पुरुषों पर आर्थिक-निर्भरता, मुसलमानों के आक्रमण तथा संयुक्त परिवार व्यवस्था आदि हैं।

सुधार आन्दोलन एवं स्त्रियों की वर्तमान स्थिति
(Reform Movement and Present Status of Women)

19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारतीय समाज में वैचारिक परिवर्तन प्रारम्भ हो चुका था। कुछ चिन्तनशील व्यक्ति यह सोचने लगे कि विधवा को तो पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित किया गया है, किन्तु पुरुष स्वयं पहली पत्नी के जीवित होते हुए भी दूसरी और तीसरी स्त्री से विवाह कर सकता है। पति चाहे कितना ही क्रूर, दुराचारी और दुश्चरित्र क्यों न हो, पत्नी के लिए पूजनीय है, देवता-तुल्य है। पति चाहे कैसा ही निकृष्ट जीवन व्यतीत क्यों न करता हो, पत्नी को पतिव्रत का पालन करना चाहिए। स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् जिन्दा चिता में जलने के लिए बाध्य किया गया और पुरुष को पत्नी की मृत्यु के बाद शीघ्र ही दूसरा विवाह करने का आदेश दिया गया और यह भी धर्म के नाम पर, धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन हेतु। हिन्दू समाज में नैतिकता का यह दोहरा मापदण्ड मनु के समय से लेकर सन् 1950 तक चलता रहा। समाज-सुधारकों ने इस प्रकार की स्थिति को अनुचित और अन्यायपूर्ण माना, इसका विरोध किया और इसको परिवर्तित करने का प्रयास किया।

स्त्रियों की स्थिति को सुधारने हेतु समाज-सुधारकों एवं नेताओं द्वारा किए गए प्रयत्नों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि निर्योग्यताओं से अधिकांशतः उच्च जातियों की स्त्रियाँ ही पीड़ित रही हैं। 19वीं शताब्दी में प्रगतिशील लोगों के विचारों और दृष्टिकोणों में अनेक कारणों से परिवर्तन हुए। पाश्चात्य उदारवादी विचारों से प्रभावित होकर ये लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों में विश्वास करने लगे। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की और उनके प्रयत्नों से 1829 में सती प्रथा कानून द्वारा बन्द की गई। ब्रह्म समाज ने स्त्री-पुरुष की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्रस्तावित किया तथा विधवा-पुनर्विवाह के प्रचलन का प्रयास किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। आपने बाल-विवाहों को रोकने, पर्दा-प्रथा को समाप्त करने और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बहु-पत्नी विवाह का विरोध और विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन किया। आपके अथक् प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1856 में "विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम" पारित किया गया। अधिनियम अवश्य पारित हो गया, लेकिन विधवाओं के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने में करीब सौ वर्ष लग गए। केशवचन्द्र सेन के प्रयासों के कारण 1872 में "विशेष विवाह अधिनियम" पास हुआ, जिसके द्वारा लड़कियों के विवाह की आयु चौदह वर्ष, अन्तर्जातीय विवाह एवं विधवा-पुनर्विवाह को कानूनी मान्यता तथा एक-विवाह की प्रथा को आवश्यक कर दिया गया। सन् 1874 में कानून द्वारा स्त्री-धन के क्षेत्र को विस्तारित किया गया और स्त्री द्वारा अर्जित किए गए धन पर उसका अधिकार मान लिया गया। इसी शताब्दी में बहरामजी मलाबारी के प्रयत्नों से 12 वर्ष से कम आयु की लड़की के विवाह पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

19वी शताब्दी में लड़कियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था भी की गई। पिछले करीब 2000 वर्षों से कुछ उच्च वर्णों की स्त्रियों को छोड़कर, शेष शिक्षा की सुविधाओं से वंचित रही। जहाँ 19वी शताब्दी के आरम्भ में स्त्री-शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था नही थी, वहाँ इस शताब्दी के मध्य में काफी मात्रा में प्राथमिक स्कूल प्रारम्भ किए गए जिनमें हजारों की संख्या में लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करने लगी। इसी समय व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त कर अनेक स्त्रियाँ अध्यापिकाएँ, नर्स और डॉक्टर भी बनने लगी थी। इस एक शताब्दी की अवधि में भारतीय समाज में वस्तुत: क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। जहाँ 19वी शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्री-शिक्षा बिल्कुल नही थी, वे अज्ञानान्धकार में डूबी हुई थी, वहाँ इसी शताब्दी के अन्त में लाखों लड़कियाँ स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त करने लग गईं।

इसी शताब्दी में स्त्रियो की स्थिति को उन्नत करने की दृष्टि से अनेक विदुषी महिलाओं ने प्रयास किए। रमाबाई संस्कृत की महान् विदुषी महिला थी। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर स्त्रियों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय से लोगों को परिचित करवाया। उन्होंने आर्य-महिला समाज आरम्भ किया जहाँ 1882 में 300 स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही थी। 1889 मे विधवाओं के लिए उन्होंने श्रद्धा-सदन आरम्भ किया। इसी काल में रमाबाई रानाडे द्वारा स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयास किया गया। आपने अशिक्षित स्त्रियों एवं विधवाओं के लिए शिक्षण व्यवस्था की तथा पूना सेवा सदन और नर्सिंग मेडिकल एसोसियशन आरम्भ किया। इसी समय मेडम कामा, तारुदत्त तथा स्वर्णकुमारी देवी ने भी स्त्रियों में जागृति लाने का प्रयास किया। 19वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में स्वामी विवेकानन्द ने स्त्रियो की स्थिति उन्नत करने के लिए लोगों को विशेष प्रेरणा दी। आपने कहा, "वह देश और वह राष्ट्र जिसने स्त्रियो का आदर नही किया, कभी भी महान् नहीं बन सका और न ही कभी भविष्य में बन पायेगा।" आपने बताया कि सभी प्राणियों में एक और समान आत्मा विद्यमान है। इसी आधार पर आपने स्त्रियो के साथ पुरुषों के समान व्यवहार किए जाने पर जोर दिया। आपने कहा कि शिक्षा के माध्यम से स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा स्त्रियों को अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाने के योग्य बनाया जाना चाहिए।[1]

सन् 1871 में एनीबीसन्ट (Annie Beasant) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षा चुनी गई। आपके नेतृत्व मे इस अधिवेशन मे वोट देने और चुनाव में खड़े होने के अधिकार के सम्बन्ध में स्त्री पुरुष समानता को स्वीकार किया गया। महात्मा गाँधी ने अपने राजनैतिक आन्दोलन में स्त्रियों को सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया। आप स्त्री-पुरुषों की समानता के पूर्ण समर्थक थे। आपने कहा कि प्राचीन धर्म ग्रन्थों में सामाजिक असमानता तथा सामाजिक अन्याय को कही भी मान्यता प्रदान नही की गई है, स्त्रियो को भी पुरुषों के समान पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। गाँधीजी ने बाल-विवाह को अनैतिक और अमानवीय बतलाते हुए इसकी कटु आलोचना की तथा विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन किया। इससे स्पष्ट है कि समाज-सुधारकों एवं नेताओं ने स्त्रियों की स्थिति सुधारने और समाज में उन्हें उचित स्थान दिलवाने के सफल प्रयास किये।

---

1 Swami Vivekanand Quoted by B Kuppuswamy op cit., p 187.

19वीं शताब्दी में किए गए विविध प्रयत्नों के परिणामस्वरूप स्त्रियों में नव-जागरण होने लगा। उनमें चेतना जागने लगी और अपने विकास हेतु कुछ करने का वे उद्यत होने लगीं। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में स्त्रियों का सभी प्रकार की निर्योग्यताओं का समाप्त करने एवं उन्हें समाज में उन्नत स्थान दिलाने हेतु संगठित स्त्री-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। मार्गेट नोबल (सिस्टर निवेदिता), एनीबेसेन्ट तथा मार्गेट कुजनस् नामक तीन पाश्चात्य महिलाओं ने भारत में स्त्री-आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण योग दिया। सन् 1917 में मद्रास में भारतीय महिला समिति (Indian Women's Association) की स्थापना की गई। इसी समय स्त्रियाँ राजनीतिक अधिकार एवं शिक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए लगातार प्रयत्न करने और विदेशी हुकूमत के सम्मुख समय-समय पर अपनी माँग रखने लगीं। प्रबुद्ध महिलाओं के प्रयत्नों से देश में "अखिल भारतीय महिला सम्मेलन" (All India Women's Conference) का गठन किया गया। स्त्री-शिक्षा का प्रसार इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था और इसी दृष्टि से 1932 में इसके द्वारा दिल्ली में "लेडी इर्विन कॉलेज" की स्थापना की गई। बाल-विवाहों का रोकने, बहु-विवाह को समाप्त करने, विवाह में अधिक खर्च को बन्द करने एवं स्त्रियों को पुरुषों के समान साम्पत्तिक अधिकार दिलाने हेतु इस संस्था ने प्रचार एवं संघर्ष किया। इस संगठन के अतिरिक्त विश्वविद्यालय महिला संघ, भारतीय ईसाई-महिला मण्डल एवं कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट आदि के द्वारा भी स्त्रियों में जागृति लाने, उनकी निर्योग्यताओं को दूर करने एवं स्थिति को सुधारने में उन्हें योग देने हेतु सराहनीय कार्य किए गए।

सुधार आन्दोलन और महिला संगठनों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप संविधान में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव स्वीकार नहीं किया गया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश में अनेक सामाजिक अधिनियम पारित किए गए हैं जिन्होंने स्त्रियों की निर्योग्यताओं को दूर करने, पुरुष के समान उन्हें अधिकार प्रदान करने और उनकी स्थिति को सुधारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

"हिन्दू विवाह अधिनियम 1955" के द्वारा परित्याग, न्यायिक पृथक्करण एवं विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद की व्यवस्था की गई है तथा एक विवाह प्रथा को समस्त हिन्दुओं के लिए अनिवार्य कर दिया गया है।

'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956' के द्वारा पिता की सम्पत्ति में पुत्र के समान ही पुत्रियों को साम्पत्तिक अधिकार दिया गया है।

'हिन्दू नाबालिग और संरक्षता अधिनियम, 1956' के द्वारा पिता की मृत्यु पर नाबालिग बच्चे की सम्पत्ति के प्राकृतिक संरक्षक के रूप में माता को प्रथम माना गया है।

'हिन्दू दत्तकग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम, 1956' के द्वारा विधवाओं को अपनी सम्पत्ति के उपभोग के लिए गोद लेने का अधिकार दिया गया है। यह अधिनियम स्त्री और पुरुष, दोनों को ही भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार भी प्रदान करता है।

1956 में पारित "स्त्रियों और कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम" द्वारा वेश्यावृत्ति को रोकने का प्रयास किया गया है।

दहेज प्रथा को रोकने के उद्देश्य से सन् 1961 में दहेज निरोधक अधिनियम भी बनाया गया। विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और प्रेम-विवाह के मार्ग में अब कोई कानूनी अड़चन नहीं है। परिवार नियोजन के उद्देश्य से "गर्भ गिराना" अब "भ्रूण हत्या" नहीं समझा जाएगा।

विवाह की न्यूनतम आयु भी अब लड़कियों के लिए 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष है।

इन सब कानूनी व्यवस्थाओं के द्वारा स्त्रियों की सभी निर्योग्यताओं को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। अधिक आयु में लड़की का विवाह, पिता की सम्पत्ति में उसका अधिकार, विधवा का पति की सम्पत्ति में हिस्सा, उसे पुनर्विवाह करने की आज्ञा आदि कुछ ऐसे कानूनी परिवर्तन हैं जो हिन्दू जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकेंगे। इन कानूनी परिवर्तनों को हिन्दू समाज धीरे-धीरे आत्मसात् करता जा रहा है।

उपर्युक्त कानूनी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भी महिला-कल्याण (Women Welfare) की दृष्टि से सरकार द्वारा काफी कुछ किया गया है। इन सब प्रयत्नों का उद्देश्य यही रहा है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति उन्नत हो, जीवन के सभी क्षेत्रों में वे पुरुषों के समकक्ष हो और विकास कार्यों में वे भी सक्रिय रूप से भागीदार बनें। सरकार द्वारा कानूनी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त महिलाओं के कल्याण की दृष्टि से जो कुछ किया गया, उसका उल्लेख 'नियोजित परिवर्तन : दिशाएँ एवं प्रमुख कार्यक्रम' नामक अध्याय में 'भारत में नियोजित परिवर्तन' शीर्षक के अन्तर्गत उपशीर्षक-II 'महिला कल्याण' के अन्तर्गत किया गया है।

स्त्रियों की स्थिति सुधारने में शिक्षा सुविधाओं ने विशेष योग दिया है। शिक्षा स्त्रियों को आत्म-विश्वास से युक्त आर्थिक स्वावलम्बन की क्षमता और परम्परागत स्थिति को परिवर्तित करने में योग देती है। डॉ. पणिक्कर का कथन है कि न तो हिन्दू और न ही हिन्दू परम्पराओं ने स्त्रियों में शिक्षा को हतोत्साहित किया है। भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक समय से ही हम ऐसी स्त्रियों को जानते हैं जो विचारक, कवि और विदुषी रही हैं, लेकिन यहाँ शिक्षा का व्यापक प्रसार नहीं था। शिक्षा ब्राह्मणों में तथा कहीं-कहीं राजघरानों में सीमित थी। आज सभी वर्गों में स्त्री-शिक्षा का समान प्रसार है। अब शिक्षित भारतीय नारियों को पतित, क्रूर और अनैतिक पतियों को परमेश्वर अथवा पति-देवता के रूप में मानकर उनकी सेवा और पूजा करने के लिए नहीं बहकाया जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में भारत में स्त्री-शिक्षा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है जहाँ 1901 में 0.60 प्रतिशत महिलाएँ शिक्षित थीं, अब इनका प्रतिशत 39.42 है। महिलाओं के अनुपात में पुरुषों की साक्षरता का प्रतिशत उतनी तेजी से नहीं बढ़ा। 1981 के आँकड़ों के अनुसार देश में शिक्षा का कुल प्रतिशत 36.17 था। अब 1991 में यह प्रतिशत 52.21 हो गया। 1991 की जनगणना सम्बन्धी आँकड़ों के अनुसार अब शिक्षा का प्रतिशत बढ़कर पुरुषों के लिए लगभग 63.11 तथा स्त्रियों के लिए 39.42 हो गया है। जहाँ तक व्यावसायिक शिक्षा का प्रश्न है, वहाँ भी स्त्रियों ने काफी प्रगति की है। बढ़ती हुई स्त्री-शिक्षा अनेक सामाजिक कुरीतियों से समाज को मुक्त करने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध हो रही है। आज बाल-विवाह प्रायः समाप्त होते जा रहे हैं, पर्दा-प्रथा भी करीब-करीब समाप्त हो चुकी है। कहीं-कहीं ग्रामीण क्षेत्रों में पर्दे का रिवाज अब भी पाया जाता है। निम्न वर्ग की अशिक्षित मुस्लिम महिलाओं में अभी भी पर्दे का प्रचलन है। स्त्री शिक्षा ने महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति विशेष रूप से सजग बनाया है और उनके विचारों में

परिवर्तन लाने मे योग दिया है। स्पष्ट है कि स्त्री-शिक्षा जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्त्री-शिक्षा ने जाति-पाँति के बन्धनों को शिथिल करने और मनुष्य को रुढ़िवादी विचारों के प्रभाव से छुटकारा दिलाने में सहायता पहुँचाई है।

मनुष्य चाहे या न चाहे, कुछ सामाजिक शक्तियाँ संस्थाओ एवं सामाजिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन लाती रही हैं। परिस्थितियों के बदलने पर परिवर्तन आता ही है चाहे लोग उसे उचित समझें या अनुचित। समाजशास्त्री परिवर्तन लाने वाली शक्तियों के विश्लेषण की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से चल रहे औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण ने स्त्रियों की स्थिति को परिवर्तित करने में योग दिया है। कृषक परिवार मे स्त्री की आर्थिक उपयोगिता पाई जाती है। परन्तु औद्योगीकरण एवं बाजार वाली अर्थ-व्यवस्था के विकास के कारण परिवार द्वारा किए जाने वाले अनेक आर्थिक एवं अन्य कार्य विशेषीकृत संस्थाओ द्वारा किए जाने लगे हैं। परिणाम यह हुआ है कि परिवार में स्त्री की आर्थिक दृष्टि से उपयोगिता कम हो गई वह आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर हो गई। स्पर्धा पर आधारित पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने स्त्री-पुरुषों को घर से बाहर विविध क्षेत्रों मे नौकरी करने के लिए प्रेरित किया। उपभोग की नई-नई वस्तुओ के आकर्षण, उच्च जीवन स्तर की आकांक्षा एवं चीजों के बढते हुए मूल्यों ने, मध्यम वर्ग की अनेक स्त्रियों को नौकरी करने को बाध्य-सा कर दिया है। आर्थिक दृष्टि से स्त्री की बढती हुई स्वतन्त्रता ने स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन और उनमें आत्म-विश्वास जाग्रत करने में सहायता पहुँचाई है।

औद्योगीकरण ने स्त्रियो को कारखानों में काम करने की सुविधा प्रदान की है। आधुनिक समय में मध्यम परिवारों की शिक्षित महिलाएं कार्यालयों, उद्योगों, शिक्षण-संस्थाओं, चिकित्सालयों, समाज-कल्याण केन्द्रों आदि मे अधिकाधिक संख्या में कार्य करने लगी हैं। कुछ समय पूर्व जो भारतीय महिलाएँ अपने आपको परदे मे समेटे हुई थी, घरों की चार-दीवारी में बंद थी, वे अध्यापिका, नर्स, डॉक्टर, लिपिक, आशुलिपिक, विक्रत्री,स्वागतिका और अनेक अन्य प्रस्थितियों मे कार्य करने लगी हैं। पिछले कुछ वर्षों से सरकारी व निजी क्षेत्रों मे स्त्रियो के लिए नौकरी की सुविधा में विशेष वृद्धि हुई है। *जीविका-उपार्जित करने वाली स्त्रियों की स्थिति उन स्त्रियों की* परम्परागत स्थिति से निश्चित रूप से भिन्न है, जिनका कार्य-क्षेत्र आज भी घर के काम-काज तक ही सीमित है और जो आर्थिक दृष्टि से आज भी पुरुषों पर निर्भर हैं। नौकरी करने वाली स्त्रियों की बदली हुई स्थिति अन्य स्त्रियों को भी किसी न किसी रूप में आर्थिक क्रियाओं में सम्मिलित होने और अपने आपको किसी पेशे मे लगाने को प्रोत्साहित कर रही हैं।

वर्तमान में स्त्रियों की राजनीतिक चेतना में वृद्धि हुई है और अनेक स्त्रियाँ राजनीति में सक्रिय भाग ले रही हैं। 1937 के विधान मण्डलो के चुनावो में 42 महिलाओं ने विजय प्राप्त की। सन् 1952 में पार्लियामेन्ट में 42 स्त्रियाँ सदस्य थी। इसी वर्ष राज्यों के विधान-मण्डलों में स्त्रियों की संख्या 58 थी। सन् 1957 में 50 स्त्रियाँ पार्लियामेन्ट की सदस्या बनी। 343 स्त्रियों ने राज्य विधान-मण्डलों के लिए चुनाव लडा, जिनमें से 195 ने सफलता प्राप्त की। सन् 1962 और 1967 में पार्लियामेन्ट मे स्त्रियों की संख्या क्रमश 54 और 52 थी। सन् 1971, से 1991 तक हुए लोक सभा के आम चुनावों से स्पष्ट होता है कि स्त्रियो मे अपने मत का स्वतंत्र रूप से प्रयोग करने की प्रवृत्ति और राजनीतिक चेतना बढती जा रही है। डॉ पणिक्कर ने कहा है, "जब स्वतंत्रता प्राप्त

की गई तब भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में स्त्रियो ने जो स्थान प्राप्त किया, उसे देखकर बाहरी दुनिया आश्चर्य में पड़ गई क्योंकि वह तो यह सोचने की अभ्यस्त थी कि हिन्दू स्त्रियाँ पिछडी हुई, अशिक्षित और प्रतिक्रियावादी सामाजिक व्यवस्था में जकडी हुई हैं। भारत में जो महान् परिवर्तन हुआ, उसकी महत्ता यह थी कि भारतीय महिलाओं ने राज्यपालों, केबिनेट स्तर के मंत्रियों और राजदूतों के रूप में यश प्राप्त किया।[1] स्त्रियों की राजनीतिक चेतना तथा देश मे फैल रहे लोकतंत्र और समानता के आधुनिक विचारों ने स्त्रियों के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने और उनकी स्थिति उन्नत करने में काफी योग दिया है।

आज स्त्रियों मे काफी सामाजिक जागरूकता आ चुकी है। अब वे पर्दे में सिमटी हुई अपने आपको घर की चारदीवारी में बन्द नही रखतीं। आधुनिक स्त्रियों में जातीय-नियमों के प्रति भी उदासीनता पाई जाती है, वे ऐसे प्रतिबन्धों की अधिक चिन्ता नही करतीं। आजकल अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं, प्रेम-विवाहों और विलम्ब विवाहों की संख्या भी बढ रही है। आज भारतीय महिलाएँ सामाजिक क्षेत्र में भी आगे आने लगी हैं। अब वे समाज-कल्याण कार्यक्रम में भाग लेती हैं, महिला-मण्डलों का निर्माण और क्लबों की सदस्यता भी ग्रहण करती हैं। आजकल अनेक स्त्रियाँ रूढियों के चंगुल से मुक्त हो चुकी हैं और स्वतन्त्रता के वातावरण में सांस ले रही हैं। पणिक्कर ने स्त्रियों की बदलती हुई सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है, "भारत के लिए कुछ मेधावी स्त्रियों के द्वारा प्राप्त की गई उल्लेखनीय सफलता उतनी महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि वह परिवर्तन जो ग्रामों, ग्रामीण क्षेत्रों, वर्गों और जातियों में, जिन्हें आज तक रूढिवादी या पिछडा हुआ माना जाता था, में हुआ है। वहाँ प्रथा और रूढिवादिता द्वारा लादे गए सामाजिक बन्धनों से भी स्त्रियों को मुक्त किया जा चुका है।"[2] डॉ. श्रीनिवास ने स्त्रियों की बदलती हुई स्थिति के लिए पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण एवं जातीय गतिशीलता के बढते हुए प्रभाव को उत्तरदायी माना है।[3]

स्पष्ट है कि 19वीं शताब्दी में स्त्रियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। जब हम 19वीं शताब्दी की स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि उस समय धर्म के नाम पर अनेक विधवाओं को जिन्दा चिता में जल कर भस्म होना पड़ता था,बहुत-सी बालिकाओं को जन्म लेते ही गला घोंट कर मार दिया जाता था, पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, किन्तु बाल-विधवा तक को पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित रखा गया था, वहाँ आज कम से कम लोगों के दृष्टिकोण में तो अवश्य अन्तर आया है। वर्तमान में स्त्री-शिक्षा का प्रसार हुआ है। स्त्रियाँ नौकरी करने, राजनीति में भाग लेने और सामाजिक क्षेत्र में काम करने लगी हैं। अनेक स्त्रियों ने विविध क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभाते हुए प्रतिष्ठा प्राप्त की है। लेकिन स्त्रियों की स्थिति में होने वाले परिवर्तन अधिकांश नगरीय क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं,ग्रामीण स्त्रियों में परिवर्तन होना अभी शेष है। जैसे-जैसे नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र होगी और स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा, वैसे-वैसे ग्रामीण स्त्रियों की स्थिति में भी अवश्य परिवर्तन आयेगा।

आज जिस गति से परिवर्तन हो रहे हैं, स्त्रियों में जिस तेजी से चेतना बढ रही है, जिस उत्साह के साथ सामाजिक समानता की उनके द्वारा माँग की जा रही है, उन सबको देखते हुए ऐसा

1 K.M. Panikkar op. cit., p. 36
2 Ibid. p. 36
3 M.N. Srinivas Social Change in Modern India

प्रतीत होता है कि वर्तमान म हिन्दू समाज का पुनर्गठन करना आवश्यक हो गया है। दश मे पिछले कुछ वर्षों मे जा सामाजिक अधिनियम पारित किए गए हैं, शिक्षा के बढन क साथ-साथ उनका हिन्दू समाज पर क्रान्तिकारी प्रभाव अवश्य पडगा। आज कानून के द्वारा स्त्रियों की निर्योग्यताओं का दूर किया गया है उन्हे पुरुषो क समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। परन्तु हम यह नही भूलना चाहिए कि कानून बनाना एक बात है और उनका पालन करना दूसरी बात है। सविधान लागों का अधिकार प्रदान कर सकता है, न्यायालयो क द्वारा अधिकारो की रक्षा भी की जा सकती है, परन्तु यह तभी सम्भव हाता है जब अपने अधिकारों की पूर्ण जानकारी और उनक लिए सघर्ष करन की स्वय में दृढता हो। इसमे कोई सदह नही कि स्वतत्र भारत में पारित किय गय सामाजिक अधिनियम स्त्रियों की स्थिति का परिवर्तित करने की दृष्टि स उठाय गय महत्त्वपूर्ण कदम है, परन्तु उनका पूर्ण लाभ स्त्रियो का उसी समय मिल सकगा जब ग्राम-ग्राम और घर-घर म शिक्षा का प्रसार होगा।

समाज क कल्याण का ध्यान में रखत हुए परिस्थितिया क बदलन क साथ-साथ सामाजिक नियमो म परिवर्तन करना आवश्यक हा जाता है। डॉ अल्तकर न लिखा है कि हमे इस बात का स्वीकार करना चाहिए कि समय बदल चुका है, घार तपश्चर्या क पुरान आदर्शों का आकर्षण समाप्त हो चुका है सत्ता का युग जा चुका है और उसक स्थान पर तार्किकता और समानता का काल आ चुका है । इसलिए हम प्रस्तावित परिवर्तनो का लात हुए नवीन परिस्थितियों क साथ स्त्रियो की स्थिति का समायोजन करना चाहिए। यदि एसा किया गया ता भारतीय महिलाओ की क्षमता कुशलता और प्रसन्नता (और इसलिए हिन्दू पुरुषों की भी) बढगी, परिणामस्वरूप, हमारा समुदाय राष्ट्रो क समुदाय मे अपना उचित स्थान ग्रहण करन क याग्य बन सकेगा और मानव की प्रगति और प्रसन्नता म अपना महत्त्वपूर्ण याग द पायगा।[1] स्पष्ट है कि समय क साथ-साथ विचारो, दृष्टिकाणो व्यवहारा और क्रियाओ म परिवर्तन लाना समाज के हित मे आवश्यक हाता है और हिन्दू समाज आज परिवर्तन की ओर अग्रसर है।

एल्फ्रड डीसाजा न बताया है कि यह अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति का सुधारने की दृष्टि स एक महत्त्वपूर्ण कदम निर्धनता एव उच्च प्रजनन क्षमता क दोषपूर्ण कुचक्र का ताडना है।[2] यह कहना उपयुक्त नही हागा कि पिछल करीब 45 वर्षों क नियाजित आर्थिक विकास क बावजूद ग्रामीण स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का सुधारन का सामाजिक नियोजको क द्वारा कोई सराहनीय प्रयत्न नहो किया गया। यदि ग्रामीण क्षत्रों में स्त्रियो का वस्तुओं क उत्पादन, उनकी खरीद-बच, पोषण, स्वच्छता और स्वास्थ्य, भाजन बनान तथा बालको की उचित तरीक स दखभाल करन क सम्बन्ध मे अनौपचारिक शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान की जाय, तो वहाँ स्त्रियो की स्थिति का सुधारा जा सकता है।

कार्यशील महिलाओं की स्थिति सुधारन हतु आवश्यक है कि बच्चो की दखभाल एव गृह-कार्य जो 'महिलाओ क कार्य' समझ जात हैं क प्रति पुरुषो क दृष्टिकाण में परिवर्तन लाया जाए। विभिन्न अध्ययनों स स्पष्ट हाता है कि कार्यशील स्त्रिया का, व्यावसायिक कार्य क साथ-साथ पारिवारिक दायित्वो का पूर्णत निभान म कठिनाई का सामना करना पडता है। डॉ. प्रामिला

1 A S Altekar op cit p 368
2 Alfred De Souza Women in Contemporary India Introduction p X

कपूर ने बताया कि पतियों के इस विश्वास के आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति कि गृहकार्य तथा बच्चों की देखभाल पत्नी का ही काम है, वैवाहिक कलह का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में भारतीय पतियों पर अपनी कार्यशील पत्नियों का गृहकार्य एवं बालकों की देखभाल में सहयोग देने के लिए दबाव बढ़ेगा भारतीय स्त्रियों की स्थिति का सुधारने की दृष्टि से आवश्यक है कि ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों में स्त्रियों के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों के बारे में क्षेत्रीय अध्ययनों के माध्यम से प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जाए।

मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति
(Status of Muslim Women)

मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति पर "मुस्लिम विवाह एवं परिवार" नामक अध्याय 18 में विचार किया जा चुका है। इसलिए यहाँ इस पर पृथक् से विचार करना आवश्यक नहीं है। जहाँ तक हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की तुलनात्मक स्थिति का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि नगरीय क्षेत्रों में हिन्दू स्त्रियों की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत ही मामूली। मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में न तो नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ है और न ही ग्रामीण क्षेत्रों में कोई विशेष परिवर्तन आया है। मुस्लिम स्त्रियों में आज भी पर्दा प्रथा पाई जाती है। आज भी नगरों तक में वे हिन्दू स्त्रियों के समान, जीवन की विविध गतिविधियों में भाग नहीं ले रही हैं, हिन्दू स्त्रियाँ प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाती जा रही हैं, पुरानी रूढ़ियों का विरोध करने लगी हैं, परन्तु मुस्लिम स्त्रियों पर रूढ़ियों और परम्परागत धार्मिक व्यवस्थाओं का आज भी काफी प्रभाव है। मुस्लिम समाज में आज भी एक पुरुष को चार पत्नियाँ रखने का अधिकार है, वे लोग परिवार नियोजन को धर्म-विरुद्ध मानते हैं। दिसम्बर, 1971 में महाराष्ट्र में महिला सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में यह माँग की गई कि सम्पूर्ण देश के लिए समान सिविल कोड एक विवाह की प्रथा और परिवार नियोजन को उचित माना जाए। यह संकेत है कि मुस्लिम स्त्रियाँ भी परिवर्तन चाहती हैं भारतीय संविधान में भी पूरे देश के लिए एक ही सिविल कोड बनाने की बात राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों में की गयी है। हिन्दुओं में बहुपत्नी विवाह को कानूनन समाप्त किया जा चुका है। मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने, उनके पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने और सम्पूर्ण राष्ट्र के हित का ध्यान में रखते हुए सभी नागरिकों पर एक-विवाह प्रथा सम्बन्धी कानून लागू करना लाभदायक प्रतीत होता है आज मुस्लिम स्त्रियों को इस ओर प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

हिन्दू स्त्रियों की प्रमुख समस्याएँ
(Major Problems of Hindu Women)

हिन्दू स्त्रियों को कई निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है, उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ा है कई अधिकारों से वंचित रहना पड़ा है। उनकी प्रमुख समस्याएं इस प्रकार हैं–

(1) हिन्दुओं में सामान्यतः संयुक्त परिवार व्यवस्था पाई जाती रही है जिसमें पुरुषों की प्रधानता है। स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए यह व्यवस्था काफी कुछ उत्तरदायी रही है। स्त्रियों का सारा समय तो परिवार की सेवा में ही व्यतीत हो जाता है, उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का समुचित अवसर ही नहीं मिल पाता। विधवाओं की स्थिति तो ऐसे परिवारों में और भी दयनीय रही है।

(2) स्त्रियो की विवाह स सबधित कई समस्याएँ रही हैं। एसी समस्याओ मे बाल-विवाह की समस्या प्रमुख है। कम आयु म ही विवाह कर देना माता-पिता का धार्मिक कर्तव्य माना गया है। परिणाम यह हुआ कि स्त्रियो की शिक्षा पर ध्यान नही दिया गया और व चेतना-शून्य हा गयी।

(3) यहाँ स्त्रियो की एक अन्य समस्या विधवा विवाह का निपध रहा है। विधवाओ को सामान्यत पुनर्विवाह की आज्ञा नही दी गयी, चाहे व बाल-विधवाए ही क्यो न हो। विधवा पुनर्विवाह क पक्ष मे कानून बन जान क उपरान्त भी एस विवाह व्यवहार रूप मे प्रचलित नही हा पाय। विधवाओ का अनक निर्योग्यताओ स पीडित रहना पडा है।

(4) आज दहज प्रथा क कारण माता-पिता क लिए लडकियो का विवाह एक समस्या बन गया है। दहज क कारण ही स्त्रिया को यातनाएँ दी जाती हैं जला दिया जाता है, मार दिया जाता है। दहेज पारिवारिक विघटन ऋणग्रस्तता निम्न जीवन स्तर बमल विवाह भ्रष्टाचार एव अपराध क लिए भी उत्तरदायी हैं।

(5) वर्तमान मे यद्यपि स्त्री-पुरुषा का तलाक (विवाह विच्छद) का कानूनी अधिकार समान रूप स मिल गया हे, परन्तु व्यवहार रूप म दखा यह गया है कि स्त्रियाँ सामान्यत इस अधिकार का प्रयाग लाक-लज्जा क डर स नही कर पाती। पुरुष अपनी इच्छानुसार कभी भी अपनी पत्नी का छाड दता है तलाक ल लता है। पारिवारिक जीवन दुखी हान पर स्त्रियाँ अपने बच्चो के हित का ध्यान मे रखकर और कई बार आर्थिक निर्भरता के कारण तलाक नही ले पाती।

(6) अनक कारणा स भारत मे अन्तर्जातीय विवाहो पर प्रतिबन्ध पाया जाता रहा है। यहाँ अपनी जाति स बाहर विवाह करना पाप और अपराध तक समझा जाता रहा है आर एसा विवाह करने वाल का जाति स बहिष्कृत कर दिया जाता है। अपनी ही जाति क सकुचित दायर मे विवाह करन स विवाह या जीवन-साथी क चुनाव का क्षेत्र सीमित हा जाता है। इसस बमल विवाह बढत हैं, दहज की समस्या गम्भीर हाती है। एसी स्थिति मे विधवाओ के पुनर्विवाह का ता प्रश्न ही नही उठता।

(7) यहाँ मुस्लिम काल मे पर्दा-प्रथा प्रारम्भ हुई। इस प्रथा क कारण स्त्रियो की शिक्षा एव उनक व्यक्तित्व क विकास म बाधा पडी है। इस कुप्रथा क कारण उनक स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पडा है।

(8) स्त्रिया का कई कारणो स शिक्षा स सामान्यत वचित रहना पडा है। पर्दा-प्रथा, पुरुष प्रधानता, आर्थिक निर्भरता, कार्य क्षत्र का घर की चारदीवारी तक सीमित हाना आदि कारणो से प्रारम्भ स ही स्त्री-शिक्षा पर जार नही दिया गया। यही कारण है कि जहाँ 1991 मे पुरुषो मे साक्षरता का प्रतिशत 63 86 था, वहाँ महिलाओ मे कवल 39 42 था। राजस्थान में ता महिला साक्षरता का प्रतिशत सर्वाधिक कम अर्थात् 20 84 ही है। नगरों की तुलना मे ग्रामीण क्षेत्रो मे महिला साक्षरता काफी कम है। व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त महिलाओ की ता दश मे काफी कमी है। अधिकाश स्त्रियों के अशिक्षित हान क कारण ही स्त्रियों स सबधित अनक समस्याएँ पायी जाती हैं।

(9) निम्न आर्थिक स्थिति क कारण भी स्त्रियो का कई समस्याओ का सामना करना पडता है। स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि स पुरुषो पर निर्भर हैं, वे पराश्रित हें, सामान्यत वे अर्जन का कार्य नहीं करती हैं। उनका कार्यक्षेत्र घर तक ही सीमित माना गया है। जहाँ स्त्रियाँ अर्जन करती हें, वहाँ उन्हे पुरुषो की तुलना में कम-वतन दिया जाना हे, उनका शोषण किया जाता है। स्त्रियो का तो अपने

भरण-पोषण तक के लिए पुरुषों पर निर्भर रहना पडता है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ कई स्त्रियाँ नौकरी करने लगी हैं परन्तु कार्यशील महिलाओ की अपनी समस्याएँ हैं, उनमे भूमिका संघर्ष की स्थिति पायी जाती है। दफ्तर, स्कूल, अस्पताल या अन्यत्र कही सात या आठ घंटे नौकरी करने के पश्चात भी कार्यशील महिला से परिवार के क्षेत्र मे वे सब अपेक्षाएँ की जाती हैं जो नौकरी नहीं करने वाली स्त्री से की जाती हैं। ऐसी स्थिति मे भूमिका-संघर्ष होना स्वाभाविक ही है।

(10) राजनीतिक दृष्टि से स्त्रियाँ पुरुषो की तुलना में पिछडी हुई हैं। राजनीति में स्त्रियो की कम सहभागिता के प्रमुख कारण हैं- चुनावों का बढता हुआ खर्च, हिंसा की धमकियाँ या डर तथा चरित्र हनन। कामकाजी महिलाओ मे राजनीतिक चेतना तुलनात्मक दृष्टि से अन्य महिलाओ की तुलना मे अधिक होती है। शिक्षा के बढने से अब महिलाओं मे राजनीतिक चेतना बढती जा रही है।

स्पष्ट है कि भारतीय महिलाओ का आज भी पारिवारिक, वैवाहिक सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का सामना करना पड रहा है। इन क्षेत्रों में समस्याओ के कारण स्त्रियो की स्थिति मे सरकारी एव गैर-सरकारी प्रयत्नों के उपरान्त भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है।

मुस्लिम स्त्रियों की प्रमुख समस्याएँ
(Major Problems of Muslim Women)

मुस्लिम स्त्रियाँ के अनेक समस्याओ से घिरे होने के कारण उनकी सामाजिक स्थिति पुरुषो की तुलना में काफी निम्न है। उनकी पारिवारिक एव वैवाहिक समस्याओ पर 'मुस्लिम विवाह' नामक अध्याय 18 मे विचार किया जा चुका है। इसलिए यहाँ उनकी समस्याओ पर अति सक्षेप मे विचार किया गया है

(1) पर्दा प्रथा मुस्लिम समाज की एक प्रमुख समस्या है। मुस्लिम स्त्रियो का घर से बाहर निकलते समय बुरका ओढना पडता है। इससे स्त्रियों को समुचित शिक्षा-दीक्षा नही हो पाती, वे घर की चारदीवारी तक ही सीमित रह जाती हैं। पर्दा प्रथा के कारण ही मुस्लिम स्त्रियों में पिछडापन, रूढिवादिता एव अन्धविश्वास पाये जाते हैं।

(2) शिक्षा की कमी मुस्लिम स्त्रियों की एक प्रमुख समस्या है। शिक्षा की कमी के कारण ही मुस्लिम स्त्रियाँ सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से पिछडी हुई हैं, आर्थिक दृष्टि से पराश्रित हैं तथा पुरुषों की स्वच्छाचारिता का शिकार हैं।

(3) आर्थिक दृष्टि से मुस्लिम स्त्रियाँ पूरी तरह पुरुषो पर आश्रित हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनका कार्य-क्षेत्र घर की चारदीवारी तक सीमित हो गया है। वे आर्थिक दृष्टि से उत्पादन मे सामान्यत कोई योग नही दे पाती है। अत परिवार की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं रह पाती और बालकों का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता।

(4) मुसलमानों में बहुपत्नित्व की समस्या भी प्रमुख है। इनमें एक पुरुष को चार स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार प्राप्त है। इससे पुरुषों की स्वच्छाचारिता बढ जाती है और वे स्त्रियों पर अत्याचार करने लगते हैं। बहुपत्नी प्रथा के कारण ही पारिवारिक वातावरण कलुषित हो जाता है। यहाँ आये दिन ईर्ष्या, द्वेष, मनमुटाव, लडाई-झगडे पाये जाते हैं। अधिक पत्नियाँ एव अधिक सन्तान अक्सर परिवार पर बोझ बन जाती हैं। ऐसी दशा में उनके रहन-सहन का स्तर गिर जाता है तथा बालकों का चहुँमुखी विकास नही हो पाता।

(5) मुस्लिम समाज मे भी बाल-विवाह की प्रथा पायी जाती है। इस कुप्रथा के कारण स्त्रियो का स्वास्थ्य गिरा रहता है, दुर्बल सन्ताना का जन्म होता है तथा पारिवारिक सामजस्य स्थापित करन मे कठिनाई रहती है। साथ ही जनसख्या वृद्धि को भी प्रात्साहन मिलता है।

(6) तलाक की समस्या मुस्लिम स्त्रियों की एक प्रमुख समस्या है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि स स्त्री-पुरुष दानो का ही तलाक का अधिकार समान रूप से प्राप्त है, परन्तु पुरुष ही साधारणत. इस अधिकार का उपयाग कर पात हैं, स्त्रियाँ नहीं। इसका कारण यह है कि अधिकारा स्त्रियाँ अशिक्षित हैं, आर्थिक दृष्टि स पुरुषों पर निर्भर हैं तथा समाज में पुरुषो की प्रधानता पायी जाती है।

(7) अधिकारो की अव्यावहारिकता भी स्त्रियों क लिए एक समस्या बनी हुई है। स्त्रियों को पुरुषो क समान अधिकार अवश्य प्राप्त हैं परन्तु अशिक्षा, सयुक्त परिवार प्रथा, पर्दा-प्रथा, बहुपत्नी प्रथा एव आर्थिक निर्भरता क कारण व अपन अधिकारो का सामान्यत लाभ नहो उठा पातीं। मेहर तक पर स्त्री का नहीं वरन् पुरुष या परिवार का ही अधिकार हाता है। सम्पत्ति म भी कोई हिस्सा उन्हे नहो दिया जाता और हिस्सा प्राप्त करने क लिए उन्हे न्यायालय के द्वार खटखटान पडते हैं। परिवार सबधी वास्तविक सत्ता ता पुरुषो क हाथों में ही कन्द्रित रहती है और स्त्रियों का तो आजीवन सविका की ही भूमिका निभानी पडती है

मुस्लिम स्त्रिया को उपर्युक्त समस्याओ क कारण समाज म उनकी स्थिति निम्न रही है

हिन्दू व मुस्लिम स्त्रियो को समस्याओ से छुटकारा दिलाने एव उनकी स्थिति को उन्नत करने क प्रयत्नों का उल्लख इसी अध्याय में पूर्व मे किया जा चुका है।

प्रश्न

1 आधुनिक भारतीय समाज म स्त्रियों की स्थिति सुधारने के क्या प्रयत्न किये गये हैं?
2. 'सामाजिक विधान और हिन्दू स्त्री' पर एक लेख लिखिए।
3. क्या स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत मे स्त्रियों की स्थिति मे परिवर्तन हुआ है? अपने उत्तर की पुष्टि मे तर्क दीजिए।
4. आधुनिक भारतीय समाज मे नारी के बदलत हुए स्थान की व्याख्या कीजिए।
5. वर्तमान भारत म स्त्रिया की स्थिति मे जा परिवर्तन हुए हैं, उनकी व्याख्या कीजिए।
6. 'स्त्रियो की बदलती हुई स्थिति' पर टिप्पणी लिखिए।
7. भारत में स्त्रियों की स्थिति सुधारन हतु कुछ सुझाव दीजिए।
8. 'मुसलमानों मे स्त्रिया की स्थिति' पर एक लख लिखिए।
9. प्राचीन तथा आधुनिक भारत म स्त्रियों की स्थिति की भिन्नता प्रदर्शित कीजिए।
10. हिन्दू एव मुस्लिम स्त्रियो की प्रमुख समस्याओ पर प्रकाश डालिए।

□□□

23

प्रमुख सामाजिक विधान (अधिनियम) एवं भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर इनका प्रभाव

(Major Social Legislations and their Impact on Indian Social Institutions)

प्रत्येक समाज में मानव-व्यवहार को नियंत्रित और नियमित करने का प्रयास किया जाता है। इसी कारण उसमें अनेक आदर्श-प्रतिमान पाए जाते हैं। इन्हीं आदर्श-प्रतिमानों के अन्तर्गत संस्थाओं का विकास होता है और वे कार्य करती हैं। मानव व्यवहार के नियामक आदर्श-प्रतिमानों में जनरीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों और कानूनों का सदैव महत्त्व रहा है। जैसे-जैसे समाज सरलता से जटिलता की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे कानूनों का महत्त्व अधिकाधिक होता जाता है। वर्तमान में समाज अलिखित और रूढ़िगत कानून से लिखित अधिनियमित कानून की ओर बढ़ता जा रहा है। आज अनेक शक्तियों जैसे औद्योगीकरण, नगरीकरण, धर्म-निरपेक्षता, मानव समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा समाज कल्याण की भावना आदि ने रूढ़ि के स्थान पर कानून के महत्त्व को बढ़ाने में योग दिया है। जन-कल्याण के माध्यम के रूप में राज्य की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि हुई है। वर्तमान में सामाजिक विधान का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

समाज की आवश्यकताओं, समाज-कल्याण तथा सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए, समय-समय पर राज्य द्वारा जो अधिनियम पारित किए जाते हैं, उन्हें ही सामाजिक विधान कहा जाता है। आलिवर वैण्डल होम्स का कथन है कि आज का विधान बीते हुए कल की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है।[1] विधान के इस अर्थ के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विधान समय से पिछड़ जाता है, वर्तमान आवश्यकताओं से सदैव पीछे रह जाता है, लेकिन साथ ही इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज के युग में विधान सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम भी है। वह लोगों के विचारों, विश्वासों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन का एक साधन है। प्रचलित कानूनों और समाज की वर्तमान आवश्यकताओं के बीच की खाई को पाटने वाला सुविचारित विधान ही सामाजिक विधान कहा जा सकता है।[2] स्पष्ट है कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राज्य द्वारा पारित अधिनियमों को ही सामाजिक विधान की संज्ञा दी जाती है। अतः सामाजिक कुरीतियों से छुटकारा पाने, समाज सुधार हेतु उपयुक्त परिस्थितियाँ पैदा करने और सामाजिक विघटन को नियंत्रित करने की दृष्टि से राज्य द्वारा पारित अधिनियम ही सामाजिक विधान के अन्तर्गत आते हैं।

---

1 Oliver Wendell Holmes Quoted in the book "Social Legislation Govt. of India Publication Division p 1

2 " Legislation calculated to bridge the gulf between the existing laws and the current needs of society may be called social legislation " Ibid. p 1

भारत मे सामाजिक विधान का महत्त्व
(Importance of Social Legislation in India)

हिन्दू समाज म विवाह परिवार और जाति क क्षत्र मे अनक समस्याएँ पाई जाती हैं, जैसे- बाल विवाह विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध, अन्तर्जातीय विवाहा पर राक, बहुपत्नी विवाह का प्रचलन, दहज-प्रथा स्त्रिया की गिरी हुई स्थिति आदि। साथ ही हिन्दू समाज मे पिछडी जातियों और अस्पृश्य लागा का अनक निर्योग्यताओ स पीडित रहना पडा है। उनक साथ भेद-भाव बरता गया है उन्हें छूना और दखना तक अनुचित समझा गया है। आज दश क सम्मुख इन सब लोगों क विकास की समस्या प्रमुख है भदभाव का दूर करन की आवश्यकता है।

इन समस्याओ की आर कुछ समाज-सुधारको का ध्यान अवश्य गया था, लेकिन समाज का इन कुरीतिया स छुटकारा दिलान में व सफलता प्राप्त नहीं कर सक। इसका मूल कारण यह था कि समाज म काफी जडता आ चुकी थी वह धर्मभीरू बन चुका था, रूढिया का विरोध करने को जन-साधारण म सामर्थ्य नही थी और जा थाड बहुत प्रगतिशील लाग थ, उन्हे धर्म-विरोधी माना जा चुका था। एसी दशा मे समाज का कुरीतियों स छुटकारा दिलान की दृष्टि स समाज-सुधारक तक भी राज्य की आर दखन लग। अग्रजी सरकार करार्डो लागो क सामाजिक और धार्मिक जीवन मे हस्तक्षप नही करना चाहती थी, एस प्रयाग क परिणामो क प्रति वह भयभीत थी। जनता क निश्चित समर्थन क प्राप्त हान क पश्चात ही विदशी सरकार न कुछ कानून पारित कर समाज सुधार की दिशा म प्रयास किया। स्पष्ट है कि समाज-सुधार, समाज-कल्याण और सामाजिक पुनर्निर्माण की दृष्टि स भारत म सामाजिक विधान का अत्यधिक महत्त्व है।

अंग्रेजी शासन-काल मे सामाजिक विधान
(Social Legislation in British Period)

अग्रजी शासन-काल में सती प्रथा एव बाल-विवाह का राकने, विधवा विवाह सम्बन्धी कुछ परम्परागत निषधा का दूर करन, एक विवाह क आदर्श का प्रतिपादित करन एव हिन्दू स्त्रियों को कुछ अधिकार प्रदान करन हतु य अधिनियम पारित किए गए—

1. सती प्रथा निषेध अधिनियम, 1829
(Regulation No. XVII, 1829)

सन् 1829 क पूर्व भारत मे सती प्रथा का प्रचलन था। विधवा स्त्री को मृत पति के साथ चिता में जल मरन के लिए प्रेरित किया जाता था। धार्मिक दृष्टि से एसा उचित माना जाता था। सती हाने वाली स्त्री का सीधे स्वर्ग मे पहुँच जान का लालच दिया जाता था। मुसलमानो के भारत में आगमन के पश्चात् रक्त की शुद्धता बनाये रखन एव हिन्दू लडकियो और स्त्रियो क मुसलमानों के साथ विवाहों का राकन की दृष्टि से सम्भवत बाल-विवाह और सती प्रथा का प्रचलन हुआ। मुसलमान लोग हिन्दू विधवाओं से विवाह करने को तत्पर थ। ऐसी दशा मे विधवाओ से छुटकारा प्राप्त करने हतु सती-प्रथा का सहारा लिया गया और इस धर्म-सम्मत ठहराया गया। जो विधवाएँ सती नही हाना चाहती थीं, उन्हे भी जिन्दा चिता मे जलने के लिए बाध्य किया जाता था। चिता के चारो आर ढोल, नगाड, शख आदि बजते थ, लोग चारों आर लम्ब बास, भाल आदि लिय खड रहत थे ताकि विधवा चिता स भाग नही सक और न ही उसकी करुण पुकार कोई सुन सके।

इस अमानवीय कृत्य के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके बताया कि वेदों अथवा मनुस्मृति में विधवा के लिए सती होने को कहीं कोई व्यवस्था नहीं दी गई है। उनके आन्दोलन का लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि सन् 1818 में सती होने वाली स्त्रियों की जो संख्या 839 थी, वह घटकर 1839 में 463 रह गई। जब लॉर्ड विलियम बैन्टिंग ने देखा कि सती प्रथा के विरुद्ध काफी जनमत तैयार हो चुका है तो सन् 1829 में सती-प्रथा निषेध अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार किसी विधवा को सती होने के लिए बाध्य करना अथवा किसी भी रूप में ऐसा करने में सहायता देना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। वर्तमान समय में यह कुप्रथा समाप्त हो चुकी है, आज जनमत पूर्णतः इसके विरुद्ध है।

2. हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856

(Hindu Widow Remarriage Act, 1856)

यद्यपि कानून द्वारा सती प्रथा समाप्त कर दी गई तथापि विधवाओं की स्थिति दयनीय होती गई। बाल-विवाह और कुलीन-विवाह के प्रचलन के कारण विधवाओं की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई और विधवाओं पर अनेक निर्योग्यताएं लाद दी गईं। धार्मिक आधार पर उन्हें पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई। पिछली शताब्दी के मध्य कुछ प्रगतिशील समाज-सुधारकों, जैसे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा बहरामजी मलाबारी आदि ने कानून द्वारा विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान किए जाने की माँग की जिसके परिणामस्वरूप सरकार द्वारा हिन्दू-विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा विधवाओं को पुनर्विवाह सम्बन्धी अधिकार प्रदान किया गया। इस अधिनियम में ये व्यवस्थाएं की गई हैं —

(1) दूसरे विवाह के समय यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो चुकी है तो ऐसा विवाह वैध है।

(2) ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान वैध होगी।

(3) विधवा के नाबालिग और पहले पति से यौन-सम्बन्ध न होने की स्थिति में उसके विवाह के लिए पिता, दादा, बड़े भाई अथवा निकट के किसी पुरुष रक्त सम्बन्धी की स्वीकृति आवश्यक है।

(4) विधवा के बालिग होने या पहले पति से यौन-सम्बन्ध स्थापित हो चुकने की दशा में उसे अपने पुनर्विवाह के लिए किसी की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।

(5) पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने पूर्व मृत पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार शेष नहीं रहेगा।

(6) यदि पहले पति ने वसीयतनामे में उसे पुनर्विवाह की आज्ञा प्रदान कर दी है तो उसका प्रथम पति की सम्पत्ति में अधिकार सुरक्षित रहेगा।

इस अधिनियम के पारित होने पर सन् 1856 में ही प्रथम विधवा-पुनर्विवाह कलकत्ता में सम्पन्न हुआ। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्वयं अपने लड़के का विवाह एक विधवा के साथ किया था। अनेक स्थानों पर विधवाओं के लिए आश्रम खोले गए और उनके पुनर्विवाह को प्रोत्साहित

करन के लिए कई विधवा-पुनर्विवाह समितियों का गठन भी किया गया। उच्च जातियों में आज भी पुनर्विवाह बहुत कम हाते हैं यद्यपि उनके दृष्टिकोण धीर-धीरे एस विवाह के पक्ष में बनते जा रहे हैं।

3. बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 (The Child Marriage Restraint Act, 1929)

भारत मे बाल-विधवाओं की काफी सख्या हान का एक मुख्य कारण यह था कि यहाँ छाट-छाट लडक-लडकियो का 4-5 वर्ष की आयु मे ही विवाह कर दिया जाता था। बाल-विवाह का राकन के लिए ब्रह्म समाज और आर्य समाज क नताओ न प्रयास किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा कुछ अन्य लागा क प्रयासो के कारण सन् 1860 मे एक अधिनियम द्वारा लडकी के विवाह की न्यूनतम आयु 10 वर्ष कर दी गई और सन् 1891 मे पारित एक अन्य अधिनियम द्वारा इस आयु का बढाकर 12 वर्ष कर दिया गया। बाल-विवाह के विरुद्ध फिर भी प्रयास जारी रह और सन् 1929 में हरविलास शारदा क प्रयत्नों स "बाल-विवाह निराधक अधिनियम" पारित हुआ जिसे "शारदा एक्ट" भी कहत हैं जा 1 अप्रल, 1930 स सम्पूर्ण दश पर लागू कर दिया गया। इस अधिनियम में निम्न धाराएँ रखी गई—

(1) विवाह के समय लडक-लडकियों की कम स कम आयु क्रमश: 18 वर्ष और 14 वर्ष होनी चाहिए। सन् 1949 मे लडकियों के लिए विवाह की इस आयु का 15 वर्ष कर दिया गया। वर्तमान मे लडके एव लडकियो की विवाह की न्यूनतम आयु क्रमश: 21 वर्ष और 18 वर्ष है। इससे कम आयु मे सम्पन्न होन वाले विवाह को बाल-विवाह की सज्ञा दी गई और इसे दण्डनीय अपराध माना गया है।

(2) विवाह हा जान के पश्चात् कोई भी विवाह कानून द्वारा अमान्य नही माना जाएगा।

(3) अधिनियम क विरुद्ध विवाह करन वाले लडके को यदि उसकी आयु 18 वर्ष से 21 वर्ष के बीच है ता 15 दिन जल या एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दानो की सजा हो सकती है।

(4) यदि 15 वर्ष से कम आयु की लडकी के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने वाले वर की आयु 21 वर्ष स अधिक है, तो उस 3 मास की जेल या जुर्माना या दानों हो सकते हैं।

(5) बाल-विवाह क सम्पन्न होने मे सहायता दने वाल व्यक्तियों जैस- नाई, पडित, बाराती आदि का भी 3 मास की साधारण कैद एव जुर्मान का दण्ड दिया जा सकता है।

(6) जो माता-पिता या सरक्षक ऐसे विवाहों के सम्पन्न होने मे योग देंगे, उनके लिए भी 3 मास की साधारण कैद एव जुर्मान की व्यवस्था की गई है।

(7) बाल-विवाह सम्बन्धी मुकदमों की सुनवाई कवल प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट की अदालत में ही होगी।

(8) विवाह सम्पन्न हो जाने के 1 वर्ष पश्चात अदालत किसी प्रकार की शिकायत पर कोई विचार नही करेगी।

(9) ऐसे विवाह की पूर्व सूचना मिल जान पर अदालत उसे राकने का आदेश जारी कर सकती है। आदेश का उल्लंघन करने वाले का तीन महीने की कैद अथवा एक हजार रुपया जुर्माना या दोनों की सजा दी जा सकती है।

(10) इस अधिनियम के अनुसार स्त्रियों को कैद की सजा नहीं दी जाएगी।

इन धाराओं से स्पष्ट है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत बाल विवाह करने वालों को दण्डित करना बहुत कठिन था। यह अधिनियम व्यावहारिक रूप से सफल नहीं हो सका प्रचार के अभाव में ग्राम के लोगों तक यह पहुँच ही नहीं पाया। वर्तमान समय में सामाजिक आदर्श-प्रतिमानों में परिवर्तन आने से बाल-विवाह का प्रचलन कुछ कम हो गया है। इस कानून का आज तक जितना उल्लंघन हुआ, उससे स्पष्ट है कि कोई भी सामाजिक विधान तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकता जब तक कि प्रचार के माध्यम से लोगों के विचारों विश्वासों और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन नहीं लाया जाता तथा नवीन सामाजिक विधान की उपयोगिता से उनको परिचित नहीं कराया जाता।

4. अलग रहने एवं भरण-पोषण हेतु हिन्दू विवाहित स्त्रियों का अधिकार अधिनियम, 1946

(The Hindu Married Women's Right to Separate Residence and Maintenance Act, 1946)

हिन्दू स्त्रियों का तलाक सम्बन्धी कानूनी अधिकार प्राप्त न होने पर भी 1946 में कुछ विशेष परिस्थितियों में अपने पति से पृथक् रहने एवं पति से अपने भरण-पोषण हेतु कुछ राशि प्राप्त करने का अधिकार मिल गया। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं–

(1) यदि पति किसी ऐसे घृणित रोग से ग्रसित है, जो पत्नी के सम्पर्क से नहीं हुआ हो।

(2) पति के अत्याचारपूर्ण व्यवहार के कारण पत्नी उसके साथ रहना खतरनाक समझती हो।

5. मुस्लिम विवाह से सम्बन्धित दो अधिनियम मुख्य हैः—

(1) मुस्लिम शरीयत अधिनियम, 1937

(The Muslim Personal Law (Shariat) Application Act, 1937)

(2) मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939

(Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939)

इन दोनों ही अधिनियमों पर "मुस्लिम विवाह" नामक अध्याय में विचार किया जा चुका है। *यहाँ इतना ही लिखना काफी है कि मुस्लिम शरीयत अधिनियम, 1937 के पारित होने के पूर्व* पत्नी, पति के नपुंसक होने या पति द्वारा पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाये जाने और उसके झूठा सिद्ध होने पर ही तलाक की माँग कर सकती थी। परन्तु इस अधिनियम के अनुसार पत्नी को इला और जिहर के आधार पर भी विवाह-विच्छेद करने का अधिकार मिल गया है। सन् 1939 में पारित "मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम" द्वारा स्त्रियों की विवाह विच्छेद सम्बन्धी सभी निर्योग्यताएँ दूर कर, उन्हें काफी अधिकार प्रदान किए गए हैं। इस अधिनियम ने पुरुषों की निरंकुशता कम करने और मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने में काफी योग दिया है। जिन आधारों पर मुस्लिम स्त्री को विवाह-विच्छेद के अधिकार दिए गए हैं, उनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

6. भारत मे ईसाई विवाह से सम्बन्धित दो अधिनियम उल्लेखनीय है—

(1) भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम, 1872
(The Indian Christian Marriage Act, 1872)

(2) भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869
(The Indian Divorce Act of 1869)

प्रथम अधिनियम क अनुसार, पादरी या व व्यक्ति जिन्हे लाइसन्स प्राप्त है दा ईसाइयो के बीच विवाह सम्पन्न करा सकत है। सरकार इस कार्य क लिए एक या अधिक ईसाइयों को मैरिज रजिस्ट्रार क रूप मे नियुक्त कर सकती है। परन्तु एस किसी मैरिज-रजिस्ट्रार क न हान पर जिला मजिस्ट्रट भी इस कार्य को सम्पन्न करन क लिए अधिकृत किया जा सकता है। इस अधिनियम मे उन नियमो का उल्लख किया गया है, जिनक अनुसार धर्म क मिनिस्टरो यानी पादरियों का विवाह सम्पन्न कराना हाता है। विवाह करन वाल दानो पक्ष दा गवाहो की उपस्थिति मे पादरी अथवा मैरिज रजिस्ट्रार के सम्मुख ईश्वर की शपथ लेकर कानूनी दृष्टि स एक दूसर का जीवन-साथी के रूप मे स्वीकार करत हैं। इस अधिनियम क अनुसार विवाह करन हतु लडक लडकियो की न्यूनतम आयु क्रमश 16 वर्ष और 13 वर्ष हानी चाहिए। इसस कम आयु हान पर उनक सरक्षकों की स्वीकृति आवश्यक है। विवाह क लिए एक शर्त यह रखी गई है कि विवाह क समय किसी भी पक्ष का काई अन्य जीवन-साथी नही हाना चाहिए अर्थात् एक-विवाह प्रथा का मान्यता दी गई है।

7. विशेष विवाह अधिनियम 1872, 1923, 1954
(Special Marriage Act 1872, 1923, 1954)

1872 म पारित "विशष विवाह अधिनिनम" द्वारा उन सभी व्यक्तियो का आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करन की आज्ञा प्रदान की गई जा किसी भी धर्म का नही मानत हो। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह करन वाला का यह घाषणा करनी पडती थी कि व हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध सिख आदि किसी भी धर्म का नही मानत। सन् 1923 मे इस अधिनियम मे सशाधन कर विभिन्न जातियो क व्यक्तियों का आपस मे विवाह करन की अनुमति और तलाक का अधिकार प्रदान किया गया।

सन् 1954 में पारित विशष विवाह अधिनियम क द्वारा 1872 के कानून को समाप्त कर दिया गया। इस नवीन अधिनियम क अन्तर्गत दा भारतीयो को, चाह व किसी धर्म अथवा जाति के क्यों न हों, न्यायालय की सहायता स विवाह करने का अधिकार प्रदान किया गया है। अब उनके लिए यह घोषित करना आवश्यक नहीं था कि व किसी भी धर्म का नही मानत हैं। निम्नलिखित शर्तो के पूर्ण हाने पर इस अधिनियम क अन्तर्गत विवाह किया जा सकता है—

(1) दोनो म से किसी का भी पति या पत्नी जीवित न हा। (2) विवाह के समय वर की आयु कम से कम 21 वर्ष और वधू की आयु कम स कम 18 वर्ष हा। (3) दानों में से कोई भी बुद्धि रहित या पागल न हा। (4) वर-वधू एक दूसर क वर्जित सम्बन्धो की श्रणी मे न आत हों। (5) यदि विवाह कानून के क्षेत्र के बाहर किसी अन्य स्थान पर हा रहा हो, तो वर-वधू का भारतीय नागरिक एव निवासी होना आवश्यक है।

इस अधिनियम के अनुसार पति-पत्नी को हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में उल्लिखित आधारों से मिलते-जुलते आधारों पर ही विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया गया है। इस कानून की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि पति-पत्नी पारस्परिक सहमति के आधार पर भी तलाक की आज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है—

(1) यदि पति पत्नी कम से कम एक वर्ष से एक-दूसरे से अलग रह रहे हों
(2) यदि वे संयुक्त प्रार्थना पत्र में यह घोषित करें कि वे एक साथ रहने में असमर्थ हैं।
(3) यदि एक दूसरे को तलाक देने के लिए उन्होंने पारस्परिक समझौता कर लिया हो।

स्वतंत्र भारत में सामाजिक विधान
(Social Legislation in Independent India)

स्वतंत्र भारत के संविधान में कुछ आदर्श प्रस्तावित किए गए हैं। राज्य, जाति, धर्म तथा लिंग भेद आदि को ध्यान में रखते हुए सभी नागरिकों का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करेगा, समानता के सिद्धान्त को अपनाएगा। संविधान में देश के सभी नागरिकों को कुछ समान मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। धारा 17 के अनुसार, अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है। राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों के अन्तर्गत उन विविध सामाजिक क्षेत्रों को बताया गया है, जिनमें राज्य कानून बनाकर समाज-कल्याण कार्य को प्रोत्साहित करेगा, पिछड़े वर्गों के उत्थान में योग देगा. संविधान में वर्णित उद्देश्यों और आदर्शों के अनुरूप सामाजिक विधान बनाने का अधिकार राज्य को सौंपा गया है। राज्य इस दिशा में सन् 1950 से ही प्रयत्नशील है। यहाँ उन्हीं अधिनियमों पर विचार किया जा रहा है जो इस पुस्तक में वर्णित भारतीय सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित हैं।

1. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955
(The Hindu Marriage Act, 1955)

सन् 1955 में हिन्दू विवाह अधिनियम पारित किया गया और जम्मू कश्मीर को छोड़कर यह 18 मई, 1955 को सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया। इस अधिनियम द्वारा हिन्दू विवाह से सम्बन्धित अन्य सभी अधिनियमों को रद्द कर दिया गया है, केवल विशेष विवाह अधिनियम, 1954 अब भी लागू है। यह अधिनियम समस्त हिन्दुओं के लिये है 'हिन्दू' शब्द के अन्तर्गत जैन, बौद्ध, सिक्ख, ब्रह्म समाजी, आर्य समाजी तथा हरिजनों को सम्मिलित किया गया है। यह कानून केवल अनुसूचित जातियों के लोगों पर केन्द्रीय सरकार के आदेश के बिना लागू नहीं होगा। इस अधिनियम में विवाह की कोई विशेष विधि नहीं बताई गई है, इसमें हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न विधियों को मान्यता प्रदान की गई है। इस अधिनियम में सन् 1976 में, विवाह कानून (संशोधन) अधिनियम, 68 (Marriage Laws) Amendment Act, 68 of 1976) के अनुसार कुछ संशोधन किए गए हैं। इन संशोधनों को ध्यान में रखते हुए ही यहाँ हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 से सम्बन्धित प्रावधानों का उल्लेख किया जा रहा है।

हिन्दू विवाह की शर्तें (Conditions of Hindu Marriage)–निम्नलिखित शर्तें पूरी होने पर ही दो हिन्दुओं में विवाह हो सकेगा—

(1) विवाह करन वाले दानो पक्षो मे स किसी का भी पहला जीवन-साथी (पति या पत्नी) जीवित न हा,

(2) वर और वधू की कम स कम आयु क्रमश 18 वर्ष और 15 वर्ष हो (अब यह आयु क्रमश 21 वर्ष व 18 वर्ष कर दी गई है)।

(3) दानों पक्ष निषधात्मक सम्बन्धो की श्रणी में न आत हों अर्थात् उनमें निकट रक्त-सम्बन्ध न हा, बशर्ते कि काई प्रथा जिसक द्वारा व नियत्रित होत हैं, इस प्रकार के विवाह को आज्ञा न देती हो।

(4) वर-वधू एक-दूसर क सपिण्ड न हो, जब तक कि कोई प्रथा जिसके द्वारा वे नियन्त्रित होत हैं, इस प्रकार क विवाह की आज्ञा न देती हा।

(5) यदि दानो पक्षो में स काई भी पक्ष मानसिक असन्तुलन या पागलपन के कारण विवाह के लिए सहमति देन क अयाग्य नही हा।

(6) सहमति दन मे समर्थ होन पर भी इस प्रकार क या इस हद तक मानसिक विकार से ग्रस्त न हा कि वह विवाह और सन्तानात्पत्ति क अयाग्य हा, या उस उन्मत्तता या मिरगी का दौरा बार-बार न पडता हा।

शून्यकरणीय (अवैध) विवाह (Voidable Marriage)—इस अधिनियम के पारित होने क पूर्व या परचात सम्पन्न होने वाल विवाह निम्नलिखित दशाओं में अवैध घापित किये जा सकते हैं और विवाह सम्बन्ध समाप्त किया जा सकता है—

(1) यदि विवाह क समय दानों में से किसी का पहला जीवन-साथी जीवित हा जिसे तलाक नही दिया गया है।

(2) यदि दोनों निषिद्ध सम्बन्धों की श्रेणी मे आते हों तथा उनके परम्परागत नियम ऐसे विवाह की आज्ञा न देते हो।

(3) यदि व दोनों एक-दूसरे के सपिण्ड हों तथा उनके परम्परागत रिवाज ऐसे विवाह को स्वीकृति न देते हों।

उपर्युक्त दशाओं मे प्रार्थना-पत्र दकर न्यायालय द्वारा विवाह के अवैध होने की आज्ञा प्राप्त की जा सकती है। कुछ अन्य आधारों पर भी विवाह को अवैध ठहरा कर समाप्त किया जा सकता है। निम्नलिखित आधारों पर किसी भी पक्ष द्वारा विवाह-समाप्ति की माँग की जा सकती है—

(1) यदि विवाह के समय काई पक्ष नपुमक हो और मुकदमा चलने के समय तक भी वही स्थिति हो।

(2) यदि विवाह के समय कोई भी पक्ष पागल या बुद्धि रहित हो।

(3) यदि विवाह के एक वर्ष की अवधि में यह सिद्ध हो जाए कि विवाह के लिए प्रार्थी अथवा उसके अभिभावक की अनुमति जबरदस्ती या धोखे स ली गई थी।

(4) यदि विवाह के एक वर्ष के भीतर ही यह प्रमाणित हो जाए कि विवाह के समय पत्नी किसी अन्य पुरुष से गर्भवती थी और प्रार्थी को इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नही थी।

वैवाहिक अधिकारों का पुनर्स्थापन (Restitution of Conjugal Rights)— यदि पति-पत्नी किसी पर्याप्त कारण के बिना एक-दूसरे से अलग रहने लग गए हों, तो दु:खी पक्ष वैवाहिक अधिकारों के पुनर्स्थापन के लिए न्यायालय में प्रार्थना-पत्र दे सकता है। यदि विपक्ष, अलग रहने का कोई ऐसा कारण नहीं बता सके, जो न्यायिक पृथक्करण, विवाह को अवैधता अथवा विवाह-विच्छेद का आधार बन सके, तो न्यायालय वैवाहिक अधिकारों के पुनर्स्थापन की आज्ञा दे देता है। यदि कोई पक्ष इस आज्ञा का पालन नहीं करता है तो दूसरा पक्ष इस सम्बन्ध में आदेश प्राप्त होने के एक वर्ष पश्चात इस आधार पर विवाह-विच्छेद की माँग न्यायालय में प्रस्तुत कर सकता है।

न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation)—इस अधिनियम की धारा 10 के अनुसार पति-पत्नी को एक-दूसरे से अलग रहने और सहवास से मुक्त होने की कुछ आधारों पर न्यायालय द्वारा आज्ञा प्राप्त हो जाती है। न्यायिक पृथक्करण पृथक् रहने की आज्ञा है, वैवाहिक सम्बन्धों की समाप्ति नहीं। यदि पति-पत्नी पृथक् रहकर आपसी मतभेदों को भुला सकें और पुनः एक-दूसरे के साथ रहना चाहें तो वे न्यायालय से वैवाहिक अधिकारों के पुनर्स्थापन की माँग कर सकते हैं। संशोधित रूप में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार अब न्यायिक पृथक्करण के पृथक् आधारों को समाप्त कर उन्हीं आधारों को मान्यता दी गई है जो विवाह-विच्छेद के लिए आवश्यक हैं।

विवाह-विच्छेद (Divorce)— इस अधिनियम की धारा 13 के अनुसार, पति-पत्नी में से कोई भी पक्ष नीचे लिखे आधारों में से किसी एक या अधिक आधार पर विवाह विच्छेद अथवा न्यायिक पृथक्करण के लिए माँग कर सकता है। इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व विवाह-बन्धन में बँधने वाले भी इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह विच्छेद या न्यायिक पृथक्करण के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। ये आधार निम्नलिखित हैं-

(1) विवाह सम्पन्न होने के पश्चात् पति-पत्नी में से किसी भी पक्ष ने एक-दूसरे के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ ऐच्छिक यौन-सहवास किया हो।

(2) विवाह होने के पश्चात् किसी पक्ष ने दूसरे पक्ष के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया हो।

(3) विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र देने के दो वर्ष पूर्व से पति-पत्नी में से किसी ने दूसरे का परित्याग कर दिया हो।

(4) दूसरे पक्ष ने धर्म परिवर्तन कर लिया हो और वह हिन्दू नहीं रह गया हो।

(5) दूसरा पक्ष असाध्य पागलपन से ग्रसित हो।

(6) दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ या संक्रामक यौन रोग से पीड़ित हो।

(7) दूसरा पक्ष संसार त्याग कर सन्यासी बन गया हो।

(8) दूसरे पक्ष का पिछले सात वर्ष से कोई पता नहीं हो, या वह जीवित न सुना गया हो।

(9) दूसरे पक्ष ने न्यायिक-पृथक्करण की राजाज्ञा प्राप्त होने के पश्चात पिछले एक वर्ष या अधिक समय से सहवास प्रारम्भ नहीं किया हो।

(10) दूसरे पक्ष ने वैवाहिक अधिकारों के पुनर्स्थापन की राजाज्ञा का पिछले एक वर्ष या अधिक समय से पालन न किया हो।

उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त स्त्रियाँ इन अतिरिक्त आधारों पर भी विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकती हैं —

(1) यदि इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व किसी व्यक्ति ने दूसरी शादी कर ली है और उसकी पहली स्त्री जीवित है, तो ऐसी दशा में कोई भी पत्नी तलाक की माँग कर सकती है।

(2) यदि विवाह के पश्चात पति बलात्कार, गुदा-मैथुन अथवा पशुता का अपराधी हो तो स्त्री उसे तलाक दे सकती है।

(3) यदि अदालत द्वारा भरण-पोषण (Maintenance) की राजाज्ञा प्राप्त हो जाने पर भी पति के द्वारा स्त्री का भरण-पोषण नहीं किया जाता हो, तो पत्नी तलाक की माँग कर सकती है।

(4) हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 (संशोधित रूप में, 1976) के द्वारा पत्नी को वयस्कता के वरण का अधिकार (Option of puberty) दिया गया है। इसके अनुसार यदि विवाह के समय लड़की की आयु 15 वर्ष से कम हो, तो वह 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व तक विवाह की समाप्ति के लिए अदालत में प्रार्थना-पत्र दे सकती है।

पारस्परिक सहमति के आधार पर विवाह-विच्छेद (Divorce on the basis of Mutual Consent)—संशोधित रूप में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 धारा 13 (ब) में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीन प्रावधान यह रखा गया है कि अब पति-पत्नी पारस्परिक सहमति के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकते हैं। यदि वे पिछले एक वर्ष या अधिक समय से पृथक् रहते हों और यह महसूस करते हों कि उनका साथ-साथ रहना सम्भव नहीं तथा यदि वे पारस्परिक रूप से विवाह को समाप्त करने के लिए सहमत हों तो इस आधार पर विवाह-विच्छेद हो सकता है।

इस अधिनियम के अनुसार विवाह-विच्छेद के लिए आवेदन-पत्र विवाह के तीन वर्ष पश्चात् ही दिया जा सकता है, परन्तु अब इस अवधि को घटाकर एक वर्ष कर दिया गया है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के संशोधित होने के पूर्व तक विवाह विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त होने के एक वर्ष पश्चात् ही कोई भी पक्ष पुनः विवाह कर सकता है। परन्तु अब विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा के तुरन्त बाद भी विवाह किया जा सकता है। स्पष्ट है कि अब विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया को पहले की तुलना में कुछ सरल कर दिया गया है।

विवाह-विच्छेद के बाद प्रार्थी और विपक्षी की आर्थिक दशा को ध्यान में रखते हुए न्यायालय प्रार्थी से विपक्षी को निर्वाह-धन (Alimony) दिला सकता है। यह निर्वाह-धन किसी भी पक्ष को उस समय तक मिलता रहता है जब तक कि वह पक्ष दूसरा विवाह न कर ले तथा उसकी सन्तान बालिग न हो जाय। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि न्यायालय द्वारा पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त करना उतना सरल नहीं है जितना साधारणतः सोचा जाता है। न्यायालय सर्वप्रथम दोनों पक्षों में समझौता कराने की कोशिश करता है और इस प्रयत्न में असफल होने पर साधारण रूप से पहले पृथक्करण की आज्ञा दी जाती है ताकि दोनों पक्षों को स्थिति पर पुनः शान्तिपूर्वक विचार करने का मौका मिल जाए। यदि एक-दूसरे को वे अपने अनुकूल पाएँ तो वैवाहिक अधिकारों के पुनर्स्थापन की राजाज्ञा भी प्राप्त कर सकते हैं। जहाँ ये सब सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं, वहीं विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्रदान की जाती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि विवाह-विच्छेद के लिए पहले न्यायिक-पृथक्करण होना आवश्यक ही हो। विशेष परिस्थितियों में सीधे ही विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा भी प्रदान की जा सकती है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 का विश्लेषण
(Analysis of Hindu Marriage Act, 1955)

इस अधिनियम के द्वारा हिन्दू विवाह से सम्बन्धित नियमों में आवश्यक सुधार लाने और उन्हें व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस अधिनियम ने हिन्दू विवाहों को निम्नलिखित रूपों में प्रभावित किया है–

(1) इस अधिनियम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें एक-विवाह प्रथा को मान्यता और बहुपत्नी विवाह को समाप्त कर दिया गया है। इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व हिन्दू समाज में बहुपत्नी विवाह की आज्ञा प्राप्त थी। अब विवाह की एक आवश्यक शर्त के रूप में बतलाया गया है कि विवाह के समय किसी का भी पहला जीवन-साथी जीवित नहीं होना चाहिए।

(2) इस अधिनियम ने विवाह के क्षेत्र को विस्तारित करने में योग दिया है। अब जाति अन्तर्विवाह (Caste Endogamy) आवश्यक नहीं है। कोई भी हिन्दू चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इस अधिनियम के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह में छूट दी गई है। इसके द्वारा अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के भेद को समाप्त कर दिया गया है।

(3) यह अधिनियम बहिर्विवाह के लौकिक और रक्त सम्बन्धी आधार को मान्य और पौराणिक आधार को अमान्य घोषित करता है। विवाह की शर्तों के रूप में बताया गया है कि वर-वधू एक-दूसरे के वर्जित सम्बन्धों की श्रेणी में न आते हों। ऐसे सम्बन्धों की सूची कानून के साथ ही दी गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यदि किसी समुदाय विशेष के रीति-रिवाज वर्जित सम्बन्धों की श्रेणी में आने वाले सम्बन्धियों का आपस में विवाह की आज्ञा देते हैं, तो कानून की दृष्टि से वे स्वीकृत होंगे। इस अधिनियम में सपिण्ड विवाहों को वर्जित बतलाया गया है। सपिण्डता के अन्तर्गत पिता की ओर पाँच पीढ़ी और माता की ओर तीन पीढ़ी के सम्बन्धियों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों की आज्ञा नहीं दी गई है। यह अधिनियम सगोत्र और सप्रवर विवाहों पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता है, एक ही गोत्र और प्रवर के व्यक्ति आपस में विवाह कर सकते हैं।

(4) इस अधिनियम के अन्तर्गत विशेष परिस्थितियों में स्त्री-पुरुषों को समान रूप से न्यायिक पृथक्करण और विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान किया गया है। इससे पूर्व विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता था जबकि अब विवाह को एक सामाजिक समझौता माना जाता है। आजकल रोमान्टिक ढंग के विवाह होने लगे हैं और विवाह एक स्थायी बन्धन नहीं रह गया है। विवाह-सम्बन्धी इस नवीन अधिनियम का अभी ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत कम प्रभाव पड़ा है।

(5) इस अधिनियम ने पारिवारिक और विवाह के क्षेत्र में स्त्री-पुरुषों को सैद्धान्तिक रूप से समानता के स्तर पर लाने में योग दिया है। इसके पूर्व पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र था, परन्तु अब एक-विवाही प्रथा को समान रूप से लागू किया गया है। इसी प्रकार न्यायिक पृथक्करण, वैवाहिक अधिकारों के पुनर्स्थापन तथा विवाह-विच्छेद के मामलों में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार दिए गए हैं। यह कानून स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने में निश्चित रूप से योग देगा।

(6) इस अधिनियम के अनुसार, विवाह के लिए आजकल लड़के-लड़कियों की न्यूनतम आयु क्रमश 21 वर्ष और 18 वर्ष रखी गई है। इस प्रकार बाल-विवाहों के प्रचलन को रोकने का प्रयास भी इस अधिनियम में किया गया है। विवाह की आयु बढ़ने से स्वयं लड़के-लड़कियों को अपने जीवन-साथी का चुनाव करने के अधिक अवसर प्राप्त होने लगे हैं।

इस अधिनियम के सम्बन्ध में यह धारणा भ्रामक है कि अब छोटी-छोटी बातों पर विवाह-विच्छेद हो सकेगा, विवाह संस्था नष्ट हो जाएगी और पारिवारिक स्थायित्व खतरे में पड़ जाएगा। विवाह-विच्छेद के लिए जिन शर्तों का उल्लेख किया गया है, वे इतनी सरल नहीं हैं कि पति-पत्नी जब चाहें तब एक-दूसरे को तलाक दे दें। एक बार विवाह हो चुकने के पश्चात् कोई भी साधारणत: कम से कम चार पाँच वर्ष तो किसी अन्य के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता है। न्यायालयों को यह भी आदेश दिया गया है कि ऐसे मामलों में पति-पत्नी में समझौता कराने का प्रयास किया जाना चाहिए। इतना अवश्य है कि अब पुरुष स्त्री पर मन चाहे ढंग से अत्याचार नहीं कर सकेगा।

इस कानून के बनने मात्र से व्यापक सामाजिक परिवर्तन आ सकें, ऐसा नहीं माना जा सकता। कानून सामाजिक परिवर्तन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को अवश्य हटा सकता है, परन्तु किसी परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए लोगों को बाध्य नहीं कर सकता। सामाजिक परिवर्तन और विकास के लिए कानून के साथ-साथ अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों का होना भी आवश्यक है। यही बात इस कानून के सम्बन्ध में सही है।

2. अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955
(The Untouchability (Offences) Act, 1955)

अस्पृश्यता को दूर करने, अस्पृश्यों पर विभिन्न निर्योग्यताओं को लागू करने वाले व्यक्तियों को सजा देने तथा पिछड़े वर्गों को सामाजिक समानता प्रदान करने के लिए सम्पूर्ण भारत में 1 जून, 1955 से 'अस्पृश्यता' (अपराध) अधिनियम, 1955' लागू किया गया। इस अधिनियम के द्वारा अस्पृश्यों की सभी प्रकार की निर्योग्यताओं को दूर कर दिया गया है।

इस अधिनियम के अनुसार अस्पृश्यों को सार्वजनिक पूजा के स्थानों में प्रवेश करने, पवित्र धार्मिक नदी, तालाब, झरना आदि में स्नान करने या पानी लेने, किसी भी दुकान, जलपान-गृह, होटल या सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान में प्रवेश करने या धर्मशालाओं एवं मुसाफिरखानों के उपयोग में लाने से रोकने पर दण्ड की व्यवस्था की गई है। यदि कोई व्यक्ति किसी को नदी, कुएँ, तालाब या नल, घाट, श्मशान, कब्रिस्तान आदि को काम में लेने से, या उसे किसी भी मोहल्ले में जमीन खरीदने, मकान बनवाने और रहने से रोकेगा तो ऐसी दशा में उसका वह कार्य इस अधिनियम के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध समझा जाएगा। प्रत्येक को किसी सार्वजनिक बस्ती, सवारी, आभूषण, अथवा अलंकार के उपयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। इस अधिनियम के द्वारा सभी लोगों को समान रूप से सार्वजनिक चिकित्सालयों, औषधालयों, शिक्षण-संस्थाओं एवं छात्रावासों में प्रवेश करने का अधिकार दिया गया है। अब कोई भी दुकानदार अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कोई भी वस्तु बेचने या सेवा करने से इन्कार नहीं कर सकता। व्यवसाय के चुनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक को दी गई है। इस कानून का पालन नहीं करने वालों अथवा कोई लिखित रूप

में या बाल गये शब्दों द्वारा अस्पृश्यता को प्रोत्साहित करता है तो उसके लिए छ माह की कैद या पाँच सौ रुपये जुर्माना अथवा दोनों के दण्ड की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम के द्वारा यद्यपि कानूनी रूप से अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है तथापि व्यावहारिक रूप से वह आज भी पाई जाती है। अनेक स्थानों पर आज भी अस्पृश्यता से सम्बन्धित कई प्रकार के आचरण दिखलाई पड़ते हैं।

अस्पृश्यता कानून को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए भारत सरकार ने एक पृथक् 'नागरिक अधिकार संरक्षण कानून' (Civil Rights Protection Act, 1976) पास किया है। यह कानून अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955 का ही संशोधित रूप है। इसके मुख्य प्रावधान इस प्रकार है—

(1) प्रथम बार अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध के लिए 6 माह की कैद तथा 100 रुपये से 500 रुपये तक के जुर्माने की व्यवस्था की गयी है। दुबारा अपराध करने पर 6 माह से एक वर्ष की कैद तथा 200 से 500 रुपये तक के जुर्माने की और तीसरी बार अपराध करने पर एक वर्ष से दो वर्ष की कैद तथा 1000 रुपये तक के जुर्माने का प्रावधान रखा गया है। (2) अस्पृश्यता के अपराध के लिए दण्डित लोग लोकसभा तथा विधानसभा का चुनाव नहीं लड़ सकते। (3) अस्पृश्यता का प्रचार करना और उसे किसी भी रूप में न्यायोचित ठहराना भी दण्डनीय अपराध होगा। (4) पूजा के स्थानों पर जहाँ सर्व साधारण जनता जाती रहती है, किसी भी रूप में अस्पृश्यता बरतना दण्डनीय अपराध होगा। (5) यदि कोई सरकारी कर्मचारी अस्पृश्यता से सम्बन्धित जाँच के कार्य को जान-बूझकर उपेक्षा करेगा तो उसके इस कार्य को अपराध को प्रोत्साहन देने वाला दण्डनीय माना जायगा। (6) सामूहिक रूप से अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध करने पर ऐसे किसी क्षेत्र के लोगों पर सामूहिक जुर्माना करने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया है। (7) पुलिस बिना किसी शिकायत के भी अस्पृश्यता से सम्बन्धित अपराध में सीधी कार्यवाही कर सकती है तथा ऐसे अपराध में वादी और प्रतिवादी का समझौता करने की आज्ञा नहीं दी गयी है। (8) इस कानून का उल्लंघन करने वाले लोगों को दण्ड देने हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति और मामलों की सुनवाई हेतु विशेष अदालतों के गठन की व्यवस्था की गयी है।

उपर्युक्त कानून को सफल बनाने के लिए सरकार द्वारा अस्पृश्यता निवारण के लिए प्रचार साहित्य तथा दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। साथ ही वर्तमान सरकार ने अस्पृश्यता निवारण को अपनी सामाजिक पुनर्निर्माण की नीति में सर्वोच्च स्थान दिया है। यदि वास्तव में ऐसा हो सका तो निश्चय ही हम एक बहुत गम्भीर समस्या से छुटकारा पा सकेंगे।

3. दहेज निरोधक अधिनियम, 1961
(Dowry Prohibition Act, 1961)

हिन्दू समाज में एक ओर दहेज की काफी माँग की जाती है और दूसरी ओर विवाह उत्सव में काफी खर्चा हो जाता है। सन् 1961 में सरकार द्वारा दहेज निरोधक अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार दहेज लेने और देने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है। लेकिन यह कानून अनेक कारणों से दहेज के लेने देने को रोकने में असमर्थ रहा है। मुख्यत यह कानून सामाजिक आदर्श प्रतिमान को परिवर्तित नहीं कर पाया है। यहाँ लोगों पर कानूनी आदर्श प्रतिमान के बजाय सामाजिक आदर्श प्रतिमान का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस अधिनियम का सविस्तार वर्णन "हिन्दू विवाह से सम्बन्धित समस्याओं" वाले अध्याय में "दहेज के विरुद्ध कानून" शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 की कमियों को दूर करने के उद्देश्य से इसमें संशोधन किया गया। अब यह अधिनियम "दहेज रोक (संशोधन) कानून, 1984" 2 अक्तूबर, 1985 को लागू कर दिया गया है। इस संशोधन का उद्देश्य दहेज कानून को और सख्त व कारगर बनाना है ताकि दोषी लोगों के विरुद्ध कार्यवाही की जा सके। इस संशोधित कानून की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

(1) दहेज लेने व देने व दहेज की माँग करने वालों के लिए सजा की अवधि 6 माह से बढ़ाकर 2 वर्ष कर दी गई है। कम से कम 6 माह की जेल की सजा का भी प्रावधान किया गया है।

(2) दहेज देने, लेने या दहेज की माँग करने वाले लोगों के लिए जुर्माना 5 हजार रुपये से बढ़ाकर 10 हजार रुपये कर दिया गया है।

(3) विवाह के समय वर या वधू को बिना माँग किये भेंट में दी गई वस्तु को दहेज नहीं माना जाएगा, अगर उस वस्तु को उपहारों की सूची में सम्मिलित किया गया हो। यह सूची लिखित रूप में होनी चाहिए। इसमें भेंट की गई प्रत्येक वस्तु, उसकी कीमत, भेंट देने वाले का नाम एवं वर या वधू से उसके सम्बन्ध के बारे में जानकारी दी जानी चाहिए।

(4) इस संशोधित कानून से यह सम्भव हो गया कि मान्यता-प्राप्त जन-कल्याण संस्थाएँ या संगठन दहेज सम्बन्धी अपराधों के बारे में शिकायत दर्ज करा सकेंगे। न्यायालयों को इन शिकायतों की सुनवाई करनी होगी।

(5) यह कानून सभी धर्मों के लोगों पर लागू है।

(6) दहेज निरोधक कानून में विवाह के अवसर पर जो दहेज एवं भेंट मिलती है, उस पर वधू का स्वामित्व माना गया है और नये संशोधन में पूर्व के एक वर्ष के स्थान पर तीन माह में दहेज की राशि व सामग्री वधू के नाम स्थानान्तरित कर दिये जाने का प्रावधान है। यह प्रावधान विवाहिता को अपने बचाव एवं परिवार वालों के दुर्व्यवहार तथा अत्याचार के विरुद्ध सुरक्षा देने वाला है।

इस संशोधित कानून की एक प्रमुख कमी यह है कि इसमें दहेज की निर्दोष परिभाषा नहीं दी गयी है।

4. स्त्रियों व कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, 1956
(Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Act, 1956)

अखिल भारतीय स्तर पर 1956 में स्त्रियों तथा कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम बना। इस अधिनियम का संशोधित रूप वेश्यावृत्ति निरोधक अधिनियम 1986 है। इसके अन्तर्गत किसी भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध 'जिस्मफरोशी' या 'वेश्यावृत्ति' के लिए मजबूर करने वाले को आजीवन कारावास की सजा दी जा सकती है। इसमें बच्चों को जिस्मफरोशी को रोकने के विशेष प्रयास किये गये हैं। किसी लड़की को वेश्यावृत्ति के लिए फुसलाना, बाध्य करना, नजरबन्द रखना और उसके साथ रहना दण्डनीय अपराध है। वेश्यालय चलाने वालों को 1 से 5 वर्ष तक की जेल की सजा एवं दो हजार रुपया जुर्माना का दण्ड दिया जा सकता है।

5. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956
(Hindu Succession Act, 1956)

यह अधिनियम समस्त हिन्दुओं पर लागू है। इस अधिनियम के लागू होने के बाद मिताक्षरा और दायभाग नियमों को समाप्त कर दिया गया है। इसके द्वारा हिन्दू स्त्री को प्रथम बार अपनी

सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दिया गया है और साम्पत्तिक अधिकार की दृष्टि से स्त्री को पुरुष के समान माना गया है। इस अधिनियम के आधार पर संयुक्त परिवार में किसी पुरुष हिस्सेदार की मृत्यु हो जाने पर उसकी सम्पत्ति का हिस्सा उसकी माँ, विधवा पत्नी, पुत्र एवं पुत्रियों में समान रूप से बाँटने की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम में स्त्री को माता, पत्नी एवं पुत्री के रूप में सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्रदान किया गया है। स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से यह अधिनियम लाभकारी सिद्ध हुआ है।

6. हिन्दू नाबालिग एवं संरक्षता अधिनियम, 1956
(The Hindu Minority and Guardianship Act, 1956)

इस अधिनियम के अनुसार 18 वर्ष से कम आयु के बच्चों को नाबालिग माना गया है। इस अधिनियम में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं– नाबालिग बच्चे या बच्चों के माता अथवा पिता की मृत्यु हो जाने पर बच्चों की सम्पत्ति की देखभाल एवं सुरक्षा का कार्य संरक्षक द्वारा ही किया जाएगा। संरक्षक के दो प्रकार बताये गये हैं– प्रथम, प्राकृतिक संरक्षक जैसे माता की मृत्यु हो जाने पर पिता बच्चे का प्राकृतिक संरक्षक माना जायगा और पिता की मृत्यु हो जाने पर माता, द्वितीय न्यायालय द्वारा नियुक्त किया हुआ संरक्षक। नाबालिग बच्चे के माता और पिता दोनों की मृत्यु हो जाने पर संरक्षक की नियुक्ति न्यायालय द्वारा की जायगी। इस अधिनियम के अन्तर्गत अब कोई भी संरक्षक किसी नाबालिग की अचल सम्पत्ति को न्यायालय की अनुमति के बिना न तो बेच सकेगा, न ही उसे रहन रख सकेगा और न ही उसका विनिमय कर सकेगा। स्पष्ट है कि इस अधिनियम के द्वारा नाबालिग की सम्पत्ति की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की गई है और स्त्री को भी अपनी नाबालिग सन्तान का संरक्षक बनने का अवसर दिया गया है।

7. हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण-पोषण अधिनियम, 1956
(The Hindu Adoptation and Maintenance Act, 1956)

इसमें महत्वपूर्ण व्यवस्था यह की गई कि केवल लड़के को ही नहीं, बल्कि लड़की को भी गोद लिया जा सकता है। विधवा को भी अपनी सम्पत्ति के उपयोग के लिए गोद लेने का अधिकार दिया गया है। इस अधिनियम के द्वारा स्त्री–पुरुष दोनों को ही भरण-पोषण का अधिकार प्रदान किया गया है। अब पति की सम्पत्ति में से भरण–पोषण की राशि प्राप्त करने का अधिकार केवल स्त्री को ही नहीं है, पुरुष भी आय के साधन न होने पर पत्नी की सम्पत्ति में से भरण–पोषण की राशि प्राप्त करने का अधिकारी है। भरण-पोषण प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में पत्नी, विधवा पुत्र-वधू, नाबालिग सन्तान, वृद्ध माता–पिता एवं अन्य आश्रित व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार इस अधिनियम के अन्तर्गत इन लोगों को आर्थिक संरक्षण प्रदान किया गया है। भरण-पोषण की राशि प्राप्त करने के अधिकार की उपयोगिता तलाकशुदा या पति से पृथक् रहने वाली स्त्रियों के लिए ही विशेषतः है।

उपर्युक्त अधिनियमों के अतिरिक्त गन्दी बस्तियों को समाप्त करने की दृष्टि से 1956 में "गन्दी बस्तियाँ क्षेत्र अधिनियम" (The Slum Areas Act, 1956) पारित किया गया। इसके अन्तर्गत किसी भी क्षेत्र को मानव निवास के लिए अनुपयुक्त घोषित किया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में अनेक श्रम कानून भी बनाए गए ताकि श्रमिकों का शोषण नहीं हो और उन्हें

आवश्यक सुविधाने प्राप्त हो सकें। इसी प्रकार रोजगार कार्यालय अधिनियम (Employment Exchange Act, 1959) पास किया गया। इसमे बेकार लोगों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई है। इस प्रकार बेकारी की समस्या का सुलझान् का उत्तरदायित्व राज्य ने अपने ऊपर लिया है। बाल-कल्याण का दृष्टि में रखकर भी समय-समय पर अनेक कानून बनाए गए हैं। कुछ कानून बाल श्रमिकों के हित को ध्यान में रखकर और कुछ बाल अपराधियों का सुधारन हेतु बनाय गए हैं।

इस अध्याय मे वर्णित सभी अधिनियमों के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि भारत सरकार बाल-कल्याण नारी कल्याण, श्रम कल्याण, पिछडे वर्ग के उत्थान और विवाह एवं परिवार से सम्बन्धित अनेक समस्याओं के प्रति जागरूक रही है और उसके द्वारा इस दिशा में काफी प्रयास भी किए गए हैं।

सामाजिक विधानो का विवाह, परिवार एवं स्त्रियो की स्थिति पर प्रभाव (Impact of Social Legislation on Marriage, Family and Status of Women)

नवीन सामाजिक विधानों के हिन्दू विवाह पर प्रभाव के लिए इसी अध्याय में 'हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 का विश्लेषण' नामक शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित सामग्री देखिए। विभिन्न अधिनियमों के परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति तथा परिवार पर निम्नलिखित प्रभाव पडे-

1. परिवार में स्त्री तथा पुरुष को सम्पत्ति में समान अधिकार प्राप्त हुए हैं। पुत्री, पत्नी और माँ के रूप मे स्त्रियो का पारिवारिक सम्पत्ति में पुरुषो के बराबर के अधिकार मिले हैं।
2. बाल-विवाह एव बहु-पत्नी प्रथा की समाप्ति हुई है।
3. दहेज की सम्पत्ति पर स्त्रियों का अधिकार माना गया है।
4. स्त्रियों को पुरुषो के समान तलाक के अधिकार मिले हैं।
5. नाबालिग बच्चों को उचित सरक्षण प्राप्त होने के साथ-साथ अब माँ को भी सरक्षक बनने का अधिकार मिला है।
6. नये अधिकारो की प्राप्ति के कारण स्त्रियों में व्यक्तिवाद की भावना का उदय हुआ है। इसका प्रमुख प्रभाव सयुक्त परिवारों पर पडा क्योंकि अब सयुक्त परिवारो का विघटन अधिक तेज गति से होने लगा है।
7. यदि स्त्रियाँ कुछ विशेष परिस्थितियों मे पृथक् रहने लगें, तब भी उन्हें भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार मिले हैं।
8. विधवा स्त्रियों का पुनर्विवाह करने का कानूनन अधिकार मिला है जिससे प्रेरित होकर कई विधवाएँ पुनर्विवाह करने में अब कोई सकोच नही करती हैं।
9. प्रत्येक क्षेत्र में (पारिवारिक एव सामाजिक) स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त होने से स्त्रियों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।
10. स्त्रियों की शिक्षा एव जागृति मे वृद्धि होने से वे धार्मिक कर्मकाण्डों, कुरीतियों, रूढियों आदि का विरोध करने लगी हैं। स्त्रियों के मानसिक क्षितिज का विस्तार होने से भावी परिवार एव पीढियों के मानसिक क्षेत्र मे भी निश्चय ही विस्तार होगा।

11. पुरुषो का एकाधिकार समाप्त हुआ है।
12. लड़कियाँ भी गोद ली जा सकती हैं और स्त्रियों को भी गोद लेने हेतु अधिकृत किया गया है।

सामाजिक विधानों के प्रभाव की समीक्षा
(Analysis of the Impact of Social Legislation)

हमारे सम्मुख विचारणीय प्रश्न यह है कि हमारे देश में पारित आधुनिक सामाजिक विधान, कहाँ तक अपने उद्देश्यों की पूर्ति मे सफल हुए हैं, व कहाँ तक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने और पिछड़े वर्गों के उत्थान मे योग दे पाए हैं। विविध सामाजिक अधिनियमों के द्वारा समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से सामाजिक सुधार के मार्ग में उपस्थित होने वाली कानूनी बाधाओं को निश्चय ही दूर किया जा चुका है। आज स्त्रियो को अनेक अधिकार प्रदान किये गये हैं बालकों के कल्याण का प्रयत्न किया गया है। साथ ही वैवाहिक और पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक कदम उठाए गए हैं। बाल विवाहों को रोकने, विधवा पुनर्विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने की ओर भी प्रयास किये गये हैं। अस्पृश्यता निवारण हेतु भी कार्यवाही की गई है। परन्तु क्या बाल-विवाह समाप्त हो गये हैं? क्या अधिकांश विधवाओं का पुनर्विवाह होता है? क्या दहेज का लेन-देन अब नही होता है? क्या स्त्रियाँ अपने वैवाहिक और साम्पत्तिक अधिकारों का पूर्ण उपयोग कर पाती हैं? क्या विभिन्न जातियों के मध्य ऊँच-नीच की भावना नही पाई जाती है? क्या अस्पृश्यता का उन्मूलन किया जा चुका है? हमें इन प्रश्नो का उत्तर अधिकांशतः "नही" में ही देना होगा. इन अधिनियमों की जानकारी बहुत कम लोगों को है और इनका लाभ उठाने वाले लोगों की संख्या और भी सीमित है। इन अधिनियमों में भी कुछ अस्पष्टता है और इनके क्रियान्वयन पर पूरा ध्यान भी नही दिया जाता है।

भारत मे इन अधिनियमो के अधिक प्रभावपूर्ण नही होने के अनेक कारण है जिनमें मुख्य ये है–

(1) अशिक्षा सामाजिक विधानों के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। अशिक्षा के कारण देश के अधिकांश लोग इन अधिनियमों की उपयोगिता को नही समझते और आवश्यक जन-सहयोग प्रदान नहीं कर पाते। अशिक्षा के कारण यहाँ रूढिवादिता भी पाई जाती है। लोग परम्पराओ से चिपके रहते हैं, परिवर्तन को आसानी से स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसी दशा में सामाजिक विधान उनके व्यवहारों को परिवर्तित नही कर पाते।

(2) भारतीय समाज एक परम्परावादी समाज रहा है। यहाँ परम्पराओं का विशेष प्रभाव पाया जाता है। परम्पराओं के पीछे सामान्य सामूहिक स्वीकृति पाए जाने से लोग साधारणतः उन्हें तोड़ने का साहस नही कर पाते हैं। यही कारण है कि विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिनियमों के पारित होने के उपरान्त भी न तो मुस्लिम स्त्रियों और न ही हिन्दू स्त्रियों द्वारा इनका लाभ उठाया जाता है, यद्यपि अपवाद के रूप में कुछ तलाक की घटनाएँ अवश्य होती हैं।

(3) हिन्दुओं के जीवन में धार्मिक विश्वासों का काफी प्रभाव रहा है और अधिनियमों के माध्यम से इन विश्वासों में परिवर्तन लाना कोई आसान कार्य नही है। यहाँ व्यक्ति कानून की अवहेलना

कर सकता है, परन्तु धार्मिक नियमों की नहीं। यही कारण है कि हमारे यहाँ आज तक विधवा-विवाह प्रचलित नहीं हो पाए हैं, बाल-विवाहों को पूरी तरह नहीं रोका जा सका है और न ही अस्पृश्यता को समाप्त किया जा सका है।

(4) भारत में जाति-व्यवस्था आज भी एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में अधिकांश लोगों के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित कर रही है। अन्तर्विवाह की नीति हमारे यहाँ जाति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता के रूप में रही है। जातीय बन्धनों में जकड़े हुए लोग कानूनी बाधाओं के न होने पर भी सामाजिक रूढ़ियों को नहीं तोड़ पाते। यही कारण है कि यहाँ "विशेष विवाह अधिनियम, 1954" के पारित हो जाने के उपरान्त भी अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या नहीं बढ़ पाई है, अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 के बन जाने के बाद भी गाँवों के अधिकतर लोग छुआछूत के बन्धनों से आज तक भी मुक्त नहीं हो पाए हैं।

(5) देश में सामाजिक विधानों के आशानुरूप सफलता प्राप्त न करने का एक मुख्य कारण यह है कि यहाँ करीब 75 प्रतिशत लोग ग्रामों में निवास करते हैं। ये लोग शिक्षा के अभाव में तर्क, ज्ञान एवं प्रगतिशील व्यवहारों को नहीं समझ पाते हैं। परिणाम यह होता है कि ये उत्तम से उत्तम अधिनियम को भी अपनी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप समझते हैं, सामाजिक और धार्मिक जीवन में बाधक मानते हैं।

(6) उचित संचार व्यवस्था के अभाव में नवीन सामाजिक विधानों का ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्य लोगों और नगरीय क्षेत्रों में-विशेषतः अशिक्षित लोगों में प्रचार नहीं हो पाया है। इन लोगों में से अधिकांश तो यहाँ तक भी नहीं जानते कि हमारे देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कौन-कौन से सामाजिक विधान पारित किये गये हैं।

(7) भारतीय महिलाएँ आर्थिक दृष्टि से आज भी पुरुषों पर निर्भर हैं। अभी तक यहाँ अधिकतर स्त्रियाँ अशिक्षित हैं, अज्ञानता के अन्धकार में डूबी हुई हैं परिणाम यह हुआ कि जो अधिनियम स्त्रियों की विविध वैवाहिक और साम्पत्तिक निर्योग्यताओं को दूर करने की दृष्टि से पारित किए गए हैं, उनका भी वे लाभ नहीं उठा पातीं। संयुक्त परिवार व्यवस्था ने भी सामाजिक अधिनियमों के माध्यम से नियोजित परिवर्तन लाने में बाधा उपस्थित की है।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि भारत में सामाजिक विधान सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में पूर्णतः असफल रहे हैं। इन अधिनियमों ने लोगों को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक बनाया है, अपने अधिकारों के प्रति उनमें चेतना जाग्रत की है। धीरे-धीरे उनकी अभिवृत्तियों में परिवर्तन भी आ रहा है। आज विधवा-पुनर्विवाह और अन्तर्जातीय विवाह के प्रति लोगों का सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण पाया जाता है। बाल-विवाह निरन्तर कम होते जा रहे हैं। आवश्यकता पड़ने पर लोग विवाह-विच्छेद का सहारा भी लेने लगे हैं। साम्पत्तिक अधिकार मिलने से स्त्रियों की स्थिति में क्रमिक सुधार होता जा रहा है। लोगों की अस्पृश्यता सम्बन्धी धारणायें भी बदल रही हैं। इन सब परिवर्तनों को लाने में सामाजिक विधानों के अतिरिक्त अनेक अन्य कारकों का भी योग रहा है।

सामाजिक समस्याओं को हल करने में सामाजिक विधानों का निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ में इनके द्वारा परिवर्तन धीरे-धीरे ही आता है क्योंकि अनेक शताब्दियों से चल

रही मान्यतायें एकाएक समाप्त नहीं हो जाती। सामाजिक विधानों की सफलता बहुत कुछ मात्रा में उन लोगों के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है जिनके लिए इनका निर्माण किया गया है।

सामाजिक विधानों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि नवीन कानून में निहित नये मूल्यों को समझने में लोगों की सहायता की जाय। इसके लिए ऐच्छिक संगठित प्रयास किये जाने चाहिएँ। समाजीकरण की प्रक्रिया इस कार्य में विशेष योग दे सकती है। माता-पिता द्वारा यह प्रयास किया जाना चाहिए कि बालक नवीन कानूनी आदर्श-प्रतिमान को सामाजिक आदर्श-प्रतिमान के रूप में स्वीकार करें। शिक्षा एवं उचित संचार-व्यवस्था भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

प्रश्न

1. हिन्दू विवाह पर नए सामाजिक अधिनियमों का प्रभाव दर्शाइये।
2. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (संशोधित रूप में, 1976) के प्रावधानों का विस्तार से वर्णन कीजिये।
3. भारत में मुस्लिम विवाह और तलाक को नियमित करने के कानूनी प्रावधानों की विवेचना कीजिये।
4. विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के प्रावधानों की व्याख्या कीजिये।
5. हिन्दुओं में विवाह और तलाक को नियमित करने के लिए कौन-कौन से वैधानिक उपाय किये गये हैं?
6. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के प्रमुख प्रावधानों का उल्लेख करते हुए बतलाइये कि इनसे हिन्दू विवाह की समस्याएँ कहाँ तक सुलझ पायी हैं?
7. 'दहेज निरोधक अधिनियम, 1961' (दहेज रोक (संशोधन) कानून 1984) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
8. अस्पृश्यता पर सामाजिक विधानों के प्रभाव की समीक्षा कीजिये।



24

भारत के प्रमुख धर्म (भारतीय समाज पर उनका प्रभाव)

(Major Religions of India. Impact on Indian Society)

भारतीय समाज धर्म-प्राण समाज कहलाता है और धर्म की प्रत्येक क्षत्र में महत्ता रही है। धर्म व्यक्ति, परिवार समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन का अनेक रूपों में प्रभावित करता रहा है। यहाँ भौतिक सुख प्राप्ति का जीवन का परम लक्ष्य मानकर धर्म सचय का प्रधानता दी गई है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था मूलत धर्म पर आधारित है। यहाँ धर्म क आधार पर जीवन के समस्त कार्यों की व्यवस्था करन का प्रयास किया गया है। भारतीय समाज ज्ञान भक्ति अथवा कर्म क द्वारा परमश्वर क स्वरूप को समझन का प्रयत्न करता रहा है। वह सत्, चित् और आनन्द की प्राप्ति का प्रयास तथा जीवन क परम सत्य को जानन की कोशिश में लगा रहा।

धर्म हिन्दुओ क जीवन का जन्म स लकर मृत्यु तक अनेक रूपो में प्रभावित करता रहा है। टाल्सटॉय ने कहा है— "हमार युग क उद्भट विद्वानो न तय कर दिया है कि अब धर्म की कोई आवश्यकता नहीं तथा यह भी कि विज्ञान धर्म का स्थान लगा अथवा ल चुका है। किन्तु फिर भी यह सत्य अमिट है कि धर्म क बिना न पहल तथा न अब कोई मनुष्य, समाज और विवकी पुरुष जीवित रहा है न रह सकता है।"[1] डॉ. राधाकमल मुकर्जी न बतलाया है, "भारतीय जीवन रचना का निर्माण आत्मा प्रकृति तथा परमात्मा और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करने वाले सूक्ष्म आध्यात्मिक दर्शन क आधार पर हुआ है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था धर्म पर आधारित रही है।

धर्म का अर्थ

(Meaning of Dharma)

धर्म क अर्थ का "रिलीजन" (Religion) शब्द के अनुवाद के रूप में नहीं समझा जा सकता। धर्म एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। धर्म उस मौलिक शक्ति क रूप मे जाना जा सकता है जो भौतिक आर आध्यात्मिक व्यवस्था का आधार रूप है ओर जो उस व्यवस्था को बनाये रखन के लिये आवश्यक है। गिलिन और गिलिन ने धर्म का परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक सामाजिक समूह म व्याप्त उन सवेगात्मक विश्वासो का जो किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित है और साथ ही एस विश्वासो स सम्बन्धित प्रकट व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं एव प्रतीकों को धर्म के समाजशास्त्रीय क्षत्र में सम्मिलित माना जा सकता है।"[3] 'रिलीजन' शब्द के अन्तर्गत अलौकिक विश्वास एव अधि-प्राकृतिक शक्तियाँ आती हैं, परन्तु हिन्दू धर्म का सम्बन्ध मुख्यत· मनुष्य क कर्तव्य-बोध स है। हिन्दू धर्म एक ज्ञान है जो अलग-अलग परिस्थितियो मे व्यक्तियो के विभिन्न कर्तव्यों

1 डॉ राधाकृष्णन धर्म और समाज पृ 121-122

2 डॉ राधाकमल मुकर्जी · भारतीय समाज विन्यास, पृ 46

3 J H Gillin and J P Gillin Cultural Sociology p 459

को बतलाता है, उन्हें कर्तव्य पथ पर चलते रहने की प्रेरणा प्रदान करता है तथा मानवोचित गुणों को उनमें विकसित करता है। वेद, उपनिषद, गीता, स्मृतियाँ, पुराण तथा मनुस्मृति का अन्य कारण हिन्दू धर्म के मूल स्रोत हैं। ये ग्रन्थ ऋषियों के अनुभूत प्रमाणों के परिणाम हैं उनके चिन्तन और मनन के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन धर्म-ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। इन ग्रन्थों में धर्म की विस्तृत व्याख्या की गई है अनेक अर्थों में धर्म का प्रयोग किया गया है। डॉ. इन्द्रदेव ने लिखा है, "धर्म के अन्तर्गत नैतिक नियम, कानून, रीति रिवाज, वैज्ञानिक नियम इत्यादि बहुत-सी धारणायें आ जाती हैं।" मोज ने अपनी पुस्तक 'धर्म एण्ड सोसाइटी' में प्राचीन साहित्य में प्राप्त धर्म शब्द के अनेक अर्थों का विवेचन किया है। उन्होंने बतलाया है कि धर्म शब्द का प्रयोग मूर्त तथा अमूर्त दोनों रूपों में हुआ है। भागवत्, महाभारत आदि में धर्म को एक देवता के रूप में कल्पना मिलती है।

ऋत के अर्थ में भी धर्म का प्रयोग किया गया है। ऋत का वेदों में एक अमूर्त सिद्धान्त के रूप में वर्णन मिलता है जिसमें सभी लोकों में सपुचित व्यवस्था बनी रहती है। धर्म का प्रयोग नैतिक कर्तव्यों के रूप में भी किया गया है। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों की विवेचना की गई है। ये लक्षण निम्नलिखित हैं-धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध पर नियन्त्रण।[1] पुण्य और नैतिक व्यवस्था के रूप में भी धर्म का प्रयोग किया गया है। व्यक्ति के पुण्य-कर्म ही मृत्यु के पश्चात् उनका साथ देते हैं। धर्म ही व्यक्ति में अच्छे और बुरे का विवेक जाग्रत करता है, उसे बतलाता है कि अच्छे कर्मों का फल उत्तम होता है और बुरे कर्मों का फल निम्न और व्यक्ति को अपने सभी प्रकार के कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। धर्म का निष्काम भक्ति के रूप में भी प्रयोग किया गया है। गीता में निष्काम कर्म की ओर व्यक्ति को अग्रसर किया गया है, उसे सुझाया गया है कि बिना फल की कामना के अपना कर्म करना चाहिए, अपने कर्तव्य-पथ पर सदैव बढ़ना चाहिए। परम सत्य अथवा ईश्वर के रूप में भी धर्म को माना गया है। धर्म का प्रयोग रीति-रिवाजों, परम्पराओं, सामाजिक नियमों और कानून के रूप में भी किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, धर्म वह है जो मानव को इस संसार और परलोक में आनन्द की खोज के लिये प्रेरित करता है। धर्म कर्म पर प्रस्थापित है। धर्म मानव को रात-दिन इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये कार्य करवाता है।[2] डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है, "जिन सिद्धान्तों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किये गए हैं जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।"[3] पी.वी. काणे ने धर्म को परिभाषित करते हुए बतलाया है, "धर्म शास्त्रों के लेखकों ने धर्म का अर्थ एक मत या विश्वास नहीं माना है, अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक संहिता माना है जो व्यक्ति के समाज के सदस्य के रूप में और व्यक्ति के रूप में, कार्य एवं क्रियाओं को नियमित करता है और जो व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया गया है तथा जो उसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायता करता है।"[4]

1. मनुस्मृति, अध्याय 6, श्लोक 2
2. Swami Vivekanand Complete Works, V, p 349
3. डॉ. राधाकृष्णन, पूर्व उद्धृत, पृ. 120
4. P V Kane History of Dharma Shastra

धर्म की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारतीय धर्म-ग्रन्थों में धर्म का प्रयोग संकुचित अर्थों में नहीं हुआ है। इसका प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है, किसी सम्प्रदाय विशेष के विचार मात्र को व्यक्त करने के लिये नहीं हुआ है। धर्म मानव के कर्त्तव्य निर्धारित करता है, उसे सत्य की ओर अग्रसर करता हुआ उसके व्यवहार को दिशा देता है और उचित अनुचित का बोध कराता है। धर्म की समाजशास्त्रीय विवेचना के रूप में धर्म के अन्तर्गत उन सब कर्त्तव्यों को लिया जा सकता है जो व्यक्ति के जीवन को सफल बनाने की दृष्टि से आवश्यक है। देश, काल और पात्र के अनुसार शास्त्रकारों ने व्यक्ति के अलग-अलग कर्त्तव्य बतलाये हैं। व्यक्ति से यह आशा की गई है कि वह अपने वर्ण और आश्रम का ध्यान में रखते हुए अपनी क्षमताओं के अनुसार अपने धर्म का पालन और अपने नियत कर्त्तव्यों को पूरा करेगा। हिन्दू धर्म में दार्शनिक पक्ष पर सामान्यतः और आचरण पक्ष पर विशेषतः जोर दिया गया है। वास्तव में धर्म जीवन को पूर्णता प्रदान करने की विधि है।

धर्म की इस विवेचना से स्पष्ट है कि यह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार है, जीवन का शाश्वत सत्य है, जो कुछ श्रेष्ठ है, उसकी आदर्श अभिव्यक्ति है। धर्म का तात्पर्य धारण करने से है, बनाये रखने से है और जिससे सभी बने रहें, संयमित रहें, सुव्यवस्थित रहें, वही धर्म है। हिन्दू धर्म व्यक्ति के श्रेष्ठ विकास में योग देता है, उसके सर्वांगीण विकास में सहायता पहुँचाता है उसमें मानवीय गुणों को जाग्रत करता है उसे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्यों से परिचय कराता है, उसके सफल समायोजन में योग देता है एवं धार्मिक मर्यादाओं में अर्थ का उपार्जन और काम का उपभोग करते हुए जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। हिन्दू धर्म में त्याग और भोग का आदर्श समन्वय पाया जाता है। व्यक्ति को यहाँ सांसारिक सुखों का उपभोग और जीवन की वास्तविकताओं से परिचय प्राप्त करते हुए, अपने इहलोक और परलोक को उत्तम बनाने की ओर अग्रसर किया गया है। हिन्दू धर्म में कर्त्तव्य की भावना पर जोर दिया गया है।

हिन्दू धर्म के विविध रूप
(Various forms of Hindu Dharma)

हिन्दू धर्म में व्यक्ति के कर्त्तव्यों की विराट् व्याख्या की गई है। यह बतलाया गया है कि अलग-अलग परिस्थितियों में देश, काल और पात्र के अनुसार व्यक्तियों के कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न होते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति की रुचियों, मानसिक योग्यताओं और कार्य-क्षमताओं में भी अन्तर पाया जाता है। इस अन्तर के कारण सभी लोग धर्म के एक ही स्वरूप को अपनाकर अपने 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' में वृद्धि नहीं कर सकते। ऐसी दशा में धर्म के अनेक रूपों का विकास हो जाता है। अलग-अलग साधन प्रणालियाँ और आचार-संहिताएँ विकसित हो जाती हैं। हिन्दू धर्म की एक मौलिक विशेषता यह है कि प्रत्येक को अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार आराधना करने, ध्यान पद्धति अपनाने, विधि-संस्कार सम्पन्न करने और स्वयं के आत्म-कल्याण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म आज तक अपने अस्तित्व को बनाये हुए है और विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के लिए शान्ति और प्रेरणा का अमिट स्रोत बना हुआ है। यहाँ हमें हिंदू धर्म के प्रमुख स्वरूपों पर विचार करना है जो निम्नलिखित हैं (1) सामान्य धर्म, (2) विशिष्ट धर्म और (3) आपद्धर्म। इनका उल्लेख अध्याय 6 'धर्म' के अन्तर्गत किया गया है। अतः इनके लिए अध्याय 6 देखिए।

भारतीय समाज पर हिन्दू धर्म का प्रभाव
(Impact of Hinduism on Indian Society)

हिन्दू धर्म अनेक विश्वासों, विधि-संस्कारों और कर्त्तव्यों पर आधारित है। इस धर्म में ईश्वर को ही सत्य और शेष को माया माना गया है। सब धर्मों का सर्व-स्वीकृत मूल सिद्धान्त यह ज्ञान है कि परमात्मा प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है।[1] डॉ. राधाकृष्णन ने बतलाया है, "धर्म उन्नति करते-करते भगवान के स्वरूप में पहुँच जाने की महत्त्वाकांक्षा है। यह हमें आत्मा की गहराई के साथ जीवन बिताने में सहायता देने के लिए है। ध्यान और उपासना व साधन हैं जिनके द्वारा मन, स्वभाव और जीवन के प्रति दृष्टिकोण परिष्कृत होते हैं। ध्यान का लक्ष्य सर्वोच्च-ईश्वरत्व है, जो सहीं अर्थ में वर्णनातीत है। वह सब रूपों से परे है, कोई उस आँखों से देख नहीं सकता। उसकी किसी भी सुनिर्दिष्ट या अनुभवगम्य वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती। हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह आत्मा ही सबका शासक है, सबका स्वामी है और सबका राजा है मनुष्य के विश्वास में जो कुछ भी ऋजु (ईमानदारी से युक्त), सत्य और प्रेममय है, उसी में ईश्वर की भावना कार्य कर रही है। ईश्वर सारे विश्व की वास्तविकता है, किसी इस या उस सम्प्रदाय का एकाधिकार नहीं। हिन्दू धर्म इस बात को पहचानता है कि मानवीय प्रकृति की व शक्तियाँ, जो ईश्वर का साक्षात्कार करेंगी, अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग कोटि तक विकसित हुई होती हैं, इसलिए इस ऊँची चोटी पर चढ़ने के लिए अवश्य ही अनेक मार्ग होंगे, भले ही व ऊपर पहुँच कर एक जगह मिल जाते हों। उपासना का माध्यम मुख्यतया परम्परागत होता है और ऐतिहासिक संसर्गों से भरा होता है।[2] यद्यपि हिन्दू धर्म में अनेक विश्वास और विविध पूजा पद्धतियाँ पाई जाती हैं, तथापि इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह एक उपयोगी एवं व्यावहारिक धर्म है। इस धर्म में विभिन्न जिज्ञासाओं का भी सफलतापूर्वक उत्तर दिया गया है। धर्म के समाजशास्त्रीय महत्त्व पर विचार करते समय हमें इस बात को अवश्य ध्यान में रखना है कि यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग मौलिक हिन्दू धर्म के लिए किया गया है; कर्मकाण्डों, पुराण कथाओं एवं स्मृतिकालीन व्यवस्थाओं के लिए नहीं।

हिन्दू धर्म अगणित रूपों में भारतीय समाज को अनुप्राणित करता रहा है। यह जन्म से लेकर मृत्यु तक सामान्यतः प्रत्येक हिन्दू के जीवन को अनेक धार्मिक विश्वासों, विधि- संस्कारों, आराधना विधियों और कर्त्तव्य पालन में दृढ़ आस्था आदि रूपों में प्रभावित करता है।

(1) सामाजिक जीवन में धर्म ने व्यक्तित्व के निर्माण में सदैव सहायता पहुँचाई है। बालक के समाजीकरण में परिवार का विशेष महत्त्व है और परिवार सदैव से ही धार्मिक क्रियाओं का मुख्य केन्द्र रहा है। परिवार में धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन, धार्मिक कथाओं से बालकों को परिचित कराना, सदस्यों में परस्पर कर्त्तव्य भावना तथा पारिवारिक प्रेम और त्यागपूर्ण पर्यावरण, बालक में समाज के नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था, सद्गुणों का विकास तथा उसके चरित्र निर्माण में निश्चित रूप से सहायक रहे हैं। धार्मिक विश्वास व्यक्ति के अचेतन मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं और उसकी पशु प्रवृत्तियों पर अंकुश रखते हैं। धर्म व्यक्ति के सम्मुख कुछ आदर्श प्रस्तुत करता है, आदर्शों की ओर बढ़ने के लिए उसे प्रेरणा देता है, गलत मार्ग पर चलने से बचाता और बुराइयों से दूर रखता है। समग्र रूप से धर्म व्यक्तित्व के निर्माण में महान् योग देता है।

1. भगवान वासुदेवो ही सर्व भूतेष्ववस्थित ।
   एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम् ।।
2. डॉ. राधाकृष्णन : पूर्व उद्धृत, पृ. 139-141

(2) धर्म सामाजिक नियंत्रण का भी एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। व्यक्ति के सामने धर्म-अधर्म की कल्पना रही है, पाप-पुण्य की धारणा से वह परिचित एवं स्वर्ग और नरक के बारे में विचारता रहा है। किसी भी क्रिया को करने से पूर्व व्यक्ति की अन्तरात्मा उसे सम्यक् सोचने के लिये प्रेरित करती और गलत कार्य करने से रोकती भी रही है। व्यक्ति कानून की अवहेलना कर सकता है परन्तु धार्मिक कर्त्तव्यों के प्रति उसमें उपेक्षा का भाव नहीं पाया जाता है। धर्म की मान्यताओं के विपरीत कार्य करने से वह बचता रहा है, भय खाता रहा है।

(3) धर्म ने व्यक्ति को कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये सदैव प्रेरित किया है। अलग-अलग परिस्थितियों में प्रस्थिति के अनुरूप व्यक्ति के निश्चित स्वधर्म रहे और अपने स्वधर्म का पालन करना उसका नैतिक कर्त्तव्य रहा है। धर्म ने व्यक्ति को स्वयं, माता-पिता, संतान, परिवार, कुल, जाति व समाज के प्रति कर्त्तव्य पालन के साथ ही उसके आदिम संस्कारों को निखार कर, मर्यादा में रह कर, सामाजिक अनुशासन का पालन करने व कर्त्तव्यों का बोध कराया। उसे निरन्तर नर से नारायण बनने को प्रेरित किया गया है। पाप, पुण्य, स्वर्ग-नरक, कर्म और पुनर्जन्म की धारणा ने व्यक्ति को अपनी प्रस्थिति से संतुष्ट रहने और उचित रीति से अपनी भूमिका निभाने को प्रोत्साहित किया है। हिन्दू धर्म ने व्यक्ति में सामूहिकता के गुणों को विकसित करने में सहायता पहुँचाई है और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में योग दिया है।

(4) हिन्दू धर्म ने व्यक्ति को अनेक मानसिक संघर्षों से बचाने में योग दिया है। व्यक्ति को कर्म करने का आदेश दिया है, परन्तु फल के प्रति तटस्थ रहने को कहा गया है। गीता में निष्काम कर्म का ही सन्देश दिया गया है और व्यक्ति को अपने दायित्व निर्वाह के लिए सदैव प्रेरित किया गया है। उसमें संसार के प्रति उदासीनता या अलगाव का भाव पैदा करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' का मन्त्र फूँक कर व्यक्ति को सब कर्मों को अपना दायित्व समझकर पूरा करने का सन्देश दिया है। परिणाम यह हुआ है कि भारतीय समाज के लोग बहुत कुछ सीमा तक मानसिक संघर्षों से बचे रहे हैं।

(5) भारतीय संस्कृति की निरन्तरता को बनाये रखने में हिन्दू धर्म ने विशेष योग दिया है। इतिहास बताता है कि अनेक संस्कृतियाँ काल का ग्रास बनीं, विकसित हुईं और मिट गईं, परन्तु भारतीय संस्कृति का अस्तित्व आज भी बना हुआ है। इसका मुख्य कारण हिन्दू धर्म का व्यावहारिक स्वरूप है। हिन्दू धर्म ने व्यक्ति को पुरुषार्थी बनाने में योग दिया है, उसमें निःस्वार्थ सेवा के भाव जाग्रत करने में सहायता पहुँचाई है। उसे पर-हित या सामान्य जन-कल्याण के लिये सतत् प्रयत्नशील बने रहने को प्रेरित किया है।

संक्षिप्त में यदि यह कहा जाय कि धर्म ने व्यक्ति के जीवन को दिशा दी है, उसकी सम्पूर्ण जीवन-विधि को प्रभावित किया है, उसके व्यक्तित्व के विकास में योग दिया है, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को संगठित किया है और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में अपूर्व सहायता पहुँचाई है तो इसमें किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

जैन धर्म
(Jainism)

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थी जिन्होंने जैन धर्म के विकास में योग दिया। उस समय बहुदेववाद, यज्ञवाद, वेदवाद, ब्राह्मणवाद आदि का बोल बाला था। वेदों को ईश्वरीय एवं पूर्ण माना जाता था, अनेक देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी। यज्ञों में जीवों की बलि दी जाती थी। ब्राह्मणों एवं पुरोहितों का सर्वत्र बोलबाला था। समाज में स्त्रियों की स्थिति निम्न थी जाति-पाँति के बन्धन काफी कठोर थे। इन सब परिस्थितियों ने भारत में जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास में योग दिया।

हमें यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं होकर 24वें तीर्थंकर थे। इनके पूर्व भी जैन धर्म प्रचलित था। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे. पार्श्वनाथ बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे तथा उन्होंने राजकीय विलासिता का जीवन त्याग कर आध्यात्मिक जीवन को चुना। उन्होंने अहिंसा, अस्तेय, सत्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर जोर दिया। महावीर स्वामी के माता-पिता पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

स्पष्ट है कि महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे। आपने जैन धर्म को पुनर्गठित करने का कार्य किया, इस धर्म में परिवर्तन एवं सुधार किया, इसे शक्ति प्रदान की। महावीर स्वामी का जन्म ई. पूर्व 599 में वैशाली गणराज्य के कुण्डग्राम में एक प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में हुआ। आपके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। आपका बचपन का नाम वर्धमान था आपके पिता सिद्धार्थ कुण्डग्राम के अधिपति तथा अपनी बिरादरी के मुखिया थे। महावीर स्वामी को विभिन्न क्षेत्रों में काफी अच्छी शिक्षा दी गयी।

महावीर स्वामी प्रारम्भ से ही चिन्तनशील एवं संसार से उदासीन व्यक्ति थे तथा भोग- विलास एवं सांसारिक सुखों में उनका मन नहीं लगता था। 30 वर्ष की आयु में जब इनके पिता का देहान्त हो गया तो उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दिवर्द्धन और राज्य के प्रमुख व्यक्तियों से आज्ञा लेकर संसार का त्याग कर दिया। आप भिक्षु बन गये। भिक्षु बनने के बाद एक वर्ष एक महीने तक महावीर स्वामी वस्त्र पहनते रहे फिर उन्होंने वस्त्रों को नदी में फेंक दिया तथा भिक्षापात्र लेकर नग्न घूमने लगे बारह वर्ष तक घोर कष्ट सहते हुए आपने तपस्या की। तेरहवें वर्ष में जृम्भिका ग्राम के बाहर ऋजु पालिका नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे आपको कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इस सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति एवं सांसारिक सुख-दुख से अन्तिम मुक्ति प्राप्त होने की वजह से वर्धमान 'अर्हत' (पूज्य), 'जिन' (विजेता) 'निर्ग्रन्थ' (बन्धन रहित) तथा 'केवली' (सर्वज्ञ) एवं महावीर कहलाये। चूँकि वे भय और शोक से रहित थे तथा सुख-दुख से उदासीन थे, इसलिए उन्हें महावीर कहा गया।

पूर्ण ज्ञानी होने के पश्चात् महावीर स्वामी अपने ज्ञान एवं अनुभव के प्रचार प्रसार हेतु उत्तर भारत के विभिन्न जनपदों में पैदल घूमते रहे। उन्होंने अपने भिक्षुओं को धर्म का उपदेश दिया और जन-जन में अपने धर्म का प्रचार किया। धर्म-प्रचार में इनके अनुयायियों एवं सहायकों में मगध का राजा बिम्बसार तथा अजातशत्रु और लिच्छवी व मल्लो जैसी गणजातियाँ प्रमुख थे। महावीर स्वामी ने घूम-घूम राजा-महाराजाओं, समृद्ध वैश्यों, व्यापारियों तथा जन-साधारण को अपने सिद्धान्तों से परिचित कराया और उन्हें उपदेश दिया। परिणाम यह हुआ कि बहुत से लोग आपके भक्त और अनुयायी बन गये। आपने अपने उपदेशों के लिए बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया।

महावीर स्वामी का ईसा पूर्व 527 मे पटना जिले में पावा नामक स्थान पर देहान्त हुआ। आपने जैन धर्म के सिद्धान्तो को विस्तृत किया, उन्हे व्यवस्थित रूप दिया, उन्हें लाकप्रिय बनाया और इसी कारण लाग आपका जैन धर्म का सस्थापक मानत हैं।

जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्त
(Theones of Jainism)

जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1. निवृत्ति मार्ग— महावीर स्वामी की मान्यता थी कि सारा ससार दुखमय है। मनुष्य वृद्धावस्था व मृत्यु से पीडित है। उसे गृहस्थी के रूप म भी सुख-शान्ति नही मिलती। उसकी इच्छाएँ व तृष्णा बढती ही जाती हैं। मनुष्य का जीवन क्षण-भगुर है जा पल मे नष्ट हा जाता है अत. इसे पहले ही छाड देना अच्छा है। मनुष्य का वास्तविक सुख ससार-त्याग मे ही है। उसे ससार त्याग कर भिक्षु बन कर परिभ्रमण करना चाहिए। एसा करके ही वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

2. त्रिरत्न— जैन धर्म मे कैवल्य या माक्ष-प्राप्ति क तीन साधन बताये गये हैं। इन्हें ही त्रिरत्न कहा गया है। इनकी सहायता स ही पूर्व जन्म के कर्म-फल को नष्ट किया तथा इस जन्म के कर्म-फल से बचा जा सकता है। य त्रिरत्न हैं· (1) सम्यक् ज्ञान, (2) सम्यक् दर्शन, एव (3) सम्यक् चरित्र।

सशयरहित और दाप रहित ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य भौतिक अश स प्रभावित नही रह कर आध्यात्मिक अश स प्रकाशित हो जाता है। यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का हाना ही सम्यक् दर्शन है। यह श्रद्धा युक्ति-सगत होनी चाहिए तथा इसके लिए जैन तीर्थकरो म पूरा विश्वास हाना चाहिए। सम्यक् चरित्र का तात्पर्य है तीर्थकरों द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलना तथा सदाचारपूर्ण नैतिक जीवन-यापन करना। सम्यक् चरित्र की प्राप्ति हेतु मनुष्य को अपनी इन्द्रियो, वाणी एव कर्म पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। एसा करके ही वह 'निर्वाण' या 'मोक्ष' की प्राप्ति कर सकता है।

3. पच महाव्रत— नैतिक जीवन बिताने क लिए जैन धर्म में पाँच व्रतो पर विशष जोर दिया गया है। आत्मा का पापो स बचान के लिए इन पाच व्रतो का पालन करना आवश्यक है। महावीर स्वामी क अनुसार य पॉच व्रत इस प्रकार हैं—

(1) **अहिंसा**—अहिसा का अर्थ है— प्राणी मात्र के प्रति मन, वचन एव कर्म से एसा कोई काम नही करना जिसस उन्हे चाट पहुचे। किसी की भी जाने-अनजाने में हिसा नही की जानी चाहिए। अहिसा जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है।

(2) **सत्य बोलना**—इसका तात्पर्य है—कभी भी झूठ नही बोलना। जैन तीर्थंकरों का मानना है कि मनुष्य को असत्य का त्यागकर हमेशा मधुर और सत्य भाषण करना चाहिए। बिना सोचे कभी नही बोलना चाहिए।

(3) **अस्तेय**—बिना दिय या बिना अनुमति के दूसरों की वस्तु का ग्रहण नही करना ही अस्तेय है। इसके अन्तर्गत चारी करने को महापाप माना गया है।

(4) **अपरिग्रह**—अनावश्यक धन-सम्पत्ति तथा अधिक वस्तुओ का सग्रह नही करना ही अपरिग्रह है। अधिक वस्तुओ का सग्रह करने से सासारिक वस्तुओ के प्रति आसक्ति बढती है तथा मनुष्य जन्म-मरण क बन्धन में बधा रहता है।

(5) ब्रह्मचर्य व्रत—इसका तात्पर्य है कि काम वासना को नियन्त्रित करना एवं संयम के साथ जीवन व्यतीत करना। इसके अन्तर्गत मन और वचन से भी इन्द्रिय सुखों का उपभोग नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त पाँच व्रतों का पालन करने से जैन धर्म के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति होती है।

4. पंच अणुव्रत— उपर्युक्त महाव्रतों का विधान प्रमुखतः भिक्षुओं के लिए ही किया गया है। साधारण गृहस्थी संसार त्याग कर भिक्षु नहीं बन सकते। अतः उनके लिए पंच अणुव्रत बताये गये हैं, पंच अणुव्रत पंच महाव्रत ही हैं, परन्तु इनके पालन में गृहस्थियों को कुछ शिथिलता दी गयी है। ये अणुव्रत हैं - (1) सत्य, (2) अस्तेय, (3) अहिंसा, (4) अपरिग्रह, (5) ब्रह्मचर्य। चूँकि ये अणुव्रत गृहस्थियों के लिए हैं, अतः इनमें कठोरतापरिता नहीं है।

5. स्याद्वाद—जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु के कई स्वरूप हैं और इन सभी स्वरूपों को केवल ज्ञानी ही समझ सकता है। वस्तु के स्वरूप की भिन्नता का उल्लेख सात बातों में किया गया है (1) है, (2) नहीं है, (3) है और नहीं है, (4) कहा नहीं जा सकता, (5) है, किन्तु नहीं कहा जा सकता, (6) नहीं है और कहा नहीं जा सकता, (7) है और नहीं है किन्तु कहा नहीं जा सकता। इसी को जैन धर्म में 'स्याद्वाद', 'अनेकान्तवाद' एवं 'सप्तभंगी का सिद्धान्त' माना गया है। यहाँ यह संभव है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के एक स्वरूप को ही जानता हो, किसी अन्य स्वरूप को नहीं। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के कथन एक-दूसरे के विरोधी हो सकते हैं। स्याद्वाद व्यक्ति की बुद्धि को जाग्रत करता है। व्यक्ति के लिए स्याद्वादी होने के लिए आवश्यक है कि वह निर्मल अन्तःकरण वाला हो, अधिक संवेदनशील हो तथा शान्त प्रकृति का हो।

6. अनेकात्मवाद—जैन धर्म की मान्यता है कि जैसे जीव भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे ही आत्माएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, कीड़े-मकोड़ों, ईंट-पत्थर में समान आत्माएँ नहीं होतीं। संसार की प्रत्येक वस्तु में आत्मा है, कोई भी वस्तु निर्जीव नहीं है। यदि सभी प्राणियों में समान आत्मा ही होती तो वे एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् रूप में नहीं पहचाने जाते और उनके क्रिया-कलापों में भी भिन्नता नहीं होती। स्पष्ट है कि जैन धर्म अनेकात्मवाद में विश्वास करता है, न कि एकात्मा में।

7. जीवों के दो अंश—जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक जीव में दो अंश पाये जाते हैं—एक आत्मा तथा दूसरा भौतिक तत्त्व। आत्मा सत्, असीम एवं सर्वव्यापी है। भौतिक तत्त्व असत् है तथा वह आत्मा को घेरे रहता है। इसी कारण जीव को सत् का ज्ञान नहीं हो पाता है। यदि आत्मा को भौतिक अंश से अलग कर दिया जाय तो निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी।

8. निर्वाण— जीव के भौतिक अंश का नाश ही निर्वाण है। भौतिक अंश को नष्ट करने के लिए आवश्यक है कि कर्म-फल से छुटकारा प्राप्त किया जाए। इसके लिए त्रिरत्न का पालन आवश्यक है। अन्य शब्दों में त्रिरत्न निर्वाण का माध्यम है। निर्वाण के बाद जीव को अनन्त शक्ति प्राप्त हो जाती है। निर्वाण का तात्पर्य भौतिक अंश का विनाश है। इससे आत्मिक तत्त्व नष्ट नहीं होता। निर्वाण से भौतिक अंश तो नष्ट हो जाता है तथा आत्मिक तत्त्व ऊपर उठ जाता है।

9. कर्म तथा पुनर्जन्म— जैन धर्म मे ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता क रूप मे मान्यता नहो दी गयी है और उस सृष्टिकर्त्ता मानने पर तो विश्व क बुरे कर्मों का कर्त्ता भी उस ही मानना पडेगा। जैन धर्म यह मानता है कि मनुष्य अपन कर्मों क लिए स्वय उत्तरदायी है। मनुष्य क सुख-दुख का कारण उसक स्वयं क कर्म ही है तथा अपन किय हुए कर्मो का फल उस भागना ही पडता है, चाहे वह अच्छा हा या बुरा। इस विश्व में सभी प्राणिनो का अपन सचित कर्मों क अनुसार ही भिन्न-भिन्न यानियों मे आना पडता है, आवागमन क चक्र म फसना पडता है। मनुष्य इसी दशा म जन्म-मरण क बन्धन स मुक्त हा सकता है जबकि वह पूर्व जन्म क कर्म-फल का ता नष्ट कर द तथा इस जन्म म काई नया कर्म-फल सचित नहीं हान द। जा मनुष्य एसा कर पाता है उस ही निर्वाण (माक्ष) की प्राप्ति होती है।

10. अहिंसा— जैन धर्म म अहिंसा का विशष मान्यता दी गई है। कही श्वास लत समय हवा क साथ कीटाणु शरीर क भीतर प्रवश करक मर नहो जायें इसक लिए जेन धर्म क मानन वाल मुँह एव नाक पर पट्टी बाँध कर रखत हैं। व पानी का छान कर पीत हैं तथा चलत समय सावधानी पूर्वक चलत हैं ताकि काई कीटाणु या कीड-मकाड मर नही जाय। इस धर्म क अनुयायी मन, कर्म एव वचन स किसी क प्रति किय हुए किसी भी असगत आचरण तक का हिसा मानत हैं। हिसा का यह अर्थ कुछ अतिवादी हा गया है।

11. शरीर क्लेश— जैन धर्म शरीर-क्लश में विश्वास करता है। इसका तात्पर्य यही ह कि शरीर या भौतिक अश का जितना अधिक कष्ट दिया जायगा, आत्मा या आत्म-तत्त्व का उतना ही अधिक विकास हागा। स्वय महावीर स्वामी का घार तपस्या एव भीषण काया-क्लेश के पश्चात् ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। शरीर-क्लश की दृष्टि स जैन धर्म मे व्रत, तपस्या, अनशन आदि का विधान किया गया है।

12. ईश्वर तथा सृष्टि— जैन धर्म अनीश्वरवाद म विश्वास करता है अर्थात् यह धर्म ईश्वर क अस्तित्व का और उस सृष्टिकर्त्ता नही मानता है। इस धर्म का विश्वास है कि यह ससार वास्तविक है इसका कभी अन्त या विनाश नही हाता है। जा वस्तु है, जा एक बार अस्तित्व में आ गयी वह कभी नष्ट नहीं हाती। जैन धर्म की मान्यता है कि हम जिस किसी पदार्थ या वस्तु का विनाश समझत हैं, वह विनाश नहो हाकर रूप परिवर्तन है।

13. स्त्रियो की स्वतन्त्रता— महावीर स्वामी स्त्रियो की स्वतत्रता क पक्षधर थे। यही कारण है कि उन्हान स्त्रियों का अपन धर्म की दीक्षा दी। व स्त्रियों का भी माक्ष या निर्वाण का अधिकारी मानत थे। यही कारण है कि जेन धर्म म श्रमणी तथा श्राविकाआ क दा वर्ग रह हैं।

महावीर स्वामी न पूर्ण नग्नता की बात कही। उनका विचार था कि वस्त्र धारण करने से उसमे मनुष्य की आसक्ति हा सकती है। अत वस्त्र का त्याग करना ही ठीक है। इसक अतिरिक्त नग्न रहने से शरीर का भी कष्ट उठान की आदत पड जायगी।

जैन धर्म ब्राह्मण धर्म वदवाद, यज्ञवाद एव जातिवाद का विराधी था। महावीर स्वामी न कर्मकाण्डों, हिसात्मक यज्ञा एव जाति व्यवस्था क विरुद्ध आवाज उठायी। आपन वदा का किसी भी रूप मे कोई मान्यता नहीं दी। आपन बताया कि कर्मकाण्डा क बजाय अनुशासन सदाचार एव तपस्या का विशेष महत्त्व है। महावीर स्वामी न नैतिकता पर विशष जार दिया।

जैन धर्म में दो सम्प्रदाय प्रमुख हैं- (1) दिगम्बर, (2) श्वेताम्बर। यद्यपि महावीर स्वामी पूर्ण नग्नता के पक्षधर थे, परन्तु कई भिक्षुओं ने वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया था। तभी से जैन धर्म में दो सम्प्रदाय बन गये। जो पूर्णत. नग्न रहते थे, वे दिगम्बर कहलाये तथा जिन्होंने वस्त्र धारण कर लिए, वे श्वेताम्बर कहलाये।

जैन धर्म के सिद्धान्त काफी कठोर थे, अतः इस धर्म का प्रचार-प्रसार उतना नहीं हो पाया जितना बौद्ध धर्म का।

जैन धर्म का भारतीय समाज पर प्रभाव
(Impact of Jainism on Indian Society)

जैन धर्म की भारतीय समाज एव संस्कृति को देन इस प्रकार है—

दर्शन के क्षेत्र मे— जैन धर्म ने भारतीय सामाजिक जीवन में नव-जीवन का संचार किया। जैन धर्म में कई नव सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जो भारतीय दर्शन को उसकी अनुपम देन है। जैन धर्म में ज्ञान सिद्धान्त, अनेकान्त दर्शन, सत्य तथा अहिंसा पर विशेष जोर दिया गया है। ज्ञान सिद्धान्त के अन्तर्गत यह माना गया है कि प्रत्येक जीव की आत्मा पूर्ण ज्ञान युक्त है तथा उस पर सासारिकता का पर्दा पडा रहता है। इसी कारण व्यक्ति ज्ञान प्रकाश को प्रकट नही कर पाता। अत प्रत्येक को इस पर्दे को हटाकर ज्ञान को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। विचार समन्वय की दृष्टि से जैन धर्म में अनेकान्त दर्शन पर जोर दिया गया है। इसके अनुसार किसी भी बात या सिद्धान्त पर एक पक्षीय दृष्टिकोण से विचार नहीं करना चाहिए। स्वय महावीर स्वामी ने बताया है कि किसी बात को, सिद्धान्त को एक तरफ से मत देखो, एक ही तरह से उस पर विचार मत करो। तुम जो कहते हो, सच होगा, परन्तु दूसरे जो कहते हैं, वह भी सच हो सकता है। इसलिए सुनते ही भडको मत। वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो। आज देश विदेश में जो तनाव पाया जाता है, उसका एक प्रमुख कारण यह है कि लोग अपने ही दृष्टिकोण पर विशेष जोर देते हैं, दूसरों का दृष्टिकोण समझना ही नही चाहते। स्पष्ट है कि जैन दर्शन ने विश्व के सम्मुख उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। जैन धर्म में सत्य एव अहिंसा की जो बात कही गयी, उसका प्रयोग गाँधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में किया। वर्तमान में अहिंसा भारत की आन्तरिक एव बाह्य नीतियों का प्रमुख अंग बन चुकी है।

साहित्य के क्षेत्र मे— जैन धर्म ने भाषा एव साहित्य के क्षेत्र में सास्कृतिक समन्वय को काफी महत्त्व दिया। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी और जैन धर्म के अभ्युदय के पूर्व ग्रन्थों की रचना सामान्यत संस्कृत में ही की जाती थी। लेकिन संस्कृत जन साधारण की भाषा नही थी। जन साधारण की भाषा पाली और प्राकृत थी। स्वय महावीर स्वामी ने प्राकृत भाषा में ही अपने उपदेश दिये जिनका लोगों पर काफी प्रभाव पडा। दक्षिण में धर्म-प्रचार के दौरान वहाँ की भाषा तमिल एवं कन्नड का प्रयोग किया गया। जैनाचार्यों ने अधिकांश ग्रन्थो की रचना प्राकृत भाषा में ही की। कई जैनाचार्यों ने संस्कृत में भी ग्रन्थ लिखे। जैन धर्म ने भारत मे जनभाषाओ के विकास में काफी योग दिया। दर्शन, व्याकरण, छन्दशास्त्र, गणित, काव्य तथा नाटक आदि से सम्बन्धित साहित्य का सृजन भी अनेक जैन विद्वानों द्वारा किया गया। जैन ग्रन्थों की महत्ता विशेषत इस दृष्टि से भी है कि इन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध कराने में भी योग दिया।

कला के क्षेत्र मे— जैन कला का भारतीय कला क स्वरूप का निखारन में विशेष योगदान है। जैन धर्मावलम्बियों न अपन तीर्थंकरों की याद में कई सुन्दर एव भव्य मन्दिर, मूर्तियाँ, स्तूप एव गुफाएँ बनवायी। 11वीं एव 12वीं शताब्दी में जैन कला विकास के शिखर पर थी। आबू पर्वत पर सगमरमर पत्थर स बना दलवाडा मन्दिर अपनी कला के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध है। मध्य भारत मे खजुराहा में कई जैन मन्दिर दसवीं शताब्दी के बन हुए हैं। एलारा में अनेक जैन गुफाएँ हें। उडीसा क पुरी जिले मे उदयगिरी तथा खण्डगिरी में 35 जैन गुफाएँ मिली हैं। इनमें जैन धर्म स सम्बन्धित चित्रकला एव मूर्तिकला दखन याग्य है। काठियावाड- गुजरात में गिरनार एव पालीताना की पहाडिया पर, राजस्थान मे रणकपुर नामक स्थान पर, बिहार में पारसनाथ तथा मैसूर मे श्रवणवलगाला पर जैन मन्दिरा क बड समूह पाय जात हैं। शत्रुन्जय पहाडी पर 500 जैन मन्दिर हैं। श्रवणबलगाला पर 60 फुट ऊँची गामतश्वर की प्रतिमा अपने आप मे अद्भुत है। ये सब कलाकृतियाँ भारतीय कला का जैन धर्म की अनुपम दन हैं।

सामाजिक क्षेत्र में— जैन धर्म न सामाजिक विषमता क विरुद्ध आवाज उठायी तथा जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था का विराध किया। महावीर स्वामी न जन्म पर आधारित उच्चता व निम्नता का किसी भी रूप मे स्वीकार नहीं किया। आपन कर्म क महत्व को स्वीकार किया। आपन बताया कि मानव मात्र का माक्ष प्राप्त करन का अधिकार है, चाहे वह किसी भी जाति या धर्म का क्यो न हा। महावीर स्वामी न नारी का सम्माननीय माना, उस धर्म ग्रन्थो क अध्ययन का अधिकारी ही नही बल्कि माक्ष का अधिकारी भी माना। इस प्रकार जैन धर्म में सामाजिक समानता पर जार दिया गया है। जेन धर्म मे नैतिक आदर्शों एव चरित्र निर्माण पर भी जार दिया गया है।

उपर्युक्त विवचन स स्पष्ट है कि जैन धर्म न भारतीय दर्शन साहित्य, कला और सस्कृति का अनक रूपा मे प्रभावित किया है। इसने भारतीय सामाजिक जीवन में व्याप्त कई सामाजिक बुराइया का दूर करने का प्रयत्न किया है।

बौद्ध धर्म
(Buddhism)

बौद्ध धर्म क प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। उनका जन्म 563 ई.पू. कपिलवस्तु क पास लुम्बिनी नामक स्थान पर हुआ था। यह स्थान नपाल की तराई में स्थित है। उनक पिता का नाम शुद्धाधन था, जा शाक्य गणराज्य क प्रधान थ। इसीलिए बुद्ध को शाक्य मुनि भी कहत हैं। उनकी माता का नाम महामाया था। बुद्ध क जन्म क सातवें दिन ही महामाया का दहान्त हा जाने के कारण इनका लालन-पालन इनकी मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया। गौतमी स शुद्धाधन न विवाह कर लिया था। उनका गोत्र गोतम हान क कारण ही इन्हे गौतम भी कहा गया। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। भविष्यवक्ताओं का मानना था कि गौतम विख्यात ज्ञानी अथवा चक्रवर्ती होंग। काण्ण दवल व औदिच्य का मत था कि व ससार का त्याग करेंग। राजा शुद्धाधन ने गौतम बुद्ध का सासारिक सुखों क आकर्षण म बाध रखन क बहुत प्रयास किय, लेकिन गौतम का एकान्त ही पसन्द था। सालह वर्ष की आयु मे ही सिद्धार्थ का विवाह यशाधरा से कर दिया गया। सामान्य गृहस्थ सुख प्राप्ति के पश्चात भी सिद्धार्थ क मन में जीवन सम्बन्धी घटनाएँ उलझनें पैदा करती रही। नगर दर्शन हेतु निकलन पर उन्हे कष्ट ही कष्ट दिखायी दता था। बौद्ध साहित्य में, ऐसी कई घटनाओं का

वर्णन है जैस त्रिपिटक में उल्लिखित है कि एक दिन बुद्ध न राज उद्यान से जात वक्त दखा कि एक अत्यधिक वृद्ध व्यक्ति को कमर झुकी हुई तथा शरीर पर झुर्रियाँ थी। सारथी स उन्हें ज्ञात हुआ कि एक दिन सभी की यही स्थिति हानी है। इसी प्रकार एक दिन गौतम अत्यधिक रोग ग्रसित व्यक्ति का देखकर भी दुखी हुए। तीसरी घटना में उन्होंन देखा कि एक मृत व्यक्ति का श्मशान ल जाया जा रहा था, उसके साथ कुछ लाग रात जा रहे थे। यह दखकर उन्हें ज्ञात हुआ कि एक दिन सभी का मरना है। चौथी घटना में उन्होंने एक साधु का दखा। उस दखकर जिज्ञासावश यह जानन का प्रयास किया कि इसका लक्ष्य क्या है? इन सब घटनाओं को दखकर बुद्ध का मन सासारिक गतिविधियों स हटकर निवृत्ति की आर हाने लगा। जब उन्हे पुत्र जन्म की सूचना दी गई ता उनक मुख से "राहु" निकला- इसीलिए उनक पुत्र का नाम राहुल रखा गया। गृह त्याग स एक दिन पूर्व उन्होन दखा कि जा नर्तकियाँ एक समाराह मे नाच-गान क वक्त अत्यधिक सुन्दर लग रही थी, व नर्तकियाँ ही विश्राम के समय कुरूप लगने लगी थी। गौतम ने अपनी पत्नी और पुत्र का नींद में साता छाड 29 वर्ष की आयु में ही गृह त्याग दिया। गृह त्याग की इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' क नाम से जाना जाता है।

अपन प्रिय अश्व कन्थक व सारथी छन्दक को साथ लेकर गौतम न रात्रि में ही राज्य त्याग दिया, बहुत दूर आन क बाद उन्होंने वस्त्र, आभूषण भी उतार दिय और श्रमण वस्त्र धारण कर लिय। तलवार की सहायता स उन्होन स्वय के बाल भी काट डाले। स्वामी स अलग हाते ही उनके अश्व न भी प्राण त्याग दिय। 'ललित विस्तार' में कहा गया है कि यह कार्य गौतम न मैनयों क नगर में अनुवैनय में सूर्योदय क समय किया।

ज्ञान की खोज—सन्यासी बनन के बाद सबस पहले गौतम वैशाली क 'आलार कालाम' तपस्वी क साथ ज्ञानार्जन हतु रह, लकिन वहाँ भी उन्हें शान्ति नही मिली। इसी प्रकार राजगृह क एक अन्य तपस्वी 'उदक रामपुत्र' क साथ रहन पर भी गौतम का सन्तुष्टि नही मिली। तत्पश्चात गौतम उरुवला जाकर वहाँ तपस्या मे लीन हा गय। छ वर्ष तक तपस्या करन पर भी उन्हें सफलता हाथ नही लगी। जनश्रुति क अनुसार एक दिन नगर की कुछ स्त्रियाँ गीत गात हुए तपस्यास्थल के पास स गुजरी। गीत का साराश था—

"वीणा क तारों को ढीला मत छाडा। ढीला छाडन स उनमे सुरीला स्वर नही निकलगा। तारों का इतना भी मत कसा कि व टूट ही जाएँ।"

गौतम न इस गीत स प्रभावित हाकर किसी भी बात की अति का अनुचित माना और आहार ग्रहण कर लिया। इस परिवर्तन का दखकर उनकी तपस्या क पाँच ब्राह्मण साथियों ने उनका साथ छोड दिया। व पाँचों ऋषिपतन चल गय। इसक बाद गौतम गया जाकर वट वृक्ष क नीच समाधिस्थ हा गये यह उनका दृढ निश्चय था कि इस बार जब तक ज्ञान की प्राप्ति नही हागी, व समाधिस्थ ही रहेंग। सात दिन व सात रात निर्विघ्न तपस्या क बाद आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा का उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई इस ज्ञान प्राप्ति स उनका सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमान हो गया और उन्हे 'सम्बाधि' की प्राप्ति हुई। परिणामस्वरूप गौतम 'तथागत' और 'बुद्ध' कहलाय, गया 'बाधगया' तथा वट वृक्ष 'बाधि वृक्ष' कहलाय।

ज्ञान का प्रचार—बुद्ध ने अपना पहला उपदेश बौद्ध गया में तपस्सु और मल्लिक नामक दो बजारों को दिया। अपने ज्ञान को जन-जन में पहुँचाने के लिए बुद्ध गया से प्रस्थान कर सारनाथ पहुंचे। जो ब्राह्मण साथी उन्हें उरूवला में छोड़ गये थे वे पाँचों सारनाथ में उन्हें वापस मिल गये। महात्मा बुद्ध ने उन्हें अपने ज्ञान को धर्म के रूप में दीक्षा दी। बौद्ध साहित्य में इस घटना को 'धर्म चक्र प्रवर्तन' कहा जाता है। बुद्ध सारनाथ से काशी गये जहाँ उनके अनुयायियों की संख्या 60 हो गयी। यहाँ उन्होंने संघ की स्थापना की। बुद्ध ने बौद्ध संघों के माध्यम से साधारण बोलचाल की भाषा में ही अपने धर्म का 45 वर्ष तक प्रचार-प्रसार किया। बुद्ध ने उपदेश देते वक्त ऊँच-नीच व जाति-पाँति का कोई विचार मन में नहीं रखा उन्होंने सभी को उपदेश दिये। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर उन्होंने स्त्रियों को भी बौद्ध धर्म की दीक्षा देना स्वीकारा। 80 वर्ष की अवस्था में कुशीनारा (गोरखपुर के समीप) नामक स्थान पर महात्मा बुद्ध ने अपना शरीर त्याग दिया। बौद्ध धर्म में इस घटना को 'महा-परिनिर्वाण' कहा जाता है।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त— बुद्ध का दृष्टिकोण सदैव व्यावहारिक रहा इसी कारण उन्होंने धर्म की नैतिक व्याख्या की। आलोचकों ने तो बौद्ध धर्म को धर्म न मानकर केवल आचारशास्त्र ही माना। लेकिन ऐसा मानना निश्चय ही उनकी भूल है। बुद्ध ने सृष्टि सम्बन्धी विषय पर विचार प्रकट नहीं किए। उनका धर्म व्यावहारिक धर्म था जो प्राणीमात्र की उन्नति का साधन था। इस धर्म में अन्धविश्वासों को कहीं भी मान्यता नहीं दी गयी। बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. चार आर्य सत्य

(1) **दुःख**—बुद्ध ने माना है कि सभी प्राणी किसी न किसी दुःख से अवश्य दुखी हैं। उनके अनुसार जन्म जरा व्याधि मरण प्रिय वियोग, अप्रिय मिलन इच्छित वस्तु का न मिलना ये सब दुःख के स्रोत हैं।

(2) **दुःख समुदाय**—बुद्ध ने सभी दुःखों का कारण इच्छा अथवा तृष्णा को माना है। इस सम्बन्ध में बुद्ध का मानना था कि रूप, गन्ध शब्द, रस स्पर्श मानसिक विचारों एवं वितर्कों से मनुष्य जब आसक्ति करता है तो तृष्णा उत्पन्न होती है। अतः दुःख का कोई न कोई समुदाय (कारण) भी अवश्य होता है।

(3) **दु.ख निरोध**—महात्मा बुद्ध के अनुसार संसार में जो भी कुछ प्रिय लगता है उससे डरने वाले ही तृष्णा को छोड़ सकेंगे। इच्छाओं या तृष्णाओं पर नियंत्रण करके ही दुःख निरोध सम्भव हो सकता है।

(4) **दुःख निरोध का मार्ग**—दुःखों का कारण ज्ञात होने एवं दुःखों पर विजय प्राप्त का मार्ग सुलभ होने पर कोई भी व्यक्ति इस मार्ग के अनुसरण द्वारा अपने दुःखों को नियंत्रित कर सकता है। बुद्ध द्वारा बतलाये गये मार्ग को "दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा" कहा जाता है। इसके आठ अंग होने के कारण इसे 'अष्टांगिक' मार्ग के नाम से भी जाना जाता है।

2. अष्टांगिक मार्ग—अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके मनुष्य अपनी इच्छाओं पर पूर्ण नियंत्रण कर सकता है। इस मार्ग को 'मध्यम मार्ग' के नाम से जाना जाता है।

(1) **सम्यक् दृष्टि**— सदाचरण-दुराचरण, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित एवं पाप-पुण्य में अन्तर स्पष्ट करना ही सम्यक् दृष्टि है।

(2) **सम्यक् संकल्प**— राग-द्वेष, हिंसा आदि सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग तथा आत्म कल्याण का दृढ निश्चय ही सम्यक् संकल्प है ।

(3) **सम्यक् वाणी**— बोलने पर संयम, सत्य, मृदु एवं विनम्र वचन ही सम्यक् वाणी है।

(4) **सम्यक् कर्मान्त**— ईर्ष्या, द्वेष, द्रोह, हिंसा एवं दुराचरण का त्याग करना और सत्कर्मों का पालन करना ही सम्यक् कर्मान्त है।

(5) **सम्यक् आजीव**— न्यायोचित तरीके से आजीविका कमाना ही सम्यक् आजीव है।

(6) **सम्यक् व्यायाम**— परोपकार एवं अच्छे कर्मों में लगे रहना ही सम्यक् व्यायाम है।

(7) **सम्यक् स्मृति**— लोभ आदि मन के सन्तापों से दूर रहना और विवेक तथा स्मरण का अनुपालन ही सम्यक् स्मृति है।

(8) **सम्यक् समाधि**— द्वन्द्व-विनाश और राग-द्वेष को छोड़कर एकाग्र चित्त होना ही सम्यक् समाधि है।

मध्यम मार्ग— अष्टांगिक मार्ग विशुद्ध आचरण पर आधारित था। इसमें न तो अधिक शारीरिक कष्ट अथवा कठोर तपस्या को उचित बताया गया और न ही अत्यधिक भोग- विलासमय जीवन को। मूलतः यह दोनों अतियों के मध्य का मार्ग है। इसीलिए इसको मध्यम मार्ग (मध्यम प्रतिपदा) की संज्ञा भी दी गयी। इसका पालन करने से मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

3. दस शील—महात्मा बुद्ध ने निम्नांकित दस नैतिक आचरणों के पालन पर जोर दिया—

(1) सत्य बोलना, (2) हिंसा न करना, (3) चोरी न करना, (4) आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, (5) भोग-विलास से दूर रहना, (6) नाच-गान का त्याग करना, (7) कुसमय भोजन न करना, (8) सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग न करना (9) कोमल शैय्या का त्याग करना, एवं (10) राग-कामिनी कंचन का त्याग करना।

4. वेदों की प्रामाणिकता में अविश्वास— बौद्ध धर्म ईश्वर को सृष्टि का निर्माता या नियन्ता नहीं मानता, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने वेदों की प्रामाणिकता पर अविश्वास प्रकट किया। बुद्ध का मानना था कि मनुष्य की बुद्धि परीक्षात्मक होनी चाहिए। उन्होंने किसी की कही हुई बात को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के बजाय स्वयं उसे जाँचने-परखने को उचित ठहराया। इन्हीं विचारों के कारण कई आलोचकों ने बुद्ध को नास्तिक भी कहा है।

5. अनात्मवाद— बुद्ध ने कभी आत्मा के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं किया। आत्मा को स्वीकारने से मनुष्य को स्वयं से आसक्ति होने तथा नहीं स्वीकारने से मनुष्य को मानसिक वेदना होने से महात्मा बुद्ध ने इस विवाद में पड़ना ही अनुचित माना। अर्थात् वे कभी इस विवाद में नहीं उलझे।

6. कर्मवाद—महात्मा बुद्ध मनुष्य के द्वारा मन, वचन व काया से की गयी चेष्टाओं को ही कर्म मानते थे। उन्होंने इन कर्मों को ही सुख या दुःख का कारण माना। अर्थात् मनुष्य जैसा करेगा वैसा ही फल पायेगा। बुद्ध के कर्म में वैदिक कर्मकाण्डों का कोई स्थान नहीं था।

7. पुनर्जन्म — महात्मा बुद्ध का मानना था कि आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता, केवल अहंकार का ही पुनर्जन्म होता है। वे इस बात पर भी सहमत थे कि मनुष्य का पुनर्जन्म कर्मों के अनुसार ही होता है। उनका मानना था कि मनुष्य की इच्छाओं और वासनाएँ नष्ट हो जाने पर वह पुनर्जन्म अर्थात् आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है।

8. निर्वाण — 'निर्वान' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'बुझाना'। बुद्ध के अनुसार मानव मन की इच्छा या तृष्णा अथवा वासना की आग को बुझा देने पर ही निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। निर्वान का तात्पर्य मोक्ष प्राप्ति से लगाया जाता है।

9. प्रतीत्य समुत्पाद—इसे 'कार्य-कारण नियम' भी कहते हैं। इस नियम के अनुसार बिना किसी कारण के किसी घटना का घटना असम्भव है। अर्थात् संसार में जन्म-मरण के चक्र से उत्पन्न होने वाले दुःखों का किसी सृष्टिकर्त्ता अथवा ईश्वर से सम्बन्ध नहीं है। वरन् इसके कुछ कारण हैं। इस सिद्धान्त के कारण बुद्ध को अनीश्वरवादी भी माना गया है।

10. क्षणिकवाद— बुद्ध का कहना था कि संसार परिवर्तनशील है। संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रति क्षण परिवर्तन होता है। यह अदृश्य परिवर्तन नदी के प्रवाह के समान निरन्तर गतिशील रहता है। यही 'क्षणिकवाद' है।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में बँट गया। बुद्ध के नियमों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने वाले अनुयायी 'स्थविर' कहलाये तथा नियमों में परिवर्तन कर बौद्ध धर्म को मानने वाले अनुयायियों को 'महासंधिक' कहा गया। आगे चल कर बौद्ध धर्म के कुछ अनुयायी महायान और हीनयान सम्प्रदायों में विभक्त हो गए। इनके अतिरिक्त बौद्ध धर्म की अन्य शाखाओं में वज्रयान, तन्त्रयान आदि का नाम भी उल्लेखनीय रहा।

बौद्ध धर्म का भारतीय समाज पर प्रभाव
(Impact of Buddhism on Indian Society)

बौद्ध धर्म ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को विभिन्न रूपों में प्रभावित किया। अनेक क्षेत्रों में बौद्ध धर्म की महत्वपूर्ण देन रही। एच.आर. घोषाल के अनुसार "बुद्धमत एक बड़ा तथा प्रभावशाली धार्मिक आन्दोलन था, जिसने मनुष्य मात्र की उन्नति के प्रति महान् देन दी।" बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों को इस प्रकार प्रभावित किया—

(1) साहित्य के क्षेत्र में —बौद्ध धर्म ने लोकभाषाओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जन-साधारण की भाषा पाली व प्राकृत को बौद्ध धर्म के साहित्य में स्थान मिला। जयादित्य और जिनेन्द्र आदि विद्वानों ने व्याकरण और तर्कशास्त्र में योग दिया। माध्यमिक दर्शन को व्यवस्थित रूप भी नागार्जुन से ही मिला। बौद्ध धर्म ने भारतीय साहित्य कोष में दिव्यावदान, बुद्धचरित, सारिपुत्र प्रकरण, मंजुश्री मूलकल्प, मिलिन्दपन्हो, महावस्तु, सौन्दरानन्द, अमरकोष जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों से अपार वृद्धि की। पाली भाषा में रचित त्रिपिटक और जातक कथायें भी प्रसिद्ध हैं। बौद्ध धर्म ने ही सर्वप्रथम नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना के माध्यम से नैतिक शिक्षा की शुरूआत की। अन्य बौद्ध विद्या केन्द्र भी स्थापित किये गए जिनमें से औदन्तपुरी और विक्रमशिला प्रसिद्ध हैं।

(2) दर्शन के क्षेत्र में—बौद्ध विचारकों और दार्शनिकों ने विविध समस्याओं पर स्वतन्त्रता पूर्वक मनन और चिन्तन करके नयी विचारधाराओं का प्रादुर्भाव किया। नये दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। नागार्जुन ने शून्यवाद और माध्यमिक दर्शन का प्रतिपादन किया। बौद्ध धर्म के अनेक दार्शनिकों ने बौद्ध दार्शनिक साहित्य का सृजन किया। अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, कर्मवाद, पुनर्जन्म के सिद्धान्त प्रतीत्य समुत्पाद नियम, आन्तरिक शुद्धि एवं निर्वाण सम्बन्धी दार्शनिक विचारधाराएँ भारतीय दर्शन को बौद्ध धर्म की अमूल्य देन है।

(3) स्थापत्य कला के क्षेत्र में—बौद्ध धर्म के प्रभाव से वास्तुकला एवं भवन निर्माण कला अत्यधिक विकसित हुई। बौद्धों द्वारा निर्मित अनेक स्तूप तथा चैत्य उत्कृष्ट कला के नमूने हैं। अजन्ता, एलोरा की गुफाएँ, साँची, भरहुत, अमरावती के स्तूपों तथा उनके प्रवेश द्वारों की स्थापत्य कला बौद्ध धर्म की अनुपम देन है।

(4) चित्रकला के क्षेत्र में —चित्रकला की दृष्टि से बौद्धकाल का स्वर्णकाल कहा जाता है। बुद्ध के विभिन्न जन्मों के कल्पित स्वरूप को बोधिसत्व कहा जाता है। बुद्ध व बोधिसत्व के जीवन से सम्बन्धित अनेक चित्र अजन्ता की गुफाओं में अंकित हैं जो विश्व प्रसिद्ध हैं। अजन्ता के चित्रों का प्रभाव अनेक अन्य स्थानों के स्तूपों पर अंकित चित्रों पर भी पड़ा।

(5) मूर्तिकला के क्षेत्र में—कुषाण काल में बौद्ध मूर्तिकला का विकास हुआ। उस काल के मूर्तिकला के दो प्रमुख केन्द्रों मथुरा व गान्धार पर यूनानी कला का प्रभाव था। इस काल में बुद्ध की पत्थर व धातु की अनेक आकर्षक मूर्तियाँ बनायी गयीं।

(6) प्रशासनिक क्षेत्र में— प्रशासनिक क्षेत्र में उदारता और सहिष्णुता में बौद्ध धर्म ने योग दिया। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर ही सम्राट अशोक सहित कई राजाओं ने उदारता व सहिष्णुता की नीति अपनायी।

(7) संघ व्यवस्था—बौद्ध धर्म की संघ व्यवस्था भारत को एक महत्त्वपूर्ण देन है। भारत में जन-साधारण के लिए संगठित और व्यवस्थित रूप से लौकिक, आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार का पहला प्रयास बौद्ध संघ का ही था।

(8) राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता— बौद्ध धर्म ने छुआछूत, जातिवाद और ऊँच-नीच के भावों को मिटाकर सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के लिए अनेक प्रयास किये। बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने से लोगों को इस धर्म के उपदेश समझने में कठिनाई नहीं आयी। इस कारण भी एकता को बल मिला।

(9) धार्मिक क्षेत्र में—ब्राह्मणों को आत्मनिरीक्षण हेतु प्रेरित करने का श्रेय बौद्ध धर्म को ही है। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ब्राह्मण धर्म में उदारता पनपी। पशुबलि जैसी कुप्रथा समाप्ति की ओर अग्रसर हुई। जटिल तथा वैदिक कर्मकाण्डों से भी लोगों को मुक्ति मिलने लगी।

(10) विदेशों में सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार—बौद्ध भिक्षु और विद्वानों ने विदेशों में जाकर अपने धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया जिससे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव मध्य एशिया के अनेक देशों पर पड़ा।

सिक्ख धर्म
(Sikhism)

भारत में सिक्ख धर्म के उदय के पीछे एक लम्बा इतिहास रहा है। जिस समय इस धर्म का उदय हुआ उस समय देश नाना प्रकार की सामाजिक विषमताओं, रूढियों, पाखण्डों व कुरीतियों में लिप्त था। समाज कट्टर जाति व्यवस्था से ग्रस्त था। जहाँ व्यक्ति पहले अपनी स्वेच्छा से वर्ण बदल सकता था वहाँ अब वह जातीय बन्धनों से बँध गया था। समाज में जहाँ पहले एकता नजर आती थी अब मतभेद व भेदभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे। निम्न व पिछडी जातियों की दशा तो और अधिक बिगडती चली गयी। उन्हे घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा, अलगाव व छुआछूत की भावना तो इतनी घर कर गयी कि इन निम्न जातियों को सामूहिक रूप से अलग रखा जाने लगा, ताकि उच्च वर्ग के लोगों की इन पर दृष्टि भी नही पडे। इस समय ब्राह्मणों का प्रभाव भी कम नहीं था। वैदिक धर्म तो प्राय ब्राह्मण धर्म बनकर रह गया। ब्राह्मणों ने धार्मिक क्षेत्रों के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र मे भी अपना अधिकार जमाना प्रारम्भ कर लिया। धीरे-धीरे इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हुए ब्राह्मणों ने तरह तरह के यज्ञ आडम्बर पूर्ण खर्चों व कर्मकाण्डों को प्रोत्साहन दिया। इन सब का एक स्वाभाविक परिणाम यह भी हुआ कि समाज में जादू-टोना, झाड फूँक, मंत्र-तंत्र आदि क्रियाओं का भी बोल-बाला बढ गया।

इन सम्पूर्ण परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ कि अत्याचार बर्दाश्त करते करते निम्न वर्ग थक-सा गया और समाज के उच्च वर्ग ने भी वर्षों से चली आ रही इस आडम्बर पूर्ण व्यवस्था का डटकर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में कई समाज सुधारकों ने जन्म लिया जिनमें गुरु नानक देव (1469-1538) प्रमुख हैं। आपने यह कहा था "क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सभी उस एक ही परम-पिता परमात्मा की सन्तान हैं। जो भी भेदभाव खडे कर दिये गये हैं, वे मनुष्यों के अपने स्वार्थों की उपज हैं। वास्तव मे न कोई हिन्दू है, न मुसलमान। सब एक हैं, अभिन्न हैं।" यह कथन हमें बताता है कि भारतीय इतिहास की उस नाजुक घडी में गुरु नानक ने अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा सत्यनिष्ठा के साथ मनुष्य मात्र की एकता और समानता का संदेश देश के कोने-कोने में फैलाया। नानक सम्पूर्ण मानवता के सच्चे पुजारी थे। उन्होंने बड़े ही तर्कपूर्ण ढग से प्रचलित रूढियों व कर्मकाण्डों पर घातक चोट की। इन्ही निर्भीक व सच्चे विचारों के कारण सिक्ख धर्म की सामाजिक संस्थाओं का उदय हुआ।

सिक्ख धर्म प्रारम्भ से शुद्ध व व्यावहारिक धर्म रहा है, जिसका अनुसरण भी प्राय: समाज में रहकर ही किया जा सकता है। सिक्ख धर्म में सबसे अधिक जोर चरित्र पर दिया गया है, ताकि एक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन समाज में सही ढग से कर सके। सिक्ख धर्म के अनुसार एक आदर्श व महान व्यक्ति वही है जिसमे ब्राह्मणों के समान आध्यात्मिकता, क्षत्रियों के समान आत्मरक्षा की भावना, वैश्यों के समान व्यवहार कुशलता तथा शूद्रों के समान लोक सेवा एक साथ विद्यमान हो। इसीलिये तो सिक्खो के गुरुओं ने अपने अपने जीवन में सभी तरह के कार्य सम्पन्न किये। सिक्ख धर्म से सम्बन्धित जो गुरु हुए हैं उनकी सबसे बडी विशेषता यह रही है कि गुरु नानक की गद्दी पर बैठने वाले किसी भी गुरु ने स्वयं को नानक से भिन्न नही माना। वे सदा स्वयं को नानक ही समझते रहे, यहाँ तक कि उनके द्वारा रचित रचनाओं में भी वे खुद को नानक ही बतलाते। इसी कारण तो नव गुरु अपने आदि गुरु के प्रतिरूप ही समझे जाते हैं।

गुरु नानक द्वारा चलाये गये इस धर्म के गुरुओं को अपने जीवन काल में किसी न किसी तरह की समस्याओं का सामना अवश्य ही करना पड़ा था। प्राय गुरु नानक देव से लेकर रामदास के समय तक उन्हें अपने ही लोगों में उत्पन्न असंतोष आदि से बच कर चलना पड़ा। गुरु नानक देव का यह धार्मिक सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न घटनाओं व परिस्थितियों से प्रभावित होकर आखिर में गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में आकर "खालसा सम्प्रदाय" के नाम से जाना जाने लगा और संगठन, आत्मरक्षा, सुव्यवस्था को कठोर व सुदृढ़ भावना के कारण यह सिक्ख जाति के रूप में बदल गया।

सिक्ख सम्प्रदाय—वीर बन्दा के समय से पहले ही अनेक लोग, सिक्ख गुरुओं से अलग होकर अपने अपने पंथ चलाने का व्यापक प्रयास करते रहे थे। ऐसा भी कहा जाता है कि गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द का अपने पिता की गद्दी न मिलने के कारण उदासी का मुँह देखना पड़ा। अत उन्होंने उदासी सम्प्रदाय चलाया। प्रिथाचन्द ने भी एक पंथ चलाया जो 'मीना पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार हन्दल नाम के एक जाट ने 'हन्दली मत' चलाया। लेकिन वीर बन्दा से लेकर गुरु गोविन्दसिंह के द्वारा चलाये गये खालसा सम्प्रदाय में प्राय और भी दल बन गये जो स्वयं को 'तत खालसा' व 'बंदई खालसा' कहने लगे। दोनों दलों ने एक दूसरे को नीचा दिखाने का व्यापक प्रयत्न भी किया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इस दलगत छींटाकशी के कारण इस धर्म के प्रवर्तकों का समाज धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर होने लगा। कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जिन्होंने इस सारी स्थिति का डटकर विरोध किया तथा सुधार की बातें करने लगे, परिणामस्वरूप कई सुधारक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। विभिन्न सम्प्रदायों में कोई विशेष मौलिक अन्तर हम देखने को नहीं मिलता है, लेकिन फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय के विकास का एक अपना अलग इतिहास रहा है। यद्यपि उन सभी सम्प्रदायों का विस्तृत वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है फिर भी प्रमुख सम्प्रदाय इस प्रकार हैं–'उदासी सम्प्रदाय', 'नामधारी सम्प्रदाय' 'निर्मला सम्प्रदाय', 'सुथराशाही सम्प्रदाय' 'सेवापंथी सम्प्रदाय', 'अकाली सम्प्रदाय', 'भगत पंथी सम्प्रदाय', 'गुलाबदासी सम्प्रदाय', 'निरंकारी सम्प्रदाय' आदि।

सिक्ख धर्म की विशेषताएँ
(Characteristics of Sikh Religion)

सिक्ख धर्म एक ऐसा धर्म है जिसमें हिन्दू एवं इस्लाम धर्मों की विशेषताओं के अतिरिक्त ईसाई धर्म की विशेषताएँ भी स्पष्टत. दृष्टिगोचर होती हैं—अर्थात् दूसरे शब्दों में सिक्ख धर्म एक समन्वयात्मक, प्रगतिशील व व्यावहारिक धर्म है, जिसमें सभी धर्मों की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। सिक्ख धर्म के वास्तविक आदर्शों को आसानी से समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम इस धर्म की प्रमुख विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करें।

1. सिक्ख धर्म कर्मकाण्डों का विरोधी है

सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक ने हिन्दुओं में व्याप्त कर्मकाण्डों का डटकर विरोध किया और प्रचलित रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर घातक चोट की। नानक देव और अन्य सिक्ख गुरुओं ने 'ब्रह्म' अथवा 'मोक्ष' प्राप्ति के लिये कर्त्तव्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। अपनी उदासी के दौरान जब नानक देव गया गये, तब वहाँ पण्डितों को पिण्डदान व दीपदान करते देख तीखी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की और कहा–"मेरा दीप तो ईश्वर का नाम है जिसमें लोगों के दुखों का तेल डाला हुआ है। इस दीप ने मेरे मृत्युभय रूपी अन्धकार को दूर भगा दिया है। मरे हुए को पिण्ड या पत्तल क्या देना? वास्तविक कर्मकाण्ड तो ईश्वर का सत्य नाम है जो सर्वथा मेरा उद्धारक है।"

2. सिक्ख धर्म एक ही ईश्वर मे आस्था रखता है

सिक्ख धर्म का विश्वास मूर्ति-पूजा मे नही है। यह धर्म ईश्वर का सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान मानता है। अपनी विभिन्न यात्राओं के दौरान गुरु नानक देव अपनी चौथी उदासी के समय मुसलमानों के महान व पवित्र स्थान मक्का शरीफ भी गये। यात्रा की लम्बी थकान के कारण नानक देव काबा की ओर पैर करके सो गये। इस स्थिति में वहाँ के लोगों ने इन्हें ठोकर मार कर जगाया और कहा कि तुम यह क्या कर रहे हो, जहाँ हमारा खुदा रहता है, उसी ओर पाँव फैलाये सो रहे हो। लेकिन गुरु नानक देव ने बडे ही सहज व मधुर भाव से कहा कि आप लोग मेरे पाँव उस दिशा मे कर दें जहाँ खुदा न हो। ऐसा कहा जाता है कि जिस ओर वहाँ के लोगो ने नानक की टांगों को घुमाया, ठीक उसी ओर काबा (खुदा का घर) घूमता गया। गुरु नानक देव का यह दृढ विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही धर्म में रहता हुआ एक सर्वशक्तिमान् व अलौकिक शक्ति में आस्था रखकर ब्रह्म अथवा सत्यलोक की प्राप्ति कर सकता है।

3. समानता की नीति पर जोर

सिक्ख धर्म में समानता की नीति पर जोर दिया गया है। अन्य शब्दों में इस धर्म का दृढ विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति जन्म के कारण ऊँचा अथवा नीचा नही है। परमात्मा ने सभी को समान बनाया है, यदि कोई व्यक्ति समाज में छोटा या बडा है तो वह अपने कार्यों से है। गुरु नानक मानव मात्र से प्रेम करते थे चाहे उसका वर्ण कुछ भी क्यों न हो। सिक्ख धर्म मे समानता की नीति पर अधिक जोर दिया गया है ताकि प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक व आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सके। सिक्ख गुरुओं ने तो स्त्री व पुरुषों के अधिकारों तक में समानता की बात कही है।

4. वैयक्तिक अहकार व कर्मो के प्रदर्शन को महत्त्व नही

गुरु अमरदास ने कहा है "मन के अनुसार चलता हुआ मनुष्य हरि हरि की रटन लगा कर थक भी जाय किन्तु उसके मन का मैल नही धुल पाता। मलिन मन के रहते न तो भक्ति का होना किसी प्रकार सम्भव है, न अपना कल्याण ही हो सकता है।"[1] स्वय गुरु नानक देव ने कहा है "जब तक मन को मारकर उसे ठीक न कर लिया जाय, तब तक कोई कार्य सिद्ध नही हो सकता। इसको अपने वश मे कर लेना, तभी सम्भव है, जब इसे निर्गुण राम के गुणो की उलझन में डाल दिया जाय। तब कही भला मन उस एककार मे जाकर ही ठहर सकेगा।[2] नानक ने यह भी कहा है कि 'हठ तथा निग्रह करने मात्र से शरीर नष्ट होता है और व्रत तथा तपस्या द्वारा मन पूर्णतः भीग नही पाता। यह तो केवल राम नाम की सहायता से ही वश में लाया जा सकता है।'

5. आदर्श व व्यवहार की सामंजस्यता पर जोर

सिक्ख गुरुओं ने व्यक्ति के आदर्शों व व्यवहारो के मध्य सामजस्य स्थापित करने पर अधिक बल दिया है और इसे आवश्यक भी समझा गया है। इसीलिये तो नानक से लेकर गुरु गोविन्दसिंह के समय तक सिक्ख गुरुओं ने जिन सिद्धान्तों व उपदेशों की रचना की, उन्हें व्यवहार रूप में बदलने का भी पूरा प्रयत्न किया। साथ ही यह बतलाने का भी प्रयत्न किया कि यदि व्यक्ति की कथनी व करनी में अन्तर हो जाता है तो उच्च से उच्च विचार भी निरर्थक हो सकते हैं।

---

1 आदि ग्रन्थ, सिरी रागु 31, पृ 38

2 आदि ग्रन्थ, रामकली 1, पृ 905

6. सिक्ख धर्म मे व्यावहारिकता का गुण

आज जितना प्रगतिशील व व्यावहारिक धर्म सिक्ख धर्म है, उतना अन्य कोई धर्म नहीं। इस धर्म को गुरु अर्जुनदेव के अन्तिम समय से लेकर गुरु गोविन्दसिंह के समय तक मुसलमानों के कटुतापूर्ण व्यवहार का सामना करना पड़ा। मुसलमान शासक अपने सैनिकों आदि की सहायता से, उनके खान-पीने की चीजों को छूकर अपवित्र कर देते और उनको धर्म से विचलित करने का भी प्रयत्न करते थे। इस स्थिति का सामना करने के लिए गुरु गोविन्दसिंह ने अपने नेतृत्व में खालसा सम्प्रदाय का गठन किया और प्रत्येक सिक्ख अनुयायी के लिए--केस कंघा कृपाण, कच्छा व कड़ा अनिवार्य कर दिया। केस इसलिए आवश्यक समझे गये ताकि एक सिक्ख अपने साथी को आसानी से पहचान सके। कंघा इसलिये आवश्यक समझा गया कि बढ़े हुए बालों को व्यवस्थित रूप में रखा जा सके। कृपाण विरोधी समूह से रक्षा के लिए आवश्यक समझी गयी। कच्छे का प्रयोग इसलिये किया गया ताकि लड़ाई के समय वस्त्रों के न रहने पर भी सिक्ख नग्न नहीं रहे। कड़े का प्रयोग मुसलमान सैनिकों द्वारा अपवित्र की गई वस्तुओं को शुद्ध करने के लिये किया गया।

7. सिक्ख धर्म मे गुरु के प्रति गहरी निष्ठा

सिक्ख धर्म में ईश्वर प्राप्ति के लिए गुरु के प्रति गहरी आस्था प्रकट की गयी है। नानक का कथन है--"गुरु के मिलने पर ही अपने सांसारिक जीवन के अन्त तथा आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ का हमें अनुभव होता है, गर्व दूर हो जाता है, गगनपुर अर्थात् मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है और हरि की शरण में स्थान मिलता है।" "संसार मे चाहे जितना ही मित्र व सखा क्यो नहीं हो, परन्तु गुरु के बिना परमेश्वर के अस्तित्व का बोध नहीं हो सकता।"

गुरु अमरदास ने भी कहा है-"प्रत्येक मनुष्य के भीतर हीरा लाल-जैसा रत्न विद्यमान है। किन्तु अनजान होने के कारण हम उसे पहचान नहीं सकते। यह एक गुरु का शब्द ही है जिसके द्वारा हमें उसे परखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। गुरुमुख होकर ही हम अत्यन्त अगम्य तथा अपार नाम व निरंजन को प्राप्त कर लेते हैं।"

स्पष्ट है कि सिक्ख धर्म में ईश्वर की प्राप्ति के लिये सच्चे गुरु की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया गया है और बताया गया है कि सच्चा गुरु ही हमें आनन्द की प्राप्ति कराता है। वही प्रभु है, वही नारायण है तथा गुरु के समान दूसरा और कोई दाता नहीं है। सिक्ख धर्म में गुरु को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है कि आज उनके कोई मानव गुरु के न होते हुए भी दस सिक्ख गुरुओं के उपदेशों को साक्षात् गुरु माना गया है। इसीलिये तो सिक्ख अनुयायी अपने 'आदि ग्रन्थ' को 'गुरु ग्रन्थ साहिब' कहकर सम्बोधित करते हैं। सिक्ख धर्म के सन्दर्भ में यदि हम और अधिक जानना चाहते हैं तो हमें "गुरु ग्रन्थ साहिब" के बारे में जानना भी आवश्यक होगा जो सिक्खों का एक महान धार्मिक व पवित्र ग्रन्थ है।

गुरु ग्रन्थ साहिब

"गुरु ग्रन्थ साहिब" सिक्खों का एक आदि ग्रन्थ है जिसे वे साक्षात् गुरु तुल्य ही समझते हैं? अनेक धार्मिक उत्सवों या संस्कारों के समय इसकी उपस्थिति को प्राय. शुभ व आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थ की रचना का श्रेय सिक्खो के पाँचवे गुरु अर्जुनदेव को जाता है? आपने इसकी रचना सन् 1604 ई. में की थी। अर्जुनदेव ने अपने समय में यह महसूस किया कि भविष्य में सिक्ख धर्म के मानने वालों को किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े, इसीलिये सिक्ख गुरुओं के द्वारा

दिये गये प्रवचनों, उपदेशों आदि का संग्रह कर, एक "आदि ग्रन्थ" का निर्माण करना आवश्यक है। नवें गुरु तेगबहादुर की मुसलमानों द्वारा की गयी हत्या के बाद, दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने सन् 1705 ई. में गुरु ग्रन्थ साहिब को नया रूप दिया।

ऐसा कहा जाता है कि गुरु अर्जुनदेव ने इस 'आदि ग्रन्थ' की रचना के लिए कई भक्तों के अनुयायियों को चुना तथा स्वयं ने भी पदों के चुनाव के बाद, बैठ कर गुरुदास से लिखवाने का प्रयत्न किया। जिन सिक्ख गुरुओं की रचनाओं व उपदेशों का इसमें संकलन है, वे हैं-गुरु नानक, गुरु अंगद देव गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह। इन सिक्ख गुरुओं के अतिरिक्त आदि ग्रन्थ "गुरु ग्रन्थ साहिब" में कई अन्य भारतीय भक्तों की रचनाओं को भी स्थान दिया गया। इन भक्तों में शेख, फरीद, भगत, जयदेव, रैदास, कबीर आदि मुख्य हैं। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि जिन भारतीय भक्तों की रचनाओं का "गुरु ग्रन्थ साहिब" में स्थान दिया गया है, वे सिक्ख गुरुओं के सिद्धान्तों के अनुरूप ही थी।

स्पष्ट है कि "गुरु ग्रन्थ साहिब" सिक्खों का एक महत्त्वपूर्ण महान धार्मिक ग्रन्थ है जिसे वे साक्षात् गुरु तुल्य अर्थात् गुरु के समान ही समझते हैं। इसमें विभिन्न सिक्ख गुरुओं की रचनाओं व उपदेशों को स्थान दिया गया है जो ब्रह्म नाम, त्याग गुरु भक्ति, आत्म ज्ञान आदि से सम्बन्धित हैं।

सिक्ख धर्म का भारतीय समाज पर प्रभाव
(Impact of Sikhism on Indian Society)

(1) सिक्ख धर्म ने भारत में समतावादी समाज की रचना में योग दिया। इस धर्म ने जाति-प्रथा का विरोध किया। असमानता को अनुचित बताया और अस्पृश्यता या ऊँच-नीच के भेद को गलत ठहराया।

(2) सिक्ख धर्म ने भारतीय समाज में कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास एवं रूढ़ियों के प्रभाव को कुछ कम करने में योग दिया।

(3) सिक्ख धर्म ने एकेश्वरवाद की धारणा को प्रसारित करने में योग दिया। इससे अपने-अपने देवी-देवताओं को लेकर विभिन्न धर्मों के बीच पाये जाने वाले संघर्षों में कुछ कमी आयी।

(4) सिक्ख धर्म ने संकट के समय मुसलमान आक्रान्ताओं से हिन्दू धर्म की रक्षा की। वास्तव में सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म का ही अभिन्न अंग है।

(5) सिक्ख धर्म व्यवहारवादी धर्म है, यह आचरण पक्ष पर विशेष जोर देता है। यही कारण है कि भारत में कई लोगों ने इस धर्म को ग्रहण किया।

(6) सिक्ख धर्म ने लोगों को धर्म और राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों को न्यौछावर तक कर देने के कई उदाहरण प्रस्तुत किये। इससे लोगों में त्याग और बलिदान की भावना जाग्रत हुई।

इस्लाम धर्म
(Islam)

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब थे। इनका जन्म अरब के मक्का शहर में सन् 570 ई. में हुआ। बचपन में ही इनके माता पिता का देहावसान हो जाने से इनका पालन-पोषण इनके दादा ने किया। इस्लाम धर्म के उदय से पूर्व अरबी लोग प्राचीन अरबी धर्म का पालन किया करते थे। उस काल में वहाँ राज्य या शासन में स्थायित्व न होने से अरबी समाज बर्बरता के युग में था। जुआ, नशा जैसी बुरी आदतों से लोग घिरे हुए थे। एनीबीसेण्ट के अनुसार, "यह मनुष्य का नरक था, जिसमें लालसा, काम वासना, कत्ल और अपराधों का साम्राज्य था।"

ऐसा माना जाता है कि 15 वर्षों तक एक गुफा में रहकर चिन्तन एवं मनन करने से मोहम्मद साहब को अल्लाह के दर्शन हुए। अल्लाह ने मोहम्मद को अल्लाह के बन्दों को रास्ता दिखाने का आदेश दिया। अल्लाह के द्वारा बताये गये मार्ग को मोहम्मद साहब ने लोगों के सामने रखा और स्वयं को अल्लाह का दूत (पैगम्बर) कहा। मोहम्मद साहब के नवीन इस्लाम धर्म को सबसे पहले खदीजा नामक महिला ने स्वीकार किया। बाद में मोहम्मद साहब ने इस 45 वर्षीय विधवा महिला से विवाह भी किया जबकि मोहम्मद साहब की स्वयं की उम्र 25 वर्ष ही थी। इसके अलावा मोहम्मद साहब ने ग्यारह अन्य विवाह भी किये।

इस्लाम धर्म प्राचीन अरबी धर्म से भिन्न था। इस धर्म की मान्यता थी कि एक ही ईश्वर में विश्वास रखने वाले स्वर्ग प्राप्ति के अधिकारी हैं। इस धर्म के अरबी धर्म के विरुद्ध होने के कारण मोहम्मद साहब को विरोध का सामना करना पड़ा और 24 सितम्बर 622 ई. को उन्हें मदीना में जाकर शरण लेने को मजबूर होना पड़ा। इसी दिन से मुसलमानों का हिजरी सम्वत् प्रारम्भ हुआ। मोहम्मद साहब ने मदीना में ही इस्लाम धर्म को व्यवस्थित करने के बाद विरोधियों का मुकाबला किया। इस्लाम धर्म के दो प्रमुख ग्रन्थ हैं- कुरान और हदीसा। कुरान में ईश्वर द्वारा अपने दूत मोहम्मद साहब को दिया गया ज्ञान संग्रहीत है, जबकि हदीसा में मोहम्मद साहब के उपदेशों का संग्रह है।

कुरान
(Quran)

कुरान शब्द 'करयान' से बना है जिसका अर्थ है पाठ करना। इसीलिए इस्लाम के अनुयायी प्रतिदिन कुरान की आयतों का पाठ करते हैं। ऐसा माना गया है कि कुरान में जो कुछ लिखा हुआ है, वह अल्लाह के आदेश से जबरील नामक देवदूत ने पैगम्बर मोहम्मद को सुनाया और मोहम्मद ने लोगों के सामने उसे कुरान के रूप में पेश किया। कुरान के कुल 114 अध्यायों में से 90 का संग्रह मक्का में और शेष 24 का मदीना में किया गया। कुरान में सामाजिक कानूनों, अच्छे-बुरे आचरण, नजात (मुक्ति), कयामत का दिन, मानवीय कर्तव्यों, अल्लाह और उसके द्वारा पृथ्वी तथा मानव की रचना आदि विषयों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है।

इस्लाम के तीन अंग

कुरान में इस्लाम के प्रमुख तीन अंगों का उल्लेख है— ईमान, इबादत एवं इहसान।

(1) **ईमान**—अल्लाह, उसक पैगम्बरों और कयामत क दिन में विश्वास करन का अर्थ ही ईमान है।

(2) **इबादत**— पाँच धार्मिक क्रियाओं का करना ही 'इबादत' कहलाता है। ये धार्मिक क्रियायें इस प्रकार हैं-(1) ला इलाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह अर्थात् 'ईश्वर एक है और माहम्मद उनक दूत हैं। कलम का प्रतिदिन जाप करना। (2) मक्का की दिशा में मुँह करक दिन में पाँच बार नमाज पढ़ना व शुक्रवार को सार्वजनिक नमाज में भाग लना। (3) रमजान क महीन में राज रखना व सूर्यास्त क बाद भाजन करना। (4) जीवन मे मक्का व मदीना की हज (तीर्थयात्रा) करना (5) आय का चालीसवाँ भाग जकात (दान) में दना। कुछ का मानना है कि इबादत में जिहाद (धर्मयुद्ध) भी शामिल है जिसक दा अर्थ हैं (1) उन लागों से युद्ध करना जा इस्लाम धर्म में विश्वास नहीं करें, (2) अपनी बुराइयों और वासनाओं क विरुद्ध युद्ध करना।

(3) **इहसान**— कुरान द्वारा बताय गय नैतिक आचारों का पूरा करन और उनमें किसी भी प्रकार का सन्दह न करन का आदश ही इहसान है। इहसान का तात्पर्य यह है कि काई भी कार्य या विकास इस प्रकार स हा जिसस कि कुरान क आदेशों की अवहलना न हा।

इस्लाम धर्म की मौलिक विशेषताएँ

इस्लाम धर्म की मौलिक विशषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. एकेश्वरवाद— प्राचीन अरबी धर्म में बहुदववाद प्रचलित था। उसके स्थान पर इस्लाम धर्म ने एकेश्वरवाद की स्थापना की। माहम्मद साहब का कहना था कि हमें अल्लाह के अलावा किसी अन्य शक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिए। दुनिया मे जा कुछ होता है, वह उसी अल्लाह की मर्जी से हाता है।

2. पैगम्बर की परम्परा— पैगम्बर स तात्पर्य है पैगाम या सन्दश लान वाला। इस्लाम धर्म की मान्यता है कि ईश्वर समय-समय पर लागों का सही रास्ता दिखान हेतु अपन पैगम्बर भजता है। इन पैगम्बरों म माहम्मद साहब अंतिम पैगम्बर मान जात हैं।

3. कर्त्तव्यो की महानता — कुरान मे वर्णित पाँच धार्मिक क्रियाओं का करना मुसलमानों का परम कर्त्तव्य माना गया है। य पाँच क्रियायें हैं-कलमा पढ़ना, राज रखना, नमाज पढ़ना, जकात देना तथा हज करना।

4. विश्वास एवं समर्पण —इस्लाम धर्म अपन अनुयायियों का पवित्र ग्रन्थ कुरान में विश्वास करने का आदश दता है। उसमें वर्णित बातों का बिना किसी तर्क क स्वीकार करके अपने आपको ईश्वर क प्रति समर्पित करन का भी आदश दिया गया है। इन आदर्शों की अवहेलना करन वालों का काफिर कहा जाता है।

5. पुनर्जन्म मे अविश्वास —पुनर्जन्म मे विश्वास नहीं करक इस्लाम धर्म तो राजशुमार के दिन में विश्वास करता है। इस धर्म का मानना है कि प्रलय क बाद रोजेशुमार क दिन खुदा सभी मरे हुए प्राणियों को उसके कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक दगा।

6. समानता —इस्लाम धर्म में जाति, व्यवसाय, जन्म और लिंग के आधार पर भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है, लेकिन फिर भी इस्लाम में पुरुषों को स्त्रियों की तुलना में अधिक अधिकार एवं सुविधाएँ प्राप्त हैं।

7. स्वतंत्रता मे अविश्वास —इस्लाम में मनुष्य को पूरी तरह ईश्वर इच्छा के अधीन माना जाता है। इसमें मानवीय स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस्लाम के सम्प्रदाय

शिया और सुन्नी इस्लाम धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय हैं। मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस्लाम के अनुयायी इन दो सम्प्रदायों मे बँट गए। मोहम्मद साहब के चचेरे भाई और दामाद 'अली' को इस्लाम का मुखिया मानने वाले अनुयायी 'शिया' कहलाये। अली को मुखिया नहीं मानने वाले अनुयायी 'सुन्नी' कहलाये। इस सम्प्रदाय के लोग मुखिया का निर्धारण आम सहमति से चाहते थे। इन दो विचारधाराओं की उत्पत्ति स्रोत एक ही होते हुए भी इनमे निम्नांकित भेद पाये जाते हैं–

1. शिया लोग खलीफा को केवल आध्यात्मिक नेता मानते हैं, जबकि सुन्नी लोग इसे कानून व राज्य का संरक्षक भी मानते हैं क्योंकि वे धर्म और राज्य को परस्पर सम्बन्धित मानते हैं।
2. शियाओं के अनुसार अली के वंशज ही इमाम या खलीफा बन सकते हैं, जबकि सुन्नियों का मानना है कि इमाम का चयन एक जन समिति के द्वारा होना चाहिए।
3. इमाम कोई गलत कार्य करने पर अपराधी है, तो शिया लोग अपनी प्रार्थना अवैधानिक मानते हैं, जबकि सुन्नी प्रार्थना पर कोई प्रभाव नहीं मानते।
4. शिया लोग एक ही समय में एक से अधिक इमामों को स्वीकारते हैं, जबकि सुन्नी लोग केवल एक को ही स्वीकारते हैं।
5. बाद में शिया सम्प्रदाय 5 भागों में और सुन्नी सम्प्रदाय 4 भागों में बँट गया।
6. सुन्नी लोग कुरान पर तर्क नहीं स्वीकारते, जबकि शिया लोग तर्क करते हैं.
7. सुन्नी लोग विवाह के स्थायी सम्बन्धों मे विश्वास करते हैं, जबकि शिया लोग अस्थायी विवाह को स्वीकारते हैं।

उक्त दो सम्प्रदायों के अलावा इस्लाम में एक नए सम्प्रदाय का भी उदय हुआ जिसे 'सूफी मत' के नाम से जाना जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी इस्लाम के सिद्धान्तों को स्वीकार करने के साथ-साथ मानवतावाद और अहिंसा में भी विश्वास करते हैं। दसवीं सदी में ये सूफी सन्त भारत में भी आये। यहाँ उन पर अद्वैतवादियों का भी व्यापक प्रभाव पड़ा जो सूफी मत का एक अंग बन गया। इस प्रकार मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस्लाम धर्म में खलीफाओं का नेतृत्व रहा। एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अनेक देशों में इस्लाम धर्म का खूब प्रचार-प्रसार हुआ।

भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव
(Impact of Islam on Indian Society)

भारत में मुस्लिम शासन काल की शुरुआत के साथ ही इस्लाम धर्म का भी उदय हुआ। यह काल मुख्यत: तेरहवीं शताब्दी से माना जाता है। इस विदेशी धर्म ने भारतीय समाज के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया। वर्तमान में भारत के लगभग 12 प्रतिशत लोग इस धर्म के अनुयायी हैं। यह

सख्या हिन्दुओं क बाद सर्वाधिक है। इतनी बडी सख्या मे इस धर्म क मानने वाले लोगो के होने क कारण भारतीय समाज पर इसका प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। इस्लाम धर्म ने भारतीय समाज को इस प्रकार प्रभावित किया—

1. **धार्मिक क्षेत्र में—** इस्लाम धर्म की एकश्वरवादी अवधारणा को हिन्दुओं ने स्वीकार किया। इस्लाम धर्म क प्रभाव स ही हिन्दू समाज में भी बाह्य आडम्बरों, छुआछूत, मूर्ति-पूजा, धार्मिक कर्म-काण्डों, अधविश्वासों आदि का विरोध किया जान लगा। इस्लाम धर्म स ही शंकराचार्य ने अद्वैतवाद ग्रहण किया। जाति-प्रथा की समाप्ति, सुधारवादी आन्दोलन एव समानतावाद का अभ्युदय भी इस्लाम का ही प्रभाव था।

2. **जातीय क्षेत्र में—** हिन्दू समाज में निम्न स्थान प्राप्त जातियों न इस्लाम धर्म स्वीकार करना शुरू कर दिया जिसस उन्हें सामाजिक सस्तरण में उन्नत स्थान मिला। इससे ब्राह्मणों का एकाधिकार एव श्रेष्ठता खण्डित होने लगी। हिन्दुओं और मुसलमानो क समन्वय क कारण कई नयी उपजातियो का भी जन्म हुआ।

3. **आर्थिक क्षेत्र में—** मुसलमानों क आगमन स भारत में दास-प्रथा का अभ्युदय हुआ, जिसस शोषण का एक नया इतिहास शुरू हुआ। बेगारी प्रथा भी मुसलमानों की ही देन है। मुसलमानों क सम्पर्क से कुटीर व्यवसाय,सूती एव ऊनी वस्त्र निर्माण, रगाई-छपाई, दस्तकारी, कागज एव बर्तन उद्योग न उन्नति की, क्योंकि मुस्लिम शासकों ने भारतीय उत्पादों को विदेशों में भेजना प्रारम्भ किया। विलासितापूर्ण वस्तुओ का विदेशों से आयात भी किया जाने लगा।

4. **सामाजिक क्षेत्र मे—** हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अगों जैसे-परिवार, विवाह, स्त्रियो की सामाजिक स्थिति आदि पर इस्लाम धर्म का व्यापक प्रभाव पडा। मुस्लिम सस्कृति क प्रभाव स हिन्दुओं क परिवारों में कठोर एकतन्त्र, विधवा-पुनर्विवाह, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, स्त्रियो की परतत्रता सती प्रथा का कठोर पालन आदि का अभ्युदय हुआ।

5. **सास्कृतिक क्षेत्र में—** मुस्लिम सस्कृति का हिन्दुओं की सस्कृति पर व्यापक प्रभाव पडा। हिन्दुओं क रहन-सहन, खान-पान, पहनावा,आचार-व्यवहार सभी पर मुस्लिम सस्कृति ने अपना प्रभाव डाला। चूडीदार पाजामा, अचकन, कुर्ता, शेरवानी आदि वस्त्र मुसलमानों की ही देन है। मास मछली, अण्डा, कई प्रकार क मिष्ठान आदि का प्रचलन मुसलमानों का ही प्रभाव है। मुस्लिम सम्पर्क क प्रभाव स ही भाषा में विनम्रता एव प्रम उत्पन्न करन वाले शब्दों का प्रयोग बढा। कई सार्वजनिक शिक्षण-सस्थाओ का भी प्रादुर्भाव हुआ।

6. **साहित्य एवं कला के क्षेत्र में—** सस्कृत एव उर्दू के सम्मिलन से बनी खडी बोली का प्रचलन मुस्लिम काल मे ही हुआ। अनेक अरबी व फारसी शब्दों के जुड जाने से हिन्दी भाषा समृद्ध हुई। मुस्लिम बादशाहों न अनेक सस्कृत एव मराठी ग्रन्थों की भी रचना करवाई। हिन्दुओं ने मेहराब, तहखाने, गुम्बज तथा ऊँची मीनारें बनाना मुसलमानों से ही सीखा। चित्रकारी द्वारा सजीव चित्र बनाना और उनमें विभिन्न रग भरकर उन्हें आकर्षक बनाने की कला भी मुसलमानों की ही देन है, जिसका हिन्दुओं ने अनेक मदिरो में प्रयोग किया। ईश्वर भक्ति के लिए सगीत का प्रयोग भी इसी काल में किया जाने लगा। भजन एव कीर्तन मे प्रयोग की जाने वाली विभिन्न रागें, तालें एव लय भी मुस्लिम काल की ही देन है।

ईसाई धर्म
(Christianity)

ईसाई धर्म के संस्थापक ईसा मसीह थे। यह धर्म यहूदी एवं बुद्धवाद का मिश्रित तथा रूपान्तरित रूप माना जाता है। इस धर्म का सम्पूर्ण उल्लेख बाइबिल में है जो दो भागों में विभक्त है- पुरानी बाइबिल (आल्ड टेस्टामण्ट) और नयी बाइबिल (न्यू टेस्टामण्ट)। यहूदी लोग पुरानी बाइबिल में विश्वास करते हैं, जबकि ईसाई नयी बाइबिल में। प्राचीन यूनानी दर्शन एवं विचारधारा का ईसाई धर्म पर व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है, क्योंकि इसके अनेक तत्वों को ईसाई धर्म ने भी स्वीकार किया है। प्रारम्भिक ईसाई धर्म में त्याग, सन्यास एवं साधना का महत्त्व दिया गया है जो बुद्धवाद के प्रभाव को स्पष्ट करता है। दीक्षा देने की प्रथा भी बौद्ध धर्म की ही देन है। ईसाई धर्म इस्लाम धर्म के भी निकट है, क्योंकि दोनों में बहुत समानताएँ देखने को मिलती हैं।

ईसाई धर्म के अनुयायी विश्व में सबसे ज्यादा हैं। भारत में इसका तृतीय स्थान है। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 2.58 प्रतिशत भाग इस धर्म के अनुयायियों का है। विश्व में लगभग दो अरब ईसाई होने का अनुमान है, अर्थात् हर तीसरा व्यक्ति ईसाई है। यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में इनकी संख्या सर्वाधिक है। यह धर्म दो भागों में विभक्त है — कैथोलिक एवं प्रोटेस्टण्ट।

ईसा मसीह और उनके सन्देश

ईसा मसीह का जन्म फिलिस्तीन में येरूशलम के निकट एक गाँव के सुथार परिवार में हुआ। इनकी माता का नाम मरी और पिता का नाम जोसफ था। कुछ का यह भी मानना है कि ईसा कुवारी माँ के पुत्र हैं और मरियम ने उन्हें ईश्वरीय शक्ति से जन्म दिया। ईसा के जीवन से सम्बन्धित बहुत कम जानकारी उपलब्ध होने के कारण उन्हें काल्पनिक व्यक्ति भी माना जाता है। ईसा जन्म से यहूदी धर्म के अनुयायी थे। 12 वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने यहूदियों के त्यौहार 'पसोवर' में देखा कि छोटे-छोटे मेमने के बच्चे काटकर उनके रक्त से ईश्वर की पूजा की जा रही है। यह देखकर ईसा दुखित हुए और मेमनों के हत्यारों को उन्होंने ईश्वर का भक्त नहीं माना।

इस घटना के बाद ईसा को यहूदियों की धर्म सभा की वार्ताएँ भी निरर्थक ही प्रतीत हुई। इन घटनाओं ने ईसा को यहूदी धर्म का परिष्कार करने के लिए सोचने हेतु विवश कर दिया। जब वे ध्यानमग्न होकर चिन्तन कर रहे थे तो ईश्वर उनके पास आये और उन्होंने ईसा से कहा-'पुरोहित और ज्ञानी व चतुर व्यक्ति मुझे खो चुके हैं। जनता मुझे चाहते हुए भी खोज नहीं पा रही है। अब यह तुम्हारा कर्त्तव्य है कि लोगों के पास जाओ और उन्हें मेरे प्यार से परिचित कराओ।'

विलियम बर्कले का कहना है कि उस दिन मन्दिर में ईसा ने अपने जीवन में ईश्वर को पिता की भाँति अनुभूत किया तथा उन्होंने अपने जीवन का यही ध्येय बना लिया कि मनुष्यों को ईश्वर के और ईश्वर को मनुष्यों के निकट लाया जाय। इस कार्य में न तो पुरोहित और न ही रब्बी मदद कर सकते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि लगभग 18 वर्षों तक ईसा तिब्बत में बौद्ध धर्म के अनुयायी दलाई लामा के साथ रहे। 30 वर्ष की आयु में जॉन ने उसका बपतिस्मा संस्कार किया और इसके बाद ही वे 'जीसस क्राइस्ट' (ईसा मसीह) कहलाये।

ईसा ने प्राचीन यहूदी धर्म के स्थान पर एक नया धर्म दिया। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों व अन्धविश्वासों को मिटाकर निराशा और दरिद्रता के वातावरण से लोगों को मुक्त कराने का फैसला किया। ईसा ने रोगियों की सेवा की और कई चमत्कार भी दिखाये। लोगों ने ईसा को झूठा और जादूगर की भी संज्ञा दी। यहूदी धर्म के पुरोहित इनके आलोचक बन गये। इसी दौरान ईसा के दो शिष्य बने-पीटर और एंड्रूज। पीटर ने ईसा को मसीहा घोषित किया। उस काल में मसीहा ही यहूदियों का राजा माना जाता था। इसी उद्देश्य से ईसा ने भी यरूशलम जाकर स्वयं को मसीहा घोषित किया। इस घटना से ईसा के विरोधियों की संख्या बढ़ गयी। अत्यधिक विरोध हो जाने पर ईसा नगर छोड़कर जाने लगे। लेकिन इसी समय सैनिकों ने उन्हें पकड़ लिया और यरूशलम के पुरोहितों के सामने पेश किया।

वहाँ से उन्हें [illegible] के मुख्य शासक की अदालत में ले जाया गया। ईसा द्वारा वहाँ भी स्वयं को मसीहा घोषित किये जाने पर लोग अत्यधिक क्रोधित हो उठे। विरोधियों ने ईसा को कठोर दण्ड दिये जाने की माँग की। फलतः 33 वर्ष की आयु में ही ईसा को सूली पर लटका कर कीलें ठोकी गयी। इस प्रकार सत्य कहने वाले को मौत के मुँह में धकेल दिया गया।

ईसा ने कई सन्देश दिये, इनमें से प्रमुख हैं-

(1) ईश्वर जीवन का गहन और अन्तिम अर्थ है।

(2) ईश्वर पिता के समान है वह मनुष्यों से दूर नहीं वरन् उनके पास है।

(3) ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करना प्रत्येक मनुष्य का दायित्व है।

(4) ईश्वर के प्रति कर्त्तव्यों का अर्थ है सेवा को जीवन के महानतम लक्ष्य और व्यवसाय के रूप में स्वीकार करना।

ईश्वर के दस आदेश-

बाइबिल में उल्लिखित ईश्वर के दस आदेश इस प्रकार हैं-

(1) मैं ही अनन्त ईश्वर हूँ।

(2) ईश्वर की कोई भौतिक छवि नहीं है।

(3) सबथ को याद करना अर्थात् सप्ताह के छः दिन तक जीविकोपार्जन हेतु कार्य करने के बाद सातवें दिन ईश्वर को याद करना चाहिए। ईश्वर ने इस दिन को पवित्र बनाया है।

(4) ईश्वर अनन्त तथा सम्पूर्ण विश्व का सम्प्रभु शासक है।

(5) माता-पिता का आदर करना।

(6) मनुष्य को ईश्वर और उसके कानून की रक्षा करनी चाहिए।

(7) तुम व्यभिचार नहीं करोगे।

(8) तुम अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही नहीं दोगे।

(9) तुम लालच मत करो।

(10) तुम चोरी मत करो।

ईसाई धर्म की मौलिक विशेषताएँ

(Basic Characteristics of Christianity)

ईसाई धर्म की मौलिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. **ईसा मसीह में विश्वास**—ईसाई धर्म का मानना है कि ईसा ईश्वर के दूत एवं पुत्र हैं जो मानव कल्याण हेतु पृथ्वी पर आये थे। ईसा की शरण में जाने पर ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। यह भाव अवतारवाद व पैगम्बरी-परम्परा के समान ही है।

2. **चर्च की महत्ता**— चर्च को ईसा का शरीर और इसमें पवित्र आत्मा का निवास भी माना जाता है। इसीलिए ईसाइयों के सारे धार्मिक अनुष्ठान चर्च में ही सम्पन्न होते हैं। ईसाई हेतु चर्च की सदस्यता आवश्यक है।

3. **धार्मिक अनुष्ठान**— ईसाइयों के प्रमुख पाँच अनुष्ठान हैं,जिनके द्वारा व्यक्ति अपने जीवन को परिष्कृत एवं परिमार्जित करता है। ये अनुष्ठान इस प्रकार हैं–

(i) **बपतिस्मा**— इसके द्वारा व्यक्ति को ईसाई धर्म स्वीकार करवाया जाता है।

(ii) **पुष्टिकरण**— इसके द्वारा व्यक्ति अपने पापों को स्वीकार करता है।

(iii) **आत्म निवेदन**— इसमें व्यक्ति अपने पापों के प्रति पश्चाताप करके ईश्वर से क्षमा माँगता है।

(iv) **पवित्र संचार**— यह सामूहिक पूजा एवं भोज के रूप में मनाया जाता है। इसके द्वारा ईश्वर की उपस्थिति, उसकी विशेषताओं, चर्च एवं सामूहिक जीवन के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है।

(v) **विवाह**—यौन इच्छाओं की पूर्ति, परिवार की स्थापना एवं सहयोग हेतु इसे आवश्यक माना गया है।

4. **एकेश्वरवाद**—ईसाई धर्म में भी इस्लाम की भाँति एक ही ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। इसमें ईश्वर को पिता के समान माना गया है जो मनुष्यों का पालन-पोषण करता है।

5. **आत्मा और पवित्रता**—ईसाई धर्म ईश्वरीय शक्ति के रूप में आत्मा में विश्वास करता है। ईसाई धर्म ईश्वर, ईसा तथा पवित्र आत्मा को एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप मानता है।

6. **समानता**— ईसाई धर्म में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं पाया जाता। इस धर्म के सभी अनुयायी आपस में भाई-चारे के ही सम्बन्ध रखते हैं। ईसा ने कहा है-सभी मनुष्य एक ही परम पिता परमेश्वर की सन्तान हैं, सभी आपस में भाई-भाई हैं तथा समान हैं।

7. **मूर्ति-पूजा का विरोध**—ईसाई धर्म अलौकिक एवं निराकार ईश्वर में विश्वास करता है न कि मूर्ति पूजा में। इस अर्थ में यह धर्म इस्लाम के निकट है।

ईसाई धर्म के सम्प्रदाय
(Sects of Christianity)

ईसाई धर्म के प्रमुख दो सम्प्रदायों का विवेचन इस प्रकार है –

1. रोमन कैथोलिक — इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ सन्तपाल द्वारा स्थापित रोम के चर्च से हुआ। अन्य किसी चर्च को इसको पैगम्बरी का अधिकार नहीं मिला। रोमन चर्च के प्रमुखतः दो कार्य हैं-(1) कैथोलिक आस्थाओं के अनुरूप धर्म की शिक्षाएँ देना और बाइबिल की व्याख्या करना। वहाँ पोप को ही व्याख्या का अन्तिम अधिकार प्राप्त है। ऐसा माना जाता है कि पोप को ईश्वरीय सन्देश प्राप्त होते रहते हैं अतः वह गलत नहीं हो सकता। इस सम्प्रदाय के लोग बाइबिल से भी अधिक पोप पर विश्वास करते हैं। (2) धार्मिक अनुष्ठान कराना।

2. प्रोटेस्टेण्ट — इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ सुधारवादी आन्दोलन के प्रवर्तक मार्टिन लूथर ने किया। उस दौरान ईसाई धर्म में चर्च और पोप के आडम्बर व्याप्त थे। लूथर ने चर्च की अधीनता के बजाय वैयक्तिक चिन्तन और स्वतंत्रता पर अधिक जोर दिया। लूथर ने प्रथाओं के पालन के बजाय आध्यात्मिक मार्ग के माध्यम से ईश्वरीय स्नेह प्राप्त करने पर बल दिया। इस सम्प्रदाय ने पोपवाद को स्वीकार नहीं किया। इसका मानना था कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए ईसा की पूजा करना आवश्यक नहीं है और बाइबिल की भी आलोचना की जा सकती है। ये लोग संस्कारों को साध्य नहीं साधन मानते हैं।

दोनों सम्प्रदायों में अन्तर
(Distinction between two sects)

(1) कैथोलिक सम्प्रदाय में बाइबिल को अन्तिम सत्य माना गया है जबकि प्रोटेस्टेण्ट लोग नये विचारों को सुनना गलत नहीं मानते और यह भी मानते हैं कि बाइबिल की आलोचना की जा सकती है।

(2) कैथोलिक सम्प्रदाय में चर्च और पोप को सर्वशक्तिशाली माना है जबकि प्रोटेस्टेण्ट लोग इन्हें स्वीकार ही नहीं करते।

(3) कैथोलिक लोग ईसा की मूर्ति के सामने संस्कार सम्पन्न करते हैं, जबकि प्रोटेस्टेण्ट लोग मूर्ति पूजा के विरोधी हैं।

(4) कैथोलिक लोगों में संस्कारों को साध्य माना गया है जबकि प्रोटेस्टेण्ट लोगों में साधन।

(5) कैथोलिक लोग पादरी के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करते हैं, जबकि प्रोटेस्टेण्ट लोग ईसा मसीह के सामने।

(6) कैथोलिक लोगों में पोप को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है जबकि प्रोटेस्टेण्ट में पोप से अधिक बाइबिल को।

भारतीय समाज पर ईसाई धर्म का प्रभाव
(Impact of Christianity on Indian Society)

(1) निम्न जातियों का उद्धार—ईसाई धर्म के प्रभाव से भारत में विद्यमान निम्न जातियों के विकास का इतिहास शुरू हुआ। ईसाइयों द्वारा जगाई गई जन चेतना से लोगों ने यह स्वीकार करना प्रारम्भ किया कि जाति व्यवस्था कुछ स्वार्थों का पोषण करने वाली एक सामाजिक व्यवस्था

है। ईसाई मिशनरियों ने निम्न जनजातियों के सुधार हेतु अनेक कार्य किये। उनके लिए स्कूल, अस्पताल आदि बनवाये तो भारतीय समाज-सुधारकों का ध्यान भी इस ओर गया, जिससे जनजातीय लोगों का विकास के अनेक अवसर प्राप्त हुए।

(2) कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों पर अंकुश — ईसाई धर्म के प्रचारकों ने भारत में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। इससे लोगों में जागृति आयी और समाज-सुधारकों ने पाखण्डों एवं अन्धविश्वासों को समाप्त करने की दिशा में आन्दोलन चलाये।

(3) स्त्रियों की स्थिति में सुधार — ईसाई धर्म के प्रभाव से स्त्रियों को शिक्षित होने एवं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने की प्रेरणा मिली, क्योंकि ईसाई धर्म में स्त्री पुरुषों में समानता एवं तुलनात्मक दृष्टि से स्वतन्त्रता पायी जाती है। ईसाई विचारधारा से प्रभावित होकर ही आर्य-समाज, ब्रह्म समाज आदि संगठनों ने स्त्रियों की स्थिति सुधारने हेतु अनेक प्रयास किये।

(4) धार्मिक क्षेत्र में — ईसाई धर्म के प्रभाव से भारतीय समाज पर प्रमुख प्रभाव यह पड़ा कि अब यहाँ के लोगों ने रूढ़ियों को महत्त्व देना बन्द कर दिया। लोग भाग्यवादिता, शगुन-अपशगुन, भूत-प्रेतों एवं जातिवाद की धारणा से मुक्त होने लगे। ईसाईयत के प्रभाव से ही हिन्दू धर्म के लोगों ने भी निम्न जाति के लोगों के बारे में सोचना समझना शुरू किया। ईसाइयों ने निम्नतम जातियों को भी आर्थिक क्रियाओं का अधिकार देकर उनमें आत्मबल पैदा किया।

(5) राजनीतिक क्षेत्र में — ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण हिन्दुओं एवं ईसाई धर्म में शामिल होने वाले लोगों के मन में एक-दूसरे के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने लगे जिसके परिणामस्वरूप संघर्ष की सी स्थिति उत्पन्न होने लगी और ईसाई धर्म को मानने वाले लोग पाश्चात्य समाज की गतिविधियों के पक्षधर बन गये। धर्म-परिवर्तन के इस माहौल ने विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा दिया। मूलतः यह सब कुछ राजनीतिक स्वार्थ के ही कारण था। समय-समय पर उठने वाली नागालैण्ड की माँग इसका प्रमुख उदाहरण है।

(6) व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन — ईसाई धर्म में समूह की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस कारण ईसाई धर्म के प्रभाव से भारतीय लोगों में व्यक्तिपरक भावनाएँ प्रबल हुईं।

(7) भौतिकवाद — *पाश्चात्य संस्कृति से ओत-प्रोत ईसाई धर्म में भौतिक आवश्यकताओं* पर अधिक जोर दिया जाता है। अतः भारतीय समाज में भौतिकवाद को प्रोत्साहित करने का श्रेय ईसाई धर्म को ही है।

(8) वैवाहिक मान्यताओं में परिवर्तन — ईसाई धर्म के प्रभाव से भारत में बाल-विवाह, कुलीन विवाह, विधवा पुनर्विवाह आदि में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। विवाह अब दो परिवारों का सम्बन्ध नहीं वरन् पति-पत्नी के बीच एक समझौते के रूप में देखा जाता है। भारत में प्रेम विवाह का प्रचलन ईसाई धर्म का ही प्रभाव है।

(9) **व्यावहारिक प्रतिमानो मे परिवर्तन**—ईसाई धर्म ने भारतीय समाज के खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा तथा व्यवहार प्रतिमानों को भी प्रभावित किया है। आपसी सम्बन्धों मे आत्मीयता के स्थान पर द्वैतीयकता एव दिखावटीपन की प्रवृत्ति ईसाई धर्म की ही देन है। ईसाई धर्म के प्रभाव से ही लोगों के जीवन में कृत्रिमता अधिक दिखायी देने लगी है।

स्पष्ट है कि ईसाई धर्म ने भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया है, लेकिन फिर भी यह नही माना जा सकता कि भारतीय समाज का मौलिक स्वरूप नही रहा हो। हिन्दुओं ने ईसाई धर्म की बातों को अपने मे आत्मसात कर लिया है। विदेशी सस्कृतियों से प्रभावित होकर भी भारतीय सस्कृति अपने मौलिक स्वरूप को बनाए हुए है। इसमें कोई सदेह नही है कि ईसाई धर्म ने हिन्दुओं को अपने धर्म का पुनर्परीक्षण करने हेतु तार्किक दृष्टिकोण से विचार करने का अवसर दिया।

प्रश्न

1. धर्म का अर्थ समझाइये। हिन्दू धर्म के विविध स्वरूपों पर प्रकाश डालिये।
2. हिन्दू धर्म का भारतीय समाज पर प्रभाव दर्शाइये।
3. जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए तथा भारतीय समाज पर उसके प्रभावों को स्पष्ट कीजिये।
4. बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त क्या हैं? भारतीय समाज पर इस धर्म का क्या प्रभाव पड़ा?
5. सिक्ख धर्म पर एक लेख लिखिए।
6. ईसाई धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ बताइए। साथ ही यह भी बताइये कि इस धर्म का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा।
7. इस्लाम धर्म की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? इसका भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा?
8. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) हिन्दू धर्म, (ii) जैन धर्म, (iii) बौद्ध धर्म, (iv) सिक्ख धर्म, (v) ईसाई धर्म, (vi) इस्लाम धर्म, (vii) कुरान, (viii) गुरु ग्रन्थ साहिब, (ix) अष्टांग मार्ग, (x) चार आर्य सत्य, (xi) पाँच महाव्रत।



25

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

(Processes Of Social Change)

परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत एवं अटल नियम है। मानव समाज भी उसी प्रकृति का अंग होने के कारण परिवर्तनशील है। समाज की इस परिवर्तनशील प्रकृति को स्वीकार करते हुए मैकाइवर लिखते हैं, "समाज परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक है।" बहुत समय पूर्व ग्रीक विद्वान हेराक्लिटस ने भी कहा था, "सभी वस्तुएँ परिवर्तन के बहाव में हैं।" उसके बाद से इस बात पर बहुत विचार किया जाता रहा है कि मानव की क्रियाएँ क्यों और कैसे परिवर्तित होती हैं? समाज के वे क्या विशिष्ट स्वरूप हैं जो व्यवहार में परिवर्तन को प्रेरित करते हैं? समाज में आविष्कार परिवर्तन कैसे लाते हैं एवं आविष्कार करने वालों की शारीरिक विशेषताएँ क्या होती हैं? परिवर्तन को शीघ्र ग्रहण करने एवं ग्रहण न करने वालों की शरीर रचना में क्या भिन्नता होती है? क्या परिवर्तन किसी निश्चित दिशा से गुजरता है? यह दिशा रेखीय है या चक्रीय? परिवर्तन के सन्दर्भ में इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाये गये तथा उनका उत्तर देने का प्रयास किया गया। मानव में परिवर्तन को समझने के प्रति जिज्ञासा पैदा हुई। उसने परिवर्तन के कारणों को ढूँढने, उसकी दिशा का पता लगाने और परिवर्तन पर नियन्त्रण पाने का प्रयास किया।

दूसरी ओर पारमेनाइडस जैसे विचारक भी हुए हैं जो परिवर्तन के तथ्य से इन्कार करते हैं। उनका विश्वास था कि संसार की प्रत्येक वस्तु वैसी की वैसी ही बनी रहती है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन तो एक भ्रम है, किन्तु आज कोई भी व्यक्ति पारमेनाइडस के इन विचारों से सहमत नहीं होगा। आज विश्व का कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो परिवर्तन के दौर से न गुजरा हो। जनसंख्या एवं समूह के आकार में वृद्धि, अर्थव्यवस्था में परिवर्तन, मानव द्वारा घुमन्तू जीवन त्यागकर स्थायी रूप से बसने, विज्ञान के विकास, नवीन दर्शन एवं धर्मों के उदय, युद्ध एवं अकाल आदि के कारण समाज में परिवर्तन होते रहते हैं। स्थिर समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह हो सकता है कि भिन्न-भिन्न समाजों में परिवर्तन की गति, दिशा, दर, प्रकार एवं स्वरूप में अन्तर हो। परिवर्तन की गति कहीं मन्द तो कहीं तीव्र हो सकती है। आदिम समाजों में परिवर्तन धीमी गति से हुए हैं, जबकि आधुनिक औद्योगीकृत समाजों में परिवर्तन का प्रवाह तेज रहा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर समाज परिवर्तन के दौर से गुजरता रहा है।

परिवर्तन क्यों और कैसे होते हैं, ये प्रश्न आज भी पूरी तरह हल नहीं हो पाये हैं। अंग्रेज कवि लॉर्ड टेनिसन का मत है, "प्राचीन क्रम में नये को स्थान देने के लिए परिवर्तन होता है।" प्रो. ग्रीन लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक समाज असन्तुलन के निरन्तर दौर से गुजर रहा है। कुछ व्यक्ति एक सम्पूर्ण सन्तुलन की इच्छा रख सकते हैं तथा कुछ इसके लिए प्रयास भी करते हैं।"[1] सामाजिक परिवर्तन एक अवश्यम्भावी तथ्य है।

1 A W Green Sociology p 615

परिवर्तन क्या है
(What Is Change)

परिवर्तन का सामान्य तात्पर्य है—किसी क्रिया अथवा वस्तु की पहले की स्थिति में बदलाव आ जाना। परिवर्तन का स्पष्ट करते हुए फिचर लिखते हैं, "संक्षेप में, परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं।"[1] परिवर्तन का सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन बातों से है— (i) वस्तु, (ii) समय, एवं (iii) भिन्नता।

(1) वस्तु (Object)— परिवर्तन का सम्बन्ध किसी-न-किसी विषय अथवा वस्तु से होता है। जब हम कहते हैं कि परिवर्तन आ रहा है तब हमें यह भी स्पष्ट करना होता है कि परिवर्तन किस वस्तु अथवा विषय मे आ रहा है। बिना वस्तु का बताये हम परिवर्तन का अध्ययन नही कर सकते।

(2) समय (Time)— परिवर्तन का समय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिवर्तन को प्रकट करने के लिए हमारे पास कम-से-कम दो समय होने चाहिए। एक ही समय में परिवर्तन की चर्चा नही की जा सकती है। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि भारत वैदिक-काल की तुलना में वर्तमान समय में बहुत कुछ बदल गया है। समय के सन्दर्भ में ही परिवर्तन ज्ञात होता है। समय की अवधारणा को सम्मिलित किये बिना कोई भी परिवर्तन के बारे में सोच नही सकता।

(3) भिन्नता (Variation)— विभिन्न समयों में यदि किसी वस्तु में भिन्नता नही आये तो परिवर्तन नही कहलायेगा। वस्तु के स्वरूप में यदि समय के साथ अन्तर न आये तो हम यही कहेंगे कि परिवर्तन नही हुआ। अतः वस्तु के रंग-रूप, आकार-प्रकार, संरचना, कार्य अथवा अन्य पक्षों में भिन्नता प्रकट होने पर ही हम परिवर्तन का अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु में दो समय में दिखायी देने वाली भिन्नता ही परिवर्तन है। परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो सभी कालों एवं स्थानों में घटित होती रहती है। परिवर्तन के कारण किसी वस्तु के समस्त ढाँचे में परिवर्तन आ सकता है अथवा उसका कोई एक पक्ष ही बदल सकता है। परिवर्तन किसी भी दिशा में हो सकता है। परिवर्तन स्वत. आ सकता है, जान-बूझकर योजनाबद्ध रूप से भी लाया जा सकता है। यह अच्छाई एवं बुराई की तरफ तथा तीव्र एवं मन्द किसी भी गति से हो सकता है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning And Definition Of Social Change)

कुछ विद्वानो ने सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है तो कुछ ने सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को। सम्पूर्ण समाज अथवा उसके किसी भी पक्ष में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट. समझने के लिए हम विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ परिभाषाओं का यहाँ उल्लेख करेंगे—

1 "Change is defined briefly as a variation from a previous state of mode of existence"
—Fichter, Sociology, p 340

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रुचि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन का ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"[1] इस प्रकार मैकाइवर और पेज सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं क्योंकि समाज का ताना-बाना सामाजिक सम्बन्धों से ही तो बुना हुआ है।

किंग्सले डेविस ने भी सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या पूर्णत: समाजशास्त्रीय ढंग से की है। वे लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।"[2] समाज की विभिन्न इकाइयाँ, जैसे-संस्थाएँ, समुदाय, समितियाँ, समूह एवं प्रस्थितियाँ आदि मिलकर सामूहिक ढाँचे का निर्माण करती हैं, इन इकाइयों के अलग-अलग प्रकार्य हैं। सामाजिक ढाँचा और उसकी इकाइयों के प्रकार्यों से सामाजिक संगठन का निर्माण होता है। इस सामाजिक संगठन में होने वाले परिवर्तन अर्थात् सामाजिक ढाँचे और प्रकार्य अथवा इन दोनों में से किसी एक में होने वाले परिवर्तन को ही प्रो. डेविस सामाजिक परिवर्तन मानते हैं।

जेन्सन सामाजिक परिवर्तन की विस्तृत व्याख्या करते हैं। इसके अन्तर्गत मानव के व्यवहार एवं विचारों में होने वाले परिवर्तनों को भी सम्मिलित करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने के तरीकों में होने वाले रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[3]

गिन्सबर्ग, जॉनसन, बॉटोमोर तथा रेमण्ड फर्थ आदि विद्वानों ने सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन कहा है।

गिन्सबर्ग लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन से मेरा तात्पर्य सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन से है। उदाहरण के रूप में, समाज के आकार, उसके विभिन्न अंगों की बनावट या सन्तुलन अथवा उसके संगठन के प्रकारों में होने वाले परिवर्तन से है।"[4]

जॉनसन के अनुसार, "अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन है।"[5] जॉनसन ने सामाजिक परिवर्तन को और अधिक स्पष्ट करते हुए सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, सम्पदाओं और पुरस्कारों, व्यक्तियों तथा उनकी अभिवृत्तियों एवं योग्यताओं में होने वाले परिवर्तन को भी *सामाजिक परिवर्तन* कहा है।

बॉटोमोर सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को सम्मिलित करते हैं जो सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में घटित होते हैं।"[6]

---

1 MacIver and Page : Society, p. 511

2 "By Social change is meant only such alterations as occur in social organization that is, the structure and function of society." —K Davis : Human Society, p. 622

3 "Social change may be defined as modification in ways of doing and thinking of people." —M D Jenson : Introduction to Sociology and Social Problem, p 99

4 Ginsberg : Social Change British Journal of Sociology (Sept 1958), p 205

5. जॉनसन, समाजशास्त्र, पृ. 796

6. बॉटोमोर, समाजशास्त्र, पृ. 313

गिलिन एवं गिलिन का मत है कि लोग जीवन जीने के लिए कुछ रीतियाँ अथवा विधियाँ अपनाते हैं जो समाज द्वारा मान्य होती हैं। यदि इन विधियों में परिवर्तन आता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जायगा। गिलिन ने उन कारकों का भी उल्लेख किया है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की अपनी परिभाषा सांस्कृतिक आधार पर की है। उन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से या प्रसार से अथवा समूह के भीतर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हों।"[1]

मैरिल तथा एल्ड्रिज का मत है कि मानव क्रियाओं (Human Actions) में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन हैं। मानवीय क्रियाएँ सदैव एक जैसी नहीं रहती हैं। हमारी क्रियाएँ हमारे पूर्वजों की क्रियाओं से भिन्न हैं नहीं नहीं व्यक्ति की बचपन, युवावस्था एवं वृद्धावस्था की क्रियाओं में भी भिन्नता पायी जाती है। वे लिखते हैं, "जब मानव व्यवहार बदलाव की प्रक्रिया में होता है तब हम उसी का दूसरे रूप में इस प्रकार कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन उन परिवर्तनों को कहते हैं जो मानवीय सम्बन्धों, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओं, परिस्थितियों, कार्यविधियों, मूल्यों, सामाजिक संरचना एवं प्रकार्यों में होते हैं। सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत निम्नांकित तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है—

(i) सामाजिक ढाँचे एवं प्रकार्य में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

(ii) सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के व्यवहारों, विश्वासों एवं मूल्यों में परिवर्तन से न होकर समाज के सभी अथवा अधिकांश लोगों की जीवन-विधि में परिवर्तन से है।

(iii) सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ
(Characteristics Of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम यहाँ उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे —

(1) सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक होती है (The nature of social change is social)—इसका अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष, समूह-विशेष, संस्था, जाति एवं प्रजाति तथा समिति में होने वाले परिवर्तन से नहीं है। इस प्रकार का परिवर्तन तो व्यक्तिवादी प्रकृति का होता है जबकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध समुदाय एवं समाज में होने वाले परिवर्तन से है। इस सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक है न कि वैयक्तिक। समाज की किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

1. Gillin and Gillin: Cultural Sociology, p. 561
2. "When human behaviour is in the process of modification, this is only other way of indicating that social change is occurring." — Merrill and Eldridge: Culture and Society, pp. 512-513

(2) सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है (Social change is a universal phenomenon)— इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक परिवर्तन एक सर्वव्यापी घटना है, यह सभी समाजों एवं सभी कालों में होता रहता है। मानव समाज के उत्पत्ति काल से लेकर आज तक इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। मानव इतिहास में कोई भी ऐसा समाज नहीं रहा जो परिवर्तन के दौर से न गुजरा हो और पूर्णत: स्थिर व स्थायी हो। कोई भी समाज परिवर्तन का अपवाद नहीं है। यह हो सकता है कि विभिन्न कालों एवं समाजो में परिवर्तन की प्रकृति, गति एवं स्वरूप में अन्तर हो।

(3) सामाजिक परिवर्तन अवश्यम्भावी एवं स्वाभाविक है (Social change is inevitable and natural)—प्रत्येक समाज में हमें अनिवार्य रूप से परिवर्तन दिखायी देता है और यह एक स्वाभाविक घटना है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और समाज भी प्रकृति का एक भाग होने के कारण परिवर्तन से कैसे बच सकता है। कई बार हम परिवर्तन का विरोध करते हैं, परिवर्तन के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हैं, फिर भी परिवर्तन को रोक नहीं सकते। कभी ये परिवर्तन जान-बूझकर नियोजित रूप में लाये जाते हैं तो कभी स्वत: ही उत्पन्न होते हैं। मानव की आवश्यकताओं, इच्छाओं एवं परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर समाज में भी परिवर्तन होता है।

(4) सामाजिक परिवर्तनों की गति असमान तथा तुलनात्मक है (Speed of social change is unequal and comparative)— यद्यपि सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में पाया जाता है फिर भी सभी समाजों में इसकी गति असमान होती है। आदिम एवं पूर्वी समाजों की तुलना में आधुनिक एवं पश्चिमी समाजों में परिवर्तन तीव्र गति से होता है। यही नहीं बल्कि एक ही समाज के विभिन्न वर्गों में परिवर्तन की गति में भी असमानता पायी जाती है। भारत में ग्रामीण समाजों की तुलना में नगरीय समाजों में परिवर्तन शीघ्र आते हैं। परिवर्तन की असमान गति होने का कारण यह है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन लाने वाले कारक भिन्न-भिन्न हैं, सभी में समान कारणों से ही परिवर्तन नहीं आते। एक समाज में एक प्रकार के कारक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं तो दूसरे समाज में दूसरे प्रकार के। हम सामाजिक परिवर्तन की गति का अनुमान विभिन्न समाजों की परस्पर तुलना करके ही लगा सकते हैं।

परिवर्तन का देश, काल एवं परिस्थितियों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक देश की तुलना में दूसरे देश में, एक समय की तुलना में दूसरे समय में तथा एक परिस्थिति की तुलना में दूसरी परिस्थिति में परिवर्तन की गति भिन्न होती है। भारत में वैदिक काल, अंग्रेजों के काल एवं आधुनिक काल में परिवर्तन समान गति से नहीं हुए हैं क्योंकि इन युगों की परिस्थितियों एवं परिवर्तनों के कारणों में बहुत अन्तर पाया गया है।

(5) सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है (Social change is a complex phenomenon)— चूँकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध गुणात्मक परिवर्तनों (Qualitative changes) से है, जिनकी कि माप-तौल सम्भव नहीं है, अत: यह एक जटिल तथ्य है। हम किसी भौतिक वस्तु अथवा भौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तन को माप-तौल के आधार पर प्रकट कर सकते हैं किन्तु सामाजिक मूल्यों, विचारों, विश्वासों, संस्थाओं एवं व्यवहारों में होने वाले परिवर्तनों को मीटर, गज एवं किलोग्राम की भाषा में नहीं माप सकते। अत: सरलता से ऐसे परिवर्तन

का रूप भी समझ में नहीं आता। सामाजिक परिवर्तन में वृद्धि के साथ-साथ उसकी जटिलता में वृद्धि होती जाती है।

(6) सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है (Prediction of social change is not possible)— सामाजिक परिवर्तन के बारे में निश्चित रूप से पूर्वानुमान लगाना कठिन है। अतः उसके बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। यह कहना बड़ा कठिन है कि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण भारत में जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली एवं विवाह में कौन-कौन से परिवर्तन आयेंगे। यह बताना भी कठिन है कि आगे चलकर लोगों के विचारों, विश्वासों, मूल्यों, आदर्शों आदि में किस प्रकार के परिवर्तन आयेंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम सामाजिक परिवर्तन के बारे में बिल्कुल ही अनुमान नहीं लगा सकते अथवा सामाजिक परिवर्तन का कोई नियम ही नहीं है। इसका सिर्फ यही अर्थ है कि कई बार आकस्मिक कारणों से भी परिवर्तन होते हैं जिनके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता।

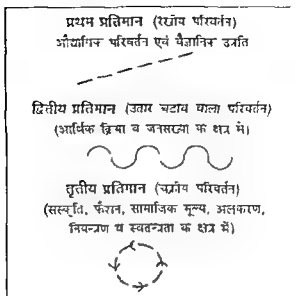
सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान
(Patterns Of Social Change)

विभिन्न क्षेत्रों में एक विशिष्ट ढंग का परिवर्तन देखने को मिलता है। मैकाइवर एवं पेज ने इस दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रमुख प्रतिमानों का उल्लेख किया है—

प्रथम प्रतिमान— परिवर्तन का एक प्रतिमान यह है कि कई बार परिवर्तन एकाएक हमारे सामने प्रकट होते हैं। इस श्रेणी में हम आविष्कारों से उत्पन्न परिवर्तनों को रख सकते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन एक बार उत्पन्न होते हैं फिर भी वे आगे और भी परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं क्योंकि इन आविष्कारों में समय-समय पर कई लोगों द्वारा सुधार किया जाता है। रेडियो, टेलीविजन, वायुयान और मोटर, आदि के आविष्कारों के कारण उत्पन्न परिवर्तन केवल आकस्मिक नहीं वरन् गुणात्मक रूप से अनेक परिवर्तनों का जन्म देने वाले भी हैं। ये परिवर्तन तब तक होते रहते हैं जब तक किसी अच्छे एवं नवीन उपकरण का आविष्कार नहीं हो जाता। इस प्रकार के परिवर्तन को रेखीय परिवर्तन (Linear change) कहते हैं क्योंकि ऐसे परिवर्तन की दिशा सीधी रेखा में होती है। प्रौद्योगिकी में परिवर्तन इसी प्रकार के परिवर्तन का स्पष्ट उदाहरण है। यही बात ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों के लिए भी सही है। इस प्रकार के परिवर्तन को यदि हम एक रेखा चित्र द्वारा प्रकट करें तो इसकी प्रकृति सदैव एक दिशा में ऊपर जाती हुई प्रकट होती है

द्वितीय प्रतिमान—परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान वह है जिसमें कुछ समय तक तो परिवर्तन ऊपर की ओर अथवा प्रगति की ओर होता है, किन्तु थोड़े समय बाद वह पुन. ह्रास की ओर अथवा नीचे की ओर हो सकता है। अन्य शब्दों में, परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान वह है जिसमें परिवर्तन पहले ऊपर की ओर होता है और फिर नीचे की ओर। इसे हम उतार-चढ़ाव वाला अथवा तरंगीय (Wavelike) परिवर्तन कह सकते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तन एवं आर्थिक क्रियाओं में होने वाले परिवर्तन। हम देखते हैं कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नत और अवनत होते रहते हैं। व्यापारिक क्रियाएँ अन्ततः विकसित और अवनत होती रहती हैं। इस प्रकार प्रथम प्रकार के परिवर्तन में जहाँ इस

परिवर्तन के तीन प्रतिमान



बात की निश्चितता होती है कि परिवर्तन की दिशा एक होगी, वहीं दूसरे प्रकार के परिवर्तन में इस प्रकार की निश्चितता नहीं होती। सारोकिन की मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन संस्कृति में उतार-चढ़ाव आने के कारण होता है।

तृतीय प्रतिमान—दूसरे प्रकार के परिवर्तन के कुछ समान ही तृतीय प्रकार का परिवर्तन है। इस प्रकार के परिवर्तन को हम चक्रीय परिवर्तन (Cycle change) कह सकते हैं। कई विद्वानों की यह मान्यता है कि परिवर्तन का एक चक्र चलता है। इसे स्पष्ट करने के लिए वे प्रकृति से उदाहरण देते हैं। ऋतु चक्र में हम देखते हैं कि सर्दी, गर्मी एवं वर्षा का एक चक्रीय क्रम पाया जाता है। मनुष्य में भी जन्म, बाल्यावस्था, यौवन एवं मृत्यु का चक्र देखने को मिलता है। कई विद्वानों की मान्यता है कि समाज एवं सभ्यताएँ भी इसी प्रतिमान का अनुगमन करती हैं। मानव क्रियाओं, व्यवहारों, राजनीतिक आन्दोलनों एवं जनसंख्या सुविस्तृत परिवर्तनों में भी यही प्रतिमान देखने को मिलता है। फैशन, सांस्कृतिक आन्दोलन, अलंकरण, सज्जा, सामाजिक मूल्य, लोकाचार, नियन्त्रण एवं स्वतन्त्रता, आदि के क्षेत्र में भी परिवर्तन का यही प्रतिमान पाया जाता है। हम फैशन, प्रथा व लोकाचार को अपनाते हैं, कभी उसे छोड़ देते हैं तो कभी फिर अपना लेते हैं। कभी कठोर नियंत्रण पर जोर देते हैं फिर स्वतन्त्रता पर, तो फिर नियन्त्रण पर। इस प्रकार समाज में परिवर्तन एक चक्र की तरह घटित होते रहते हैं, किन्तु आज कई विद्वान चक्रीय परिवर्तन की बात को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि चक्रीय का तात्पर्य यह है कि हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं घूम-फिरकर पुन. वहीं लौट आते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि पुनः हम उसी स्थिति में कभी नहीं लौटते, उसमें संशोधन अवश्य हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन के इन प्रतिमानों को हम ऊपर पर दिये गये चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ (ढंग)
(Processes Or Modes Of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ शब्द है जो समाज में आने वाले बदलाव को विभिन्न कालों के सन्दर्भ में सूचित करता है। जब हम यह कहते हैं कि समाज में परिवर्तन हो रहा है तो इसमें परिवर्तन की दिशा, नियम, सिद्धान्त या निरन्तरता प्रकट नहीं होती। मैकाइवर एवं पेज, हर्बर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस एवं सोरोकिन आदि ने सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं ढंगों का उल्लेख किया है और विभिन्न समाजशास्त्रीय अवधारणाओं को जन्म दिया है। इन अवधारणाओं में प्रक्रिया (Process), आन्दोलन (Movement), वृद्धि (Growth), उद्विकास (Evolution), विकास (Development), अवनति (Regress), प्रगति (Progress), क्रान्ति (Revolution), अनुकूलन (Adaptation) आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ का हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

(1) **प्रक्रिया (Process)**— जब परिवर्तन में निरन्तरता का भाव शामिल हो तो उसे प्रक्रिया कहते हैं। मैकाइवर कहते हैं "प्रक्रिया का अर्थ वर्तमान शक्तियों की क्रियाशीलता द्वारा एक निश्चित रूप में निरन्तर परिवर्तन से है।" उदाहरण के रूप में, हम समायोजन एवं विघटन की प्रक्रिया का उल्लेख कर सकते हैं। प्रक्रिया उत्थान और पतन, प्रत्यक्ष और परोक्ष किसी भी ओर तथा किसी प्रकार की हो सकती है। इस प्रकार प्रक्रिया में परिवर्तन का एक निश्चित क्रम होता है जिसके द्वारा एक अवस्था दूसरी में विलीन हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि भारत में संयुक्त परिवार विघटन की प्रक्रिया में हैं तो हमारा तात्पर्य यह है कि संयुक्त परिवार एकाकी परिवार की दिशा में निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं और संयुक्तता की अवस्था एकाकी अवस्था में विलीन हो रही है।

(2) **उद्विकास (Evolution)**— सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया या ढंग उद्विकास है। उद्विकास के रूप में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने वालों में हर्बर्ट स्पेन्सर प्रमुख हैं जिन्होंने उद्विकास की अवधारणा डार्विन से ग्रहण की थी। डार्विन ने जीवों का उद्विकास सिद्धान्त 1859 में अपनी कृति *The Origin of Species* में प्रस्तुत किया था। आपने कहा था कि जीवों का विकास सरलता से जटिलता की ओर, समानता से असमानता की ओर निरन्तर एवं सुनिश्चित स्तरों में हुआ है। डार्विन के इस सिद्धान्त को स्पेन्सर ने समाज पर लागू किया और कहा है कि समाज का उद्विकास भी जीवों की तरह ही हुआ है। स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास के चार स्तरों— जंगली अवस्था, पशुचारण अवस्था, कृषि अवस्था एवं औद्योगिक अवस्था का उल्लेख किया। जब परिवर्तन एक निश्चित दिशा में निरन्तर हो तथा रचना व गुणों में भी परिवर्तन हो तो उसे हम उद्विकास कहते हैं। इसे हम एक सूत्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं–

गुणात्मक परिवर्तन + रचना में परिवर्तन + निरन्तरता + दिशा = उद्विकास।

उद्विकास में किसी वस्तु के अतिरिक्त गुणों में परिवर्तन होता है। यहाँ उद्विकास एवं वृद्धि (Growth) में अन्तर करना आवश्यक है। जब किसी वस्तु में परिमाणात्मक (Quantitative) परिवर्तन होता है तो उसे हम वृद्धि कहते हैं। इस प्रकार वृद्धि में भी परिवर्तन की दिशा स्पष्ट होती है। वृद्धि आकार में होने वाले परिवर्तन को सूचित करती है।

(3) प्रगति (Progress)— अच्छाई की ओर होने वाले परिवर्तन को प्रगति कहा जाता है। कई विद्वानों ने उद्विकास एवं प्रगति में कोई भेद नहीं किया है जबकि इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। उस परिवर्तन को जो हमारी इच्छाओं एवं आदर्शों के अनुरूप हो, प्रगति के नाम से जाने जाते हैं। प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों और आदर्शों से है अर्थात् समाज जिन लक्ष्यों को आदर्श एवं वांछित मानता है, उसी दिशा में होने वाले परिवर्तन प्रगति के अन्तर्गत आएंगे। इस प्रकार प्रगति एक मूल्यात्मक शब्द (Value-ladden term) है। प्रगति का सम्बन्ध नैतिकता से भी है। समाज जिन कार्यों और उद्देश्यों को नैतिक या अच्छा मानता है उस ओर परिवर्तन प्रगति कहलाता है। प्रगति की माप सम्भव है। चूँकि प्रत्येक समाज की प्रगति भिन्न-भिन्न समाजों की दृष्टि से अलग-अलग है। अतः एक समाज में जिसे प्रगति कहते हैं हो सकता है दूसरे समाज में वही अवनति मानी जाती हो। उदाहरण के लिए रूस में जनसंख्या वृद्धि को प्रगति माना गया जबकि भारत में अवनति।

(4) अनुकूलन (Adaptation)— परिवर्तन की प्रक्रिया अनुकूलन है। अनुकूलन में एक व्यक्ति दूसरे से समायोजन करने का प्रयत्न करता है। अनुकूलन किस सीमा तक होता है इस बात को प्रकट करने के लिए कुछ अन्य शब्दों जैसे अभियोजन (Adjustment), समायोजन (Accommodation), सात्मीकरण (Assimilation) तथा एकीकरण (Integration) आदि का प्रयोग किया गया है। अनुकूलन की प्रक्रिया दो बातों की ओर संकेत करती है— (1) व्यक्ति अपने को परिस्थिति के अनुसार ढाल ले, (2) पर्यावरण या परिस्थितियों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित कर ले। इस प्रकार अनुकूलन भी एक प्रकार का परिवर्तन है जो सभी समाजों में पाया जाता है।

(5) विकास (Development)— यह किसी वस्तु की शक्ति में धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन का सूचक है। उदाहरण के लिए मानव का विकास जब बालक से युवा अवस्था में होता है तो उसमें निश्चित जैविक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होते हैं। जब कोई समाज पशुचारण अवस्था से औद्योगिक अवस्था में परिवर्तित होता है तो उसे हम सामाजिक विकास कहेंगे। विकास के लिए कई बार जान-बूझकर निश्चित दिशा की ओर परिवर्तन लाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, गाँवों के विकास के लिए सामुदायिक विकास तथा समन्वित ग्रामीण विकास योजनाएँ इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। हॉबहाउस ने अपनी पुस्तक 'Social Development' में विकास के चार मापदण्डों का उल्लेख किया है। वे हैं— मात्रा में वृद्धि (Increase in Scale), कार्यक्षमता (Efficiency), आपसी सहयोग (Mutuality) तथा स्वतन्त्रता (Freedom)। वे विकास को एक ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिससे सभी समाज गुजरते हैं।

(6) क्रान्ति (Revolution)—क्रान्ति परिवर्तन की तीव्रता एवं आकस्मिकता को प्रकट करती है। इसमें परिवर्तन का क्रम टूट जाता है और यकायक परिवर्तन प्रकट होते हैं। हॉपर ने अपनी पुस्तक 'Revolutionary Process' में लिखा है, "सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र परिवर्तन है जिसमें व्यक्ति को एक दूसरे से सम्बन्धित रखने वाली राजनीतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सरकार अस्थायी रूप से एक कार्यशील सत्ता के रूप में नहीं रह पाती। इस दशा में समाज की मौलिक एकता भंग हो जाती है एवं सामाजिक व नैतिक मूल्य समाप्त होने लगते हैं। इसमें

सामाजिक संरचना को स्थायी रखने वाली औपचारिक मान्यताएँ अस्थायी रूप से नष्ट हो जाती हैं। यदि क्रान्ति में अधिक तीव्रता आती है तो सभी प्रमुख संस्थाएँ काफी परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार राज्य, धर्म, परिवार व शिक्षा अपने मूल रूप से काफी बदल जाते हैं।

जब किसी समाज में असन्तोष, शोषण, तनाव, अत्याचार आदि में वृद्धि होती है तो क्रान्ति जन्म लेती है। फ्रान्स, रूस, चीन, क्यूबा आदि देशों में होने वाली क्रान्ति इसी बात की द्योतक है। सामाजिक क्रान्ति दो प्रकार से हो सकती है—हिंसात्मक एवं अहिंसात्मक तरीके से। सेना व शक्ति के माध्यम से होने वाला परिवर्तन जिसमें खून बहाया जाता है, हिंसात्मक क्रान्ति कहलाती है। ऐसी क्रान्ति रूस और चीन में हुई थी। भारत में शान्तिपूर्ण तरीकों से किये जाने वाले परिवर्तन अथवा औद्योगिक क्रान्ति अहिंसात्मक क्रान्ति के उदाहरण हैं। कुछ विद्वान क्रान्ति को विघटन की श्रेणी में रखते हैं जबकि कुछ इसे परिवर्तन का सशक्त माध्यम समझते हैं।

	उद्विकास-किसी भी दिशा में होने वाला क्रमबद्ध परिवर्तन
	प्रगति- समाज स्वीकृत मूल्यों की ओर परिवर्तन
	विकास- सदैव ऊपर की ओर होने वाला परिवर्तन
	क्रान्ति- अचानक होने वाला परिवर्तन जिसमें कोई क्रम न हो

सामाजिक उद्विकास, प्रगति, विकास और क्रान्ति को हम उपर्युक्त चित्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं।

भारत में सामाजिक परिवर्तन की जो प्रक्रियाएँ चल रही हैं, उनमें संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण, लौकिकीकरण एवं आधुनिकीकरण प्रमुख हैं। हम यहाँ कुछ प्रक्रियाओं पर आगे के अध्यायों में विस्तार से चर्चा करेंगे।

प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन क्या है? सामाजिक परिवर्तन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमानों को समझाइए।
4. सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित कीजिए। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को संक्षेप में समझाइए।

□□□

26
संस्कृतीकरण
(Sanskritization)

संस्कृतीकरण नामक अवधारणा का प्रयोग भारतीय सामाजिक संरचना में सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया का वर्णन करने हेतु किया गया। दक्षिण-भारत के कुर्ग लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन के विश्लेषण में प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री प्रो. एम.एन. श्रीनिवास ने इस अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किया। मैसूर में कुर्ग लोगों का अध्ययन करते समय प्रो. श्रीनिवास ने पाया कि निम्न जातियों के लोग ब्राह्मणों की कुछ प्रथाओं का अनुकरण करने और अपनी स्वयं की कुछ प्रथाओं जैसे मांस खाना, शराब का प्रयोग तथा पशु बलि आदि छोड़ने में लगे हुए थे। वे यह सब कुछ इसलिए कर रहे थे ताकि जातीय-संस्तरण (Caste Hierarchy) की प्रणाली में उनकी स्थिति ऊँची उठ सके। ब्राह्मणों की वेशभूषा, भोजन सम्बन्धी आदतें तथा कर्मकाण्ड आदि अपनाकर वे अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणों की जीवन-पद्धति का अनुकरण करके एक-दो पीढ़ी में जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च स्थिति प्राप्त करने की दृष्टि से माँग प्रस्तुत की। गतिशीलता (Mobility) की इस प्रक्रिया का वर्णन करने हेतु प्रो. श्रीनिवास ने प्रारम्भ में 'ब्राह्मणीकरण' नामक शब्द का प्रयोग किया। लेकिन बाद में इसके स्थान पर आपने 'संस्कृतीकरण' नामक अवधारणा का प्रयोग ज्यादा उपयुक्त समझा।

प्रो. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड सोसायटी अमंग दी कुर्ग्स ऑफ साउथ इण्डिया' में गतिशीलता को व्यक्त करने के लिए "संस्कृतीकरण" नामक प्रत्यय का प्रयोग किया। आपके अनुसार, "जाति-व्यवस्था उस कठोर प्रणाली से काफी दूर है जिसमें प्रत्येक घटक जाति की स्थिति हमेशा के लिए निश्चित कर दी जाती है। यहाँ गतिशीलता सदैव सम्भव रही है और विशेषतः संस्तरण की प्रणाली के मध्य भागों में। एक निम्न जाति एक या दो पीढ़ी में शाकाहारी बनकर, मद्यपान को छोड़कर तथा अपने कर्मकाण्ड एवं देवगण का संस्कृतीकरण कर संस्तरण की प्रणाली में अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने में समर्थ हो जाती। संक्षिप्त में, जहाँ तक सम्भव था, वह ब्राह्मणों की प्रथाओं, अनुष्ठानों एवं विश्वासों को अपना लेती। साधारणतः निम्न जातियों के द्वारा ब्राह्मणी जीवन-प्रणाली को प्रायः अपना लिया जाता यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से यह वर्जित था। इस प्रक्रिया को ब्राह्मणीकरण की बजाय संस्कृतीकरण कहा गया है।"[1]

डॉ. योगेन्द्रसिंह ने लिखा है कि संस्कृतीकरण ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत अवधारणा है। प्रो. श्रीनिवास ने स्वयं यह महसूस कर लिया था कि जिस प्रक्रिया ने निम्न जातियों को मैसूर में ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों का अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया, निम्न जातियों में उच्च जातियों के सांस्कृतिक तरीकों का अनुकरण करने की एक सामान्य प्रवृत्ति का ही एक विशिष्ट

1 M.N. Srinivas, Religion and Society among the Coorgs of South India, p 30

उदाहरण था। बहुत से मामलों में उच्च जातियाँ अ-ब्राह्मण थीं। वे देश के विभिन्न भागों में क्षत्रिय जाट, वैश्य आदि थे।[1]

संस्कृतीकरण का अर्थ
(Meaning of Sanskritization)

प्रो. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है "संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह, किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को बदलता है।"[2] साधारणतः ऐसे परिवर्तनों के बाद निम्न जाति जातीय स्तरण की प्रणाली में स्थानीय समुदाय में परम्परागत रूप से उसे जो स्थिति प्राप्त है, उससे उच्च स्थिति का दावा करने लगती है।[3]

डॉ. बी.आर. चौहान ने संस्कृतीकरण नामक अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "यह एक उपकरण है जिसके द्वारा हम उस प्रक्रिया को मालूम कर सकते हैं जिसमें निम्न जातियाँ तथा जनजातियाँ अपने व्यवहार एवं जीवन के तरीके हिन्दू समाज के उच्च वर्णों के अनुसार बदलती हैं।"[4]

प्रो. श्रीनिवास के अनुसार सामान्यतः संस्कृतीकरण के साथ-साथ और प्रायः उसके फलस्वरूप, सम्बद्ध जाति ऊपर की ओर गतिशील होती है, परन्तु गतिशीलता संस्कृतीकरण के बिना भी, अथवा गतिशीलता के बिना भी संस्कृतीकरण सम्भव है। किन्तु संस्कृतीकरण सम्बद्ध गतिशीलता के परिणामस्वरूप व्यवस्था में केवल पद-मूलक परिवर्तन ही होते हैं और इससे कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होते अर्थात् एक जाति अपने पास की जातियों से ऊपर उठ जाती है, और दूसरी नीचे आ जाती है। परन्तु यह सब कुछ अनिवार्यतः स्थायी संस्तरणात्मक व्यवस्था में घटित होता है, व्यवस्था स्वयं परिवर्तित नहीं होती है।

संस्कृतीकरण के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रो. श्रीनिवास ने लिखा है "संस्कृतीकरण का तात्पर्य केवल नई प्रथाओं एवं आदतों का ग्रहण करना नहीं है बल्कि नये विचारों व मूल्यों को भी व्यक्त करना है जिसका सम्बन्ध पवित्रता और धर्म-निरपेक्षता से है और जो संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। कर्म, धर्म, पाप, पुण्य, माया, मोक्ष आदि ऐसे शब्द हैं जिनका सम्बन्ध धार्मिक संस्कृत साहित्य से है। जब लोगों का संस्कृतीकरण हो जाता है तो उनके द्वारा अनायास ही इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।"[5]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कोई निम्न हिन्दू जातीय-समूह अथवा कोई जनजातीय समूह अपनी सम्पूर्ण जीवन-विधि (Total way of Life) को उच्च जातियों या वर्णों की दिशा में बदल कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है, जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च होने का दावा प्रस्तुत करता है।

1 Yogendra Singh Modernization of Indian Tradition, p 5
2 M N Srinivas Social Change in Modern India p 5
3 Ibid p 6
4 B R Chauhan Rural Studies A Trend Report, I C S S R (ed) "A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology Vol I p 12
5 M N Srinivas op cit p 39

प्रो. श्रीनिवास ने प्रारम्भ में सस्कृतीकरण क आदर्श के रूप मे ब्राह्मणी मॉडल पर जार दिया परन्तु कालान्तर में यह महसूस किया कि इसके अतिरिक्त क्षत्रिय एव वैश्य मॉडल भी उपलब्ध रह हैं अर्थात् ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य एव कहीं-कहीं किसी अन्य प्रभु जाति (Dominant Caste) की जीवन-पद्धति का भी अनुकरण किया गया है।

संस्कृतीकरण की विशेषतायें

(Characteristics of Sanskritization)

(1) सस्कृतीकरण की प्रक्रिया का साम्बन्ध निम्न हिन्दू जातियों, जनजातियां तथा कुछ अन्य समूहों से है। हिन्दू जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सस्तरण की प्रणाली में अपन समूह की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठान की दृष्टि से उपर्युक्त समूहों ने सस्कृतीकरण का सहारा लिया है। भील, आरॉव सथाल तथा गोंड एव हिमालय के पहाडी लागों को उन जनजातीय लागों मे सम्मिलित किया जाता है जिन्होंने सस्कृतीकरण के माध्यम स अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने और हिन्दू-समाज का अग बनन का प्रयत्न किया। अन्य समूहो के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जिनका हिन्दू धर्म व संस्कृति से सम्बन्ध न होकर अन्य धर्मों एव सस्कृतियो स सम्बन्ध है।

(2) सस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत अपने स उच्च जातियों की जीवन विधि (Way of Life) का अनुकरण किया जाता है। उनकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, खान-पान, विश्वासों एवं मूल्यों को अपना लिया जाता है।

(3) सस्कृतीकरण के आदर्श या मॉडल एक से अधिक हैं अर्थात् निम्न जातियों एव कुछ जनजातीय समूहों ने केवल ब्राह्मणों का ही आदर्श मानकर उनका अनुकरण नहीं किया, बल्कि क्षत्रिय, वैश्य एव किसी स्थानीय प्रभु जाति (Dominant Caste) का अनुकरण भी किया, उनकी जीवन-शैली को अपनाया। पोकॉक ने बतलाया है कि निम्न जातियों के लिए आदर्श अपन ऊपर की वे जातियाँ होती हैं जिनसे उनकी सबसे अधिक निकटता हो। प्रा श्रीनिवास ने भी पाकॉक के इस कथन को सही माना है।

(4) सस्कृतीकरण की प्रक्रिया मे अग्रिम समाजीकरण (Anticipatory Socialization) का विचार शामिल है। डॉ.योगन्द्रसिंह सस्कृतीकरण को अग्रिम समाजीकरण मानते हैं अर्थात् कोई निम्न जातीय समूह एक-दो पीढ़ी तक किसी उच्च जाति की जीवन-शैली को दिशा मे अपना समाजीकरण करता है ताकि भविष्य मे उसे उसक स्थानीय समुदाय मे उच्च स्थान प्राप्त हो जाये। कोई भी जातीय समूह अपने इस प्रयत्न मे उस समय आसानी से सफलता प्राप्त कर पाता है जब उसको राजनीतिक एव आर्थिक शक्ति बढने लगती है या उसका सम्बन्ध किसी मठ, तीर्थ-केन्द्र आदि स हो जाता है।

(5) सस्कृतीकरण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह पदमूलक परिवर्तन (Positional Change) का व्यक्त करन वाली प्रक्रिया है न कि सरचनात्मक परिवर्तन (Structural Change) का। इसका तात्पर्य यही है कि सस्कृतीकरण क माध्यम से किसी जातीय-समूह की स्थिति आस-पास की जातियों स कुछ ऊपर उठ जाती है परन्तु स्वय जाति-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता है। सस्कृतीकरण की प्रक्रिया सामाजिक गतिशीलता का व्यक्त करती है। इससे किसी निम्न जातीय समूह के ऊपर उठन की सम्भावना रहती है।

(6) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन को व्यक्त करती है, मिल्टर सिंगर ने लिखा है, "एम एन श्रीनिवास का संस्कृतीकरण का सिद्धान्त भारतीय सभ्यता में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन का अत्यन्त विस्तृत और व्यापक रूप से स्वीकृत मानवशास्त्रीय सिद्धांत है।" कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृतीकरण केवल सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तनों की भी एक प्रक्रिया है। संस्कृतीकरण के फलस्वरूप भाषा, साहित्य संगीत, विज्ञान, दर्शन औषधि तथा धार्मिक विधान आदि के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तनों के अन्तर्गत ही आते हैं।

(7) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध किसी व्यक्ति या परिवार से नहीं होकर समूह से होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा कोई जातीय या जनजातीय समूह अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। यदि कोई व्यक्ति या परिवार ऐसा करता है जो उसे न केवल अन्य जातियों के बल्कि स्वयं की जाति के अन्य सदस्यों के क्रोध का भी भाजन बनना पड़ता है।

(8) बर्नार्ड कोहन तथा हेराल्ड गोल्ड नामक विद्वानों के अध्ययनों के आधार पर प्रो श्रीनिवास ने बताया है जहाँ निम्न जातियाँ अपनी जीवन-शैलियों का संस्कृतीकरण कर रही हैं, वहीं उच्च जातियाँ आधुनिकीकरण एवं धर्म-निरपेक्षीकरण की ओर बढ़ रही हैं।

संस्कृतीकरण के आदर्श या मॉडल
(Models of Sanskritization)

प्रो श्रीनिवास ने स्वयं यह महसूस किया कि आपने प्रारम्भ में संस्कृतीकरण के ब्राह्मणी आदर्श पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया। वास्तविकता यह है कि संस्कृतीकरण के आदर्श सदैव ब्राह्मण ही नहीं रहे हैं। पोकॉक ने क्षत्रिय आदर्श के अस्तित्व की चर्चा की है।[1] मिल्टन सिंगर ने बतलाया है कि संस्कृतीकरण के एक या दो आदर्श ही नहीं पाये जाते, बल्कि चार नहीं तो कम से कम तीन आदर्श अवश्य मौजूद हैं।[2] प्रथम तीन वर्ण के लोगों को द्विज कहते हैं क्योंकि इनका उपनयन संस्कार होता है और इन्हें वैदिक कर्मकाण्डों के सम्पन्न करने का अधिकार होता है जिनमें वेदों के मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। श्रीनिवास के अनुसार, "द्विज" वर्णों में ब्राह्मण इन संस्कारों को पूरा करने के सम्बन्ध में सबसे अधिक सावधान होते हैं और इसलिए दूसरों की अपेक्षा उन्हें संस्कृतीकरण का उत्तम आदर्श माना जा सकता है।[3] लेकिन हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं ब्राह्मण वर्ण में भी काफी विभिन्नता पायी जाती है।

ब्राह्मणों के अलावा क्षत्रिय और वैश्य वर्ण भी संस्कृतीकरण के आदर्श रहे हैं। देश के विभिन्न भागों में क्षत्रिय और वैश्य होने का दावा वे सब समूह करते हैं जिनकी क्रमशः सैनिक कार्य तथा व्यापार की परम्पराएँ रही हैं। देश के विभिन्न भागों में भी क्षत्रियों की और सभी वैश्यों की कोई समान कर्मकाण्ड की परम्परा नहीं रही है। इनमें से बहुत से लोगों के वे सब संस्कार नहीं होते जो कि द्विज वर्णों के लिए आवश्यक माने जाते हैं।[4] कहीं कुछ समूहों ने ब्राह्मणों का, तो कहीं क्षत्रियों का और कहीं वैश्यों का अनुकरण किया है, उनकी जीवन-शैली को अपनाया है।

1 D F Pocock 'The Movement of Caste, May 1955, pp 71-72
2 Milton Singer 'The Social Organization of Indian Civilisation Diogenes vol 45, Winter, 1964 pp 84-119
3 M N Srinivas op cit p 9
4 Ibid p 9

नाई, कुम्हार, तेली, बढ़ई, लुहार, जुलाहे, गडरिये आदि जातियाँ अपवित्रता रेखा के ठीक ऊपर अस्पृश्य या अछूत समूहों के निकट हैं। ये जातियाँ शूद्र वर्ण की जातियों का प्रतिनिधित्व-सा करती हैं। प्रो. श्रीनिवास का अवलोकन के आधार पर यह अनुभव है कि शूद्रों की व्यापक श्रेणी में कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनकी जीवन की पद्धति काफी संस्कृतिकृत है जबकि कुछ अन्य जातियों का संस्कृतीकरण बहुत कम हुआ है। लेकिन चाहे उनका संस्कृतीकरण हुआ हो या नहीं हुआ हो, प्रभावी (Dominant) कृषक जातियाँ अनुकरण के स्थानीय आदर्श प्रस्तुत करती हैं। और जैसा कि पोकॉक तथा सिंगर ने अवलोकित किया है कि ऐसी जातियों के माध्यम से ही क्षत्रिय (तथा अन्य) आदर्शों को अपनाया गया है।[1]

स्थानीय प्रभावी जाति (प्रभु जाति) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि स्थानीय प्रभावी जाति ब्राह्मण है, तब संस्कृतीकरण का आदर्श ब्राह्मणी प्रकार का होगा और यदि यह राजपूत या वैश्य है, तब आदर्श राजपूती या वैश्यी प्रकार का होगा। प्रो. श्रीनिवास के अनुसार, यद्यपि एक लम्बी काल अवधि से ब्राह्मणी कर्मकाण्ड और प्रथाएँ नीची जातियों में फैली हैं, लेकिन बीच-बीच में स्थानीय रूप में प्रभुता-सम्पन्न जाति का भी शेष लोगों के द्वारा अनुकरण किया गया और प्रायः स्थानीय रूप से प्रभावी ये जातियाँ ब्राह्मण नहीं होती थी। यह कहा जा सकता है कि निम्नस्तर वाली अनेक जातियों में ब्राह्मणी प्रथाएँ एक शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया (Chain reaction) के रूप में पहुँची हैं अर्थात् प्रत्येक समूह ने अपने से एक स्तर ऊँचे समूह से कुछ ग्रहण किया है और अपने से नीचे वाले समूह को कुछ दिया है।[2]

संस्कृतीकरण के प्रमुख स्रोत एवं कारक (Sources and Factors of Sanskritization)

(1) जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल विभिन्न जातियों को ही एक दूसरे से उच्च या निम्न माना जाता है बल्कि व्यवसायों, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि में भी कुछ विशेष प्रकारों को उच्च तथा अन्य को निम्न समझा जाता है। संस्तरण की प्रणाली में उन जातियों को ऊँचा माना जाता है जो शाकाहारी भोजन करती हैं, शराब का प्रयोग नहीं करती हैं, रक्त-बलि नहीं चढ़ाती तथा अपवित्रता लाने वाली वस्तुओं से सम्बन्धित व्यवसाय का व्यापार नहीं करती हैं। ऊँची जातियों की स्थिति संस्तरण की इस प्रणाली में ऊँची मानी जाती है। अतः अपनी स्थिति को उन्नत करने की इच्छुक जाति अपने से उच्च जाति और अन्तिम रूप से ब्राह्मणी जीवन-पद्धति का अनुकरण करती है। प्रो. श्रीनिवास ने बतलाया कि निम्न जातियों में संस्कृतीकरण के प्रसार में दो रूढ़ितः स्वीकृत वैध मान्यताओं (Legal Fictions) ने सहायता पहुँचायी है। प्रथम, अ-द्विज जातियों को कर्मकाण्डों को सम्पन्न करने की आज्ञा थी, परन्तु इनको सम्पन्न करते समय वैदिक मन्त्रों के उच्चारण की इन्हें स्वीकृति नहीं थी। इस प्रकार कर्मकाण्डों को उस अवसर पर बोले जाने वाले मन्त्रों से अलग कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणी कर्मकाण्ड सभी हिन्दुओं में और यहाँ तक कि अछूतों में भी फैल गये। द्वितीय, ब्राह्मण पुरोहित इन लोगों के यहाँ विवाह सम्पन्न कराता है। अन्तर केवल इतना है कि वह इस अवसर पर वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं करके मंगलाष्टक स्तोत्र

1. Ibid p 10
2. M N Srinivas op cit , pp 44-45

बोलता है जो वेदों क काल क बाद की सस्कृत रचनाएँ है। य दो एसी रूढ़ित: स्वीकृत वैध मान्यताएँ है जिन्होने अद्विज जातियो का अनक कर्मकाण्डों को सम्पन्न करने म सहायता पहुँचायी। इन दो मान्यताओं के कारण सभी हिन्दुओं में यहाँ तक कि अछूतों में भी सस्कृतीकरण का प्रसार हो सका।

सस्कृतीकरण की प्रक्रिया के दौरान अ-द्विज जातियों मे ब्राह्मणी सस्थाओं एवं मूल्यों का भी प्रसार हाता है। जब एक जातीय समूह का सस्कृतीकरण हाता है ता वह किसी उच्च जाति अर्थात् प्राय ब्राह्मण या किसी अन्य स्थानीय प्रभुत्व सम्पन्न जाति का प्रथाओं और जीवन-पद्धति को ही नही अपनाता है बल्कि सस्कृत साहित्य मे उपलब्ध कुछ नवीन विचारो एव मूल्यों को भी स्वीकार कर लेता है। जब लोगों का सस्कृतीकरण होता है, तब सस्कृत के धर्म-ग्रन्थों मे प्रयुक्त कुछ शब्दों जैसे पाप, पुण्य, धर्म, कर्म, माया और माक्ष आदि का प्रयोग उनकी बातचीत में होने लगता है।

(2) परम्परागत जाति-व्यवस्था क अन्तर्गत कुछ मात्रा में समूह गतिशीलता सम्भव थी, अर्थात् समूहों की स्थिति में थोडा बहुत परिवर्तन हो जाया करता था। ऐसा इस तथ्य के कारण सम्भव था कि जातीय सस्तरण की प्रणाली के मध्य-क्षेत्र में आने वाली जातियों की परस्पर स्थिति के सम्बन्ध में अस्पष्टता थी। दो छारों पर स्थित ब्राह्मणों और अछूतों की जातियो में गतिशीलता पायी जाती थी। अग्रजों क काल मे धन कमान के अवसरों के बढने से इस समूह गतिशीलता में वृद्धि हुई। इस समय निम्न जातियों के लोगों को रुपया कमाने के अवसर प्राप्त हुए। काफी रुपया कमा लेने के बाद उन्होने अपन लिए उच्च स्थिति का दावा किया और कुछ समूह इसे प्राप्त करने में सफल भी हुए।

(3) प्रा श्रीनिवास के अनुसार, आर्थिक स्थिति मे सुधार, राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति, शिक्षा, नतृत्व तथा सस्तरण की प्रणाली में ऊपर उठन की अभिलाषा आदि सस्कृतीकरण के लिए सगत कारक हैं। सस्कृतीकरण के प्रत्येक मामले मे उपरोक्त सभी सगत अथवा इनमे स कुछ तत्त्व अलग-अलग मात्रा में मिश्रित रूप में रहते हैं। यहाँ इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि संस्कृतीकरण द्वारा किसी समूह को अपन आप उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त नही हो जाती। इस समूह को स्पष्टत. वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण वर्ण स सम्बन्धित होने का दावा प्रस्तुत करना पडता है, ऐसे समूह विशष का अपन रीति-रिवाजो भाजन तथा जीवन पद्धति को उचित मात्रा में बदलना पडता है। यदि उनके दावे म किसी प्रकार की कोई असगतता अर्थात् कोई कमी है ता उन्हें इसके लिए उचित काल्पनिक कथा गढनी पडती है ताकि उनक दावे सम्बन्धी असगतता दूर की जा सके।[1] इसक अलावा, एक जातीय समूह का जा सस्तरण की प्रणाली म अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहता है, अनिश्चित काल तक अर्थात् एक या दा पीढी तक प्रतीक्षा करनी पडती है। एक या दो पीढी के पश्चात् यह सम्भावना बनती है कि उच्च प्रस्थिति का दावा लोगों द्वारा स्वीकार कर लिया जाय, परन्तु यह आवश्यक नही है कि सस्कृतीकरण का परिणाम सदैव सस्कृतीकृत जाति की उच्च प्रस्थिति के रूप मे ही निकलगा और यह बात अछूतों के उदाहरण द्वारा पूर्णतः स्पष्ट भी है। सस्कृतीकरण के बावजूद भी अछूतों की प्रस्थिति ऊँची नही हो पायी।

1 Ibid p 57

(4) जब किसी जाति या जाति के किसी एक भाग का लौकिक (सक्यूलर) शक्ति प्राप्त हो जाती है तो वह साधारणत उच्च प्रस्थिति के परम्परागत प्रतीकों को प्राप्त करने का प्रयास भी करती है, जैसे स्थानीय सर्वोच्च जातियों के रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों, विचारों, विश्वासों और जीवन-पद्धति आदि का अपनाने का अर्थ यह भी था कि विभिन्न संस्कारों के सम्पादन के लिए ब्राह्मण पुरोहित की सेवाएँ प्राप्त करना, संस्कृतीय पचाग के त्यौहारों को मानना, प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों की यात्रा करना तथा धर्म-शास्त्रों का अधिक ज्ञान प्राप्त करना। इस तरीके से संस्कृतीकरण की प्रक्रिया कुछ मात्रा में गतिशीलता को सम्भव बनाती थी। अनुलोम विवाह भी इस प्रकार की गतिशीलता के लिए उत्तरदायी रहे हैं। एक जातीय समूह ने अपने से उच्च समझे जाने वाले समूहों में अपने को सम्मिलित करना चाहता था और अनुलोम विवाह ने इसके लिए संस्थागत साधन प्रस्तुत किये। यहाँ इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि परम्परागत काल में जाति की गतिशीलता के फलस्वरूप विशिष्ट जातियों अथवा उनकी प्रशाखाओं में केवल पदमूलक परिवर्तन ही हुए और इससे कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुए, अर्थात् अलग-अलग जातियाँ तो ऊपर उठीं या नीचे गिरीं, परन्तु पूरी संरचना वैसी ही बनी रही।"[1]

(5) संचार तथा यातायात के साधनों के विकास ने भी संस्कृतीकरण को देश के विभिन्न भागों तथा समूहों तक पहुँचा दिया है जो पहले पहुँच के बाहर थे तथा साक्षरता प्रसार ने संस्कृतीकरण को उन समूहों तक पहुँचा दिया जो जातीय संस्तरण की प्रणाली में काफी निम्न थे।[2]

(6) नगर, मन्दिर एवं तीर्थ स्थान संस्कृतीकरण के अन्य स्रोत रहे हैं। इन स्थानों पर एकत्रित लोगों में सांस्कृतिक विचारों एवं विश्वासों के प्रसार हेतु उचित अवसर उपलब्ध होते रहे हैं। भजन मण्डलियों, हरिकथा तथा साधु-सन्यासियों ने संस्कृतीकरण के प्रसार में काफी योग दिया है। बड़े नगरों में प्रशिक्षित पुजारियों, संस्कृत स्कूलों तथा महाविद्यालयों, छापखाने तथा धार्मिक संगठनों ने इस प्रक्रिया में योग दिया है।

संस्कृतीकरण की अवधारणा : एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण (Concept of Sanskritization : A Critical View)

हम यहाँ संस्कृतीकरण की अवधारणा की कुछ कमियों पर विचार करेंगे जो इस प्रकार हैं—

(1) प्रो. श्रीनिवास ने स्वयं स्वीकार किया है कि संस्कृतिकरण एक काफी जटिल और विषम अवधारणा है। यह भी सम्भव है कि इस एक अवधारणा मानने के बजाय अनेक अवधारणाओं का योग मानना अधिक लाभप्रद रहे। यहाँ याद रखने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया के लिए यह केवल एक नाम है और हमारा प्रमुख कार्य इन प्रक्रियाओं की प्रकृति को समझना है। जैसे ही यह पता चले कि संस्कृतीकरण शब्द विश्लेपण में सहायता पहुँचाने के बजाय बाधक है, उसे निस्संकोच और तुरन्त छोड़ दिया जाना चाहिए।[3]

---

1 M N Srinivas op cit, p 28
2 Ibid p 48
3 Ibid p 61

(2) हमे इस बात का ध्यान में रखना है कि कवल ऐसी अवधारणा ही तथ्यों के विश्लेषण और सिद्धान्त निर्माण मे सहायक हो सकती है जो स्पष्ट, सुनिश्चित तथा तार्किक दृष्टि से सुसंगत हो। हमे यह कहन मे कोई सकोच नही है कि "सस्कृतीकरण" नामक अवधारणा में इन विशेषताओं की कमी है। प्रो. श्रीनिवास ने स्वय लिखा है, "इसमे कोई सदह नही कि सस्कृतीकरण एक बेढगा शब्द है।" भारतीय समाज क विश्लेषण क रूप में "सस्कृतीकरण की उपयोगिता इस अवधारणा की जटिलता और साथ ही साथ इसक ढीलपन क कारण सीमित है", "सस्कृतीकरण एक अति जटिल विभिन्न तत्त्वीय अवधारणा है।"[1]

(3) प्रो. श्रीनिवास ने सस्कृतीकरण की अवधारणा के सम्बन्ध में कुछ परस्पर विरोधी बातें बतलाई हैं। आपने लिखा है, "किसी समूह क आर्थिक उन्नयन क बिना भी सस्कृतीकरण हो सकता है", एक अन्य स्थान पर आपन लिखा है, "आर्थिक उन्नयन, राजनीतिक शक्ति का सचयन, शिक्षा, नेतृत्व तथा सस्तरण की प्रणाली म ऊपर उठने की अभिलाषा आदि सस्कृतीकरण क लिए उपयुक्त कारक है।" आपने अन्यत्र लिखा है "सस्कृतीकरण क परिणामस्वरूप स्वत. ही किसी समूह को उच्च प्रस्थिति प्राप्त नही हा जाती है।" "जातियों के निरन्तर सस्कृतीकरण का सम्भवत यह परिणाम निकल कि कालातर म पूरे हिन्दू समाज मे सास्कृतिक एव सरचनात्मक परिवर्तन हो जायें।" प्रो. श्रीनिवास न अन्यत्र लिखा है, "किसी अछूत समूह का चाह कितना ही सस्कृतीकरण क्यों न हो जाय वह अस्पृश्यता की बाधा का पार करन में असमर्थ रहेगा।" उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट है कि सस्कृतीकरण की अवधारणा मे अनक असगतताएँ पायी जाती हैं, परस्पर विरोधी बाते दखने को मिलती हैं।

(4) प्रो. श्रीनिवास मानत है कि सस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता (Vertical Social Mobility) सम्भव है इस प्रक्रिया क द्वारा एक निम्न जाति एक या दो पीढी म शाकाहारी बन कर, मद्य-पान का त्याग कर तथा अपन कर्मकाण्ड और देवगण का सस्कृतीकरण कर जातीय सस्तरण की प्रणाली म अपनी स्थिति का ऊँचा उठाने में समर्थ हो जाती है। परन्तु यह सन्देहजनक है कि क्या वास्तव म एसा हाता है। इस सम्बन्ध में डॉ डी एन. मजूमदार ने लिखा है कि सैद्धान्तिक आर कवल सैद्धान्तिक रूप मे ही एसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है, जब हम विशिष्ट मामला पर ध्यान दत हैं तो जाति गतिशीलता सम्बन्धी हमारा ज्ञान और अनुभव एसी सैद्धान्तिक मान्यता को दृष्टि स सही नही उतरता। चमार अपनी मूल सामाजिक स्थिति से अवश्य कुछ आग बढ पाय हैं- चाह व सम्प्रदाय क रूप मे सगठित हो गए हों, चाहे उन्होंने शराब पीना, विधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद, यहाँ तक कि माँस खाना भी बन्द क्यों न कर दिया हो, लेकिन क्या सामाजिक सस्तरण की प्रणाली में लम्बवत् ऊपर उठने का कोई एक भी उदाहरण है? क्या चमार उच्च जातिया क सदृश्य हा गए हैं, उनके समीप पहुँच गए है?-चमारों का फैलाव क्षैतिज प्रकार का है और यही बात अन्य निम्न जातियों क सम्बन्ध में भी सही है। निम्न जातियाँ जाति गतिशीलता का एक क्षैतिज गति (सचलन) के रूप मे देखती हैं, जबकि ब्राह्मणो और अन्य उच्च जातियो ने ऐसी गतिशीलता का एक उदग्र आरोहण अर्थात ऊपर की ओर चढने क रूप मे

1 M N Srinivas Sanskritization Far Eastern Quarterly, Vol XV No 4 Aug 1956, p 484

माना है। जाति गतिशीलता क सम्बन्ध मे जा कुछ तथ्य प्राप्त हा गय हैं, वे लम्बवत् गतिशीलता को नहीं बल्कि क्षैतिज गतिशीलता (Horizontal Mobility) का व्यक्त करत हैं।[1] डॉ. मजूमदार के इन तथ्यपूर्ण अवलोकनों एव विचारों से स्पष्ट है कि सस्कृतीकरण को प्रक्रिया के माध्यम से कोई निम्न जाति लम्बवत् रूप से ऊपर नहीं उठ जाती, उच्च जातियो के समान नही बन जाती, बल्कि अपन ही समान स्तर की अन्य जातियो से अथवा अपनी ही जाति की विभिन्न प्रशाखाओं में कुछ ऊपर उठ जाती हैं।

(5) डॉ. योगेन्द्रसिह सस्कृतीकरण का सांस्कृतिक और सामाजिक गतिशीलता को एक प्रक्रिया मानते हैं। आपन बताया है, सस्कृतीकरण सापक्ष रूप स बन्द हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के इन कालों में सांस्कृतिक और सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया है। यह सामाजिक परिवर्तन का एक अन्तरजात (Endogenous) स्रोत है। एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सस्कृतीकरण भविष्य में अपनी स्थिति मे सुधार लाने की आशा मे किसी उच्च समूह की सस्कृति की ओर अग्रिम समाजीकरण (Anticipatory Socialization) के लिए सार्वभौमिक प्रेरणा का एक सांस्कृतिक विशिष्ट मामला है।[2]

(6) बी. कुप्पूस्वामी सस्कृतीकरण को 'सन्दर्भ समूह' (Reference Group) प्रक्रिया के सचालन का एक उदाहरण मानते हैं। लेकिन भारतीय समाज मे सन्दर्भ समूह को सदस्यता प्राप्त करना इस कारण असम्भव है कि यहाँ जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था पायी जाती है। ऐसी बन्द-व्यवस्था वाल समाज में व्यक्ति के लिये अपने जातीय समूह का बदलकर किसी अन्य जातीय समूह की सदस्यता ग्रहण करना असम्भव है। एक सापेक्ष रूप से बन्द सामाजिक सरचना में अग्रिम समाजीकरण व्यक्ति के लिये अपकार्यात्मक (Dysfunctional) होगा क्योंकि वह जिस समूह का सदस्य बनने की आकांक्षा रखता है, गतिशीलता के अभाव मे वह उसका सदस्य नही बन पायेगा। बी. कुप्पूस्वामी से हम सहमत हैं जब व यह कहते हैं कि कुछ सम्भव है, वह यही कि वर्ण क अन्तर्गत ही मामूली परिवर्तन हो पाता है। स्पष्ट है कि सस्कृतीकरण एक एसी प्रक्रिया नहीं है जिसके द्वारा हिन्दू समाज में सरचनात्मक परिवर्तन सम्भव हो सके।

(7) प्रो. श्रीनिवास स्वय मानते हैं कि भूतकाल में अनेक प्रभुत्व-सम्पन्न जातियों ने जातीय संस्तरण की प्रणाली मे राजकीय आदश द्वारा या स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के सगठन द्वारा उच्च स्थितियाँ प्राप्त की। के. एम. पणिक्कर मानते हैं कि ईसा के पाँचवी शताब्दी पूर्व, सभी तथाकथित क्षत्रिय निम्न जातियों के द्वारा, सत्ता के अनाधिकार ग्रहण द्वारा अस्तित्व मे आये और परिणामत: उन्होंने क्षत्रिय भूमिका और सामाजिक स्थिति प्राप्त की।[3] डॉ. योगेन्द्रसिंह के अनुसार, यहाँ सस्कृतीकरण की प्रक्रिया, सत्ता के उत्थान और पतन द्वारा, सघर्षों और युद्ध द्वारा और राजनीतिक दाँव-पेच द्वारा प्रभुत्व-सम्पन्न समूहों के भारतीय इतिहास में पद-प्राप्ति या प्रचलन को व्यक्त करती है। ये सब सरचनात्मक परिवर्तनों क उदाहरण हैं जिनका संस्कृतीकरण जैसी अवधारणा के द्वारा पूर्णत: पता नहीं चलता है।

---

1 D N Majumdar Caste and Communication in an Indian Village pp 333-335
2 Yogendra Singh op cit , p 6
3 K.M Panikkar Hindu Society at Cross Road

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिये यह कोई बहुत उपयुक्त अवधारणा नहीं है। इस सम्बन्ध में डॉ. डी. एन मजूमदार ने लिखा है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए हमने जिस उपकरण का प्रयोग किया, उससे हम प्रसन्न नही हैं। यही बात एफ जी बेली ने अपनी पुस्तक "कास्ट एण्ड दी इकोनोमिक फ्रन्टियर" में स्पष्ट की है। संस्कृतीकरण अवधारणाओं के एक पुंज को व्यक्त करता है और यह असंयत या ढीली अवधारणा है जो किसी विशेष गुण से रहित है।

प्रश्न

1. संस्कृतीकरण क्या है? समाज में यह कैसे घटित होता है?
2. संस्कृतीकरण कुछ जातियों के सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने में किस प्रकार सहायता करता है? स्पष्ट समझाइये।
3. संस्कृतीकरण तथा उसके आदर्शों (Models) को स्पष्ट कीजिए।
4. संस्कृतीकरण के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।



27

पश्चिमीकरण
(Westernization)

डॉ. एम. एन. श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' एवं 'पश्चिमीकरण' की अवधारणाओं को प्रस्तुत कर भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। जहाँ संस्कृतीकरण की अवधारणा जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक या आकांक्षित सांस्कृतिक गतिशीलता को व्यक्त करती है, वहीं पश्चिमीकरण की अवधारणा उन परिवर्तनों से परिचित कराती है जो पश्चिमी विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन के सांस्कृतिक सम्पर्क के परिणाम हैं।

पश्चिमीकरण का अर्थ (Meaning of Westernization)

श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग उन परिवर्तनों को व्यक्त करने के लिए किया है जो भारत में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी राज्य की अवधि में हुए। पश्चिमीकरण को परिभाषित करते हुए श्रीनिवास ने लिखा है, "पश्चिमीकरण में भारतीय समाज और संस्कृति में एक सौ पचास वर्षों से अधिक समय के अंग्रेजी राज्य के परिणामस्वरूप लाये गये परिवर्तन शामिल हैं और इस शब्द (पश्चिमीकरण) में विभिन्न स्तरों ... प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधारा तथा मूल्यों पर होने वाले परिवर्तन सम्मिलित हैं।"[1] पश्चिमीकरण की अवधारणा के अन्तर्गत भारत में होने वाले वे सभी सांस्कृतिक परिवर्तन और संस्थात्मक नवीनताएँ आ जाती हैं जो इस देश में पश्चिमी देशों, प्रमुखतः ब्रिटेन (U.K.) के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण आयीं।[2] पश्चिमीकरण का तात्पर्य विविध प्रकार के परिवर्तनों से है, जैसे-वस्त्र, भोजन, खाने के तरीके, रहन-सहन के ढंग आदि में परिवर्तन। डॉ. योगेन्द्रसिंह ने बतलाया है कि मानवतावाद तथा तार्किकता पर जोर पश्चिमीकरण का एक अंग है जिसने भारत में संस्थागत तथा सामाजिक सुधारों का सिलसिला आरम्भ कर दिया। वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक तथा शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रीयता का उदय, देश में नवीन राजनीतिक संस्कृति और नेतृत्व सबके सब पश्चिमीकरण की उपोत्पादन (By-Product) या गौण उत्पादन है। स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भारत में मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने और तार्किक ढंग से विचार करने के लिए लोगों को प्रेरित किया।

पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप भारत में न केवल कुछ नवीन संस्थाओं जैसे समाचार-पत्रों, चुनावों, ईसाई मिशनरियों आदि का प्रारम्भ ही हुआ बल्कि पुरानी संस्थाओं में मौलिक परिवर्तन भी हुए। अंग्रेजों के भारत में आगमन के पूर्व परम्परागत स्कूलों में केवल उच्च जातियों के

1 M.N. Srinivas. "A note on Sanskritization and Westernization," Caste in Modern India and Other Essays p. 55

2 Yogendra Singh. "Concepts and theories of Social change." A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology Vol. I (ICSSR), p. 389

बालक ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। परन्तु अंग्रेजों के द्वारा स्थापित स्कूलों के द्वार सभी जातियों के लोगों के लिए समान रूप से खोल दिए गए। पश्चिमीकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव शिक्षा के माध्यम में परिवर्तन के रूप में था। पश्चिमीकरण का प्रभाव सबसे पहले अभिजात वर्ग-उच्च जातियों एवं उन्नत आर्थिक स्थिति के लोगों पर पड़ा। ये लोग अंग्रेजी स्कूलों में ऐसे विषय पढ़ने लगे जिनका धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। साथ ही इनकी शिक्षा का माध्यम संस्कृत या हिन्दी होने के बजाय अंग्रेजी था। ब्राह्मणों तथा उच्च जातियों के लोगों ने जिनकी पहले से ही पढ़ने-पढ़ाने की परम्पराएँ थीं, इस नवीन शिक्षा का लाभ उठाना प्रारम्भ किया। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर लोग सरकारी नौकरियों, अन्य सेवाओं यथा बैंकों तथा व्यापारिक कम्पनियों में प्रविष्ट होने लगे। पश्चिमी शिक्षा के कारण लोगों के दृष्टिकोण में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। अंग्रेजी साहित्य, इतिहास तथा राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन ने लोगों में मानवतावादी दृष्टिकोण को विकसित करने में योग दिया। यह कहा जा सकता है कि पश्चिमीकरण ने समतावादी और लौकिक दृष्टिकोण के विकास में सहायता पहुँचाई। पश्चिमी शिक्षा ने विभिन्न समस्याओं के प्रति तार्किक दृष्टिकोण के लिए लोगों को प्रेरित किया।

पश्चिमीकरण का लोगों के रहन सहन के तरीके या जीवन के ढंग पर काफी प्रभाव पड़ा। पश्चिमीकृत भारतीयों ने न केवल अंग्रेजी भाषा को अपनाया बल्कि उनके जीवन के तरीके को भी। अब कई भारतीय मांसाहारी भोजन करने लगे शराब पीने लगे तथा सिगरेट या चुरट का प्रयोग करने लगे। इन लोगों की वेशभूषा में काफी परिवर्तन दिखलाई पड़ने लगा। अब लोग पन्ट कोट पहनने लगे, टाई तथा हैट लगाने लगे, अंग्रेजी ढंग से बाल कटवाने लगे। यही नहीं बल्कि वे खाना खाते समय टेबुल कुर्सी पर बैठने लगे तथा भोजन करते समय जूते खोलकर बैठना भी आवश्यक नहीं रहा। जो भारतीय मांस खाने वाले, शराब पीने वाले तथा चुरट का प्रयोग करने वाले अंग्रेज को सांस्कारात्मक दृष्टि से अशुद्धता का मूर्त रूप समझते थे, स्वयं शिक्षा प्राप्त कर अपनी वेश-भूषा और तौर-तरीकों को बदलकर अपने को अंग्रेज बनाने के प्रयत्न में लग गये। अंग्रेज बनने की इस प्रतिस्पर्धा में उच्च जातियों के वे लोग पिछड़ गये जो प्रमुखतः धार्मिक कार्यों के सम्पादन या पौरोहित्य के कार्य में लगे हुए थे।

पश्चिमीकरण में कुछ मूल्य वरीयतायें (Value Preferences) भी सम्मिलित हैं। एक ऐसा ही मूल्य जिसमें अनेक अन्य मूल्य शामिल हैं, मानवतावाद है जिसका तात्पर्य है जाति, आर्थिक स्थिति, धर्म, आयु तथा लिंग को ध्यान में रखे बिना सभी मनुष्यों के कल्याण में सक्रिय रुचि। समतावाद तथा लौकिकीकरण (Equalitanarism and Secularization) दोनों ही मानवतावाद में सम्मिलित हैं।

मानवतावाद के अन्तर्गत उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में भारत में अंग्रेजों के द्वारा किये गये अनेक सुधार आते हैं। कानून के सम्मुख सबको समान माना गया तथा असमानता को जो हिन्दू तथा मुस्लिम कानून का अंग था, दूर कर दिया गया। समानता के आधार पर ही दासता को समाप्त कर दिया गया और नये स्कूल तथा कॉलेज सभी जाति, प्रजाति तथा धर्मों के लोगों के लिए समान रूप से खोल दिये गये। मानवतावाद के कारण अनेक ऐसे प्रशासनिक कदम उठाये गये जिनकी सहायता से अकाल और महामारी पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सका, स्कूल, अस्पताल तथा अनाथालय खोले जा सके।

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसका परम्परागत अभिजात वर्ग के उन लोगों के द्वारा अपनाया गया जिनकी पहल स अध्ययन-अध्यापन की परम्पराएँ थीं और जो पहल से ही अदालतों मे कार्य कर रहे थे। परिणाम यह हुआ कि पुरान और नवीन अभिजात समूहो में निरन्तरता बनी रही। परन्तु इसक फलस्वरूप *अभिजात वर्ग* और *जनसाधारण* के बीच की खाई और भी बढ गई। यहाँ हमे इस बात को भी ध्यान मे रखना है कि भारत म पश्चिमीकरण का स्वरूप और गति एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और जनसख्या के एक भाग स दूसर भाग में भिन्न-भिन्न रही है। श्रीनिवास ने स्वयं लिखा है, "लागो का एक समूह अपनी वेश-भूषा, भाजन, तौर-तरीकों, वाणी, खेल-कूद और अपने द्वारा काम मे ली जाने वाली वस्तुओ की दृष्टि से पश्चिमीकृत हा गया, जबकि अन्य समूह ने पश्चिमी विज्ञान, ज्ञान तथा साहित्य का अपना लिया, जो बाह्य दृष्टि स पश्चिमीकरण स सापक्ष रूप स मुक्त रहा।[1] श्रीनिवास ने अपने बाद वाले लख (1966) मे पश्चिमीकरण की अवधारणा को विस्तारित करते हुए इसमे प्रौद्योगिकी, सस्थाओ, ज्ञान, विश्वासो तथा मूल्यों को भी सम्मिलित कर लिया।

बी. कुप्पूस्वामी[2] क अनुसार विस्तृत रूप मे कहा जा सकता है कि श्रीनिवास क द्वारा काम में ली गई पश्चिमीकरण की अवधारणा मे निम्न बाते सम्मिलित हैं—(अ) व्यवहार सम्बन्धी पक्ष जैसे खाना-पीना, वेश-भूषा, नृत्य आदि। (ब) ज्ञान सम्बन्धी पक्ष जैस साहित्य, विज्ञान आदि, और (स) मूल्य सम्बन्धी पक्ष जैसे मानवतावाद, समतावाद तथा धर्म-निरपेक्षवाद आदि।

श्रीनिवास के अनुसार, पश्चिमीकरण मे बढोत्तरी सस्कृतीकरण की प्रक्रिया को मन्द नही करती, दोनों ही प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं और कुछ सीमा तक, पश्चिमीकरण मे बढोत्तरी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का और तीव्र कर देती है। उदाहरण के रूप मे, डाक सुविधाओ, रेलो-बसो तथा समाचार-पत्रो जा भारत पर पश्चिमी प्रभाव क फल हैं ने सगठित धार्मिक यात्राओं, सभा-सम्मलनो, जातीय दृढताओ आदि को पहल की तुलना में अधिक सुगम बना दिया है।

भारत मे पश्चिमीकरण (Westernization in India)

भारत में अंग्रेजी राज्य-स्थापना क पश्चात् अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एव प्रौद्योगिक शक्तियाँ कार्य करने लगी। इन शक्तियो ने देश के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया। यहाँ पश्चिमीकरण की प्रक्रिया कार्य करने लगी। अंग्रेजो क पास राजनीतिक और आर्थिक शक्ति थी, एक नवीन प्रौद्योगिकी वैज्ञानिक ज्ञान तथा महान् साहित्य था। इनसे प्रभावित हो उच्च जातियो क लोगों ने अंग्रेजों का अनुसरण करना प्रारम्भ किया उनकी प्रथाओं और आदतों को अपनाया। यहाँ एक आश्चर्यजनक बात यह थी कि अभी तक उच्च जातियों के लोग जिन प्रथाओं, आदतों, भोजन में काम में ली जाने वाली वस्तुओ, शराब, माँस आदि का बुरा समझते थे, वे सब अंग्रेजो मे प्रचलित थी। परन्तु अंग्रेजो के पास सत्ता थी, शक्ति थी, ज्ञान और विज्ञान का भण्डार था। अंग्रेज जातीय संस्तरण की प्रणाली मे सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गये और ब्राह्मणो का स्थान द्वितीय हो गया। जहाँ निम्न जातियाँ अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊँचा उठाने की दृष्टि से अपने से उच्च जातियो और ब्राह्मणों के जीवन के तरीके को अपनाने में लगी हुई

1 M N Srinivas op cit , pp 50-51
2 B Kuppuswamy Social Change In India, p 62

थी वहाँ ब्राह्मणों तथा कुछ अन्य उच्च जातियों के लोगों ने अंग्रेजों के जीवन के तरीके को अपनाने में तत्परता दिखायी। इस प्रकार देश में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। लोग शीघ्रता से समझ गये कि शासन और सत्ता से उसी समय लाभ मिल सकता है जब अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की जाए तथा अंग्रेजीयत को अपनाया जाय। परिणाम यह हुआ कि लोगों के रहन-सहन का ढंग, वेश-भूषा, खान-पान, तौर-तरीके या समग्र रूप में जीवन का ढंग ही बदल गया। पश्चिमीकरण के फलस्वरूप तार्किक दृष्टिकोण का विकास हुआ, ज्ञान, विज्ञान और नवीन प्रौद्योगिकी का प्रसार हुआ।

डॉ. श्रीनिवास[1] ने मैसूर राज्य का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि वहाँ पश्चिमीकरण की दौड़ में ब्राह्मण सबसे आगे थे। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि ब्राह्मणों के पास साहित्यिक परम्परा थी और साथ ही, उनमें से बहुत से ग्रामीण आर्थिक संस्तरण की प्रणाली में भू-स्वामियों के रूप में शिखर पर थे। ये प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यह अनुमान लगा लिया था कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना से अब नवीन अवसर मिलने वाले हैं और वे अपने मूल गाँवों को छोड़कर बंगलौर तथा मैसूर जैसे नगरों में आ गये ताकि अंग्रेजी शिक्षा का लाभ मिल सके। नवीन राज्य व्यवस्था में नौकरी प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी शिक्षा आवश्यक प्रवेश-पत्र के रूप में थी।

पश्चिमीकरण के कारण ब्राह्मणों को अंग्रेजों और वहाँ के शेष लोगों के बीच मध्यस्थ के रूप में भूमिका निभाने का सुअवसर मिला। परिणाम यह हुआ कि एक नवीन और लौकिक जाति व्यवस्था का परम्परागत व्यवस्था पर आधिपत्य हो गया जिसमें नवीन क्षत्रिय (अंग्रेज) शिखर पर थे और ब्राह्मण दूसरे स्थान पर तथा जनसंख्या के शेष लोग जातीय पिरामिड के पैंदे या निम्नतम स्थल पर थे। संस्तरण की इस नवीन प्रणाली में ब्राह्मण अंग्रेजों की ओर देख रहे थे, उनका अनुकरण कर रहे थे और बाकी सभी लोग ब्राह्मणों और अंग्रेजों दोनों का ही अनुकरण कर रहे थे। लेकिन यहाँ ब्राह्मणों को एक कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था क्योंकि अंग्रेजों के कुछ मूल्य और प्रथाएँ ब्राह्मणों के मूल्यों और जीवन के तरीके के विपरीत थे। श्रीनिवास के अनुसार संस्तरण की नवीन प्रणाली में ब्राह्मणों की स्थिति निर्णायक थी। उनके माध्यम से ही मैसूर में पश्चिमीकरण हिन्दू समाज के अन्य लोगों तक पहुँचा। लेकिन इससे सम्भवतः पश्चिमीकरण अधिक हो पाया क्योंकि अन्य जातियाँ पहले से ही ब्राह्मणों के जीवन के तरीके का अनुकरण करने की अभ्यस्त थीं।

मैसूर में ब्राह्मणों के पश्चिमीकरण से उनके जीवन में अनेक परिवर्तन आये। उनकी वेश-भूषा और पहनावा बदला। गजी खोपड़ी रखने की बजाय लोग अंग्रेजी बाल कटवाने लगे और परम्परागत वस्त्रों के स्थान पर कम से कम आंशिक रूप से, पश्चिमी किस्म के वस्त्र और जूते पहने जाने लगे। वेश-भूषा में परिवर्तन से संस्कारात्मक पवित्रता सम्बन्धी विचार धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगे। जैसे-जैसे पश्चिमी वस्त्र अधिक लोक-प्रिय हुए, ब्राह्मण पुरुष अपनी साधारण पोशाक पहने हुए ही भोजन करने लगे और अब टेबुल पर भोजन करना धनी लोगों में सामान्य होता जा रहा है।[2] अब ब्राह्मणों तक के भोजन में उन वस्तुओं का प्रयोग किया जाने लगा जो पहले वर्जित थी, उदाहरण

1 M N Srinivas op cit p 51
2 Ibid p 53

के रूप में प्याज, आलू, गाजर, शलगम और मूली आदि। ब्राह्मणों तक ने कई नवीन व्यवसायों को अपना लिया है। पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों का भौगोलिक और सामाजिक क्षेत्र काफी व्यापक हो गया तथा गतिशीलता में भी वृद्धि हुई।

श्रीनिवास[1] ने बतलाया है कि पहले मैसूर के कुछ ब्राह्मण समूहों में कन्यामूल्य की प्रथा थी। लेकिन पश्चिमीकरण और इससे अच्छी नौकरियों में लगे हुए शिक्षित लड़कों की माँग के कारण दहेज-प्रथा लोकप्रिय हो गई। लडकियों के विवाह की आयु काफी बढ़ गई। पहले ब्राह्मण यौवनारम्भ के पूर्व ही अपनी लडकियों का विवाह कर देते थे। आजकल बहुत कम नगरीय तथा मध्यमवर्गीय ब्राह्मण अपनी लडकियों का विवाह 18 वर्ष की आयु के पूर्व करते हैं। अब बाल-विधवाएँ नहीं के बराबर हो पायी जाती हैं। श्रीनिवास ने मैसूर में अपने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर बताया है कि आधुनिक हिन्दू सामाजिक जीवन का एक रुचिपूर्ण विरोधाभास यह है कि जबकि ब्राह्मण अधिकाधिक पश्चिमीकृत होते जा रहे हैं, अन्य जातियाँ अधिकाधिक संस्कृतीकृत होती जा रही हैं। संस्तरण की प्रणाली में नीचे के स्तर की जातियाँ उन प्रथाओं को अपना रही हैं जिन्हें ब्राह्मण छोडने में लगे हुए हैं। जहाँ तक इन जातियों का सम्बन्ध है, ऐसा लगता है कि जैसे पश्चिमीकरण के लिए संस्कृतीकरण एक अनिवार्य प्रारम्भिक तैयारी हो। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अब कई निम्न स्तर की जातियाँ अंग्रेजी शिक्षा का लाभ उठाकर अपने आपको पश्चिमीकृत करती जा रही हैं अथवा यों कहा जा सकता है कि वे आधुनिकीकरण की ओर बढ़ रही हैं। अब विभिन्न जातियों में लोग ब्राह्मणों के अनुकरण या संस्कृतीकरण के माध्यम से नहीं बल्कि सीधे ही पश्चिमीकरण की ओर बढ़ रहे हैं। श्रीनिवास ने स्वयं एक जगह लिखा है कि मैं यहाँ इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि पश्चिमीकरण के लिए संस्कृतीकरण आवश्यक नहीं है। यह सम्भव है कि संस्कृतीकरण की मध्यवर्ती प्रक्रिया के बिना ही पश्चिमीकरण हो जाय, ऐसा नगरों में रहने वाले समूहों और व्यक्तियों और साथ ही ग्रामीण और जनजातीय लोगों में हो सकता है और विशेषत विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के तहत तेजी से हो रहे औद्योगीकरण में ऐसा होना और भी सम्भव है। बढ़ते हुए पश्चिमीकरण का तात्पर्य लोगों के दृष्टिकोण का अधिक लौकिकीकरण है।[2]

यहाँ हमें इस बात का भली-भाँति ध्यान में रखना है कि व्यवहार के एक क्षेत्र में पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप व्यवहार के अन्य सम्बद्ध क्षेत्र में अनिवार्यत. पश्चिमीकरण नहीं होता। सम्पूर्ण भारत में दशहरा के त्यौहार के अवसर पर, अपने धन्धे से सम्बन्धित औजारों को साफ करने, उनके सिन्दूर लगाने, धूप खेने तथा फूल चढ़ाने का सामान्य रिवाज है। यह बात नगर और ग्राम दोनों ही क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों के लिए सही है। श्रीनिवास[3] ने स्वयं बतलाया है कि इस अवसर पर मोटरों को धोकर उन पर सिन्दूर लगाया जाता है, उन्हें फूलों के हारों से सजाया जाता है। सिलाई की मशीनों, टाइपराइटरों और पुस्तकों के साथ भी यही होता है। इस प्रकार पश्चिमी प्रौद्योगिकी (Technology) के उपयोग का यहाँ तात्पर्य यही है कि उपयोग करने वालों ने तर्कबुद्धिपरक और वैज्ञानिक विश्व दृष्टि (World-View) स्वीकार कर ली है। उपर्युक्त कथन से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य

---

1 Ibid p 54
2 Ibid p 60
3 एम एन श्रीनिवास : आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ 67

यह स्पष्ट होता है कि भारत मे परम्परा और आधुनिकता साथ-साथ चलती हैं, दोनों में पूर्णतः विरोध पाया जाय, यह आवश्यक नही है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप व्यवहार के किसी एक क्षेत्र या स्तर पर परिवर्तन आ सकता है और यह आवश्यक नही है कि उससे सम्बन्धित अन्य क्षेत्र मे भी परिवर्तन आवे ही।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं में प्रमुखत उन लोगों ने भाग लिया जो नवीन शिक्षण सस्थाओं मे शिक्षा प्राप्त कर व्यवसायो में, ऊँची नौकरियों मे, नगरो मे व्यापार और उद्योग-धन्धो में लग गय थे। यातायात और सचार के साधनो के विकास, औद्योगीकरण तथा कृषि क्षेत्र में होने वाले विकास तथा अभिजात वर्ग तथा ग्रामीणों की क्षेत्रीय तथा सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को तीव्र और साथ ही राष्ट्र-व्यापी बना दिया। बडे नगरो और समुद्री किनारों पर रहने वाले लोगो का पश्चिमीकरण सबसे पहले हुआ। उदाहरण के रूप मे बोम्बे, कलकत्ता तथा मद्रास के लोगों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव उन लोगों से बहुत पहले पडना प्रारम्भ हो चुका था जो देश के दूरस्थ भीतरी प्रदेशों मे रहते थे। श्रीनिवास ने बताया है कि साधारणत, नगरों में रहन वाले लोग गाँवो में रहने वालों की बजाय पश्चिमी प्रभावों से अधिक प्रभावित होते हैं।

नगरीकरण की प्रक्रिया को ग्रामीण छोर से देखने पर हेरोल्ड गोल्ड ने बतलाया है कि उत्तर प्रदेश मे ब्राह्मण और राजपूत जैसी ऊँची जातियो का ही पश्चिमीकरण हो रहा है जिसमें नगरीकरण भी शामिल है और निम्न जातियो के पास आधुनिक जगत में प्रवेश के लिए न तो साधन हैं और न ही प्रेरणा। वे गरीब हैं, अशिक्षित हैं और नगरों में उनकी रिश्तेदारियाँ भी नही हैं और ये सब उनकी गतिशीलता में बाधा डालते हैं।[1] गोल्ड ने बताया है कि पश्चिमीकरण और नगरीकरण ब्राह्मण, राजपूत (ठाकुर) तथा जाट जैसी उच्च जातियों का हो रहा है और न कि सबसे निचली और सबसे गरीब जातियो का। नीची जातियाँ उच्च जातियों की तुलना में पश्चिमीकरण की दृष्टि से कम अनुकूल स्थिति में हैं। इसका कारण यह है कि पश्चिमीकरण के लिए उनक पास आर्थिक साधनों और आवश्यक प्रेरणा का अभाव है।

प्रो. श्रीनिवास[2] न उन जातियों की चर्चा की है जिन्होंने पश्चिमीकरण करने में अन्य जातियों का नेतृत्व किया। भारत के अधिकतर भागो मे ब्राह्मण समूह, उत्तर भारत में कायस्थ (लिपिक तथा सरकारी अधिकारी), बगाल मे वैद्य, पश्चिमी भारत में पारसी और बनिये, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी भारत मे कुछ मुसलमान समूह और केरल में नायर तथा सीरियाई ईसाई लोगों ने पश्चिमी शिक्षा प्राप्त की और इसके परिणामस्वरूप नवीन पेशों को अपनाया। देश के विभिन्न भागों में अनेक ब्राह्मण जातियाँ-नम्बूदिरी के अतिरिक्त सभी दक्षिण भारतीय ब्राह्मण,गुजरात में नागर और अनाविल ब्राह्मण और कश्मीरी, बगाली तथा मराठी ब्राह्मण पेशों और सरकारी नौकरियों में प्रमुख थी। इन जातियों से सम्बन्धित लोगो का पश्चिमीकरण सबसे पहले हुआ।

---

1 M N Srinivas op cit p 63
2 Ibid p 70

जहाँ तक भारतीय मुसलमानों का सम्बन्ध है, श्रीनिवास[1] ने बतलाया है कि राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली मुसलमानो का एक छोटा-सा समूह अंग्रेजों के भारत में आने से पहले से ही अभिजात-वर्ग का महत्त्वपूर्ण भाग था, मगर अधिकतर मुसलमान जो कि निम्न जातियों से धर्म परिवर्तन द्वारा मुसलमान बने थे, गरीब थे और मुसलमान जातियों की सस्तरण-प्रणाली में सबसे नीचे थे। मुस्लिम अभिजात वर्ग अंग्रेजों द्वारा उनसे भारत का शासन छीन लिये जाने के कारण नाराज था और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से पहले तक परिचमीकरण का तीव्र विरोध था। लेकिन जब मुसलमानों ने स्वयं द्वारा अपने पर आरोपित पृथक्करण को तोड़कर नवीन धारा के साथ प्रवाहित होने का निश्चय किया, तो उन्होंने पाया कि हिन्दू उस धारा में बहुत आग पहुँच चुके हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि परिचमी प्रभाव के कारण उन्नीसवी शताब्दी के सातवें दशक तक भारत में ऐसे नेताओं के वर्ग का उदय हो चुका था जो नवीन और आधुनिक भारत के लिए प्रकाश स्तम्भ बना। बहुत से नेता जैसे-टैगोर, विवेकानन्द, रानाडे, गोखले, तिलक, पटेल, गाँधी, जवाहरलाल नेहरू तथा राधाकृष्णन आदि देश का पहले सामाजिक सुधार आन्दोलन की ओर आगे बढा रहे थे और तत्पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्ति आन्दोलन की ओर। ये नेता लोग मौजूदा सामाजिक कुरीतियों जैसे-बाल-विवाह, सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध, स्त्रियों को पृथक्करण में रखना, स्त्री-शिक्षा का विरोध, अस्पृश्यता तथा अन्तर्जातीय विवाह निषेध आदि के प्रति जागरूक थे। समाज को सुधारने की प्रक्रिया में अभिजात-वर्ग को पता चला कि भारत को आधुनिकीकरण की ओर बढाने के कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए राजनैतिक शक्ति (राजसत्ता) की आवश्यकता है।[2] उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में काफी राष्ट्रीय जागृति हुई। इस अवधि में रेलों का निर्माण, छापेखाने का विकास तथा शिक्षा प्रसार ने राष्ट्रीयता के भावों को जाग्रत करने में काफी सहयोग दिया। इस प्रकार परिचमीकरण ने केवल अभिजात-वर्ग के उदय में ही नही बल्कि हिन्दू समाज को अनेक कुरीतियों से मुक्त करने, राष्ट्रीयता के भाव जगाने और स्वतन्त्रता-प्राप्ति हेतु आन्दोलन करने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया।

परिचमीकरण का भारतीय समाज पर प्रभाव
(Impact of Westernization on Indian Society)

परिचमीकरण का भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर काफी प्रभाव पडा है। यह प्रभाव सयुक्त परिवार प्रणाली, हिन्दू विवाह तथा जाति-व्यवस्था पर देखने को मिलता है. परिचमीकरण ने व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहन दिया है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सामूहिक हित की चिन्ता नहीं करके व्यक्तिगत हितों को बढ़ावा देता है। यह एक प्रमुख कारण है जिसकी वजह से संयुक्त परिवार की संरचना में परिवर्तन हो रहे हैं। अब परिचमीकरण के प्रभाव से शिक्षित युवक युवतियाँ विवाह को जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध नही मानकर एक समझौता मानने लगे हैं। आजकल को शिक्षित स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने पर थोड़ी सी पारिवारिक अनबन को लेकर विवाह-विच्छेद तक के बारे में सोचने लग जाती हैं। अब पति-पत्नी के सम्बन्ध समानता पर आधारित होने लगे हैं। परिचमीकरण के कारण एक विवाह की प्रवृत्ति को भी बल मिला है। अब विभिन्न जातियों के सदस्यों को कारखानों तथा अन्य क्षेत्रों में साथ-साथ काम करने का अवसर मिलने लगा

1 Ibid p 73
2 Ibid p 83

है जिससे जातिगत दूरी पहले की तुलना मे कम हुई है। पश्चिमीकरण के कारण जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक बुराइयो से लाग परिचित हुए हैं, जातिगत भेद-भाव को बुरा समझने लगे है और यहाँ तक कि स्तरीकरण क नवीन आधार क रूप में वर्गों का भी महत्त्व बढने लगा है।

पश्चिमीकरण का प्रभाव नगरीय क्षत्रा तक ही सीमित हो, ऐसी बात नहीं है। आज ग्रामीण समुदायों में भी पश्चिमीकरण के कारण अनक परिवर्तन आय हैं। डॉ. एस. सी. दुबे की मान्यता है कि पश्चिमीकरण क कारण गाँवा में व्यक्ति की स्थानीय सामाजिक स्थिति उसकी जाति एव परिवार की प्रतिष्ठा पर आधारित नही हाकर उसकी स्वयं की योग्यता पर आधारित होती है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया न ग्रामीण क्षत्रों मे जाति पचायतों के विघटन में योग दिया है। ग्रामीण समुदायों मे भी व्यक्तिवादिता का प्रभाव स्पष्टत दिखलाई पडन लगा है। वहाँ रहने वाले उच्च जातियों क लागो की जीवन-पद्धति भी पश्चिमीकरण स प्रभावित है। डॉ. ए. आर. देसाई की मान्यता है कि पश्चिमीकरण क कारण भारतीय ग्रामीण सामाजिक सगठन में पारिवारिकता का महत्त्व कम हुआ है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया न भारत में नगरीकरण एव औद्योगीकरण की प्रक्रियाओं को जन्म दिया है जिनस भारतीय ग्राम भी अप्रभावित नही रहे हैं। ग्रामों में आजकल सामुदायिक भावना शिथिल पडती जा रही है, स्थानीयता का महत्त्व कम होता जा रहा है। डॉ. श्रीनिवास ने बतलाया है कि भारत जैस दश मे भी ग्रामीण क्षत्रा में रहन वाले एसे समूह मिल जायेंगे जिनकी जीवन-शैली का नगरीय समूहो की अपक्षा अधिक पश्चिमीकरण हो चुका है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के कारण भारतीय ग्रामों में समाचार पत्रो, रेडियो तथा चुनाव आदि का प्रादुर्भाव हुआ है। आमैल ने लिखा है कि भारत मे अग्रजी कानून व्यवस्था लागू करने के दो क्रान्तिकारी परिणाम हुए, प्रथम, समानता के सिद्धान्त की स्थापना और द्वितीय, निश्चित अधिकारों की चेतना की सृष्टि। भारतीय ग्राम भी पश्चिमीकरण क इन परिणामों से प्रभावित हुए बिना नही रहे। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ग्रामों में शिक्षा की कमी, दरिद्रता तथा आवश्यक प्ररणा के अभाव में परिवर्तन की गति मन्द ही रही है, यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इसमें तीव्रता आई है।

यहाँ सक्षप मे इस दृष्टि से विचार करना भी आवश्यक है कि किसी गैर-पश्चिमी देश में पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण (Modernization) है। डनियल लर्नर ने, उदाहरण के तौर पर 'पश्चिमीकरण' और साथ ही 'आधुनिकीकरण' दानो की उपयुक्तता पर विचार करके 'आधुनिकीकरण' को स्वीकार किया है।[1] परन्तु श्रीनिवास ने आधुनिकीकरण के बजाय अनेक कारणों से पश्चिमीकरण शब्द को ही अधिक पसन्द किया है।

पश्चिमीकरण : एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण
(Westernization : A Critical View)

अनक समाजशास्त्रियों एव सामाजिक मानवशास्त्रियो ने पश्चिमीकरण की अवधारणा की आलोचना की है। लर्नर की मान्यता है कि पश्चिमीकरण अनुपयुक्त एव सकुचित अवधारणा है क्योंकि रूसा का साम्यवाद भी एक शक्तिशाली आधुनिकीकरण करने वाला प्रारूप है। श्रीनिवास

1. D Lerner The Passing of Traditional Society pp 45-49

का पश्चिमीकरण से तात्पर्य भारत पर ब्रिटिश प्रभाव से है लेकिन यह बहुत संकुचित प्रारूप है। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत पर रूसी और अमेरिकन प्रारूपों का प्रभाव भी स्पष्टत: पड़ रहा है। डॉ. योगेन्द्रसिंह ने बताया है कि भारत में नवीन अभिजात वर्ग के बहुत से लोगों के लिए और साथ ही एशिया के भी नये राज्यों में पश्चिमीकरण एक निन्दात्मक अर्थ लिए हुए है क्योंकि यह पश्चिम के द्वारा इन देशों के पूर्ववर्ती औपनिवेशिक शासन से सम्बन्धित रहा है। यह इसीलिए आधुनिकीकरण की बजाय अधिक नैतिक मूल्य भार-युक्त (Value Loaded) है और यही कारण है कि आधुनिकीकरण हमें अधिक उत्तम विकल्प प्रतीत होता है।[1]

देवराज चेनाना पश्चिमीकरण को एक सरल प्रक्रिया नहीं मानते हैं। आपका कथन है कि वर्तमान में (पंजाब में स्थिति), यह कहना अधिक उपयुक्त है कि भारतीयकरण की प्रक्रिया चालू है, इससे हमारा तात्पर्य बाह्य बातों में काफी सीमा तक पश्चिमीकरण से तथा अधिकांशत: भारतीय मूल्यों, जो पश्चिम के मानवतावादी मूल्यों के साथ मिश्रित हैं पर पुनः जोर देने से है।[2] डॉ. योगेन्द्रसिंह का कथन है कि संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण ऐसी अवधारणाएँ हैं जिनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से निश्चितता का अभाव है, लेकिन सत्यता पर जोर देने वाली अवधारणाओं के रूप में उनमें काफी उपयुक्तता और व्यवहार्यता है।[3] ये अवधारणाएँ आनुभाविक अवलोकनों पर आधारित हैं और सांस्कृतिक परिवर्तनों के कई पक्षों के सम्बन्ध में वस्तुपरक अन्तर्दृष्टि प्रदान करती हैं। ये अवधारणाएँ सांस्कृतिक परिवर्तनों का ही विश्लेषण कर पाती हैं परन्तु सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं। स्वयं श्रीनिवास ने माना है कि संस्कृतीकरण तथा पश्चिमीकरण के माध्यम से आधुनिक भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से ही किया जा सकता है न कि संरचनात्मक दृष्टि से। हम बी. कुप्पूस्वामी के इन विचारों से सहमत हैं कि संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणायें हमें उन्नीसवीं शताब्दी के बाद वाले पचास वर्षों और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में होने वाले सतही परिवर्तन-प्रक्रियाओं को समझने में मदद करती हैं। ये दोनों ही अवधारणायें सामाजिक संरचना को प्रभावित नहीं करती हैं। अत: वर्तमान में भारतीय समाज में चल रही परिवर्तन-प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने में सहायता प्रदान करने की दृष्टि से इन अवधारणाओं को उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

प्रश्न

1. पश्चिमीकरण की अवधारणा की आलोचनात्मक दृष्टि से जाँच कीजिए।
2. पश्चिमीकरण से आप क्या समझते हैं? भारत में सांस्कृतिक परिवर्तनों के विश्लेषण में यह अवधारणा कहाँ तक सहायक है?
3. पश्चिमीकरण नामक अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करते हुए भारतीय समाज पर इसका प्रभाव बताइए।

---

1 Yogendra Singh op cit p 12
2 Dev Raj Chenana 'Sanskritization and Westernization and India's North-West', Economic Weekly vol 8, No 9 March 4 1961,pp 409-414
3 Yogendra Singh op cit p 10

28
नगरीकरण
(Urbanization)

मानव अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है और इस श्रेष्ठता का कारण उसके शरीर की कुछ विशेषताएँ जैसे- विकसित मस्तिष्क, विकसित वाणी, हाथ-पाँव की विशिष्ट रचना, केन्द्रित की जाने वाली दृष्टि एवं घुमाई जा सकने वाली गर्दन आदि। इन विशेषताओं के कारण केवल मानव ही संस्कृति का निर्माता बन सका। उद्‌विकासीय काल में वह एक समय पशुओं के समान ही था, किन्तु अपनी विशिष्ट शारीरिक विशेषताओं के कारण वह अपने पशु जीवन को बहुत पीछे छोड आया और अनेक अद्‌भुत आविष्कारों को जन्म देकर सभ्य एवं सुसस्कृत प्राणी को संज्ञा ग्रहण कर सका। मानव का प्रारम्भिक जीवन आखेट व फल-फूलों के संग्रह पर आधारित था। धीरे-धीरे उसने पशु पालन प्रारम्भ किया और पशुचारण युग में प्रवेश किया। प्रकृति को फलत-फूलते देखकर उसे कृषि की प्रेरणा मिली और उसने अनेक प्रकार की दालों, फलों, तिलहनों, कन्दमूलों एव वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ किया। कृषि से उत्पन्न वस्तुओं एव खनिजों से उसने कुटीर व्यवसाय प्रारम्भ किये और साथ ही वह औद्योगिक युग में प्रविष्ट हुआ। प्रारम्भ में उद्योग मानव-शक्ति एवं पशु के द्वारा सचालित थे, किन्तु जब जड शक्ति द्वारा संचालित मशीनों की सहायता से उत्पादन होने लगा तो उद्योगों में क्रान्ति आयी। वर्तमान औद्योगीकरण का जन्म औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम है। औद्योगिक क्रान्ति से तात्पर्य उद्योगों में उन तीव्रगामी परिवर्तनों से है जो मशीनीकरण के कारण हुए। औद्योगीकरण की नींव 18वीं सदी में इंगलैण्ड व अन्य यूरोपीय देशों में रखी गयी और धीरे-धीरे यह विश्व के अन्य भागों में भी फैला। इगलैण्ड में 1764 में जेम्स हरग्रीव नामक व्यक्ति ने ऐसे चर्खे का निर्माण किया जिस पर एक साथ 10 सूत काते जा सकते थे। 1768 में रिचर्ड आर्क राइट ने यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले ऐसे बेलन का आविष्कार किया जिस पर एक साथ दो सौ सूत काते जा सकते थे। 1750 में लकडी के कोयले के स्थान पर पत्थर के कोयले का उपयोग होने लगा। अब धातुओं को गलाकर मशीनें बनाना सरल हो गया, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति एवं औद्योगीकरण का व्यवस्थित शुभारम्भ 1765 से माना जाता है जब जेम्स वॉट ने भाप के इंजन का आविष्कार किया। 1814 में जॉर्ज स्टीवेन्सन ने विश्व को प्रथम रेलगाडी का आविष्कार किया, जिसने यातायात एव उद्योगों में आमूलचूल परिवर्तन कर दिये। 1802 में जहाजों में भाप के इंजन का प्रयोग किया गया। इस प्रकार 18वीं तथा 19वीं सदी में ऐसे अनेक आविष्कार हुए जिनके कारण उत्पादन की परम्परागत प्रणाली में परिवर्तन हुआ। पहले कृषि कार्य हल की सहायता से पुराने तरीकों द्वारा किया जाता था एवं कुटीर उद्योगों में लकडी एव लोहे के छोटे-छोटे औजारों द्वारा मानव शक्ति से उत्पादन किया जाता था, किन्तु अब मशीनों व जड़-शक्ति जैसे पेट्रोल, कोयला, जल शक्ति और परमाणु शक्ति के द्वारा विशाल पैमाने पर तीव्र गति से उत्पादन होने लगा। इस औद्योगिक क्रान्ति का साथ यातायात एवं संचारवाहन के नवीन साधनों तथा मुद्रा प्रचलन ने दिया।

नगरीकरण एवं औद्योगीकरण परस्पर सम्बन्धित प्रक्रियाएँ हैं। नगरीकरण यह प्रक्रिया है जिसमें नगरों की जनसंख्या में वृद्धि होती है अथवा नगरों में परिवर्तन हो जाते हैं। अन्य शब्दों में, नगरीकरण नगर निर्माण व नगरों की वृद्धि की प्रक्रिया है। नगर केवल एक निवास का स्थान ही नही वरन् एक विशिष्ट पर्यावरण का सूचक भी है। यह जीवन जीने का एक विशेष ढंग और एक विशिष्ट संस्कृति का सूचक भी है। नगरों की जनसंख्या अधिक होती है, वहाँ जनघनत्व भी अधिक पाया जाता है। व्यवसायों की बाहुल्यता एवं भिन्नता, औपचारिक व द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता, भोगवाद, भौतिकवाद, कृत्रिमता, जटिलता, व्यस्तता, गतिशीलता आदि नगरीय जीवन की प्रमुख विशेषताएँ हैं। नगरों में हमें बेकारी, भिक्षावृत्ति की बहुलता देखने को मिलेगी। वहाँ परिवार, नातेदारी एवं पडोस का अधिक महत्त्व नही होता है। वहाँ व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक द्वैतीयक समूहों का सदस्य होता है।

नगरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning And Definition Of Urbanization)

'नगर' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'सिटी' (City) का हिन्दी अनुवाद है। स्वयं 'सिटी' शब्द लैटिन भाषा के 'सिविटाज' (Civitas) से बना है जिसका तात्पर्य है नागरिकता। नगरीकरण शब्द नगर से ही बना है। सामान्यतः नगरीकरण का अर्थ नगरों के उद्भव, विकास, प्रसार एवं पुनर्गठन से लिया जाता है।

वर्तमान औद्योगिक नगर औद्योगीकरण की ही देन है। जब एक स्थान पर एक विशाल उद्योग स्थापित हो जाता है तो उस स्थान पर कार्य करने के लिए लोग उमड़ पड़ते हैं और धीरे-धीरे वह स्थान नगर के रूप में विकसित हो जाता है। नगरीकरण को परिभाषित करते हुए गोल्ड तथा कॉल्ब लिखते हैं, "नागरिक जीवन सम्बन्धी व्यवहार का ग्रामीण समुदाय पर प्रसार हो जाने का नाम है, 'नगरीकरण'।"[1] ब्रीज (Breese) लिखते हैं, "नगरीकरण एक प्रक्रिया है जिसके कारण लोग नगरीय कहलाते हैं, नगरों में रहने लगते हैं, कृषि के स्थान पर अन्य व्यवसायों को अपनाते हैं जो नगर में उपलब्ध हैं और अपने व्यवहार-प्रतिमान में अपेक्षाकृत परिवर्तन का समावेश करते हैं।"[2]

डेविस लिखते हैं, "नगरीकरण एक निश्चित प्रक्रिया है, परिवर्तन का वह चक्र है जिससे कोई समाज कृषक से औद्योगिक समाज में परिवर्तित होता है।"[3]

फेयरचाइल्ड के अनुसार, "नगरीकरण का अर्थ नगरीय बनने की प्रक्रिया से है अर्थात् व्यक्तियों का नगरीय क्षेत्रों को गमन तथा नगरीय प्रक्रियाओं, जनसंख्या तथा क्षेत्रों की वृद्धि।"[4]

बर्गल के अनुसार, "ग्रामीण क्षेत्रों के नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तन होने की प्रक्रिया को ही हमें नगरीकरण कहना चाहिए।"[5]

1 Gold and Kolb Dictionary of Social Sciences
2. Gerald Breese Urbanization in Newly Developing Countries, p 3
3 K.Davis The Urbanization of the Human Population, Scientific American, Sept 1965, p 123
4 Fairchild H P Dictionary of Sociology
5 Bergal Urban Sociology, p 11

मिचेल[1] नगरीकरण को नगरीय बनने की प्रक्रिया मानते है जिसमें लोग नगरों की ओर गमन करते हैं, कृषि को छोड़कर अन्य नगरीय व्यवस्थाओं को ग्रहण करते हैं और इसके साथ-साथ व्यवहार-प्रतिमानों में भी परिवर्तन लाते हैं।

नेल्स एण्डरसन के अनुसार, "नगरीय का अर्थ (i) लोगों का ग्रामीण क्षेत्र से नगरीय निवास के क्षेत्रों की ओर गति करना है, (ii) इसका यह भी अर्थ है कि लोग कृषि के स्थान पर अकृषि कार्यों को अपनाते हैं, (iii) लोग बिना किसी नगर में गमन किये भी अपने विचारों एव व्यवहार में नगरीय हो सकते हैं। इस प्रकार नगरीकरण एक जीवन-विधि है जिसका प्रसार नगर से बाहर की ओर भी होता है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर नगरीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं-

(1) नगरीकरण ग्रामों के नगरों में बदलने की प्रक्रिया का नाम है।

(2) नगरीकरण में लोग कृषि व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसाय करने लगते हैं।

(3) नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें लोग गाँव छोड़कर नगरों में निवास करने लगते हैं जिससे नगरों का विकास, प्रसार एव वृद्धि होती है।

(4) नगरीकरण जीवन जीने की एक विधि है जिसका प्रसार नगरों से गाँवों की ओर होता है। नगरीय जीवन जीने की विधि को नगरीयता या नगरवाद कहते हैं। नगरवाद (Urbanism) केवल नगरों तक ही सीमित नहीं होता वरन् गाँव में रहकर भी लोग नगरीय जीवन-विधि को अपना सकते हैं।

(5) नगरीकरण के और भी कई तरीके हैं-(अ) गाँव के लोग नगरों को देखने जाते हैं और कुछ समय तक वहाँ निवास करते हैं, (ब) नगर के लोग गाँव को देखने जाते हैं और अपने प्रभाव वहीं छोड़ जाते हैं, (स) नगरों में पैदा की हुई वस्तुएं गाँव द्वारा उपभोग की जाती हैं, (द) गाँव के लोग नगरों द्वारा प्रभावित होते हैं एव प्रभावित करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नगरीकरण का अर्थ केवल ग्रामीण जनसख्या का नगर में आकर बसना या भूमि से सम्बन्धित कार्यों के स्थान पर अन्य कार्यों में अपने को लगाना ही नहीं, लोगों के नगर में जाकर बस जाने मात्र से ही उनका नगरीकरण नहीं हो जाता। ग्रामीण व्यक्ति भी जो कि ग्रामीण व्यवसाय और आदतों को त्यागते नहीं हैं, नगरीय हो सकते हैं यदि वे नगरीय जीवन शैली, मनोवृत्ति, मूल्य, व्यवहार एवं दृष्टिकोण को अपना लेते हैं।

भारत मे नगरीकरण (Urbanization in India)

आज विश्व में सभी देशों में नगरीकरण की गति तीव्र है जैसे पहले कभी नहीं रही है। विकासशील देशों में जहाँ विश्व की तीन-चौथाई जनसंख्या रहती है, वहाँ जनसख्या का स्थानान्तरण गाँव से नगरों की ओर बहुत हुआ है और हो रहा है। पिछले कुछ वर्षों में विश्व की नगरीय आबादी तीव्र गति से बढ़ी है।

1971 की जनगणना के अनुसार भारत में 54.74 करोड़ जनसंख्या थी जिसमें से 10 करोड़ 88 लाख व्यक्ति नगरों में निवास करते थे। 1971 में देश में 3,126; 1981 में 4,029

1 Quoted G Breese in Urbanization in Newly Developing Countries, p 3
2. N Anderson Our Industrial Urban Civilization, p 1

तथा 1991 मे 4,689 नगर थे। 1991 की जनगणना के अनुसार देश में 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या 23 है तथा 50 लाख से अधिक जनसंख्या वाले चार महानगर ग्रेटर बम्बई (मुम्बई), कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास (चेन्नयी) हैं। भारत का सबसे बड़ा नगर ग्रेटर बम्बई (मुम्बई) है, जिसकी जनसंख्या 1.25 करोड़ है, उसके बाद कलकत्ता (1.09 करोड), दिल्ली (83.75 लाख) तथा मद्रास (चेन्नयी) (53.61 लाख) नगर आते हैं। भारत का सर्वाधिक नगरीकृत राज्य महाराष्ट्र है, जहाँ 38.73 प्रतिशत जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों में निवास करती है। उसके बाद गुजरात (34.40%) एवं तमिलनाडु (34.20%) है। उत्तर प्रदेश मे 19.89%, मध्य प्रदेश में 23.21%, राजस्थान में *22.88% तथा बिहार मे 13.17%, जनसंख्या नगरो में निवास करती है।*

उपर्युक्त सभी तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत मे नगरीकरण 1951-1991 के दशकों में अधिक हुआ है फिर भी दूसरे देशों की तुलना मे यह गति धीमी है। इस बढते नगरीकरण ने भारत में अनेक सामाजिक-आर्थिक समस्याओं, परिवर्तनो एव प्रभावों को जन्म दिया है।

नगरीकरण का भारतीय समाज पर प्रभाव
(Impact Of Urbanization On Indian Society)

भारत मूलत गाँवों का एक देश है जिसकी 74.3 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। प्राचीन समय में भी यहाँ नगर थे, किन्तु वे आज के नगरों से भिन्न थे। तब गाँव एवं नगर के जीवन में कोई विशेष अन्तर नही था। किन्तु जब नगरों मे बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की गयी तो नगरों की काया ही पलट गयी और वे ग्रामों से भिन्न प्रकार के सामाजिक जीवन के क्षेत्र बन गये। नगरों में प्राप्त सुविधाओं को पाने के लिए गाँवों की जनसंख्या नगरों की ओर उमड़ पडी। इससे नगरों की जनसंख्या में वृद्धि हुई और नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई। नगरीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारत में अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। परिवार, जाति, विवाह, अर्थव्यवस्था, राजनीति, धर्म, सभी कुछ तो परिवर्तन के दौर में हैं। यही नही, नगरीकरण ने अनेक नवीन समस्याओं को भी जन्म दिया। नगरीकरण के परिणामस्वरूप भारत मे होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे:

I. सामाजिक संरचना एवं संस्थाओं पर प्रभाव
(Impact on Social Structure and Institutions)

भारतीय सामाजिक संरचना के मूल आधार हैं— परिवार, विवाह, जाति-व्यवस्था एवं ग्रामीण समुदाय। नगरीकरण के कारण इनके मौलिक स्वरूप में परिवर्तन हुआ है।

(1) परिवार पर प्रभाव (Impact on Family)— परम्परात्मक भारतीय परिवार संयुक्त परिवार के होते थे जिनमें तीन या चार पीढियों के सदस्य एक साथ एक ही घर में निवास करते थे। उनकी सम्पत्ति, खेत एवं कुएं भी सामूहिक थे। जन्म, मृत्यु, विवाह एवं अन्य अवसरों पर सामूहिक कोष में से ही खर्च किया जाता था। परिवार के सभी कार्यों पर वयोवृद्ध व्यक्ति का नियन्त्रण होता था और वही परिवार से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विषय पर निर्णय लिया करता था। परिवार के अन्य सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे और धन कमाकर परिवार के सामूहिक कोष में दिया करते थे, किन्तु नगरीकरण के प्रभाव के कारण परम्परात्मक संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ। गाँवों

से लोग रोजगार की तलाश में नगरों में आने लगे। इससे गाँवों में संयुक्त परिवार टूटे। नगरों में मकानों की समस्या, महँगाई, उच्च जीवन-स्तर की इच्छा, आदि के कारण संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों का एक साथ रहना व खर्च चलाना कठिन हो गया। परिणामस्वरूप नगरों में छोटे-छोटे परिवार बनने लगे। जो लोग गाँवों से नगरों में आते, वे पैसा बचाकर गाँव के परिवार के सदस्यों के लिए भेजना उचित नहीं मानते और नगरों में प्रचलित स्वतन्त्रता और व्यक्तिवाद की भावना के कारण वे पितामह के नियन्त्रण से मुक्ति चाहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपने मूल परिवार से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और नगरों में एकाकी परिवार, जिसमें केवल पति-पत्नी और बच्चे ही होते हैं, में रहते हैं जहाँ वे परिवार के मामले में अधिक स्वतन्त्र हो जाते हैं। नगरीकरण के कारण भारत में संयुक्त परिवार की संरचना एवं कार्यों में हो रहे परिवर्तनों का उल्लेख जनगणना अधिकारियों एवं के. टी. मर्चेण्ट, के. एम. कापड़िया, बी. बी. शाह, सुधा कालडेटे, एडविन डी. ड्राइवर, आई. पी. देसाई, एलिन डी. रास, एम. एस. गोरे, राल्फ. बी. आर. अग्रवाल, गुडे, लेम्बार्ट, बी. जी. देसाई, मिल्टन, सिंगर, राधाकुमुद मुखर्जी, योगेश अटल, आदि कई समाज वैज्ञानिकों ने किया है। 1951 के जनगणना अधिकारी ने कहा कि "गाँवों में 33 प्रतिशत और नगरों में 38 प्रतिशत एकाकी परिवारों का पाया जाना इस बात का सूचक है कि देश में परम्परागत रीति-रिवाजों के अनुसार अब परिवार संयुक्त रूप से नहीं चल रहे हैं और अलग घर बसाने की प्रवृत्ति प्रबल है।"

देश के विभिन्न भागों में हुए अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं कि नगरीकरण के प्रभाव के कारण भारत में परम्परात्मक संयुक्त परिवारों की संरचना एवं कार्यों में परिवर्तन हुआ है, किन्तु वे पूरी तरह से विघटित नहीं हुए हैं। वर्तमान में परिवार संरचना की दृष्टि से तो एकाकी दिखायी देते हैं, किन्तु प्रकार्यों की दृष्टि से संयुक्त प्रकृति के हैं। नवीन परिस्थितियों के कारण तीन-चार पीढ़ियों के सभी सदस्यों का एक स्थान पर रहना; साथ-साथ पूजा एवं भोजन करना तो सम्भव नहीं है, किन्तु एकाकी परिवारों में रहने वाले सदस्यों की सम्पत्ति अब भी संयुक्त पायी जाती है। विवाह, जन्म, मृत्यु, त्यौहार एवं उत्सव आदि के अवसर पर विभिन्न स्थानों पर रहने वाले सदस्य अपने मूल निवास-स्थान पर एकत्रित होते हैं, अपने कर्त्तव्यों तथा दायित्वों का निर्वाह करते हैं, परस्पर एक-दूसरे की आर्थिक सहायता भी करते हैं।

(2) विवाह पर प्रभाव (Impact on Marriage)— नगरीकरण के प्रभाव के कारण परम्परागत भारतीय विवाह संस्था में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। नगर व्यक्तिवाद, भौतिकवाद, समानता व स्वतन्त्रता के विचारों के गढ़ हैं जिनका प्रभाव विवाह पर भी पड़ा है। अब जीवन साथी के निर्धारण में परिवार के वयोवृद्ध व्यक्तियों एवं रिश्तेदारों के स्थान पर स्वयं लड़के व लड़कियों की राय को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। नगरों में ही प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, कोर्ट मैरिज, विधवा पुनर्विवाह, तलाक, आदि अधिक दिखायी देते हैं। नगरों के लोग विवाह को अब एक धार्मिक संस्कार न मानकर एक सामाजिक समझौता मानने लगे हैं जिसे कभी भी तोड़ा जा सकता है। अब विवाह का उद्देश्य धार्मिक कार्यों की पूर्ति न मानकर सन्तानोत्पत्ति एवं रति आनन्द माना जाने लगा है। पति-पत्नी के सम्बन्धों का आधार समानता है। अब पत्नी पति को परमेश्वर न मानकर एक मित्र और साथी मानने लगी है। बाल-विवाह कम हुए हैं और उनके स्थान पर अविवाहित रहने और देर से विवाह करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। अब बहुपत्नी विवाह के स्थान पर

एक विवाह को ही श्रेष्ठ माना जाने लगा है। बहिर्विवाह के विभिन्न प्रतिबन्धों जैसे — सगोत्र, सप्रवर एवं सपिण्ड विवाह के नियमों में शिथिलता आयी है। विवाह के लिए विज्ञापन देने की प्रवृत्ति बढ़ी है और नगरों में ऐसे कई सगठन हैं जो विवाह की व्यवस्था करते हैं। अब विवाह कार्य कुछ ही घण्टों मे सम्पन्न कर दिया जाता है। इस प्रकार विवाह का संक्षिप्तीकरण हुआ है। विवाह में दहेज का महत्त्व बढ़ा है और अधिक दहेज लेना व देना प्रतिष्ठा का सूचक माना जाने लगा है। विवाह समारोह में अब केवल अपने रिश्तेदार, जाति व गोत्र के व्यक्ति ही नही वरन् अन्य जातियों के व्यक्तियों को भी आमन्त्रित किया जाने लगा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नगरीकरण के कारण विवाह संस्था परिवर्तन के दौर में है, किन्तु फिर भी वह पूरी तरह से परम्परा के बन्धनों से मुक्त नही हुई है।

(3) जाति-प्रथा पर प्रभाव (Impact on Caste System)— नगरीकरण के कारण भारतीय जाति-प्रथा मे भी परिवर्तन हुआ है। परम्परात्मक जाति-प्रथा में संस्तरण की एक प्रणाली पायी जाती है जिसमें जातियो की स्थिति ऊँची और नीची होती है। प्रत्येक जाति का इस संस्तरण में एक स्थान निश्चित होता है। ऊँची जातियां नीची जातियो से खान पान एवं व्यवहार में भेदभाव बरतती रही हैं। ऊँची जातियों को निम्न जातियों की तुलना मे अधिक अधिकार एवं सुविधाएँ प्राप्त रही हैं। प्रत्येक जाति का एक परम्परात्मक व्यवसाय होता है और एक जाति के व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। जजमानी प्रथा द्वारा विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे की सेवा करती हैं और आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कारिक सम्बन्धों में बंधी रही है, किन्तु नगरीकरण के कारण जाति-प्रथा की उपर्युक्त विशेषताओं मे परिवर्तन हुआ है। अब व्यक्ति का मूल्यॉकन उसकी जाति के बजाय उसके गुणों के आधार पर होने लगा है। जातीय संस्तरण में भी परिवर्तन हुआ है और उन जातियों की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है जो संख्या की दृष्टि से अधिक हैं, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं और जिन्हे राजनीतिक सत्ता प्राप्त है। खान-पान के सम्बन्धों एवं छुआछूत में भी शिथिलता आयी है। नगर के होटलों में सभी जातियों के व्यक्ति साथ-साथ बैठते व खाते-पीते हैं, रेल, बस, वायुयान आदि में विभिन्न जातियों के व्यक्ति सहयात्री बनकर साथ-साथ यात्रा करते हैं। फैक्टरियों, कारखानों, खानों, दफ्तरों आदि में विभिन्न जातियों के लोग साथ-साथ काम करते हैं। अब कच्चे व पक्के भोजन का भेद भी जातीय आधार पर समाप्त हुआ है और उच्च जातियाँ अन्य जातियों के यहाँ कच्चा भोजन तक भी ग्रहण करने लगी हैं। नगरों में ऐसी बस्तियाँ भी हैं जहाँ विभिन्न जातियों के व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं। अब यह आवश्यक नही है कि एक व्यक्ति अपनी जाति के परम्परागत व्यवसाय को ही करे। एक जाति के व्यक्ति कई व्यवसायों में और एक व्यवसाय में कई जातियों के व्यक्ति लगे हुए हैं। नगरों में अन्तर्जातीय विवाह गाँवों की अपेक्षा अधिक देखने को मिलेंगे। कई निम्न जातियो के व्यक्ति शिक्षा ग्रहण कर उच्च पदों पर कार्य करने लगे हैं जो पहले उनके लिए निषिद्ध थे।

(4) ग्रामीण समुदायो पर प्रभाव (Impact on Rural Communities)— नगरीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव ग्रामीण समुदायों पर भी पडा है। यद्यपि गाँवों में आज भी संयुक्त परिवार प्रथा, जाति-प्रथा व कुछ मात्रा में जजमानी प्रथा का प्रचलन है फिर भी नगरों के प्रभाव से ग्राम बच नही पाये हैं। नगर के गॉव पर पडने वाले प्रभावों का उल्लेख डी.एन. मजूमदार,

एम.एन. श्रीनिवास, एस सी. दुबे, डॉ. राव, कापडिया आदि अनेक विद्वानों ने अपनी रचनाओं में किया है। गाँव के लोग दूध, घी, सब्जी एवं फसलों को नगरों में बेचने आते हैं, इससे उन्हें अच्छा पैसा मिलता है। ग्रामों में वस्तु के स्थान पर मुद्रा-विनिमय प्रचलन बढ़ा है। ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने से उनके जीवन, दृष्टिकोण एवं मूल्यों में परिवर्तन हुआ है और नयी आकाँक्षाएँ पैदा हुई हैं। पहले गाँव लगभग आत्मनिर्भर थे और अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ स्वयं ही पैदा कर लिया करते थे, किन्तु अब वे नगरों में निर्मित वस्तुएँ जैसे — कपड़ा, प्लास्टिक, घड़ी, रेडियो, पंखा, फर्नीचर एवं अनेक अन्य वस्तुओं का उपभोग करने लगे हैं। जिन गाँवों में नल व बिजली की सुविधाएँ हो गयी हैं वहाँ पर नगरों की भांति ही विभिन्न व्यवसाय पनपने लगे हैं। यहाँ पर भी आधुनिक दुकानें, चाय की होटलें व शिक्षण संस्थाएं चल रही हैं। गाँवों में जजमानी प्रथा कमजोर हुई है और कई ग्रामीण लोग नगरों में जाकर अपना जातीय व्यवसाय करने लगे हैं। धीरे-धीरे गाँवों की आत्म-निर्भरता समाप्त हो रही है और गाँवों में नगरीय संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था पनपने लगी है। ग्रामीण लोग भी नगरीय फैशन, वस्त्र, खान-पान, जीवन-शैली, मनोरंजन के साधनों आदि का प्रयोग करने लगे हैं। ये नवीन परिवर्तन गरीब लोगों की अपेक्षा सम्पन्न लोगों में अधिक देखे जा सकते हैं।

II. आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव (Impact on Economic Activities)

नगरीकरण की प्रक्रिया ने आर्थिक क्रियाओं और संस्थाओं में भी अनेक परिवर्तन उत्पन्न कर दिये हैं। आज नगरों में बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हुए हैं, वे उत्पादन के केन्द्र बन गये हैं। वहाँ बाजार, बैंक, मुद्रा व साख आदि की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। इसी कारण नगर व्यापार और वाणिज्य के केन्द्र बन गये हैं। वहाँ किसी भी नये व्यवसाय का प्रारम्भ करने में कठिनाई नहीं होती। नगरों में बने माल को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों तक आसानी से पहुँचा दिया जाता है। नगरों में श्रम विभाजन और विशेषीकरण अधिक पाया जाता है। नगर विभिन्न प्रकार के उद्योगों और व्यवसाय के केन्द्र बनते जा रहे हैं जहाँ ग्रामीण व्यक्ति आकर अपनी उत्पादित वस्तुओं को बेचते और अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदते हैं। नगरों में उपलब्ध सुविधाओं के कारण ही नगरों में औद्योगीकरण अधिक हुआ है और इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण व्यवसाय नष्ट हुए हैं और बेकारी बढ़ी है। नगर में आर्थिक विषमता अधिक पायी जाती है।

III. राजनीतिक क्षेत्र पर प्रभाव (Impact on Political Sphere)

नगरीकरण की प्रक्रिया ने राजनीतिक क्षेत्र को प्रभावित किया है। नगरों में [illegible] ग सभी राजनीतिक दलों के कार्यालय होते हैं और नगर ही उनकी गतिविधियों के केन्द्र हैं। वे कई आन्दोलनों का प्रारम्भ नगरों से ही करते हैं। नगरों में यातायात एवं संचार के साधनों, पत्र-पत्रिकाओं एवं समाचार-पत्रों आदि की सुविधा होने के कारण, राजनीतिक दल अपने विचारों और सिद्धान्तों को सरलता से जनता तक पहुँचा देते हैं। नगरों में सभी प्रकार के राजनीतिक दलों के अनुयायी पाये जाते हैं। श्रमिकों एवं आम जनता को विभिन्न प्रकार की सुविधा दिलाने के लिए राजनीतिक दल सरकार पर दबाव डालने के लिए नगरों में ही धरना, घेराव, तालाबन्दी, हड़ताल एवं आन्दोलन प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार नगरीकरण ने लोगों में राजनीतिक जागृति पैदा की और नवीन प्रजातीय मूल्यों से लोगों को परिचित कराया है।

IV. धार्मिक क्षेत्र पर प्रभाव (Impact on Religious Sphere)

नगरों में धर्म का प्रभाव धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा है। वहाँ लोग भाग्य तथा ईश्वर में कम विश्वास करते हैं और अपने श्रम पर अधिक भरोसा रखते हैं। धार्मिक आडम्बर, पाखण्ड, कर्मकाण्ड व अन्धविश्वास नगरों में बहुत कम ही देखने को मिलता है क्योंकि शिक्षा की अधिकता के कारण वहाँ व्यक्ति हर बात का तर्क एवं विज्ञान के आधार पर मूल्याँकन करते हैं। वहाँ पण्डो, पुजारियों, पुरोहितों एवं पादरियो के ढोंग अधिक नही चल पाते। इसका तात्पर्य यह नही कि नगरो में धर्म का कोई महत्त्व और प्रभाव ही नहीं है। वर्तमान नगरों मे लोग मानसिक रूप से अधिक पीडित हैं, अत: वे पुन: धर्म की शरण में जाने लगे हैं और अब वहाँ नये-नये धार्मिक सगठन स्थापित हुए हैं जो लोगों का धर्म की ओर आकर्षित कर रहे हैं।

V. कुछ अन्य क्षेत्रों पर प्रभाव (Impact on Some Other Fields)

नगरीकरण के कारण कुछ अन्य सामाजिक-सास्कृतिक क्षेत्रों मे परिवर्तन हुए हैं जो निम्नलिखित हैं —

(1) स्त्रियों की स्थिति मे परिवर्तन— नगरों में स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है। वहाँ स्त्रियों को उच्च शिक्षा दिलायी जाती है, अत: वे पढ-लिखकर स्वय धन अर्जित करने लगी हैं और उनकी पुरुष पर आर्थिक निर्भरता समाप्त हुई है। वे घर की चारदीवारी से बाहर आयी और सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में कार्य करने लगी हैं। अब उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते देखा जा सकता है नगरों मे स्त्रियाँ को डॉक्टर, इन्जीनियर, प्राध्यापक, विधायक, मन्त्री और अन्य पदों पर कार्य करते देखा जा सकता है। बाल-विवाह की संख्या मे कमी एवं विधवा पुनर्विवाह के कारण स्त्रियों को पारिवारिक प्रस्थिति भी ऊँची उठी है। वर्तमान में परिवारों में पत्नी का पति के समकक्ष दर्जा प्राप्त है। नगरो में पर्दा-प्रथा और घूंघट-प्रथा का प्रचलन लगभग समाप्त हो गया है।

(2) रुचियों में परिवर्तन (Change in Tastes)— नगरीकरण के कारण लोगों की मनोवृत्तियो एवं रुचियों में भी परिवर्तन हुआ है। नगर का व्यक्ति सादगी के स्थान पर तड़क-भडक, चमक-दमक और फैशन को अधिक पसन्द करता है। नगरों में ही नये-नये फैशन, केश-विन्यास, वस्त्र-शैली और फर्नीचर की नयी-नयी डिजायनें और मॉडल देखे जा सकते हैं। नगरों में ही नये-नये आविष्कार जन्म लेते हैं जो लोगो की बदलती रुचि और आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं।

(3) व्यक्तिवाद (Individualism)— वर्तमान समय में पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव के कारण नगरों में व्यक्तिवाद पनपा है। वहाँ सामूहिकता और पारिवारिकता के स्थान पर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों को ही अधिक महत्त्व देने लगा है।

(4) द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता (Importance of Secondary Relations)- नगरों में द्वैतीयक एव औपचारिक सम्बन्ध अधिक पाये जाते हैं। वहाँ व्यक्तियो के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध किसी-न-किसी स्वार्थ पर आधारित होते हैं। अत. उनमें आत्मीयता का अभाव पाया जाता है। प्राथमिक सम्बन्धो की भांति वहाँ घनिष्ठता एव सहयोग देखने को नहीं मिलता

(5) सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)— नगरीकरण के कारण सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है। एक व्यक्ति अच्छे अवसर प्राप्त होने पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने तथा अपने पद, वर्ग एवं व्यवसाय को बदलने को तैयार रहता है।

नगरीकरण की समस्याएँ
(Problems Of Urbanization)

बढ़ते हुए नगरीकरण ने भारत में कई परिवर्तनों का जन्म दिया है। इन परिवर्तनों के कारण कुछ लाभकारी परिणाम सामने आये हैं तो दूसरी ओर कई नयी समस्याओं ने भी जन्म लिया है। नगरीकरण से जनित कुछ समस्याएँ निम्न प्रकार हैं—

(1) स्वास्थ्य की समस्या— सामान्य धारणा यह है कि गाँव के लोग नगरीय लोगों की तुलना में हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ होते हैं। नगरीय लोग दुबले, रुग्ण और जल्द बीमार होने वाले होते हैं। नगरों में स्वच्छ वातावरण का अभाव होता है। मकानों की भीड़-भाड़, वायु प्रदूषण, मिल, फैक्टरी का धुआँ, स्थान की कमी, बन्द मकान, रोशनी एवं स्वच्छ हवा का अभाव, गड़गड़ाहट एवं बहरा कर देने वाला शोरगुल, खटमल, मच्छर आदि की अधिकता, छूत के रोग, बदबूदार एवं सीलन भरे कमरे आदि सभी मिलकर स्वास्थ्य पर बुरा असर डालते हैं। नगरों में मृत्यु दर के गाँवों की तुलना में अधिक होने के ये प्रमुख कारण हैं। स्वास्थ्य की सुविधा जुटाने के लिए वहाँ पार्क, बगीचों एवं खेलकूद की सुविधा जुटायी जाती है। प्रभु ने अपने मुम्बई सर्वेक्षण में यह पाया कि 61 प्रतिशत लोगों ने मुम्बई में आने के बाद बीमार रहने की शिकायत की। 30 प्रतिशत लोगों ने परिवारजनों की मृत्यु के लिए नगर में आने के बाद लगी बीमारी को उत्तरदायी माना है। कई लोगों ने अपच एवं भूख न लगने की शिकायत की। नगरीकरण मानसिक स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव डालता है और लोग अनिद्रा एवं चिन्ता से परेशान रहते हैं।

(2) अपराधों में वृद्धि— गाँवों की तुलना में नगरों में अपराध अधिक होते हैं। नगरों में परिवार, धर्म, पड़ोस, रक्त सम्बन्ध एवं जाति के नियन्त्रण में शिथिलता के कारण अपराध बढ़ जाते हैं। नगर में अपरिचितता के कारण भी अपराध के लिए पृष्ठभूमि तैयार होती है। वहाँ अपराधी गिरोह अपराध में प्रशिक्षण देने का कार्य करते हैं। वहाँ चोरी, डकैती, बैंकों का लूटना, आत्महत्याएँ एवं हत्याएँ, दुर्घटनाएँ, लड़कियों का भगा ले जाने,बच्चों को उठा ले जाने, धोखाधड़ी, ठगी आदि की घटनाएँ अधिक होती हैं। समाचार-पत्रों में आये दिन इस प्रकार के अपराध की घटनाएँ छपती ही रहती हैं।

(3) मनोरंजन की समस्या— नगरों में मनोरंजन का व्यापारीकरण पाया जाता है। सिनेमा, टेलीविजन, खेलकूद, पार्क एवं बगीचों के लिए काफी पैसा खर्च करना होता है। वहाँ व्यापारिक संस्थाओं द्वारा मनोरंजन जुटाया जाता है। गाँवों में खेलकूद, नृत्य, भजन, गायन आदि के माध्यम से सुगमता से लोगों का मनोरंजन होता है।

(4) सामाजिक विघटन— व्यक्तिवादिता के कारण नगरों में सामाजिक नियन्त्रण शिथिल हुआ है। वहाँ परिवार, धर्म, ईश्वर, रक्त सम्बन्धों एवं जाति के नियन्त्रण के अभाव में समाज-विरोधी कार्य अधिक होते हैं। नगरों में नित्य नये परिवर्तन होने से परम्पराओं एवं

रीति-रिवाजों से लगाव नहीं होता। नगरो में सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष देखने को मिलते हैं जो सामाजिक विघटन पैदा करते हैं। गरीबी, भिक्षावृत्ति, तलाक, बाल-अपराध और अन्य अपराध नगरीय जीवन की प्रमुख समस्याएँ हैं। तोड़-फोड़, हड़ताल, नारेबाजी, नगरीय जीवन की आम घटनाएँ हैं।

(5) आवास की समस्या— नगरों में एक भयंकर समस्या मकानो की है। नगरो में हवा एवं रोशनीदार मकानों का अभाव होता है। कई लोग सड़क के किनारे झोंपडियाँ बनाकर रहत हैं। कानपुर जैसे कई औद्योगिक नगरों में तो एक कमरे में दस से पन्द्रह तक व्यक्ति रहते हैं। इन मकानो मे पाखाना एव पेशावघर का अभाव होता है। मकान किराया अधिक होने के कारण किराय पर मकान लेना सम्भव नहीं हो पाता। नगरीय क्षेत्रों में कई मकान तो बीमारियों के घर होते हैं।

(6) भिक्षावृत्ति— नगरों में भिक्षावृत्ति अधिक है। सड़क के किनारे, मन्दिर, मस्जिद एवं धार्मिक स्थानों के पास, रेलवे स्टेशन, बस स्टैण्ड एवं सार्वजनिक स्थानों पर भिखारियों की भीड देखी जा सकती है। भिक्षावृत्ति नगरों में व्याप्त गरीबी का सूचक है।

(7) मानसिक तनाव एवं संघर्ष— नगरों में मानसिक तनाव एवं संघर्ष अधिक हैं जिनसे मुक्ति पाने हेतु लोग नींद की गोलियाँ या प्रमाद गुटिकाएँ (Happy pills) लेते हैं। मानसिक बेचैनी से मुक्ति पाने का यह उपाय वास्तव में बड़ा महँगा है। धीरे-धीरे यह व्यक्ति को मृत्यु के मुँह में धकेलता है।

(8) वेश्यावृत्ति— नगरो में वेश्यावृत्ति अधिक पायी जाती है। वहाँ यौन अपराधो की अधिकता एवं नैतिक मूल्यों में ह्रास पाया जाता है। इस प्रकार नगरीकरण ने मानव के सदियों से चले आ रहे जीवन में अनेक परिवर्तन किये हैं और नयी समस्याओं को जन्म दिया है।

(9) बढ़ती जनसंख्या— नगरो में बढ़ती जनसख्या ने यातायात, शिक्षा, प्रशासन एव सुरक्षा की समस्या पैदा की है। सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना, यातायात एव सुरक्षा के साधन जुटाना और नगर प्रशासन चलाना एक कठिन कार्य हो गया है।

नगरीय समस्याओं के समाधान के लिए नगर नियोजन (Town Planning) आवश्यक है। नगर नियोजन द्वारा निवास, यातायात, सड़को, बगीचो, चिकित्सालयों, शिक्षण-सस्थाओ, बाजारों, मण्डियों एवं कारखानों का स्थान-निर्धारण इस प्रकार किया जाता है कि नगरीय जीवन सुविधाजनक एवं आनन्ददायक बन सके, नगरीय समस्याओं का समाधान हो सके तथा उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जा सके।

औद्योगीकरण एवं नगरीकरण
(Industrialization And Urbanization)

औद्योगीकरण एव नगरीकरण परस्पर सम्बन्धित एवं सहगामी प्रक्रियाएं हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। किसी स्थान पर उद्योग-धन्धों की स्थापना होने पर वह स्थान धीरे-धीरे नगर का रूप ले लेता है तथा नगर उद्योगों की स्थापना के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान करते हैं। डेविस का मत है कि भारत में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध पाया

जाता है। उद्योगो की स्थापना के लिए अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यक है, जैसे– कच्चे माल की उपलब्धि, यातायात के साधन, सस्ता श्रम, पूँजी व बैंक की सुविधा, पानी व बिजली की उपलब्धता आदि। इन सुविधाओं को नगरो में उपलब्धि होने के कारण अधिकाशत: लाग अपन कारखान नगरों में या उसक आस-पास हो लगाते हैं। मुम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास (चन्नयी), बगलौर आदि नगरों में उपलब्ध सुविधाओं के कारण ही वहाँ अनक प्रकार क उद्याग स्थापित हा गय हैं।

इसी प्रकार स उद्यागों को स्थापना भी नगरों का जन्म दता है। जहाँ उद्योग-धन्धे एव कारखाने लगा दिय जात है वहाँ हजारों की सख्या में मजदूर, अधिकारी तथा इनको आवश्यकताओं को पूर्ति करन वाले व्यक्ति आकर बस जात हैं और कालान्तर में वह स्थान नगर बन जाता है। टाटानगर, दुर्गापुर, भिलाई, राउरकला आदि नगरों का विकास इसी प्रकार हुआ है। प्रारम्भ में ये स्थान छोटो बस्तियाँ या जगल थे, किन्तु कारखानो की स्थापना के बाद आज व देश के प्रमुख औद्योगिक नगरों को श्रेणी में आ गये हैं। दश में उद्योगो को वृद्धि के साथ-साथ नगरीय जनसख्या तथा नगरीकरण को प्रक्रिया मे वृद्धि के कारण उद्यागों को सख्या में वृद्धि हुई है। अत स्पष्ट है कि य दोनों ही प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। फिर भी इन दोनों मे निम्नलिखित अन्तर हैं—

(1) औद्योगीकरण गाँव एव नगर दानों ही स्थानों पर हो सकता है। इसके लिए गाँव छोडकर नगर मे जाने की आवश्यकता नही होती है। ग्रामों में भी यदि बडे-बडे उद्योगों को स्थापना कर दी जाय अथवा उत्पादन जड-शक्ति द्वारा सचालित मशीनों स होने लगे तो वहाँ भी औद्योगीकरण हो जायगा, किन्तु नगरीकरण में ग्रामीण जनसख्या को ग्राम छोडकर नगरों में जाना होता है।

(2) औद्योगीकरण में कृषि व्यवसाय को छोडना होता है और उसके स्थान पर अन्य व्यवसायों में लगना होता है, जबकि नगरीकरण का सम्बन्ध कृषि, उद्योग, व्यापार, नौकरी एव अन्य छाट-मोटे व्यवसायो स भी है। इस प्रकार नगरीकरण में कृषि और गैर कृषि दोनों ही प्रकार के व्यवसाय किये जात हैं।

(3) औद्योगीकरण का सम्बन्ध उत्पादन प्रणाली से है जिसमें उत्पादन का कार्य मशीनों की सहायता से किया जाता है। आर्थिक वृद्धि से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत मूलतः यह एक आर्थिक प्रक्रिया है, किन्तु नगरीकरण नगरीय बनने की एक प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध एक विशेष प्रकार की जीवन-शैली, खान-पान, रहन-सहन, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक एव राजनीतिक जीवन स है जो नगर में निवास करने वाले लोगों में पाया जाता है।

(4) सामान्यत औद्योगीकरण नगरीकरण अथवा नगरों पर आधारित है क्योंकि उद्योगों की स्थापना के लिए जिन सुविधाओं (जैसे– बैंक, मुद्रा, श्रम, यातायात एव संचार के साधन, पानी, बिजली, कच्चा माल, जड–शक्ति आदि) की आवश्यकता होती है, वे सभी नगरों में उपलब्ध होती हैं। अत: कहा जा सकता है कि औद्योगिक समाज नगरीय समाज ही है, जबकि नगरीकरण औद्योगीकरण के बिना भी सम्भव है। प्राचीन समय मे जब उत्पादन कार्य बिना मशीनो

की सहायता से किया जाता था तब भी नगर मौजूद थे। उस समय नगर धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक एवं व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थल थे। तीर्थस्थान, राजधानियाँ, शिक्षा व संस्कृति के केन्द्र तथा मण्डियाँ ही तब नगर कहलाते थे।

प्रश्न

1. नगरीकरण क्या है? भारतीय समाज पर नगरीकरण के प्रभावों का उल्लेख कीजिए।
2. भारत में नगरीकरण के कारण हुए परिवर्तनों को दर्शाइए।
3. भारत में नगरीकरण से उत्पन्न समस्याओं का विवेचन कीजिए।
4. नगरीकरण के परिवार, विवाह एवं जाति-प्रथा पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख कीजिए।
5. नगरीकरण तथा औद्योगीकरण में अन्तर कीजिए तथा सामाजिक परिवर्तन में इनकी भूमिका स्पष्ट कीजिए।
6. भारत में नगरीकरण के सामाजिक तथा आर्थिक परिणामों की विवेचना कीजिए।
7. समाज में नगरीकरण कैसे परिवर्तन उपस्थित करता है? विवेचना कीजिए।
8. 'औद्योगीकरण तथा नगरीकरण संयुक्त प्रक्रियाएँ हैं।' भारतीय समाज के सन्दर्भ में इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
9. भारत में सामाजिक परिवर्तन के स्रोत के रूप में नगरीकरण के महत्त्व की विवेचना कीजिए।



नियोजित परिवर्तन : दिशाएँ तथा प्रमुख कार्यक्रम
(Planned Change : Directions And Major Schemes)

परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत नियम है, सदैव चलने वाली प्रक्रिया है। हम आदिकाल से लेकर आज तक किसी ऐसे समाज की कल्पना नही कर सकते जो परिवर्तन से रहित हो। 19वी शताब्दी तक अधिकाशत: परिवर्तन प्राकृतिक शक्तियों के अधीन रहे हैं, उनसे नियमित रहे हैं। ऐसे परिवर्तनों के परिणाम मानव समाज के कल्याण की दृष्टि से लाभप्रद भी रहे हैं और हानिप्रद भी रहे हैं। धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि परिवर्तन को इच्छित दिशा में मोडा जा सके तो इसके परिणामस्वरूप सामाजिक समस्याओ से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है, मानव समाज को सुख समृद्धि में वृद्धि की जा सकती है। यदि समाज को प्रगति की दिशा में आगे बढाना है, सामाजिक पुनर्निर्माण करना है, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को अधिक उन्नत बनाना है तो आवश्यक है कि बौद्धिक चिन्तन किया जाय, सोच-विचार कर लक्ष्यो का निर्धारण किया जाय, उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखकर कार्यक्रम बनाये जाएं और उन्हें क्रियान्वित किया जाय। ऐसा करके इच्छित लक्ष्यों को प्राप्ति की जा सकती है और समाज में परिवर्तन को गति दी जा सकती है। आज आधुनिक समाजो में शिक्षा के प्रचार-प्रसार, औद्योगीकरण, नगरीकरण, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास, राजनैतिक चेतना आदि ने व्यक्तियों की आकाक्षाओं एव अभिलाषाओ को इतना बढा दिया है कि यदि इनकी पूर्ति हेतु नियोजित परिवर्तन का सहारा नही लिया जाय तो सम्भव है कि समाज में असन्तोष इतना बढ जाये कि वह क्रान्ति का रूप धारण कर ले। इस स्थिति से बचने एव विकास की दिशा में आगे बढने हेतु नियोजित परिवर्तन (Planned Change) आवश्यक है।

वार्ड ने अपनी रचना 'डायनेमिक सोशियालॉजी' में बताया है कि लोग अपने ज्ञान का उपयोग करते हुए सोच-विचार कर परिवर्तन की शक्तियों को गति को इस प्रकार का मोड दे सकते हैं, जिससे कि पहले की तुलना मे कुछ उन्नत प्रकार की समाज-व्यवस्था निर्मित हो सके। प्रत्येक समाज यह चाहता है कि वह प्रगति करे, मानवीय सुखों में वृद्धि हो, अभाव से छुटकारा प्राप्त किया जाय, सामाजिक-विभेदों को कम किया जाय, व्यक्तियों को आगे बढने के उचित अवसर प्राप्त हों। इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु बौद्धिक चिन्तन का सहारा एव उद्देश्यपूर्ण प्रयास ही नियोजन है। वार्ड की मान्यता है कि परिवर्तन की प्राकृतिक प्रक्रियाएं अनिश्चित होती हैं जबकि परिवर्तन की बौद्धिक, उद्देश्यपूर्ण एव जागरूक प्रक्रिया तीव्र, निश्चित एव लाभप्रद होती है।

समाज को नियोजित परिवर्तन को दिशा में आगे बढाने के लिये आवश्यक है कि शिक्षा का व्यापक प्रसार हो, वैज्ञानिक शिक्षा की ओर लोगो का रुझान हो, वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि हो। ऐसा होने पर समाज के लोगों मे बौद्धिक क्षमताओं का विकास होगा जिसके परिणामस्वरूप नियोजित परिवर्तन के कार्यक्रम ठोस होंगे और मानवीय सुख-समृद्धि मे अधिक वृद्धि होगी। नियोजित परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि एक समाज विशेष के जीवन के विभिन्न क्षेत्रो से सम्बन्धित प्रामाणिक

जानकारी उपलब्ध हो। इसके अभाव में नियोजित परिवर्तन के द्वारा इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति नही हो पायेगी। आज अधिकतर समाजशास्त्री मानव की सृजनात्मक शक्ति में विश्वास कर नियोजित परिवर्तन के पक्षधर हैं। रूस तथा विश्व के अनेक अन्य देशों में पिछले साठ-सत्तर वर्षों में नियोजित परिवर्तन के परिणामस्वरूप अभूतपूर्व प्रगति हुई है, अनेक अविकसित राष्ट्र विकासशील और विकसित राष्ट्र की श्रेणी में आ गये हैं। भारत भी नियोजित परिवर्तन के माध्यम से विकास की दिशा मे अग्रसर है।

नियोजित परिवर्तन का अर्थ
(Meaning of Planned Change)

नियोजित परिवर्तन के अर्थ समझने के पूर्व हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि सामाजिक नियोजन (Social Planning) तथा नियोजित परिवर्तन (Planned Change) दो भिन्न अवधारणाएँ नहीं होकर एक-दूसरे की पर्यायवाची हैं। ग्रिफिन तथा इनास ने लिखा है "नियोजन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक बेहतर साधन है और मानवीय क्रियाओं को उद्देश्यपूर्ण दिशा है।"[1] लार्विन के अनुसार, नियोजन साधारणतः मानवीय शक्ति को विवेक-सम्मत तथा वांछनीय लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु निर्देशित करने का एक प्रयास है।"[2] गुन्नार मिर्डल ने लिखा है, "नियोजन का अर्थ एक देश की सरकार द्वारा सामान्यतः अन्य सामूहिक समितियों की सहभागिता सहित सामाजिक नीतियों को अधिक तार्किकता के साथ समन्वित करने का चेतन प्रयत्न है ताकि भावी विकास के इच्छित लक्ष्यों जिनका निर्धारण राजनीतिक प्रक्रिया के द्वारा होता है, तक अधिक पूर्णता और तेजी से पहुँचा जा सके।"[3] अशोक मेहता ने बताया है कि सामाजिक नियोजन (नियोजित परिवर्तन) आर्थिक रूपान्तरण को शामिल करता है, सामाजिक नियोजन भारत की सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित करता है।[4] तरलोकसिंह के अनुसार, नियोजन के उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक दोनों ही हैं तथा ये दोनो परस्पर सम्बन्धित हैं।[5] योजना आयोग भारत सरकार के अनुसार "नियोजन वास्तव में सुपरिभाषित सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से अधिकतम लाभ उठाने हेतु अपने साधनों को संगठित करने एवं उपयोग में लाने की पद्धति है।"[6]

उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट है कि सामाजिक नियोजन इच्छित लक्ष्यो को प्राप्त करने का संगठित प्रयास है। ये इच्छित या सामाजिक लक्ष्य क्या होंगे, यह एक समाज की सामाजिक नीति (Social Policy) पर निर्भर करता है। जब एक बार लक्ष्यों का निर्धारण कर लिया जाता है तो उन्हें प्राथमिकता के क्रम में जमा लिया जाता है, यह निश्चित कर लिया जाता है कि किस लक्ष्य या किन लक्ष्यों को प्राप्त करने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया जायेगा। लक्ष्य निर्धारण के पश्चात् देश मे उपलब्ध साधनों की प्राप्ति हेतु संगठित प्रयास किये जाते हैं, योजना-बद्ध तरीके से आगे बढ़ा जाता है, योजनाओं को क्रियान्वित किया जाता है ताकि समाज को इच्छित दिशा में आगे बढ़ाया जा सके। संक्षिप्त

1 Keith B Griffin and John L Enos Planning Development
2 Lewis S Larvin Time for Planning
3 G Myrdal , Beyond the Welfare State, p 15
4 Ashok Mehta Economic Planning In India
5 Tarlok Singh "The Process of Social Planning, Yojana July 1964
6 "Planning is essentially a way of organizing and utilising resources to maximum advantage in terms of defined social ends" - Planning Commission Govt of India

में यही नियोजित परिवर्तन (Planned Change) है। सोच-विचार कर सुनिश्चित तरीके से इच्छित या निर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप परिवर्तन लाना ही नियोजित परिवर्तन है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब समाज की परिस्थितियों एवं उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखते हुए उसे इच्छित दिशा की ओर बढ़ाने हेतु, उसमें वांछनीय परिवर्तन लाने हेतु योजना अथवा कार्यक्रम बनाये जाते हैं, उन्हें क्रियान्वित करने हेतु सरकारी एवं गैर-सरकारी तौर पर सामूहिक प्रयत्न किये जाते हैं, परिणामस्वरूप समाज या सामाजिक जीवन में परिवर्तन होता है, उसे ही 'नियोजित परिवर्तन' के नाम से पुकारते हैं।

"नियोजित परिवर्तन" की अवधारणा के तीन मुख्य आधार हैं- (1) सामाजिक नीति के अनुसार निर्धारित सामाजिक लक्ष्य, (2) उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखते हुए लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु योजना का निर्माण, (3) सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति अर्थात् समाज में परिवर्तन लाने हेतु योजना या कार्यक्रम का क्रियान्वयन।

वर्तमान में विकासशील और विकसित देश "नियोजित परिवर्तन" की दिशा में तेजी से आगे बढ़ते जा रहे हैं ताकि वे विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकें। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से भारत भी इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहा है। नियोजित परिवर्तन के अन्तर्गत सामान्यतः प्रयास के चार क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया है-

(1) मूलभूत सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आवास सुविधाओं का विकास,

(2) ग्रामीण एवं नगरीय कल्याण तथा न्यूनतम आवश्यक सुविधाओं को शामिल करते हुए समाज-कल्याण,

(3) समुदाय के अधिक दलित एवं कमजोर वर्गों का कल्याण,

(4) सामाजिक सुरक्षा।

वर्तमान समय में "नियोजित परिवर्तन" सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख साधन है। नियोजित परिवर्तन के अर्थ को और अधिक स्पष्टता से समझने की दृष्टि से यहाँ हम इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाल रहे हैं-

(1) नियोजित परिवर्तन एवं सामाजिक नीति का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। सामाजिक नीति का निर्धारण राज्य के द्वारा किया जाता है और इसी के अनुरूप परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है। (2) लक्ष्यों का निर्धारण सामाजिक नीति के अनुसार ही किया जाता है। लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संगठित प्रयास किये जाते हैं। (3) नियोजित परिवर्तन साधारणतः समाज-जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्धित होता है। (4) नियोजित परिवर्तन लाने का प्रयत्न सामान्यतः सरकार के द्वारा किया जाता है, यद्यपि इस कार्य में गैर-सरकारी संगठनों का सहयोग भी लिया जाता है। (5) यह संगठित एवं शान्तिमय साधनों से समाज को बदलने का प्रयास है। (6) यह किसी व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या किसी वर्ग विशेष से सम्बन्धित नहीं होकर समाज के अधिकांश लोगों से सम्बन्धित होता है। (7) नियोजित परिवर्तन के परिणामस्वरूप सामाजिक संरचना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है। (8) नियोजित परिवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों की सफलता के लिए आवश्यक है कि उन्हें सामाजिक मूल्यों एवं प्रथाओं का समर्थन प्राप्त हो। (9) विभिन्न समाजों में वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण नियोजित परिवर्तन का रूप भिन्न-भिन्न होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नियोजित परिवर्तन एक ऐसा व्यापक कार्यक्रम है जिसमें सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु सरकारी तथा गैर सरकारी साधनों का प्रयोग योजनाबद्ध तरीके से किया जाता है।

नियोजित परिवर्तन के उद्देश्य एवं महत्त्व
(Aims and Importance of Planned Change)

भारत सरकार के योजना आयोग के सदस्य तरलोकसिंह के अनुसार नियोजित परिवर्तन (नियोजन) के उद्देश्य आर्थिक एवं सामाजिक दोनों ही हैं तथा ये दोनों अन्तःसम्बन्धित हैं। कार्ल मेनहाइम[1] के अनुसार हमारा कार्य नियोजित परिवर्तन के द्वारा एक विशेष प्रकार की समाज-व्यवस्था को निर्मित करना है। हमें प्रजातांत्रिक आदर्शों के अनुरूप स्वतंत्रता के लिए, पूर्ण रोजगार एवं स्रोतों के पूर्ण दोहन के लिए, वास्तविक समानता व सामाजिक न्याय के लिए, सम्पत्ति व निर्धनता की अधिकताओं को समाप्त करने के लिए, मूल्यवान परम्परा को समाप्त किये बिना सांस्कृतिक मानकों के लिए, एक जन-समूह के खतरों को नाकामयाब करने के लिए, केन्द्रीयकरण एवं शक्ति के विस्तार के मध्य सन्तुलन के लिए एवं व्यक्तित्व के उत्तम विकास को प्रोत्साहित करने के लिए, समाज के धीरे-धीरे रूपान्तरण के लिए नियोजन करना है। स्पष्ट है कि नियोजित परिवर्तन का उद्देश्य समाज का चहुँमुखी विकास है। हमें राष्ट्रवाद, औद्योगीकरण, नगरीकरण, प्रजातंत्रीकरण, धर्म-निरपेक्षीकरण तथा आधुनिकीकरण की दिशा में समाज को आगे बढ़ाना है, कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य को प्राप्त करना है।

नियोजित परिवर्तन (Preventive) में निरोधात्मक तथा निर्माणात्मक (Constructive) दोनों पक्षों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। कार्ल मेनहाइम के अनुसार नियोजित परिवर्तन का लक्ष्य पुनर्निर्माण (Reconstruction) है तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति उसी समय सम्भव है जब समाज में व्याप्त लोगों की कमियों को दूर किया जाय। इसके लिए मानवीय लक्ष्यों की पुनर्व्याख्या, मानवीय क्षमताओं का रूपान्तरण एवं नैतिक संहिताओं का पुनर्निर्माण आवश्यक है।

स्पेन्सर एवं कॉम्टे का कहना है कि नियोजित परिवर्तन का मुख्य उद्देश्य पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को जारी रखना है तथा इस कार्यक्रम के निम्नांकित लक्ष्य हैं-

(1) समाज के सभी व्यक्तियों को आजीविका कमाने तथा आत्म-विश्वास के समान अवसर प्रदान करना,

(2) अविकसित क्षेत्रों के विकास का प्रयत्न करना, उन क्षेत्रों के व्यक्तियों के लिए शिक्षा, चिकित्सा, आवास तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करना एवं आर्थिक असमानता को दूर करना,

(3) समाज के पिछड़े वर्गों तथा शारीरिक व मानसिक दृष्टि से कमजोर लोगों के उत्थान हेतु कार्यक्रम बनाकर उन्हें क्रियान्वित करना,

(4) समाज से अज्ञानता, अशिक्षा, अभाव, बेकारी तथा बीमारी को दूर करना,

(5) समाज के सभी लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की व्यवस्था करना।

1 Karl Mannheim : Freedom, Power and Democratic Planning

जब हम भारतीय समाज के सन्दर्भ में नियोजित परिवर्तन के उद्देश्य पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इनका उल्लेख भारतीय संविधान एवं पंचवर्षीय योजनाओं में स्पष्ट किया गया है। भारत में न्याय(Justice) स्वतन्त्रता (Liberty), समानता (Equality)तथा बन्धुत्व (Fraternity) के लक्ष्यों का ध्यान में रखकर नियोजित परिवर्तन को दिशा देने का प्रयास किया गया है। ये ऐसे लक्ष्य हैं जो परिवर्तन को दिशा देते हैं और देश को विकास के पथ पर आगे बढ़ाने में सहायता करते हैं।

भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों में भारत में समाजवादी समाज (Socialistic Society) की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु नियोजित परिवर्तन का इस प्रकार संचालित करना है ताकि सभी लोगों को अपनी आजीविका चलाने हेतु समुचित अवसर प्राप्त हों, उपलब्ध वस्तुओं का समान रूप से वितरण हो, शोषण से लोगों की रक्षा हो, कृषि के क्षेत्र में सुधार हो, रहन-सहन का स्तर उन्नत हो, शिक्षा का व्यापक प्रसार हो, स्वास्थ्य सुविधाएँ समुचित मात्रा में उपलब्ध हों तथा प्रजातन्त्र को ग्राम-स्तर तक पहुँचाने एवं देश को समृद्ध बनाने हेतु लोगों की सहभागिता को बढ़ाने की दृष्टि से पंचायती राज-संस्थाओं का गठन किया जाय।

ग्रामीण समुदायों का विकास एवं पुनर्निर्माण भी नियोजित परिवर्तन का एक मुख्य लक्ष्य है। भारत के सन्दर्भ में इस लक्ष्य का विशेष महत्त्व है क्योंकि यहाँ की 74.3 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में ही निवास करती है। इन लोगों के सर्वांगीण विकास हेतु नियोजित परिवर्तन नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम और वर्तमान में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। विकास कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान का समुचित प्रयोग किया जाना आवश्यक है। नियोजित परिवर्तन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

(1) समाज कल्याण (Social Welfare)
(2) सामाजिक पुनर्निर्माण (Social Reconstruction)
(3) सामाजिक स्थायित्व (Social Stability)
(4) व्यक्तित्व का सम्वर्द्धन (Enrichment of Human Personality)

जब हम इन उद्देश्यों पर विचार करते हैं तो नियोजित परिवर्तन का महत्त्व स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है। कोई भी समाज परिवर्तन को नियोजित किये बिना विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। सन् 1952 से भारत में चल रही विभिन्न पंचवर्षीय योजनाएँ और उनके आधार पर हुई प्रगति नियोजित परिवर्तन के महत्त्व को ही व्यक्त करती है।

भारत में नियोजित परिवर्तन
(Planned Change in India)

भारत में नियोजित परिवर्तन के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही अप्रैल 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना चालू की गयी जो मार्च 1956 तक चली। इस योजना में कृषि पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर जोर दिया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य प्रमुखत: रखा गया। इसमें समाज में व्याप्त विषमता को दूर कर आय तथा सम्पत्ति के समान वितरण पर जोर दिया गया। इसमें औद्योगिक विकास को प्राथमिकता दी गयी। तृतीय पंचवर्षीय

योजना में इस बात को विशेषत: स्वीकार किया गया कि आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन साथ-साथ लाना आवश्यक है। इस योजना में उद्योग, खनिज, परिवहन, संचार तथा सामाजिक सेवाओं को प्राथमिकता दी गयी ताकि राष्ट्रीय जीवन का विकास हो सके।

चौथी पंचवर्षीय योजना अप्रैल 1969 से प्रारम्भ हुई तथा मार्च 1974 तक चली। इस योजना में देश के आर्थिक विकास पर जोर दिया गया। पाँचवी पंचवर्षीय योजना में गरीबी हटाने तथा आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ने के लक्ष्य निर्धारित किये गये। इसमें कमजोर वर्गों विशेषत लघु एवं सीमान्त किसानों तथा कृषि-श्रमिकों के लिए रोजगार के अवसरों को बढ़ाने पर विशेष जोर दिया गया। इसमें अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों के कल्याण के लिए अनेक कार्यक्रम रखे गये।

पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा घोषित बीस सूत्रीय कार्यक्रम में ग्रामीण विकास, नगरीय विकास, आर्थिक व्यवस्था को सशक्त बनाने, बेरोजगारी की समस्या को हल करने, सामान्य जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने तथा छात्रों के कल्याण से सम्बन्धित विविध योजनाओं के क्रियान्वयन पर जोर दिया गया। छठी पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल 1980 से 1985 तक का रखा गया। इस योजना में 97,500 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया। इसमें आर्थिक तथा तकनीकी क्षेत्र में आधुनिकीकरण को बढ़ावा देने, गरीबी व बेकारी को समाप्त करने, क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने, जनसंख्या को नियंत्रित करने तथा विकास कार्यक्रमों में सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त करने के लक्ष्य रखे गये।

सातवीं पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल 1985 से 1990 तक का रखा गया। इस योजना में 34 खरब 81 अरब 48 करोड़ रुपये के खर्च का प्रावधान किया गया। योजना में गरीबी और बेकारी को दूर करने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। इस योजना में आम आदमी को रोटी, कपड़ा, मकान तथा स्वास्थ्य प्रदान करने का कार्य हाथ में लिए गए।

आठवीं पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल 1992 से 1997 रखा गया। आठवीं योजना के लिए योजना आयोग ने जनसंख्या बढ़ोत्तरी में कमी लाने, प्राथमिक शिक्षा का दायरा बढ़ाने और इस सदी के अन्त तक सभी को रोजगार दिलाने के लक्ष्य रखे गए।

नियोजित परिवर्तन के उपर्युक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप जिन आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों की जिस रूप में अपेक्षा की गयी, वे उस रूप में नहीं लाये जा सके, निर्धारित लक्ष्यों को पूर्णत: प्राप्त नहीं किया जा सका। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रामीण विकास हुआ है, कृषि के क्षेत्र में देश आगे बढ़ा है, औद्योगिक विकास हुआ है, राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई है, सामाजिक सेवाओं का विस्तार हुआ है, पिछड़े वर्ग के लोग आगे बढ़े हैं, रोजगार के अवसर अधिक मात्रा में उपलब्ध हुए हैं तथा परिवहन एवं संचार के साधनों का विकास हुआ है। नियोजित परिवर्तन ने लोगों को विकास की दिशा में आगे बढ़ने हेतु प्रेरित किया है, उनकी आकांक्षाओं के स्तर को ऊपर उठाया है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं व बीस-सूत्री कार्यक्रम के अतिरिक्त नियोजित परिवर्तन की दृष्टि से विविध क्षेत्रों में चल रहे कार्यक्रम इस प्रकार हैं-

समाज कल्याण (Social Welfare)

भारतीय संविधान में कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना पर जोर दिया गया

है। इसके लिए नियोजित परिवर्तन को साधन माना गया है। देश को कल्याणकारी राज्य की दिशा में आगे बढ़ाने हेतु समाज-कल्याण से सबंधित विविध कार्यक्रमों को यहाँ क्रियान्वित किया गया है।

समाज-कल्याण की अवधारणा को स्पष्ट करती हुई दुर्गाबाई देशमुख ने बताया है, "समाज-कल्याण जनसख्या के दुर्बल एवं पीड़ित हिस्से के लाभ के लिए किया जाने वाला एक विशेषीकृत कार्य है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों, बच्चों, अपंगों, मानसिक रूप से विकारयुक्त लोगों एवं सामाजिक रूप से पीड़ित व्यक्तियों के कल्याण के लिए की जाने वाली सेवाओं का विशेष रूप से समावेश होता है।"[1]

योजना आयोग के अनुसार समाज-कल्याण कार्यक्रमों में जनता के अनेक पीड़ित वर्गों के कल्याण के सम्बन्ध में, समाज की चिन्ता व्यक्त होती है और इन कार्यों में राष्ट्रीय विकास पर जोर दिया है।[2]

हैरी एच. कैसिडो के अनुसार, "समाज कल्याण का तात्पर्य उन संगठित गतिविधियों से है जिनका सम्बन्ध प्रमुखत तथा प्रत्यक्ष रूप में मानव-स्रोतों को नष्ट होने से बचाये रखने, उन्हें सरक्षित करने तथा उनका सुधार करने से है तथा जिसमें (समाज कल्याण) सामाजिक सहायता, सामाजिक बीमा, बाल-कल्याण, सुधार-सुधार, मानसिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, श्रम-संरक्षण तथा आवास-व्यवस्था सम्मिलित है।"[3]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि समाज-कल्याण सेवाओं की एक ऐसी समन्वित योजना है जिसके अन्तर्गत समाज के कमजोर वर्गों के उत्थान के लिए विशेष प्रयास किये जाते हैं। इनमें वे सभी सेवाएँ सम्मिलित हैं जिनके द्वारा समाज का पुनर्निर्माण किया जाता है।

भारत में समाज-कल्याण का क्षेत्र काफी व्यापक है। कुछ समय पूर्व तक अनुसूचित जातियों, जनजातियों, भूतपूर्व अपराधी जातियों एवं श्रमिकों को प्रदान की जाने वाली सुविधाओं तक ही इसका क्षेत्र सीमित था। किन्तु अब बाल कल्याण, युवक कल्याण, महिला कल्याण,परिवार कल्याण, श्रम कल्याण, पिछड़े वर्गों का कल्याण, विकलांगों का कल्याण, नगर सामुदायिक कल्याण, ग्रामीण परिवार सामुदायिक विकास, अपराधियों का सुधार तथा मद्य-निषेध आदि को समाज-कल्याण के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। यहाँ अब सरकार तथा ऐच्छिक सगठनों द्वारा पिछले करीब 45 वर्षों में समाज-कल्याण के क्षेत्र में किये गये विविध प्रयासों तथा कार्यक्रमों का उल्लेख किया जायेगा।

1. बाल-कल्याण (Child Welfare)

छठी पंचवर्षीय योजना में बाल-कल्याण कार्यक्रमों को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गयी है। कारखानों एवं खानों में काम कर रहे बाल-श्रमिकों के शोषण को रोकने हेतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात यहाँ कारखाना अधिनियम एव भारतीय खान अधिनियम द्वारा एक निश्चित आयु से कम के बच्चों को काम पर लगाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत बाल-श्रमिकों के लिए कार्य के घंटे, छुट्टियाँ, न्यूनतम वेतन तथा स्वास्थ्य सुविधाओं की व्यवस्था की गई। बाल-श्रमिकों के अतिरिक्त अन्य बालकों के कल्याण पर भी समाज-कल्याण कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से विशेष ध्यान दिया गया है। ये कार्यक्रम निम्नलिखित प्रकार से हैं–

1 Social Welfare in India Preface, Govt of India, Planning Commission
2 Third Five Year Plan, p 716
3 Harry H Cassidy Social Security and Reconstruction in Canada p11

(1) समन्वित बाल विकास सेवाएँ (Integrated Child Development Services)— इसमें 6 वर्ष तक की आयु के बच्चों को पौष्टिक आहार प्रदान किया जाता है, संक्रामक बीमारियों से संरक्षण दिया जाता है, उनके स्वास्थ्य का परीक्षण किया जाता है, माताओं को बालकों की स्वास्थ्य रक्षा हेतु प्रशिक्षण दिया जाता है, पोषण एवं स्वास्थ्य शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा प्रदान की जाती है। वर्तमान में देश में ऐसी 2,538 परियोजनाएँ चल रही हैं।

(2) पोषण कार्यक्रम (Nutrition Programme) के अन्तर्गत 6 वर्ष तक के बालकों के लिए नगर की घनी आबादी वाली बस्तियों एवं जनजातीय क्षेत्रों में भारत सरकार के द्वारा पौष्टिक आहार की सुविधा प्रदान की गयी है।

(3) संरक्षण एवं पोषण-गृहों की स्थापना (Establishment of Protection and Foster-Care Homes) — उपेक्षित, अवांछित, छोड़े हुए तथा अनाथ बच्चों को संरक्षण प्रदान करने और उनके पालन-पोषण हेतु समाज-कल्याण विभाग के प्रयत्नों एवं आर्थिक सहायता से ऐच्छिक संगठनों के द्वारा इस प्रकार के गृहों की स्थापना की गई है।

(4)प्रशिक्षण कार्यक्रम (Training Programme) — बाल कल्याण कार्यक्रमों में लगे कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से देश के विभिन्न भागों में वर्तमान में 324 आंगनबाड़ी कार्यकर्त्ता-प्रशिक्षण केन्द्र कार्यरत हैं। अमेरिका द्वारा संचालित 'केअर'(CARE) नामक संस्था बालकों को मुफ्त पोषाहार देती है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संचालित यूनिसेफ संस्था भी बाल-कल्याण कार्यक्रमों के लिए आर्थिक सहायता देती है। 1985-89 की अवधि के लिए उसने 227.3 मिलियन डॉलर की सहायता दी। सातवीं पंचवर्षीय योजना में बाल एवं महिला कल्याण के लिए 738.12 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी।

2.महिला-कल्याण (Welfare of Women)

महिलाओं के कल्याण की दृष्टि से विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अनेक प्रयास किये गये हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

(1) प्रौढ़ महिलाओं के लिए प्रकार्यात्मक साक्षरता (Functional Literary for Adult Women)— 15 से 45 वर्ष के आयु-समूह की महिलाओं के लिए वर्ष 1975-76 से प्रकार्यात्मक साक्षरता कार्यक्रम के अन्तर्गत स्वच्छता एवं स्वास्थ्य, भोजन एवं पोषक तत्त्वों, गृह-प्रबन्ध एवं छोटे बच्चों की देख-रेख, स्कूल शिक्षा एवं व्यावसायिक योग्यता के सम्बन्ध में अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की गयी है।

(2) प्रौढ़ महिलाओं के लिए व्यावसायिक शिक्षण तथा शिक्षा का संक्षिप्त पाठ्यक्रम (Vocational Training and Condensed Courses of Education for Adult Women)— योग्य तथा जरूरतमंद स्त्रियों को नौकरी की सुविधाएँ उपलब्ध कराने तथा प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं जैसे प्राथमिक स्कूलों की अध्यापिकाओं, स्वास्थ्य-निरीक्षिकाओं, नर्सों, दाइयों तथा परिवार-कल्याण कार्यकर्त्ताओं की एक टोली तैयार करने के उद्देश्य से 1958 से यह योजना चालू की गई। इस योजना से अब तक लाखों महिलाओं को लाभ मिला है।

(3) **महिलाओं के लिए सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम (Socio-Economic Programme for Women)**— कार्य करने की इच्छुक महिलाओ को काम के अवसर उपलब्ध कराने की दृष्टि से 1958 से यह कार्यक्रम लागू किया गया। सन् 1986-87 से ही महिलाओं को रोजगार के उत्तम अवसर प्रदान करने के लिए 'Women's Development Corporations' स्थापित किये गये हैं। अपग एव जरूरतमद महिलाओं को काम देने के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण विभाग द्वारा 'Work and Wage' कार्यक्रम भी चलाया जा रहा है।

(4) **महिलाओ के लिए कानूनी संरक्षण (Legal Protection for Women)**— समय-समय पर पारित विभिन्न अधिनियमो के माध्यम स महिलाओं को कानूनी सरक्षण प्रदान किया गया है। सन् 1976 में 'समान वेतन अधिनियम' पारित किया गया ताकि स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति मे सुधार लाया जा सक। 1961 मे पारित 'दहेज निरोधक अधिनियम' में समय-समय पर सशोधन किये गय ताकि इसे अधिक प्रभावी बनाया जा सके। सन् 1976 में 'हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' मे सशोधन किया गया ताकि शोषण की दशा में पत्नी अपने पति को तलाक दे सके। 'कारखाना (सशोधित)-अधिनियम, 1976' के द्वारा ऐसे कारखानों मे जिनमें कम से कम 30 महिलाएँ काम करती हैं; शिशु-गृहों की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया। सन् 1976 मे 1961 के मातृत्व हित-लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) में सशोधन करके सभी उद्योगों तथा प्रतिष्ठानों मे मातृत्व हित-लाभ देने का प्रावधान किया गया।

(5) **पंचवर्षीय योजना और महिला कल्याण (Five Year Plan and Women Welfare)**— महिला कल्याण क लिए छठी पचवर्षीय योजना (1980-85) में 34.44 करोड रुपये का प्रावधान किया गया। इस योजनाकाल में कार्यरत महिलाओ, निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाली महिलाओं तथा सरक्षण की आवश्यकता का अनुभव करने वाली महिलाओं के कल्याण पर विशेषत जार दिया गया है। इन महिलाओं क शिशुओं के लिए बालबाडियो एव शिशु-गृहो की ओर अधिक मात्रा मे स्थापना की व्यवस्था की गयी है। नगरीय क्षेत्रों में कार्यशील महिलाओं को आवास-सुविधाएँ अधिक मात्रा में उपलब्ध कराने हतु अधिक होस्टल चलाने का लक्ष्य रखा गया है। सातवी पचवर्षीय योजना (1985-90) में सामाजिक एव महिला कल्याण पर 8012.36 करोड रुपय खर्च किये गये। पुस्तकों, पम्फ्लेट एव विज्ञापनो मे स्त्रियों को भद्दे और भौडे रूप में प्रदर्शित करने पर 'Indecent Representation of Women (Prohibition) Act, 1986' द्वारा रोक लगा दी गयी है। इस प्रकार क अपराध के लिए दो वर्ष तक क कारावास एव दो हजार रुपये तक क जुर्माने का दण्ड निर्धारित किया गया है।

3. श्रम कल्याण (Labour Welfare)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सघ के अनुसार श्रम-कल्याण में ऐसी सेवाओ तथा सुविधाओ को समझा जाना चाहिए जो कारखानो के अन्दर या समीपवर्ती स्थानों में स्थापित की गयी हों ताकि उनमें काम करन वाल श्रमिक स्वस्थ और शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में अपना काम कर सके एव अपने स्वास्थ्य तथा अपने नैतिक स्तर को ऊँचा उठान वाली सुविधाओ का लाभ उठा सके।[1] श्रम कल्याण के

1 Report of the I L O Asian Regional Conference p 3

अन्तर्गत श्रमिकों की भलाई के लिए किये जाने वाले वे सभी कार्य आ जाते हैं जो कारखानों के भीतर या बाहर किये जाते हैं। ये कार्य श्रमिकों को आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक एवं नैतिक विकास के लिए मिल मालिकों, सरकार, मजदूर संगठनों एवं गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा किये जाते हैं। श्रमिकों के लिए शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, स्वास्थ्य, सफाई, वेतन, बोनस, आवास आदि की व्यवस्था श्रम-कल्याण कार्यों के अन्तर्गत ही आती है। उचित भर्ती-पद्धति, कार्य-स्थल की स्वास्थ्यप्रद दशाएँ, दुर्घटना से संरक्षण तथा सवैतनिक अवकाश आदि भी श्रम-कल्याण कार्यों के ही भाग हैं।

वर्तमान भारत में कार्यशील जनसंख्या करीब 31 करोड़ है। यद्यपि भारत में विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या काफी है परन्तु यहाँ श्रमिक की कार्य-कुशलता बहुत कम है। इसके कारण हैं- आय की अपर्याप्तता, पौष्टिक भोजन का अभाव, स्वास्थ्य का गिरा हुआ स्तर, औद्योगिक विवाद, नौकरी की असुरक्षा, कार्य-स्थल पर स्वास्थ्यप्रद दशाओं एवं मनोरंजन हेतु समुचित सुविधाओं का अभाव आदि। श्रमिकों के कल्याण को ध्यान में रखकर भारत सरकार एवं राज्य-सरकारों ने समय-समय पर अनेक श्रम-अधिनियम पारित किये एवं कल्याण योजनाएँ प्रारम्भ कीं जो इस प्रकार हैं- कारखाना अधिनियम, 1948 के द्वारा 14 वर्ष से कम आयु के बालकों को कारखानों में काम पर लगाये जाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया, श्रमिकों के लिए सवैतनिक अवकाश, कारखानों के भीतर कार्य की दशाओं को सुधारने, शिशु-कल्याण, कैण्टीन तथा श्रम-कल्याण अधिकारी आदि की व्यवस्था की गयी। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के द्वारा ऐसे कारखानों, सिनेमा-घरों, दुकानों, होटलों, रेस्टोरेण्ट आदि में जहाँ 20 या इससे अधिक श्रमिक काम करते हों, के लिए बीमार पड़ने, चोट लगने, प्रसूति आदि की अवस्था में इलाज कराने, नकद भत्ता देने या चोट लगने पर मृत्यु हो जाने की स्थिति में आश्रितों को पेंशन देने की व्यवस्था की गयी। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1976 के द्वारा कारखानों में जबरन छुट्टी, छटनी एवं तालाबंदी पर समुचित प्रतिबन्ध लगा दिया। 1976 की फरवरी में ही समान पारिश्रमिक अधिनियम बनाया गया जिसमें स्त्री-पुरुष को समान वेतन देने की व्यवस्था की गई। बोनस अधिनियम के अनुसार बैंक, रेल एवं कारखाना श्रमिकों को 8.33 प्रतिशत बोनस देने का प्रावधान किया गया। ठेका मजदूरी अधिनियम, 1970 कुछ संस्थाओं में ठेका मजदूरी व्यवस्था का नियमन करता है तथा मजदूरी की अदायगी न होने पर मालिक को जिम्मेदार माना गया है। बागान श्रम अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत बागान श्रमिकों के लिए मकान, चिकित्सा, शिक्षा एवं मनोरंजन की व्यवस्था भी की गई है। भारतीय खान अधिनियम, 1952 के द्वारा कोयला, अभ्रक, कच्चा लोहा, चूने का पत्थर, डोलामाइट आदि खानों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिए कल्याण-कोष स्थापित किया गया है, 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों के खानों में काम करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है तथा श्रमिकों को मनोरंजन, शिक्षा, चिकित्सा, आवास आदि की सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। बन्धुआ मजदूरी प्रथा अधिनियम, 1976 के द्वारा बन्धुआ मजदूरी प्रथा समाप्त कर दी गयी है। श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था भी की गयी है, उन्हें शोषण से बचाने का प्रयत्न भी किया गया है। स्पष्ट है कि सरकार ने श्रमिकों के कल्याण को ध्यान में रखकर समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित किये, जिनमें श्रम पुरस्कार, राष्ट्रीय सुरक्षा पुरस्कार एवं मोटर परिवहन मजदूरों एवं गोदी मजदूरों के लाभ के लिए बनाये गये अधिनियम प्रमुख हैं। इसके अलावा सरकार ने और भी [illegible] क्रम चलाये तथा श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया।

4. अनुसूचित जतियो, जनजातियों तथा पिछडे वर्गो का कल्याण
(Welfare of Scheduled Castes, Tribes and Backward Classes)

1991 की जनगणना के अनुसार देश में अनुसूचित जातियों एव जनजातियों की जनसख्या क्रमश: 13.82 करोड़ तथा 6.78 करोड है। राज्य सरकारों ने अपने-अपने राज्य में कई जातियों को 'अन्य पिछडी जातियों' के रूप में भी घोषित किया है जो पिछड़े वर्गों के अन्तर्गत आती हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में उपर्युक्त लोगों की प्रगति को राष्ट्रीय नीति का प्रमुख लक्ष्य माना गया है।

इन लोगों को भारतीय समाज के अन्य लोगों के स्तर तक लाने, इन्हें निर्योग्यताओं से मुक्त करने, शोषण से बचाने तथा अस्पृश्यता समाप्त करने हतु सरकारी एव गैर सरकारी स्तर पर समय-समय पर अनेक प्रयत्न किये गय हैं। गैर-सरकारी प्रयत्नों में महात्मा गाँधी, राजा राममोहन राय, डॉ. अम्बेडकर, श्रीमती एनीबीसेण्ट, ज्योतिराय फूले, ठक्कर बापा आदि क प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में सुधारवादी आन्दोलन की भी प्रमुख भूमिका रही है।

सरकारी स्तर पर किय गये कल्याण-कार्यो में सँवैधानिक प्रावधान विशेष रूप स महत्वपूर्ण हैं जिनके माध्यम स सभी प्रकार के भेदभावों को दूर करने एवं इन लोगों के उत्थान हेतु विशेष प्रयास किये गये हैं। सविधान का अनुच्छेद 15 (1) धर्म, मूल वश, जाति, लिग तथा जन्म के आधार पर भेद का समाप्त करता है तथा सभी को सार्वजनिक स्थानों, सडकों, कुओं, तालाबों के प्रयोग की छूट देता है। अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त कर उसका किसी भी रूप मे आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। अनुच्छेद 19 व्यावसायिक निर्योग्यता समाप्त करता है। अनुच्छेद 25 के अनुसार हिन्दुओं के धार्मिक-सार्वजनिक स्थानो के द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिये गये हैं। अनुच्छेद 29 शिक्षण सस्थाओं में सभी को प्रवेश की स्वीकृति देता है। अनुच्छेद 46 के अनुसार सरकार दुर्बलतर लागों, जिनमें अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लाग आते हैं, क शैक्षणिक एवं आर्थिक हितों की रक्षा करेगी तथा सभी प्रकार क शोषण तथा सामाजिक अन्याय से उन्हें बचायेगी। अनुच्छेद 330,332 व 334 के अनुसार अनुसूचित जातियों एव जनजातियों के लोगों के लिए संसद, विधान सभाओं, पंचायती राज संस्थाओं तथा स्थानीय निकायों में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी है। खुली प्रतियोगिता के माध्यम स दशव्यापी आधार पर की जाने वाली नियुक्तियों में 15 प्रतिशत और अन्य प्रकारों से हाने वाली नियुक्तियों में 16.67 प्रतिशत स्थान अनुसूचित जातियों क लिए सुरक्षित रखे गये हैं। अनुसूचित जनजातियों के लिए इन दानो ही प्रकार की नियुक्तियों में 7.5-7.5 प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे गय हैं।

पिछडे वर्गों को शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान को गयी हैं। इनके लिए शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गयी है ताकि ये लाग प्रगति कर सकें और देश के अन्य लोगों के समान स्तर पर आ सकें। देश के सभी सरकारी स्कूलों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विद्यार्थियों के लिए नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। पिछडे वर्गों के लोगों को छात्रवृत्तियाँ देने की योजना सन् 1944-45 से बराबर चालू है। इनमें शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार हो, इस हेतु न केवल इन्हें नि.शुल्क शिक्षा एवं छात्रवृत्तियाँ हो बल्कि पुस्तकों तथा शिक्षा-सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुएँ

भी मुफ्त में दी जाती हैं। कई स्थानों पर तो आजकल आवश्यक वस्त्र एवं मध्यान्ह का भोजन भी स्कूल से ही दिया जाता है। इन वर्गों के छात्रों के लिए औद्योगिक प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया गया है। इन्हें मेडिकल, इंजीनियरिंग तथा अन्य औद्योगिक शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश पाने के लिए काफी सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं।

अस्पृश्यता को दूर करने, अस्पृश्यों पर विभिन्न प्रकार की निर्योग्यताओं को लागू करने वाले व्यक्तियों को सजा देने तथा पिछड़े वर्गों को सामाजिक न्याय प्रदान करने के लिए सम्पूर्ण भारत में 1 जून, 1955 से 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1955' लागू किया गया। इस अधिनियम की 17 धाराओं के द्वारा अस्पृश्यों की सभी प्रकार की निर्योग्यताओं को दूर कर दिया गया है। इस अधिनियम में बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को नदी, कुए, तालाब या नल, घाट, श्मशान, कब्रिस्तान आदि को काम में लेने से रोकेगा तो ऐसी दशा में उसका यह कार्य दण्डनीय अपराध समझा जायेगा। इसमें व्यवसाय के चुनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक को दी गयी है। 1976 में उपर्युक्त अधिनियम को कठोर बनाने के उद्देश्य से संशोधित किया गया तथा इसे नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम नाम दिया गया।

सातवी पंचवर्षीय योजना (1985-90) मे अनुसूचित जातियो, जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के विकास कार्यक्रमों एवं कल्याण के लिए 2030.30 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया जबकि आठवी पचवर्षीय योजना मे इनके कल्याण हेतु 5,635 करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गयी।

5. मद्य निषेध (Prohibition)

स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुच्छेद 47 मे राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में कहा गया है कि 'राज्य अपनी जनता का पोषण-स्तर तथा जीवन स्तर ऊँचा उठाना और जन-स्वास्थ्य सुधारना अपना एक प्राथमिक कर्तव्य मानेगा और विशेषत स्वास्थ्य के लिए औषधीय प्रयोजनों के अतिरिक्त नशीले पेयों और मादक जड़ी-बूटियों के उपयोग को रोकने का प्रयास करेगा।' संविधान द्वारा व्यक्त इस सकल्प को पूरा करने तथा शराब पर प्रतिवर्ष होने वाले 146 करोड़ रुपये के खर्च को बचाने के लिए ही केन्द्र सरकार एव राज्य सरकारों ने मद्य-निषेध हेतु समय-समय पर अनेक कदम उठाये हैं। 1963 में स्थापित 'टेकचन्द अध्ययन दल' ने 1975-76 तक सम्पूर्ण देश में मद्य-निषेध लागू करने की सिफारिश की थी। परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार ने सभी राज्यों को मद्य-निषेध कार्यक्रम 1981 तक पूरी तरह लागू करने हेतु सुझाव दिया। इसके लिये राज्यों में 1978 में दो सूखे दिन, 1979 में चार सूखे दिन तथा 1981 तक छः सूखे दिन घोषित करने तथा वर्ष के अन्त तक पूर्ण मद्य निषेध लागू करने की सिफारिश की गयी। अनेक राज्यों ने केन्द्र सरकार की इस सिफारिश को मान कर मद्य निषेध का अपने-अपने राज्यों मे प्रयत्न भी किया। लेकिन अनेक कारणों से प्रयत्न असफल रहा और अन्त में मद्य-निषेध की नीति को त्याग दिया गया।

6. जनसंख्या नियंत्रण (Population Control)

जहाँ 1951 में भारत की जनसंख्या 36 करोड़ थी वहाँ 1991 में 84.63 करोड़ हो गयी। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या विकास के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। यह अनेक अभावों तथा आर्थिक-सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए बाल-विवाहों की समाप्ति, शिक्षा के व्यापक प्रसार, गर्भपात की स्वीकृति, मनोरंजन के साधनों

की समुचित व्यवस्था, औद्योगीकरण, समाजवाद, दशान्तरण तथा परिवार नियाजन आदि कार्यक्रमो को अपनाने के समय-समय पर सुझाव दिये गये हैं। इन सुझावों को ध्यान में रखकर सरकार ने जनसंख्या-नियत्रण की दृष्टि से अनेक कदम भी उठाये हैं इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम परिवार-नियोजन या परिवार-कल्याण कार्यक्रम है। प्रथम पचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम पर 70 लाख रुपये, द्वितीय योजना में 30 कराड रुपये, तृतीय योजना में 27 करोड रुपये, चौथी योजना में 135 करोड रुपये, पाँचवी योजना मे 516 कराड रुपये तथा छठी याजना मे 1800 कराड रुपये खर्च किये गये। सातवी पंचवर्षीय योजना (1985-90) में परिवार कल्याण पर 3,256 करोड रुपये खर्च किये गये। इस याजना के अन्त तक गर्भधारण करन वाली दम्पत्तियों को सुरक्षित करने की दर 42 के आसपास पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया। आठवी पचवर्षीय योजना में जनसख्या नियत्रण पर विशेष जोर दिया गया है।

7. प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम (Adult Education Programme)

प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से सरकार ने अशिक्षा को दूर करने का प्रयत्न किया है ताकि देश के करोडों लोग सामाजिक एव सास्कृतिक परिवर्तन में सक्रिय भूमिका निभा सकें। इस *कार्यक्रम में महिलाओ, अनुसूचित जातियों, भूमिहीन कृषि मजदूरों तथा अन्य कमजोर वर्ग के लोगों* पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस कार्यक्रम मे साक्षरता के अतिरिक्त सामान्य शिक्षा एवं नागरिकता का प्रशिक्षण, स्वास्थ्य शिक्षा, परिवार नियोजन, व्यावसायिक दक्षता का विकास, दैनिक जीवन मे विज्ञान तथा शिल्प विज्ञान का अध्ययन और शारीरिक शिक्षा एव सास्कृतिक कार्यकलापों को सम्मिलित किया गया है। लोगो को साक्षर बनाने के अलावा प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम का लक्ष्य अशिक्षित जनता मे व्यावसायिक योग्यता का विकास करना तथा सामाजिक जागरूकता पैदा करना है। प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम क अन्तर्गत सातवी पचवर्षीय योजना में 15-35 आयु समूह के सभी अशिक्षित प्रौढों (9 करोड) को 1990 तक साक्षर बनाने का लक्ष्य रखा गया और इसके लिए 360 करोड रुपये निर्धारित किये गये।

8. अन्य कल्याण कार्यक्रम (Miscellaneous Welfare Programmes)

ऊपर वर्णित कल्याण-कार्यों के अलावा भारत में अपराधियो, बाल-अपराधियों, भिखारियों, वेश्याओं, अक्षम लोगों, विकलांगों एव विस्थापितों के लिए भी अनेक कल्याण कार्य किये गये हैं। उदाहरण के लिए अपराधियों को जेलों मे व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है, इनके लिए आदर्श जेलों की स्थापना की गयी है। बाल अपराधियों तथा स्त्री अपराधियों के लिए अलग से जेलो की व्यवस्था की गयी है। कई राज्य सरकारों द्वारा भिक्षावृत्ति उन्मूलन अधिनियम पारित किये गये हैं तथा कई स्थानो पर भिक्षुक-गृहों (Beggars Home) की व्यवस्था की गयी है। अन्धे व बहरे लोगों का शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से देश के विभिन्न भागों मे शिक्षण-केन्द्र स्थापित किये गये हैं। अन्य देशों से आने वाले शरणार्थियों को बसाने के लिए पुनर्वास योजनाएँ भी बनायी गयी हैं।

9. ग्रामीण विकास (Rural Development)

गाँवो की विभिन्न समस्याओं ने वहाँ के सन्तुलित जीवन मे बाधा पैदा की है और ग्रामवासियों के प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध किया है। जो भारतीय ग्राम कभी लघु गणतत्र एव आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था वाले समुदाय माने जाते थे, व वर्तमान मे अनेक अभावों से ग्रस्त हैं। ग्राम्यजीवन

निरछलता, सरलता एवं सादगी का प्रतीक था किन्तु आज उसकी स्थिति ऐसी बन गई है कि एक व्यक्ति अपने को ग्रामीण कहने में हीनता महसूस करता है। इसका कारण यह है कि ग्राम गरीबी, अशिक्षा, अज्ञानता, अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता के गढ़ समझे जाते हैं। ग्रामों को उनकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं से छुटकारा दिलाकर एक सुव्यवस्थित संगठित ग्रामीण समाज की रचना ही ग्रामीण विकास या ग्रामीण पुनर्निर्माण कहलाता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि ग्रामीण विकास में गाँवों की विभिन्न समस्याओं एवं बुराइयों का समाधान किया जाता है और एक सुखी, समृद्ध एवं उच्चतर सामाजिक जीवन को विकसित किया जाता है।

भारत गाँवों का देश है जिसकी करीब 74.3 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। भारत को समृद्ध बनाने का अर्थ है-गाँवों को समृद्ध बनाना। भारतीय गाँवों को समस्याओं से मुक्त करने एवं भारत को समृद्धि के लिए गाँवों का योजनाबद्ध विकास आवश्यक है। ग्रामीण विकास या पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों के द्वारा ही इस कार्य को पूरा किया जा सकता है। ग्रामीण विकास से ही ग्रामीण समाज का भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण किया जा सकता है। नियोजन के माध्यम से ही ग्रामीणों को आत्मनिर्भर, आत्मविश्वासी एवं आत्माभिमानी बनाकर संतोष प्रदान किया जा सकता है। ग्रामीण पुनर्निर्माण ही वह कार्यक्रम है, जो गाँवों को सभी प्रकार की समस्याओं से मुक्ति दिलाने एवं उनका विकास करने में सहायक है। अतः यह एक अविलम्ब आवश्यकता है, जिसका आयोजन राष्ट्रीय स्तर पर किया जाना चाहिए और इसे गाँवों में मिशनरी स्प्रिट से लागू किया जाना चाहिए।

ग्रामीण विकास को लेकर विश्व में अनेक सिद्धान्त और विचारधाराएँ प्रचलित हैं। उन सभी में प्रगतिशील और सुखी गाँवों की कल्पना को साकार करने की योजना प्रस्तुत की गई है, यद्यपि उनकी कार्य-प्रणाली में भिन्नता है। आदिकाल से ही राजनीतिज्ञों, समाज सुधारकों, धार्मिक कार्यकर्त्ताओं एवं समाज सेवकों द्वारा ग्रामीण विकास के लिए प्रयास किये जाते रहे हैं। सन् 1947 में भारत आजाद हुआ और स्वतंत्र भारत में ग्रामीण विकास के महत्त्व को स्वीकार किया गया तथा गाँधीजी द्वारा बताये सिद्धान्तों पर अनेक कार्यक्रमों को लागू किया गया। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया, सहकारी आन्दोलन प्रारम्भ किया गया, पंचायती राज की स्थापना की गयी। सामुदायिक विकास योजना, पंचवर्षीय योजना, भू-दान, ग्रामदान, सर्वोदय, अन्त्योदय, समन्वित विकास कार्यक्रम, हरित क्रान्ति, श्वेत क्रान्ति आदि की योजनाओं द्वारा सरकारी और गैर सरकारी तौर पर गाँव को परिवर्तित करने का प्रयास किया गया।

सामुदायिक विकास एवं समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम
(Community Development and Integrated Rural Development Programme)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण भारत में निवास करने वाली 74.3 प्रतिशत जनसंख्या के सोचने-विचारने और कार्य करने के तरीकों को बदलने का एक विशाल प्रयत्न है जिसे 1952 में प्रारम्भ किया गया। सामुदायिक विकास का अर्थ सम्पूर्ण समुदाय का विकास करने और उसे आत्म-निर्भर बनाने से है। इस कार्यक्रम में ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त समस्याओं को स्थानीय साधनों से हल करने पर जोर दिया गया है सामुदायिक विकास को एक ऐसी प्रणाली माना गया है जिसके द्वारा ग्रामीण समुदाय के लोग अपने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सम्पूर्ण विकास के लिए सरकार के

साथ मिलकर सहयोग करते हैं। सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा परियोजनाओं से यह अपेक्षा की गई कि वे कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में पिछडेपन को दूर करने, अशिक्षा, अपोषण, निर्धनता तथा अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों को समाप्त करने तथा ग्रामीण समुदायो का विकास करने में समर्थ हो सकेंगे। सामुदायिक विकास याजनाओं पर करोडों रुपया खर्च किया जा चुका है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण भारत मे वे सब परिवर्तन लाने में सफल नही हुआ, जिनकी अपेक्षा इससे की गयी थी। फिर भी इसे एक पूर्णतः असफल प्रयास नही माना जा सकता। इसने नियोजित परिवर्तन में योग दिया है, लोगों की सामाजिक-आर्थिक दशा को सुधारने में मदद दी है, उन्हें आगे बढने की प्रेरणा प्रदान की है तथा साथ ही उनके दृष्टिकोण को व्यापक बनाया है, उनके मूल्यों को बदलने में सहायता पहुँचायी है। इतना अवश्य कहना पडेगा कि सामुदायिक विकास के कार्यक्रम का लाभ ग्रामीण भारत के सभी लोगो को समान रूप से नही मिला। इसका लाभ विशेषतः उन लोगों का मिला जिनके पास काफी मात्रा में भूमि थी तथा जो पहले से ही सम्पन्न एवं शिक्षित थे। इस कमी का दूर करने एवं विकास कार्यक्रमों का लाभ छोटे एवं सीमान्त किसानों, भूमिहीन कृषि-श्रमिकों, पिछडे वर्गों तथा गाँवों के निर्धनतम लोगो को पहुँचाने की दृष्टि से 1978-79 में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम
(Integrated Rural Development Programme)

यह ग्रामीण विकास की एक ऐसी एकीकृत योजना है, जिसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धनतम परिवारों को उत्पादक कार्यों हेतु आवश्यक साधन (वस्तुएँ, उपकरण तथा पूँजी आदि) उपलब्ध कराये जाते हैं, ताकि उनकी आय को बढाया जा सके और उन्हें निर्धनता-रेखा (PovertyLine) से ऊपर उठाया जा सके। वर्तमान में यह कार्यक्रम सशोधित बीस-सूत्रीय कार्यक्रम का एक भाग है। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम एक ऐसा कार्यक्रम है जो कि सभी प्राकृतिक साधनों का श्रेष्ठ उपयोग करने हेतु अधिक विस्तृत एवं क्रमबद्ध, वैज्ञानिक तथा समन्वित तरीकों को अपनाने पर जोर देता है। साथ ही यह प्रत्येक व्यक्ति को समाजोपयोगी तथा उत्पादक व्यवसायों में इस प्रकार लगाने योग्य बनाना चाहता है कि वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु पर्याप्त आय कमा सके। इस प्रकार इस कार्यक्रम के अन्तर्गत परम्परागत सिद्धान्तो, व्यवहारों तथा प्राथमिकताओं को काफी कुछ बदला गया है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम ग्रामीण विकास सम्बन्धी बिखरे हुए कार्यक्रमों को समन्वित करने का एक व्यापक कार्यक्रम है। इसमें कोई सन्देह नही है कि सामुदायिक विकास एवं पंचायती राज कार्यक्रम ने ग्रामीण विकास में लोगों की भागीदारी को प्रोत्साहन देकर नियोजन को नौकरशाही की जकड से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न किया है परन्तु इस क्षेत्र मे उसे सीमित सफलता ही मिल पायी है। 'समन्वित (एकीकृत) ग्रामीण विकास' नामक अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम विश्व बैंक द्वारा एक अध्ययन के दौरान किया गया। इसका प्रयोग इस अर्थ मे किया गया कि ग्रामीण जीवन का इस प्रकार से विकास किया जाय कि ग्रामीणों का सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन समन्वित रूप से उन्नत हो सके। वी.के.आर.वी. राव के अनुसार समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम एक ऐसा कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों के प्राकृतिक एवं मानवीय स्रोतो का अधिकतम उपयोग करके ग्रामीणों के जीवन-स्तर में सुधार लाने का पूरा प्रयत्न किया जाता है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत निर्धन लोगों में से भी निर्धनतम लोगों को लिया गया है जैसे- छोटे किसानों, सीमान्त किसानों, कृषि एवं गैर कृषि श्रमिकों, ग्रामीण दस्तकारों अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लोगों को। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत उन सब लोगों को लिया गया है जो निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं। इस कार्यक्रम से सम्बन्धित प्रत्येक खण्ड में करीब 20,000 परिवार होते हैं, जिनमें से 10,000 या 12,000 परिवार गरीबी-रेखा से नीचे के स्तर के होते हैं। 5 सदस्यों वाले ऐसे परिवार को गरीबी-रेखा से नीचे स्तर वाला माना गया है जिसकी वार्षिक आय 6,400 रुपये से कम हो ।

इस कार्यक्रम में वित्त व्यवस्था इस प्रकार रखी गयी है- योजना के पहले वर्ष में प्रत्येक खण्ड के लिए 5 लाख रुपये, दूसरे वर्ष में 6 लाख रुपये तथा अन्तिम तीन वर्षों में प्रत्येक खण्ड में 8 लाख रुपये प्रति वर्ष। इसमें सही लाभग्राहियों का पता लगाने पर विशेष जोर दिया गया है। छठी पंचवर्षीय योजना की अवधि में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम पर 4,762.78 करोड़ रुपये खर्च किये गये तथा 165.6 लाख परिवारों को लाभ पहुँचाया गया । सातवीं पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 8,688.35 करोड़ रुपये खर्च कर 181.8 लाख परिवारों को लाभ पहुँचाया गया। इस कार्यक्रम के तहत 1991-92 तक 49.46 प्रतिशत लाभग्राही परिवार अनुसूचित जाति एवं जनजाति के थे। 1985-86 में 9 प्रतिशत और 1991-92 में 25 प्रतिशत महिलाओं को इस कार्यक्रम से लाभ पहुँचाया गया। विभिन्न अध्ययन यह बताते हैं कि इस कार्यक्रम से गरीबों को उत्पादन-ससाधन प्राप्त हुए हैं और उनकी आय में क्रमिक वृद्धि हुई है।

10. पंचायती राज (Panchayati Raj)

यद्यपि सन् 1947 से ग्रामीण भारत में पंचायतों की स्थापना की गयी लेकिन स्वायत्त-शासन की तीन-स्तरीय व्यवस्था (Three-Tier System) के रूप में पंचायती राज का गठन 1959 में किया गया। इसके अन्तर्गत ग्राम-स्तर पर ग्राम-पंचायतों, खण्ड स्तर पर पंचायत समितियों एवं जिला-स्तर पर जिला परिषदों की स्थापना की गयी। इसका मुख्य लक्ष्य विकास कार्यों में ग्रामीण जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना, विकास योजनाओं को जन-प्रतिनिधियों को सौंपना, ग्रामीण पुनर्निर्माण के विभिन्न कार्यों को सफल बनाना, नवीन ग्रामीण नेतृत्व का विकास करना एवं ग्रामीण जनता को जनतांत्रिक प्रक्रिया में भागीदार बनाना आदि हैं। वर्तमान में देश में 2.20 लाख ग्राम पंचायतें, 5,300 पंचायत समितियाँ तथा 371 जिला परिषदें कार्यरत हैं। आज ग्रामीण भारत में विकास कार्यों का दायित्व अधिकांशतः इन्ही संस्थाओं का है।

11. सामाजिक विधान (Social Legislation)

समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति, समाज कल्याण कार्यक्रमों का विस्तार तथा सामाजिक समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से समय-समय पर राज्य द्वारा जो अधिनियम पारित किए जाते हैं उन्हें ही सामाजिक विधान कहा जाता है, जैसे- हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955, दहेज-निरोधक अधिनियम, 1961 आदि। डॉ. आर.एन. सक्सेना ने लिखा है, "साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह विधान जिसका उद्देश्य समाज को परिवर्तित अथवा पुनर्संगठित करना होता है, सामाजिक विधान की श्रेणी में आता है इस प्रकार सामाजिक विधान में समाज-सुधार, समाज-परिवर्तन, सामाजिक समस्याओं का निराकरण और सामाजिक आदर्श-नियमों का प्रतिपादन एक साथ सन्निहित हैं।"[1]

1. डॉ. आर.एन. सक्सेना - भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, पृष्ठ 131

स्वतत्र भारत मे विवाह, परिवार, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति, अस्पृश्यता-निवारण, जनजातीय कल्याण, श्रम-कल्याण, भूमि सुधार आदि से सम्बन्धित अनेक विधान बने हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से इन विधानों को देखकर ऐसा लगता है कि भारतीय समाज की सभी कुरीतियाँ समाप्त हो गयी हैं, परिवार, विवाह, नातेदारी, स्त्रियों की स्थिति एव जाति प्रथा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं तथा भारतीय समाज एक समतावादी समाज बन गया है। व्यावहारिक दृष्टि स विचार करने पर हम पाते है कि शिक्षा एव सामाजिक चतना की कमी के कारण ये विधान वे सब परिवर्तन लाने मे उतने सफल नही हुए जितनी इनस अपेक्षा की गयी थी अर्थात् ये नियोजित परिवर्तन का सशक्त माध्यम नही बन सके।

12. भूमि सुधार (Land Reforms)

भूमि सुधार ग्रामीण भारत में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का एक प्रमुख साधन है। यहाँ कृषि-क्षत्र में कुछ लागो के पास भूमि बहुत अधिक मात्रा में, कुछ क पास थोडी मात्रा में और शष के पास बिल्कुल नही पायी जाती। परिणामस्वरूप एक ओर जागीरदारों, जमींदारों तथा दूसरी आर किराय पर भूमि जातने वाले काश्तकारों एवं भूमिहीन श्रमिकों क बीच असमानता काफी मात्रा में पायी जाती है। स्वतत्र भारत में यह साचा गया कि भूमि-सुधारों के माध्यम से सामाजिक एव आर्थिक असमानताओं को कम किया जा सकेगा। इसी दृष्टि से यहाँ सर्वप्रथम जमींदारी प्रथा को समाप्त किया गया। लेकिन इससे किसानों के एक समरूप वर्ग का निर्माण नही किया जा सका। इसस भूमिहीन श्रमिको के एक बहुत बडे वर्ग की स्थिति में भी कोई सुधार नही लाया जा सका। एसी स्थिति में 1950 के पश्चात विभिन्न राज्यों मे भूमि-सुधार की दृष्टि से समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित किये गये जिनके दा लक्ष्य थे, प्रथम काश्तकारी के विभिन्न स्वरूपों को या तो समाप्त करना या नियत्रित करना तथा द्वितीय, व्यक्ति के पास भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करना। साचा यह गया कि एसा करने से एक तो बड भू-स्वामियों के पास और अधिक भूमि केन्द्रित नही हो सकेगी और जिनके पास कानून मे निर्धारित सीमा से अधिक भूमि है, वह भूमिहीन लोगो मे बाँटने के काम आ सकेगी। यद्यपि विभिन्न राज्यो मे पिछले करीब 45 वर्षों मे भूमि सुधार हेतु अनेक प्रयत्न किये गय, कई अधिनियम पारित किय गये, फिर भी हम एक कम सस्तरणात्मक कृषक सरचना (Less Hierarchial Agranan Structure) निर्मित करने मे सफल नही हो पाये। इन अधिनियमों के माध्यम से आज तक एस कृषि-स्तरों का निर्माण नही हो सका जो एक-दूसरे के समान हों।

नियोजित परिवर्तन एवं ग्रामीण विकास से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमो के फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन

उपर्युक्त कार्यक्रमों के फलस्वरूप समाज-जीवन क अनेक क्षेत्रो में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार हैं-

(1) नियोजित परिवर्तन के फलस्वरूप देश आर्थिक विकास की दिशा मे आगे बढा है। पिछले 45 वर्षों में कृषि और औद्योगिक क्षत्र में काफी प्रगति हुई है। खाद्यान्नो क उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। औद्योगिक उत्पादन भी बढा है। देश मे औद्योगीकरण और नगरीकरण

की प्रक्रिया तीव्र हुई है। प्रति व्यक्ति आय बढी है। लोगो का रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठा है। लेकिन हमें यह भी ध्यान में रखना है कि नियोजित परिवर्तन के फलस्वरूप भारतीय अर्थ-व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन नही हुए है, बुनियादी परिवर्तन बहुत कम हुए हैं। यद्यपि परिवर्तन लाने के प्रयत्न काफी किये गए, परन्तु भूमि का स्वामित्व एवं खेती का ढाँचा मूलत. पहले जैसा ही है। छोटे किसानों व भूमिहीन श्रमिको की स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन नही आय हैं। विकास योजनाओं का लाभ प्रमुखतः समृद्ध लागों को ही मिल पाया है।

(2) सामाजिक सुरक्षा (Social Security) से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमो का स्वतंत्र भारत में तेजी से विकास हुआ है। 1948 के कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के द्वारा कारखानों में काम करने वाले लोगो को बीमारी लाभ, प्रसूति लाभ, शारीरिक बाधा लाभ, आश्रित लाभ तथा चिकित्सा सम्बन्धी लाभ हेतु आवश्यक सुविधायें प्रदान की गयी। 1952 मे पारित कर्मचारी प्रोवीडेण्ट फण्ड अधिनियम तथा 1972 में पारित ग्रेच्युटी के भुगतान सम्बन्धी अधिनियम का लाभ कारखानों एवं औद्योगिक संस्थानों मे काम करने वाल लाखो लोगो को मिला है। लकिन साथ ही यह भी सही है कि पिछले 45 वर्षों में नियोजन के बाद भी आज तक हम बकारी और निर्धनता की समस्या पर नियंत्रण नही पा सके हैं।

(3) नियोजित परिवर्तन के फलस्वरूप भारत ने शिक्षा के क्षेत्र मे परिमाणात्मक ढंग से प्रगति की है। पिछले 45 वर्षों में स्कूल एवं महाविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाले लड़के-लडकियों की संख्या में किसी स्तर पर तीन गुनी, किसी पर पाँच गुनी और किसी पर सात गुनी वृद्धि हुई। ग्रामीण भारत मे भी शिक्षा की आर लोगों का रुझान बढा है। शिक्षा ने लोगो को अन्ध-विश्वासों से मुक्त होने, उनमें नवीन चेतना का संचार करने तथा आकांक्षाओं के स्तर को ऊँचा उठाने में आश्चर्यजनक रूप से योग दिया है, लेकिन शिक्षितों और व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों को हम नियोजित परिवर्तन के प्रयत्न के बावजूद भी रोजगार या नौकरी की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं करा पाये हैं। शिक्षितों में निराशा एव असन्तोष का यह एक प्रमुख कारण है।

(4) पिछले 45 वर्षों में देश में स्वास्थ्य सेवाओं में वृद्धि हुई है, जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु दर में कमी आयी है, भारतीयों की औसत-आयु बढी है तथा जनसख्या को नियंत्रित करने और सीमित परिवार की दिशा में हम आगे बढ़े हैं। अब परिवार कल्याण कार्यक्रम के माध्यम से लोग छोटे परिवार और जनसंख्या को सीमित रखने के महत्त्व को समझने लगे हैं। आज देश में स्वास्थ्य सेवाओं के और अधिक विस्तार की आवश्यकता है। साथ ही इस क्षेत्र में काम करने वाले लोगों में अपने काम के प्रति त्याग, सेवा एव समर्पण की भावना की नितान्त आवश्यकता है।

(5) समाज के पिछडे वर्गो की स्थिति मे नियोजित परिवर्तन के फलस्वरूप सुधार हुआ है। अस्पृश्यता धीरे-धीरे कम होती जा रही है, जाति-पांति के बन्धन अब शिथिल हुए है, विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक दूरी कम हुई है। सरकार से मिलने वाली सुविधाओं के परिणामस्वरूप अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछडे वर्गों को सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है, अब ये लोग राजनीतिक दृष्टि से अपनी सख्या के महत्व को समझने लगे हैं। पिछले 45 वर्षों में विविध प्रयत्नो के फलस्वरूप इनकी सामाजि[illegible] एव शैक्षणिक स्थिति में काफी सुधार हुआ है। आवश्यकता इस बा[illegible] वर्गों

का तेजी से विकास किया जाये और साथ ही नियोजन इस प्रकार से सोच-समझ कर किया जाये कि उच्च जातियों और निम्न समझी जाने वाली जातियो में किसी प्रकार का वैमनस्य या तनाव पैदा नही हो।

(6) **नियोजित परिवर्तन के फलस्वरूप विवाह एवं परिवार के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है।** अब लोगों का झुकाव अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह, प्रेम-विवाह एव न्यायालय क माध्यम स विवाह करन की आर है। अब विधवा-विवाह को अनुचित नही समझा जाता है। अब लोगो का झुकाव सयुक्त परिवार से एकाकी या नाभिक परिवार की आर है। अब परिवार म पत्नी एव बच्चो का महत्व बढा है।

(7) **पिछले कुछ वर्षो मे स्त्रियो की सामाजिक स्थिति मे काफी सुधार हुआ है।** अब उन्हें सभी क्षत्रो में पुरुषों क समान अधिकार प्राप्त हैं। अब काफी स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर नौकरी करने लगी हैं या अपन आपका किसी व्यवसाय में लगान लगी हैं। अब उन्हें पुरुषों क समान ही तलाक सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त है। समय-समय पर पारित अधिनियमो तथा कल्याण कार्यक्रमो न उनकी सामाजिक स्थिति का उन्नत करन मे विशष रूप स याग दिया है।

(8) **वर्तमान भारत मे प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed) के बजाय अर्जित प्रस्थिति (Achieved Status) का महत्त्व बढा है।** शिक्षा क व्यापक प्रचार-प्रसार ने व्यक्ति की याग्यता व गुणो क विकास में विशष याग दिया है। अब व्यक्ति अपनी योग्यता बढाकर, व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर ऊँचे स ऊँच पद पर पहुँच सकता है। आज आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न या किसी उच्च पद पर आसीन व्यक्ति की सामाजिक स्थिति ऊँची मानी जाती है, चाहे उसकी जाति निम्न ही क्यों न हो। अब उपलब्धि (Achievement) का महत्त्व काफी बढ गया है।

(9) **देश मे प्रजातंत्रात्मक शासन-प्रणाली के परिणामस्वरूप शक्ति-संरचना (Power Structure) में परिवर्तन आया है।** अनुसूचित जातियो, जनजातियों तथा अन्य पिछडे वर्ग के लोगो का राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने, शक्ति क पदों को प्राप्त करने, अपनी सख्या की शक्ति का पहचानने तथा नेतृत्व में आन का अवसर मिला है। परिणामस्वरूप अब देश की शक्ति-सरचना मे केवल उच्च जातियों का ही वर्चस्व नही रहा है।

(10) **देश परम्परावादिता (Traditionalism) से आधुनिकीकरण (Modernization) की ओर बढ रहा है।** नियाजित परिवर्तन स सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों ने इस प्रक्रिया में विशेष याग दिया है। शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, तार्किकता तथा मानवतावादी मूल्यों के प्रचार-प्रसार के कारण अब व्यक्ति पुरानी परम्पराओं क स्थान पर आधुनिकीकरण से सम्बन्धित विशेषताओं को अपनाता जा रहा है।

(11) **नियोजित परिवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमो ने देश मे नवचेतना का संचार किया है,** लोगो मे आगे बढने की आकांक्षा जाग्रत की है, सामाजिक परिवर्तन को गति प्रदान की है। इसने ग्रामीण भारत मे शक्ति का सचार किया है, ग्रामीणों को पुनर्निर्माण की दिशा में आगे बढने को प्रोत्साहित किया है। फिर भी इतना अवश्य है कि हम समतावादी समाज की रचना की दिशा में विशष आगे नही बढ पाये हैं।

भारत में नियोजित परिवर्तन एवं ग्रामीण विकास की सीमायें
(Limitations of Planned Change And Rural Development in India)

भारत में नियोजित परिवर्तन की सीमाएँ या बाधाएँ निम्नलिखित हैं —

(1) अशिक्षा नियोजित परिवर्तन के मार्ग मे एक बहुत बडी बाधा है। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में साक्षरता का प्रतिशत 52.21 है अर्थात् करीब 48 प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं। अशिक्षा के कारण लोगों में सामाजिक जागरूकता एवं विवेकपूर्ण दृष्टिकोण का अभाव रहता है जो नियोजित परिवर्तन की सफलता के लिए आवश्यक है।

(2) प्राकृतिक विपदाओं तथा सामाजिक संकटों ने नियोजित परिवर्तन के लक्ष्यों की प्राप्ति मे बाधा पैदा की है। यहाँ समय-समय पर अकाल, बाढ, भूकम्प, पाल, ओले, वर्षा की अनिश्चितता आदि प्राकृतिक विपदाओं ने सफल नियोजन के मार्ग में बाधा उत्पन्न की है। समय-समय पर देश को बाह्य एवं आन्तरिक खतरों का सामना भी करना पडा है। यहाँ विविध प्रकार की सामाजिक समस्याएँ भी पायी जाती हैं। इन सब ने मिलकर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के मार्ग में अवरोध ही पैदा किए हैं।

(3) राजनीतिक क्षेत्र मे व्याप्त गुटवाद या दलबन्दी ने भी नियोजित परिवर्तन के मार्ग मे कठिनाई पैदा की है। स्वार्थों के टकराने से राजनीतिक दलो में गुटवाद पनपता है। एक गुट किसी परिवर्तन को अच्छा मान कर उसका समर्थन करता है तो दूसरा उसका विरोध करता है। यही बात विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच देखने को मिलती है। परिणाम यह होता है कि इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है।

(4) राष्ट्रीय चरित्र एवं कार्य के प्रति प्रतिबद्धता या समर्पण की भावना का अभाव भी नियोजित परिवर्तन के मार्ग मे एक बहुत बडी बाधा है। लोग अपने छोटे स्वार्थ के पीछे राष्ट्र के बडे से बडे हित की बलि देने को तैयार हो जाते हैं। इसके अलावा सरकारी कार्य के प्रति लोगों मे कर्तव्य-परायणता का अभाव भी नियोजित परिवर्तन की सफलता को संदिग्ध बना देता है।

(5) प्रशासन की अकुशलता, स्वार्थपरता एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे व्याप्त भ्रष्टाचार भी नियोजित परिवर्तन के मार्ग में एक बाधा है। बहुत से अधिकारी नौकरशाही के पुराने तौर-तरीके अपनाये हुए हैं, वे नवीन प्रजातात्रिक मूल्यों एवं नियोजित परिवर्तन की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने आप को नही ढाल पाये हैं। साथ ही कुछ अधिकारियों की स्वार्थपरता एवं विभिन्न स्तरों पर व्याप्त भ्रष्टाचार नियोजित परिवर्तन के इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं।

(6) नियोजित परिवर्तन के लक्ष्यों एवं साधनों मे सन्तुलन का अभाव भी नियोजन के मार्ग में एक बहुत बडी बाधा है। कई बार लक्ष्य तो काफी ऊँचे निर्धारित कर लिये जाते हैं, परन्तु उनकी प्राप्ति के लिए आवश्यक मात्रा में साधनों का अभाव पाया जाता है। परिणामस्वरूप अच्छी से अच्छी योजना को भी असफलता का सामना करना पडता है।

(7) नियोजित परिवर्तन से संबंधित कार्यक्रम बनाते समय कई बार मानवीय तथा सांस्कृतिक कारकों की या योजना के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा कर दी जाती है। यह उपेक्षा बहुत बडी भूल सिद्ध होती है जब लोग किसी कार्यक्रम को ठुकरा देते या आवश्यक समर्थन नहीं देते हैं।

(8) जनसाधारण मे आवश्यक मात्रा मे उत्साह एवं सहयोग का अभाव नियोजित परिवर्तन की एक प्रमुख बाधा है। उत्साह एव सहयोग की कमी का कारण नियोजित परिवर्तन के कार्यक्रमों को जनता द्वारा सरकारी कार्यक्रम समझा जाना है। साथ ही जनसाधारण को नियोजित परिवर्तन के लाभ नहीं मिलना भी उनमें उत्साह एव सहयोग की कमी का एक बहुत ही बडा कारण है।

(9) नियोजित परिवर्तन की एक प्रमुख सीमा या बाधा योजनाओ के लिए विश्वसनीय आँकडो का अभाव है। यहाँ अनेक कारणों से एकत्रित आँकडों में विश्वसनीयता का अभाव पाया जाता है। ऐसी दशा में इन आँकडों पर आधारित योजनाओं के परिणाम की सफलता की आशा नहीं की जा सकती है।

(10) समाज वैज्ञानिको एव नीति-निर्धारको तथा प्रशासको के बीच आवश्यक सहयोग का अभाव भी नियोजित परिवर्तन के कार्यक्रमो के सफल क्रियान्वयन मे एक बहुत बडी बाधा है। यहाँ नीति-निर्धारकों एव योजना-निर्माताओं द्वारा समाज-वैज्ञानिकों के ज्ञान एव अनुभव का उतना लाभ नहीं उठाया गया है जितना उठाया जाना चाहिए। साथ ही समाज-वैज्ञानिकों को प्रशासकों की कठिनाइयों को समझना और भारत में व्याप्त सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

नियोजित परिवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमो की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि उपर्युक्त सीमाओं एव बाधाओं को दूर किया जाये। दृढ राजनीतिक संकल्प के आधार पर ही देश को नियोजित परिवर्तन की दिशा में सफलतापूर्वक आगे बढाया जा सकता है।

प्रश्न

1. नियोजित परिवर्तन के प्रत्यय को समझाइए।
2. नियोजित परिवर्तन के उद्देश्य एव महत्व पर प्रकाश डालिये।
3. भारत में नियोजित परिवर्तन पर एक लेख लिखिये।
4. नियोजित परिवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों के फलस्वरूप होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
5. नियोजित परिवर्तन से आप क्या समझते हैं? भारतीय सन्दर्भ में इसके परिणामों की व्याख्या कीजिये।
6. नियोजित परिवर्तन की सीमाओं (बाधाओं) पर प्रकाश डालिये।

□□□

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Altekar, A.S. : The Position of Women in Hindu Civilization, 1962.
2. Alfred De Souza . Women in Contemporary India, 1975.
3 Aileen D, Ross : The Hindu Family in its urban setting, 1961
4 Agarwala, S.N. : India's Population Problems, 1972.
5 Burgess, E.W & Locke, H J The Family, 1950.
6 Bailey, F.G : Caste and the Economic Frontier, 1958.
7 Bailey, F.G. Tribe, Caste and Nation, 1960.
8 Bhagwan Dass.The Science of Social Organization, 2 Vols. 2nd ed , 1932-35
9. Bulletin of the Christian Institute for the Study of Society, Vol 4 No 2 (Sept.1957)
10. Sociological Bulletin (Bombay)
11. Coomaraswamy Anand K Dance of Shive, 1948
12. Carle C Zimmerman & T K N Unnithan Family and Civilization in the East and the West, 1975
13. Constitution of United Church of Northern India, 1954
14 Desai, I P. Some Aspects of Family in Mahuva, 1964
15 Daftan, K L.. The Social Institutions in Ancient India, 1947
16 Devanandan,P D and Thomas, M M The Changing Pattern of Family in India(ed.) 1966
17. Dumont (Louis) and Pocock (D) Contributions to Indian Sociology (ed) No III, 1969.
18 Dumont (Louis) and Pocock (D) Contributions to Indian Sociology (ed) No.IV, 1970.
19. Dutt, N K · The Origin and Growth of Caste in India, Vol I, 1931
20 Dhirendera Narain (ed.), Explorations in the Family and Other Essays, 1975.
21. Elliott, Mabel A and Merrill, Francis E Social Disorganization, 1950.
22. Folsom, J K.: The Family and Democratic Society 1948.
23. Family Life Centre of the Indian Institute, New Delhi The Indian Family in the Change and Challenge of the Seventies, 1972
24 Ghurye, G S : Caste, Class and Occupation, 1961
25. Gore, M.S : Urbanization and Family Change, 1968
26 Govt of India : Special Legislation and its Role in Social Welfare, 1956.
27. Govt. of India, : India, 1995

28 Govt of India The Adivasis, 1960
29 Govt of India, Planning Commission, Seventh Five Year Plan, 1985-90
30. Gupta, S K Marriage among the Anglo-Indians
31. Gupta, G R (ed), Main Currents in Indian Sociology, 1976
32 Goode, William J The Family, 1964
33 Hoebel, E Adamson Man in the Primitive World 1978
34 Hutton, J H Caste in India, 1961
35 Imtiaz Ahmad, (ed) Family Kinship and Marriage among Muslims in India, 1976
36 I C S S R , A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology, Vol I & II, 1974
37 I C S S R , Status of Women in India
38 John, M P The Family
39 J Murdock Review of Caste in India, 1977
40 John Wilson Indian Caste, Vol I&II, 1976
41 Kapadia, K M Marriage and Family in India, 1959
42 Kuppuswamy, B Social Change in India, 1975
43 Mansingh Das & Panos D Bardis The Family in Asia, 1978
44 Milton Singer & Bernard S John (ed) Structure and Change in Indian Society 1968
45 Michael Anderson, (ed) Sociology of the Family, 1975
46 Majumdar, D N and Madan, T N An Introduction to Social Anthropology, 1963
47 Majumdar, D N Races and Cultures of India, 1958
48 Majumdar, D N Caste and Communication in an Indian Village, 1962
49 Merchant, K T Changing Views on Marriage and Family, 1935
50 Mayer Adrian Caste and Kinship in Central India, 1950
51 Mathur, K S Caste and Rituals in a Malwa Village, 1964
52 Mulla, D F Principles of Mohamedan Law, 1955
53 Mukherjee, R K The Sociologist and Social Change in India Today, 1965
54 Noshirvan H Jhabvala Principles of Mohamedan Law, 1955
55. Prabhu, P H Hindu Social Organization, 1963
56 Panikkar, K M Hindu Society at Cross Roads, 1955
57. Philip Mason, (ed) India and Ceylon Unity and Diversity, 1967
58 Raghuvir Sinha Social Change in Indian Society, 1975.
59 Raghuvir Sinha Family to Religion, 1980
60 Ramu, G.N · Family and Caste in Urban India, 1970

61. Rudolph Loyd I & Rudolph Surance Hoeber : The Modernity of Tradition, 1967.
62 Santosh Singh Anant : The Changing Concept of Caste in India, 1972
63 Srinivas, M N : Social Change in Modern India, 1966.
64. Srinivas, M.N. : Caste in Modern India and Other Eassays, 1962.
65 Srinivas, M.N : Marriage And Family in Mysore, 1942
66 Sheikh Abrar Husain : Marriage Customs among Muslims in India, 1976
67 Shah, A M : The Household Dimension of the Family in India, 1973
68 Sharma, K.L : The Changing Rural Stratification System, 1974
69 S.C. Dube. Tribal Heritage of India, I Vol 1977
70 Sorokin, P.A.: Zimmerman C.C and Galpen, C J Systematic Source Book of Rural Sociology, 1930-32, Vol II
71 Thomos P : Indian Women Through the Ages, 1954
72 Tara Chand : Influence of Islam on Hindu Culture, 1954
73 Verma, B N . Contemporary India, 1964
74 Verma, K.K . Changing Role of Caste Associations, 1979
75 Yogesh Atal The Changing Frontier of Caste, 1968.
76. Yogendra Singh Modernization of Indian Tradition, 1973
77. Ram Ahuja, Indian Social System, 1993.
78. India, 1995, Govt. of India Publication
79 इन्द्रदेव : भारतीय समाज, 196>.
80 नर्मदेश्वर प्रसाद : जाति व्यवस्था, 1965.
81. दुबे, श्यामाचरण : मानव और सस्कृति, 1960.
82 राधाकृष्णन : धर्म और समाज, 1961.
83. वेदालंकार, हरिदत्त : हिन्दू परिवार मीमांसा, 1963.
84. सक्सेना, रामनारायण : भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थाएँ, 1960.
85 भट्ट, गौरीशंकर : भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और संस्कृति, 1965.

□□□